भारतीय अर्थव्यवस्था

(ईसवी 1200 तक)

Indian Economy

(Upto 1200 AD)

Group - B

प्रश्न पत्र - X

Paper - X

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

इकाई – I

अध्याय 1: स्रोतों का सर्वेक्षण 5

अध्याय 2: नवपाषाणकालीन संस्क ति - भोजन उत्पादन 25

अध्याय 3: शहरीकरण में प्रयोग : हड़प्पाकालीन संस्कृति 41

अध्याय 4: वैदिककालीन अर्थव्यवस्था 59

अध्याय 5: लगभग 600 ई०पू० से 300 ई०पू० तक भारत की आर्थिक स्थिति 71

इकाई – II

अध्याय 1: मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था 82

अध्याय 2: गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था 97

अध्याय 3: प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था 113

इकाई – III

अध्याय 1: भू-व्यवस्था 170

अध्याय 2: व्यापार एवं वाणिज्य 191

अध्याय 3: उद्योग धन्धे और शिल्प 221

अध्याय 4: व त्तिसंघ व्यवस्था 235

अध्याय 5: सूदखोरी 249

अध्याय 6: दक्कन तथा दक्षिण भारत में अर्थव्यवस्था के विकास की रूपरेखा 261

अध्याय 7: मन्दिर अर्थव्यवस्था 276

M.A. History (Final)
Group - B
Paper – X
Indian Economy (upto 1200 A.D.)

Max. Marks: 100
Time: 3 Hours

Note: *10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five questions, selecting at least one question from each unit. All questions shall carry equal marks.*

UNIT – I

1. Survey of Sources.
2. Advent of Food Production – Neolithic Culture.
3. Urban Experiment – Harappan Culture.
4. **Vedic Economy:**
   a) Early Vedic b) Late Vedic
5. **Economic condition of India from C 600 B.C. TO C 300 B.C.**
   a) Remergence of Urbanisation b) Agrarian Economy.

UNIT – II

1. Mauryan Economy.
2. Gupta Economy.
3. **Early Medieval Economy:**
   a) Salient Features b) Land Grants
   c) Peasantry d) Urban Debate.

UNIT – III

1. **Land System:**
   a) Land Revenue b) Ownership of Land
   c) Irrigation System.
2. **Trade & Commerce:**
   a) Trade: Internal Trade
   b) Foreign Trade: Trade Relations with Roman and South-East Asian World.
   c) Mechanisms of Trade: Trade Route, Forms of Exchange, Currency and Coinage.
3. **Industries:**
   a) Metal b) Post Making
   c) Textile d) Other Industries
4. Guilds.
5. Usuary.
6. **Patterns of Economic Development in Deccan and South India:**
   a) Aggrarian Economy b) Trade
   c) Industries.
7. Temple Economy.

इकाई – I

अध्याय-1
स्रोतों का सर्वेक्षण
(Survey of Sources)

इतिहासकार एक वैज्ञानिक की भाँति उपलब्ध सामग्री का परीक्षण करके अतीत का सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उसके लिए साहित्यिक साधन, पुरातात्त्विक साधन और विदेशियों के वर्णन सभी का महत्त्व है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए शुद्ध ऐतिहासिक साहित्यिक सामग्री अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम उपलब्ध है। भारत में यूनान के हिरोडोटस या रोम के लिवी जैसे इतिहास-लेखक नहीं हुए, इसलिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा बन गई थी कि भारतीयों को इतिहास की ठीक समझ ही नहीं थी। परन्तु ऐसा समझना गलत होगा। वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन भारतीयों का इतिहास का उद्देश्य आधुनिक इतिहासकारों के उद्देश्य से पूर्णतया भिन्न था। आज का इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं में कार्य-कारण संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करता है किंतु प्राचीन इतिहासकार केवल उन घटनाओं का वर्णन करता था जिनसे जनसाधारण को कुछ शिक्षा मिल सके। महाभारत में इतिहास की जो परिभाषा दी है उससे भारतीयों की इतिहासविषयक समझ पर प्रकाश पड़ता है। इस ग्रंथ के अनुसार ऐसी प्राचीन रुचिकर कथा जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की शिक्षा मिल सके 'इतिहास' कहलाती है। प्राचीन काल में भारतवासी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों को जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक समझते थे। इन पुरुषार्थो को करने की प्रेरणा देने में इतिहास भी एक साधन था, इसलिए प्राचीन भारतीय इतिहासकार उन घटनाओं को कोई महत्त्व नहीं देते थे, जिनसे इन चारों पुरुषार्थों की शिक्षा न मिल सके। इसीलिए प्राचीन भारत का इतिहास राजनीतिक कम और सांस्क तिक अधिक है।

परन्तु आज का आधुनिक इतिहासकार भी इतिहास में केवल राजनीतिक घटनाओं का ही वर्णन करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता। उसके वर्णन में आम लोग उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना कि शासक और योद्धा। वह उन सामाजिक, आर्थिक एवं बौद्धिक परिवर्तनों का अध्ययन करता है जिनके द्वारा मानव, उपलब्ध प्राक तिक साधनों का उपयोग करके अपने जीवन को पहले की अपेक्षा अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न कर सके। इसलिए प्रसिद्ध इतिहासकार दामोदर धर्मानंद कोसांबी के अनुसार उत्पादन के साधनों और उनके पारस्परिक संबंधों के तिथि-क्रमानुसार अध्ययन से ही हमें विकास के क्रम की जानकारी मिल सकती है। उनके अनुसार इनके आधार पर हम जान सकते हैं कि जनसाधारण किस प्रकार जीवनयापन करते थे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहासकार जहाँ कुछ अर्थों में आधुनिक इतिहासकार से पूर्णतः भिन्न नजर आता है वहाँ दूसरी और उद्देश्य की समानता के कारण उसके बहुत करीब भी नजर आता है।

इतिहासकार प्राचीन भारतीय इतिहास को उपलब्ध सामग्री के आधार पर तीन भागों में बाँटते हैं। प्रागैतिहासिक काल का इतिहास लिखते समय इतिहासकार को पूर्णतः पुरातात्त्विक साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। आद्य इतिहास लिखते समय भी मुख्यतः पुरातात्त्विक साक्ष्यों पर ही निर्भर रहना पड़ता है परन्तु यदि कुछ एक साहित्यिक स्रोत मिलने लगते हैं और इतिहास लिखते समय

वह इन दोनों साधनों के (पुरातात्त्विक तथा साहित्यिक) अतिरिक्त विदेशियों के वर्णनों का भी उपयोग करता है। इन सभी स्रोतों का उपयोग करके इतिहासकार काल विशेष का सही-सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है।

भारतीय इतिहास को जानने के लिए उपलब्ध सामग्री को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है। पुरातात्त्विक तथा साहित्यिक। इन स्रोतों को आगे अनेकों भागों तथा उपभागों मे बाँटा जा सकता है। निम्न चार्ट की सहायता से इसे भली भाँति समझा जा सकता है

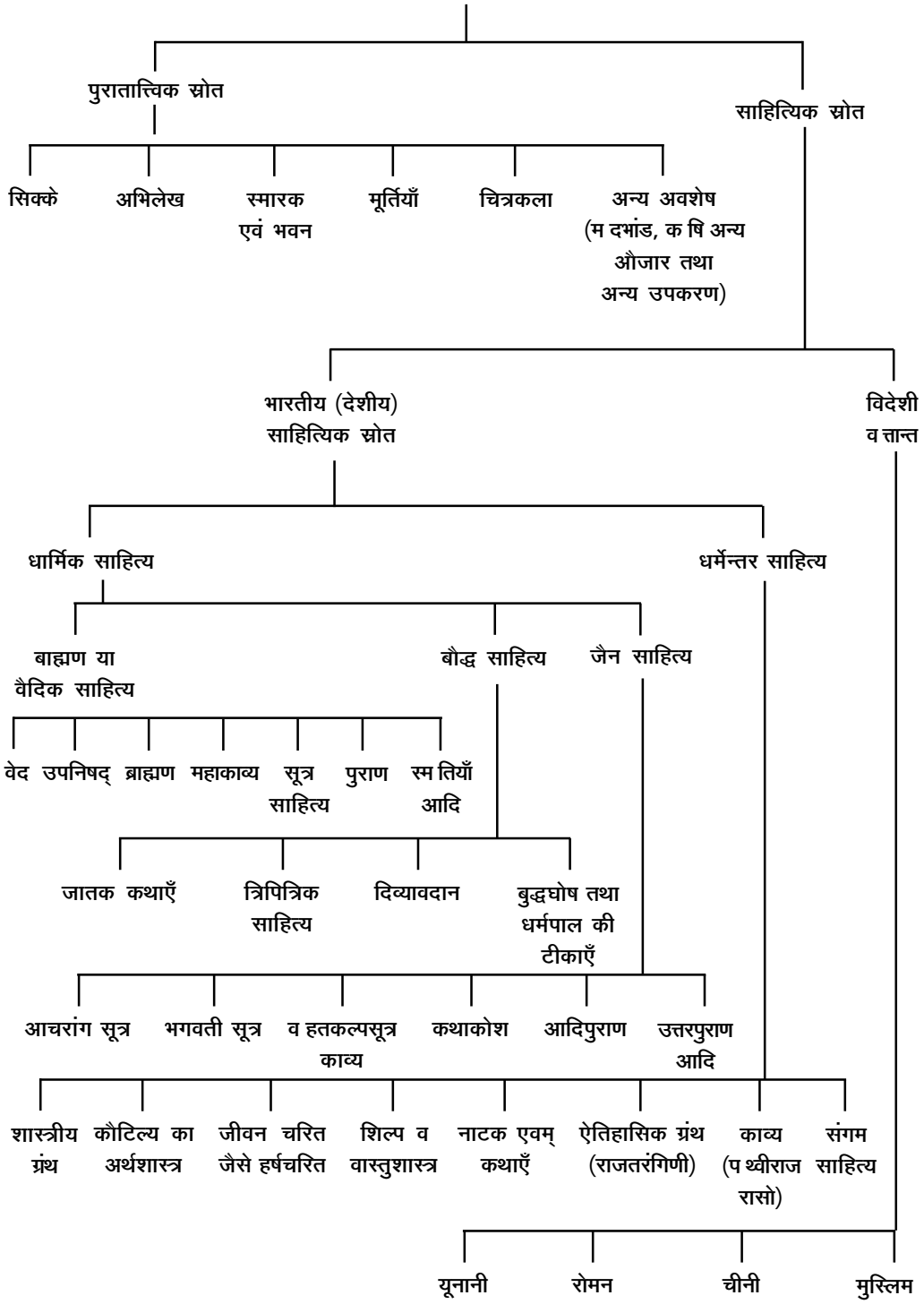

भारतीय इतिहास को जानने के स्त्रोत

पुरातात्त्विक स्रोतः इतिहासकारों ने मुख्यतः राजनीतिक इतिहास के अध्ययन पर ध्यान दिया है और इसलिए उसके निर्माण की सामग्री को उजागर किया है। पर जिन स्रोतों के आधार पर राजनीतिक इतिहास लिखा जाता है, उनके अधिकांश अंशों का उपयोग आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्क तिक इतिहास के निर्माण में हो सकता है, और बहुत से ऐसे स्रोत हैं जिनका उपयोग इसी प्रकार के इतिहास के लिए किया जा सकता है। इस द ष्टि से पुरातात्त्विक सामग्री बड़े महत्त्व की है। आदिकालीन भारतीय जिन बस्तियों में रहते थे और जिन औजारों एवं हथियारों से जीवन-यापन करते थे तथा जिन स्थानों पर पूजा करते थे उनके अवशेष सारे देश में पाए जाते हैं। दक्षिणी भाग में पत्थर के बने मंदिर और पूर्वी भाग में ईंट के बने मठ और विहार इस बात की याद दिलाते हैं कि पुराने समय में बड़े पैमाने पर तरह-तरह की इमारतें बनाई जाती थीं। पुराने अवशेषों के अधिकाँश भाग देश भर में टीलों के रूप में पाए जाते हैं जो कई प्रकार के होते हैं। एक ही टीले में भिन्न किस्म की भौतिक संस्क तियाँ छिपी रहती हैं। ऐसा संभव है कि कुछ टीलों में एक ही प्रकार की संस्क ति मिले। हड़प्पा संस्क ति के विभिन्न चरण बहुत से टीलों में मिले हैं, उनमें दूसरी संस्क तियों का अवशेष नहीं मिलता है। इस प्रकार के टीले सिंधु घाटी के इलाके में पाए जाते हैं। आजकल यह इलाका पाकिस्तान, पंजाब, हरियाणा, दिल्ली और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के पश्चिमी भाग में पड़ता है। हड़प्पा संस्क ति के चिह्न राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में भी पाए जाते हैं। इसकी पहचान विशेष प्रकार के लाल बर्तन, लिखावट और काँसे के हथियारों से होती है। हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो जैसे प्राचीनकाल के बड़े शहरों में अन्न भंडार भी मिले हैं।

यदि हम हड़प्पा संस्क ति के अवशेषों का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि कांस्य युग में शहरी लोग किस प्रकार अपना जीवन पालन करते थे। हड़प्पाई बस्तियों के पड़ोस और दूर-दूर के इलाकों में जो वस्तुएँ पाई जाती हैं उनसे पता चलता है कि वे किस तरह व्यापार करते थे। हड़प्पा की मुहरें मेसोपोटामिया में पाई गई हैं जिससे पता चलता है कि 2500 ई० पू० से लगभग 1800 ई० पू० तक उस देश के साथ सैंधव सभ्यता के लोगों का व्यापार होता था। इस तरह हड़प्पाकालीन स्थानों की खुदाइयों से उस समय के लोगों के आर्थिक जीवन का पता चलता है। तरह-तरह के औजारों, धातुओं और वस्तुओं को देखकर हम पता लगाते हैं कि तीसरी और दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारंभ में कितने प्रकार के शिल्पी और व्यापारी शहर में रहते थे।

बड़ी-छोटी इमारतों से सामाजिक स्तरीकरण का पता चलता है। हड़प्पाकालीन बड़े-बड़े मकानों में शासक और धनाढ्य वर्ग के लोग रहते थे। दो कोठरियों के छोटे-मोटे मकानों में जनसाधारण वास करते थे। खुदाई से मिले मात देवी की अनेक प्रतिमाओं से पता चलता है कि स्त्रियों का स्थान ऊँचा था। लिंग जैसी वस्तुओं के मिलने से अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्पादन शक्ति की पूजा होती थी। लोगों का विश्वास था कि इससे उनके परिवार की व द्धि होगी तथा परिवार में कमानेवालों की संख्या बढ़ेगी।

लगभग 1000 ई० पू० से पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तरप्रदेश और राजस्थान के निकटवर्ती स्थानों में हमें नए प्रकार की पुरातात्त्विक सामग्री मिली है। इसके अध्ययन से जिस प्रकार की आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था का पता चलता है वह हड़प्पा की शहरी सभ्यता से भिन्न है। इस पुरातात्त्विक सामग्री का आधार चित्रित धूसर भाण्ड (Painted Grey Ware) है। इसमें केवल मिट्टी के बने बर्तन मिलते हैं जिनमें थालियों और लोटों की बहुतायत है। इन खुदाइयों में जैसे अरंतजिखेड़ा एवं हस्तिनापुर में चावल और गेहूँ तथा अन्य अनाज मिले हैं जिससे पता चलता है

कि लोगों का जीवन क षिप्रधान था। पर उनके रहने के घर का ठीक से पता नहीं लगता है। घास-फूस की झोपड़ियों को बनाने के लिए खंभों के कुछ खाँच मिलते हैं। ईंट का प्रयोग नहीं होने के कारण उनके किसी साबित घर का पता नहीं है। पर लोहे का हथियार अरंतजिखेड़ा एवं अन्य स्थानों में मिले हैं। यह अधिकाँशतः बरछे और तीर चलाने के काम में लगाए जाते थे। ऐसा लगता है कि चित्रित धूसर भाण्ड के प्रयोग करनेवाले लोग शिकार और लड़ाई से भी अपना जीवन निर्वाह करते थे।

उनके समाज में समानता हड़प्पाकालीन लोगों से कहीं बहुत अधिक थी इस प्रकार के औजार अथवा अन्य भौतिक अवशेष नहीं मिले हैं जिनसे सामाजिक विभेद का बोध हो।

लगभग 600 ई० पू० से उत्तर भारत में इतिहास युगीन पुरातत्त्व प्रारंभ होता है। कालक्रम से इसकी पहली पहचान उत्तरी काले पॉलिशदार बर्तन हैं जिन्हें अँग्रेजी में Northern Black Polished Ware अर्थात् NPBW के संक्षिप्त नाम से पुकारा जाता है। पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार में अवस्थित अनेक स्थलों पर चमकते हुए काले बर्तन के बहुत-से ठीकरे पाए गए है। साथ-ही-साथ लोहे के बहुत-से औजार भी मिलते हैं। ईंट का प्रयोग गंगा के मैदानी इलाकों में लगभग 300 ई० पू० के बाद से प्रारंभ होता है, यद्यपि इसका प्रचलन 200 ई० पू० से होता है। कौशाम्बी, वैशाली, चम्पा इत्यादि स्थलों के खुदाई के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोग गंगा के मैदानी इलाकों में बड़े पैमाने पर बसने लगे और खेती तथा शिल्प के द्वारा जीवन निर्वाह करने लगे। पॉलिशदार बर्तन को बनाने में उन्होंने ऐसी दक्षता प्राप्त की जिसे बाद वाले कारीगर आसानी से हासिल न कर सके। इस बर्तन के साथ-साथ लोग साधारण ढंग के लाल एवं काले रंग वाले बर्तन का भी व्यवहार करते थे। बर्तनों की बनावट देखकर स्पष्ट है कि धनाढ्य वर्ग के लोग ही काले पॉलिशदार बर्तन का प्रयोग करते होंगे, जनसाधारण के लिए यह संभव नहीं था। इन्हीं बर्तनों के प्रयोग करनेवाले के समय में गंगा के बीचवाले मैदानों में शहरीकरण का प्रारंभ होता है। बुद्धकालीन पाली साहित्य में जिन शहरों का वर्णन है उनके अस्तित्त्व का पता उत्खनन से चलता है। लोहे के अधिकाधिक औजारों के मिलने से पता चलता है कि इनका उपयोग केवल युद्ध एवं शिकार में ही नहीं होता था बल्कि खेती और कारीगरी में भी होता था।

दक्षिण भारत में लगभग 800 ई० पू० से एक ऐसे पुरातात्त्विक काल का प्रारंभ होता है जिसे मेगालिथिक कहते हैं। मेगालिथिक बरियल (Megalithic burial) का अर्थ होता है महापाषाणीय शवाधान विधि। इन शवाधानों में लोहे के बहुत-से औजार, काले और लाल रंग के बर्तन तथा अनाज मिले हैं। इस प्रकार की शवाधान की प्रथा 200 ई० पू० तक या उसके बाद भी चलती रहती है। दक्कन अथवा दक्षिण भारत में हमें अन्न उपजानेवाली और जमकर एक स्थान पर रहनेवाली जो बस्तियाँ मिलती हैं उनके संस्थापक वे ही लोग थे जो बड़े-बड़े पत्थरों से घेरकर अपना कब्रगाह बनाते थे।

सिक्के: जब-तक सिक्कों और अभिलेखों का प्रारंभ नहीं होता है। तब तक सामाजिक, आर्थिक इतिहास के निर्माण में पुरातत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। प्राचीन साहित्य के तिथिक्रम की अनिश्चितता के कारण भी पुरातत्त्व का महत्त्व भारत के इतिहास में अधिक है। इसमें संदेह नहीं कि खुदाइयों से जो बर्तन निकलते हैं, इमारतें बाहर आती हैं, धातु व पत्थर के बने उपकरण निकलते हैं, इन्हें देखकर प्रत्येक क्षेत्र के आर्थिक और सामाजिक जीवन का ढाँचा तैयार किया जा सकता है। हम बतला सकते हैं कि किसी शहर अथवा क्षेत्र में कौन-कौन से और कितने प्रकार के शिल्प प्रचलित थे, खेती का क्या तकनीकी स्वरूप था, समाज में किस प्रकार की असमानता

थी और उसमें स्त्रियों का कैसा स्थान था।

आर्थिक और सामाजिक इतिहास के निर्माण में मुद्रा शास्त्र का महत्त्व कुछ कम नहीं है। यद्यपि सिंधु घाटी की सभ्यता में शहर पाए गए हैं परन्तु उस समय का कोई सिक्का नहीं मिला है। ध ातु के बने सिक्के का प्रचलन लगभग 500 ई० पू० से प्रारंभ हुआ। इन्हें 'आहत सिक्के' (Punch Marked) की संज्ञा दी गई है और अधिकाँशतः ये चाँदी के बने होते थे। ये सिक्के मौर्यकाल के पहले और बाद में लगभग 100 ई० पू० तक पाए गए है। इनकी बहुतायत से पता चलता है कि उत्तरी भारत में वाणिज्य व्यापार का प्रारंभ हो गया था और वस्तु विनिमय के स्थान पर मुद्रा के माध्यम से विनिमय होता था। अतएव सिक्कों से वितरण की व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। वणिक और स्वर्णकार शासकों की आज्ञा से सिक्के चलाते थे। पता चलता है कि शिल्प और वाणिज्य का अर्थव्यवस्था में अपना स्थान हो गया था।

मौर्योत्तर काल में सबसे अधिक सिक्के मिलते हैं और निश्चितरूप से राजवंशों के चलाए सिक्कों की पहचान हो सकती है। उन पर हिंद-ग्रीक, शक, कुषाण, सातवाहन आदि राजाओं का नाम लिखा रहता था। सोने के सिक्के पहले-पहल कुषाण राजाओं ने बड़े पैमाने पर इस देश में चलाया। सिक्कों को देखकर ऐसा लगता है कि सातवाहनों और कुषाणों के समय में इस देश का वाणिज्य व्यापार उत्कर्ष पर था। कुछ सातवाहन सिक्कों में जहाज की आक ति मिलती है जिससे सामुद्रिक व्यापार होने का बोध होता है। रोमन साम्राज्य के सोने के बहुत-से सिक्के मिले हैं। ई०पू० लगभग 200 से 300 ई० सन् के बीच बहुत-से नगरों ने भी अपने-अपने सिक्के चलाए।

प्राचीन काल के सिक्के लेड, पोटीन, ताँबे, काँसे, चाँदी और सोने के बने होते थे। गुप्त राजाओं ने सबसे अधिक सोने के सिक्के चलाए। सिक्के बतलाते हैं कि मौर्योत्तर काल और गुप्तकाल के प्रारंभ तक व्यापार ज़ोर से चलता रहा और नगरों की सम द्धि बनी रही।

गुप्तोत्तर काल में सिक्कों का अभाव हो जाता है। 650 ई० सन् से लगभग 1000 ई० सन् तक सोने के सिक्के लुप्तप्राय हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि इस लंबे अर्से में भारी रकम का लेन-देन बंद हो गया था। यह अवस्था उत्तर और दक्षिण भारत में दोनों में पाई जाती है। दूसरे धातु के सिक्के भी संख्या में घट गए थे। कश्मीर, पंजाब और बंगलादेश के कुछ राजवंशों को छोड़कर देश में सिक्के की पहचान राजवंशों से नहीं की जा सकती है। गुर्जर प्रतिहारों के कुछ सिक्के हैं पर जैसा कि के०एस० शर्मा कहते हैं, अधिकाँशतः 10–11 वीं सदी के प्रतीत होते हैं। 7वीं सदी के पश्चात् सबसे अधिक संख्या गधैया पैसों की है। ये अधिकाँशतः पश्चिमी उत्तरप्रदेश, राजस्थान और गुजरात में पाए जाते हैं। इन पर लिखे अभिलेख बतलाते हैं कि गधैया पैसे का प्रचलन अधिकतर 11–14 वीं ई० सन् तक था। अतः 11वीं सदी के पहले सिक्के का अभाव इस बात का द्योतक है कि व्यापार में कमी आ गई थी और नगर पतनावस्था में थे।

समाज के विभिन्न पहलुओं जैसे सिक्कों के अध्ययन से राजाओं और जनसाधारण के रीति-रिवाजों और धार्मिक विश्वासों पर भी प्रकाश पड़ता है। सिक्कों पर राजाओं और देवताओं की आक तियाँ रहती हैं। प्रसिद्ध राजा समुद्रगुप्त को वीणावादक के रूप में सिक्के पर प्रस्तुत किया गया है। उनके सिक्कों से पता चलता है कि मध्य एशियाई होते हुए भी कुषाण शिव अथवा विष्णु की पूजा करते थे। गधैया पैसों पर अग्नि वेदिका है जिससे पता चलता है कि जरथुष्ट्र पूजा का प्रभाव आदि मध्यकाल में भारत पर पड़ रहा था। यह उल्लेखनीय है कि सिक्कों पर कहीं भी मात देवी का अंकन नहीं है। सिक्के एक ऐसे समाज के सूचक हैं जिसमें पित सत्तात्मक प्रधान थी।

अभिलेखः सामाजिक और आर्थिक इतिहास की द ष्टि से अभिलेखों का महत्त्व सिक्कों से बहुत

ज्यादा है। कारण सिक्कों में जगह की कमी के कारण अधिक नहीं लिखा जा सकता है। पर पत्थर या ताँबे पर जो अभिलेख अंकित होते हैं उनके लिखने में यह मजबूरी नहीं है। पूर्व मध्यकालीन भूमि अनुदान संबंधी अभिलेखों का सामाजिक और आर्थिक इतिहास के निर्माण विशेषरूप से योगदान हो सकता है।

ऐसे तो भारत के प्राचीनतम अभिलेख सैंधव सभ्यता के काल के हैं किंतु उन्हें आज तक पढ़ा नहीं जा सका है। जिन्हें पढ़ा गया है उनमें सबसे प्राचीन अशोक के अभिलेख हैं। ये प्राक त भाषा और ब्राह्मी लिपि में लिखे गए हैं और देश के अधिकाँश भाग में पाए जाते हैं। अशोक के कुछ अभिलेख खरोष्ठी, आरमाइक और ग्रीक लिपियों में भी लिखे गए हैं। ये सारे राजकीय अभिलेख राजाज्ञा के रूप में पाए जाते हैं। सामाजिक इतिहास के लिए इनका बड़ा महत्त्व है। अपने धर्मलेखों द्वारा अशोक ने प्रजा के विभिन्न वर्गो के बीच में संबंध को सौहार्दपूर्ण बनाने की चेष्टा की। फिर भी आर्यकालीन आर्थिक स्थिति के बारे में काफी महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। उसके अभिलेखों में ज़ोर दिया गया है कि लोग माता-पिता, श्रमणों और ब्राह्मणों का आदर करें और दासों तथा म तकों पर ध्यान रखें। यह भी बतलाया गया है कि एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायियों के धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाज का आदर करें। अशोक ने सभी धर्मो की सार-शिक्षणों पर जोर दिया है। इस प्रकार से धार्मिक समन्वय अथवा सौहार्द स्थापित करने की चेष्टा की गई है।

अशोक के धर्मलेखों में प्रशासनिक विषय बहुत पाए जाते हैं, आर्थिक सामग्री का अभाव-सा है परन्तु एक अभिलेख बतलाता है कि अशोक ने गौतम बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी नामक गाँव में राजकीय कर घटाकर उपज का आठवाँ हिस्सा कर दिया। ऐसा लगता है कि इसके पहले वहाँ के ग्रामवासियों को राजकर के रूप में उपज का चौथा अथवा छठा भाग देना पड़ता था। जिन खंभों पर अशोक के अभिलेख उत्कीर्ण हैं, वे सारे बलुआ पत्थर के बने थे और मिर्जापुर जिले में अवस्थित चुनार नामक स्थान से ढो-ढोकर सारे देश में ले जाए गए थे। ये सारे खंभे प्रमुख व्यापार मार्ग पर पाए जाते हैं। यद्यपि अभिलेखों में इस बात की चर्चा नहीं है, पर खंभो के चुनार से दूर-दूर तक ले जाने से स्पष्ट है कि मौर्यकाल का परिवहन प्रबंध बुरा नहीं था ओर ये मार्ग व्यापार के लिए भी प्रयोग में आते रहे होंगे।

मौर्यात्तर और गुप्तकाल के अभिलेखों को दो कोटियों में बाँटा जा सकता हैः (1) निजी और (2) सरकारी। निजी अभिलेख अधिकाँशतः दानपत्र के रूप में है। उनमें दाता का परिचय है और दान की वस्तु की चर्चा और दान लेनेवाले का वर्णन है। मौर्योत्तर काल में गया, साँची, भारहुत, नासिक तथा मथुरा के इलाके में बहुत से अभिलेख मिलते हैं जिनमें उन शिल्पियों और सौदागरों के नाम हैं जो बौद्ध और जैन धर्म के विभिन्न निमित्त दान देते थे। अभिलेखों में दान की रकम कार्षापण के माध्यम से बताई गई है जिससे पता चलता है कि मौर्योत्तर काल में मुद्रा का प्रचलन फैल गया था। मुद्रा का दान राजकीय अभिलेखों में भी मिलता है। सातवाहन रानी नयनिका के नासिक गुफा अभिलेख मे यज्ञ में दी गई विभिन्न दक्षिणाओं की रकम को जोड़ा जाए तो वे कुल मिलाकर डेढ़ लाख कार्षापण के बराबर होती हैं। सातवाहन साम्राज्य के निजी अभिलेखों में बहुत से सौदागरों का नाम है जो अपने नगर की भी चर्चा करते हैं। इस प्रकार कल्याण, सोपारा, धेनुकाकटक इत्यादि नगरों के सौदागरों और कामगारों का नाम दान के संदर्भ में आता है। अभिलेखों के लिए इसके अतिरिक्त बहुत सी शिल्प क्षेत्रियों का भी नाम आता है। अतः अभिलेखों के आधार पर हम सौदागर, दस्तकार, नगर और मुद्रा व्यवस्था की रूपरेखा तैयार कर सकते हैं।

साथ ही मौर्योत्तर अभिलेखों से विभिन्न पेशों की भी हमें जानकारी होती है। ऐसा लगता है कि तत्कालीन समाज में सौदागरों और कामगारों की अच्छी भूमिका थी। व्यापार के लिए आवागमन

निरंतर होता रहता था जिससे जाति-बंधन एकदम रूढ़ नहीं हो सकता था। निजी अभिलेखों में बौद्ध भिक्षुणियों के नाम हैं जिनसे पता चलता है कि वास्तव में स्त्रियाँ घर छोड़कर बौद्ध संघ में प्रविष्ट होती थीं। बहुत से अभिलेख बौद्ध धर्म के नाम पर उनके दान का जिक्र करते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी भिक्षुणियों के हाथ में दान करने के लिए पर्याप्त धन रहता था।

यद्यपि प्रारंभ से ही भारतीय समाज में पित्त सत्ता का प्राबल्य था। पर सातवाहन अभिलेखों में राजा की माता का नाम दिया हुआ है और वह राजा के नाम का अंग बना हुआ है। हमें गौतमीपुत्र शातकर्णि, वाशिस्टीपुत्र, पुलुमावी के नाम अभिलेखों में मिलते हैं। साथ ही साथ नासिक गुफा अभिलेख में रानी नयनिका के किए हुए विभिन्न यज्ञों की चर्चा है। वैदिक रीति के अनुसार स्त्रियों को यज्ञ में इस प्रकार भाग लेने का अधिकार नहीं था किंतु रानी नयनिका के हाथों अनेक यज्ञों का संपादन हुआ। इस प्रकार सातवाहन अभिलेखों से पता चलता है कि सातवाहन शासक वर्ग के समाज में मात सत्ता का भी जोर था। यह इसलिए भी महत्त्व का है कि ब्राह्मणवादी ग्रथों में पित सत्ता पर जोर दिया गया है किंतु सातवाहन अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि का एकबम्प्पन (ब्राह्मण) बतलाया गया है, सर्वप्रगमुख ब्राह्मण होने के नाते अभिलेख में वह दावा करता है कि उसने केवल क्षत्रियों के दर्प एवं मान का मर्दन ही नहीं किया बल्कि चारों वर्णों के मिश्रण के कारण जो वर्ण संकट की अवस्था पैदा हुई थी उसका भी अंत किया। इस प्रकार सातवाहन अभिलेखों से हमें वर्णव्यवस्था तथा स्त्रियों की स्थिति के विषय में जानकारी मिलती है।

गुप्तकाल और गुप्तोत्तर काल के अभिलेखों में प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। ऐसे तो प्रशस्ति का प्रारंभ कलिंग राजा खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से होता है। यह अभिलेख ई०पू० पहली सदी का है और इसमें खारवेल के राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख है। इसमें उसकी शिक्षा का जिक्र है और साथ ही साथ यह भी बतलाया है कि ग्रामीण और शहरी (पौर-जानपद) लोगों के साथ उसका कैसा संबंध था। सामाजिक जानकारी के अतिरिक्त हाथीगुम्फा अभिलेख में कलिंग नगर में नहर बनाने की भी चर्चा है। सिंचाई व्यवस्था का प्रबंध रुद्रदामन (150 ई० सन्) के जूनागढ़ अभिलेख से भी पता चलता है, कि किस प्रकार रुद्रदामन ने बिना बेगार लिए सुदर्शन कोल का पुनरुद्धार करवाया।

गुप्तकाल में प्रशस्ति संबंधी सबसे महत्त्व का अभिलेख समुद्रगुप्त की इलाहाबाद खंभे पर हरिषेण द्वारा लिखी प्रशस्ति है। यह उसी खंभे पर लिखी हुई है जिस पर अशोक के अभिलेख हैं। इस प्रशस्ति से समाज के उच्च वर्ग के लोग, जैसे सामंतों और विजित राजाओं पर प्रकाश पड़ता है। इसमें यह भी बतलाया गया है कि इनके और गुप्त राजा के बीच किस प्रकार के सामाजिक और प्रशासनिक संबंध थे।

सातवाहनों के समय से एक नए प्रकार के राजकीय अभिलेखों की प्रथा प्रारंभ होती है जिन्हें भूमि अनुदान संबंधी शासन या सनद कहा जा सकता है। सातवाहनों के समय में इस प्रकार के अनुदानों की संख्या कम है पर गुप्तकाल के एकदम अंत में ये पूरे देश के अधिकाँश भागों में पाए जाते हैं। इस प्रकार के अभिलेखों में उन राजकरों के नाम हैं जिन्हें राजा प्रजा से वसूल करते थे और अनुदान के रूप में वसूली का अधिकार ब्राह्मणों, मंदिरों तथा अन्य लोगों को देते थे। इन अभिलेखों में आर्थिक और सामाजिक महत्त्व के अनेक पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। जैसे- प्रणय, विष्टि, हिरण्य, उद्रंग, उपरिकर, परिहार इत्यादि। अभिलेखों में बहुत से गाँवों के नाम हैं तथा जिन शर्तों पर अनुदानियों को भोग के लिए गाँव दिए जाते थे, उनकी चर्चा है। अतः भूमि अनुदान संबंधी अभिलेखों के आधार पर हम गुप्त और गुप्तोत्तर काल की भूमि व्यवस्था तथा क षि विषयक इतिहास का निर्माण कर सकते हैं।

बहुत से अभिलेखों का समय सुनिश्चित है। जिन अभिलेखों में किसी संवत् की चर्चा नहीं है उनकी लिपि के विकासक्रम को देखकर समय निश्चित किया जा सकता है। पर प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों का समय निर्धारण बड़ा कठिन है जिस कारण से समाज और अर्थव्यवस्था के विकासक्रम को समझने में कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए रामायण और महाभारत की सामग्री का उपयोग बहुत से विद्वान वैदिक समाज के अध्ययन के लिए करते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है। वैदिक काल की परंपराओं के कुछ अवशेष दोनों महाकाव्यों में मिलते हैं, पर वास्तव में दोनों की रचना बहुत बाद की सदियों में हुई अर्थात् गुप्तकाल के लगभग हुई, वैदिक काल की आर्थिक और सामाजिक प्रक्रियाओं को इतिहास वैदिक साहित्य के आधार पर ही लिखा जा सकता है। इसमें उत्तर वैदिक काल के पुरातात्त्विक साक्ष्यों की सहायता ली जा सकती है।

स्मारक और भवनः प्राचीन काल के महल तथा मन्दिर व उनकी शैली से वास्तुकला के निवास पर तो प्रकाश पड़ता ही है। साथ-ही-साथ उनकी सामाजिक आर्थिक अवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। उत्तर भारत के मन्दिरों की शैली नागर शैली कहलाती है जबकि दक्षिण भारत की द्रविड़ शैली और दक्षिणापथ के मंदिरों के निर्माण में नागर और द्राविड़ दोनों शैलियों का प्रभाव पड़ा, अतः वह 'वेसर शैली' कहलाती है। इस प्रकार स्मारकों और भवनों से वास्तुकला के विकास के अध्ययन में बहुत सहायता मिलती है। मंदिरों, स्तूपों और विहारों से तत्कालीन धार्मिक विश्वासों का पता चलता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया और मध्य एशिया में जो मंदिरों और स्तूपों के अवशेष मिले हैं उनसे भारतीय संस्क ति के प्रसार पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। जावा का स्मारक 'बोरो बुदूर' इस बात का प्रमाण है कि आठवीं शताब्दी में वहाँ महायान बौद्ध धर्म बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस प्रकार कला के माध्यम से हम भारत और विदेशों के व्यापारिक, राजनैतिक तथा सांस्क तिक सम्बन्धों की जानकारी भी मिलती है।

मूर्तियाँः इसी प्रकार प्राचीन काल में कुषाणों, गुप्त शासकों और गुप्तोत्तर काल में जो मूर्तियाँ बनाई गई उनसे जनसाधारण की धार्मिक आस्थाओं और मूर्तिकला के विकास पर बहुत प्रकाश पड़ा है। कुषाण काल की मूर्तिकला में विदेशी प्रभाव अधिक है। गुप्त काल की मूर्तिकला में अंतरात्मा तथा मुखाक ति में जो सामंजस्य है। वह अन्य किसी काल की कला में नहीं मिलता। गुप्तोत्तर काल की कला में सांकेतिकता अधिक है जिसे कला में निपुण व्यक्ति ही समझ सकते थे। उसमें वह स्वाभाविकता नहीं है जो गुप्तकाल की मूर्तिकला में मिलती है। प्राचीन भारत की मूर्तिकला से जनसाधारण के सामाजिक-आर्थिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। भारहुत, बोधगया, साँची और अमरावती की मूर्तिकला में जनसाधारण के जीवन की अति सजीव झाँकी मिलती है।

चित्रकलाः इसी प्रकार अजंता के चित्रों में मनोभावों की सुंदर अभिव्यक्ति मिलती है। चित्रकला ने 'माता और शिशु' या 'मरणासन्न राजकुमारी' जैसे चित्रों में ऐसे मनोभावों का चित्रण किया है जो शाश्वत है और जो किसी देश या काल विशेष की बपौती नहीं है। उनसे गुप्त काल की कलात्मक उन्नति का पूर्ण प्रमाण मिलता है। जीवन और कला का अन्योन्याश्रय संबंध है। चित्रकला से हमें तत्कालीन जीवन की झलक देखने को मिलती है और एक सीमा तक आर्थिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार पुरातात्त्विक साक्ष्यों से हम प्राचीन भारत के इतिहास को पहले की अपेक्षा अधिक तर्क संगत ढंग से समझ सकते हैं। क्योंकि पुरातात्त्विक साक्ष्य से हम लेखक के काल्पनिक पुट को अलग कर सकते हैं।

साहित्यिक स्रोत

प्राचीन भारतीय साहित्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं (1) धार्मिक साहित्य, (2) धर्मेत्तर साहित्य। धार्मिक साहित्य तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। (1) ब्राह्मण साहित्य, (2) बौद्ध साहित्य, तथा (3) जैन साहित्य। ग्रंथों में सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद है।

वैदिक साहित्य में ऋग्वेद प्राचीनतम है। इसकी रचना ई० पू० 1500 के लगभग या उससे पहले हुई। ऋग्वेद के प्रथम और दसम् मण्डल बहुत बाद के माने जाते हैं और इनमें बहुत ऋचाएँ मिलती हैं। दसवें मण्डल के पुरुषसूक्त में कहा गया है कि ब्राह्मण विराट् पुरुष के सिर से पैदा हुआ, राजन्य (क्षत्रिय) उसके बाहु से निकला, वैश्य उनकी जाँघ से निकला और शूद्र उसके पैर से निकला। इस उक्ति को बाद में जोड़ा गया है। इसके आधार पर कोई यह नहीं कह सकता है कि वर्णव्यवस्था ऋग्वेद काल से चली आ रही है। इसी प्रकार आर्थिक द ष्टि से खेती के विषय में अधिक जानकारी दसवें मण्डल में मिलती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन पुस्तकों में आसानी से प्रारंभ में या अंत में तोड़-मोड़ किया जा सकता था, इसलिए वैदिक साहित्य या इस प्रकार के अन्य साहित्य के अध्ययन मे ग्रंथ के विभिन्न स्तरों पर बराबर ध्यान रखना पड़ेगा, नहीं तो इतिहास निर्माण सही ढंग से नहीं हो पाएगा। ऋग्वेद से हमें पशुचारण कबीलाई अर्थव्यवस्था का स्पष्ट वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में बार-बार पशुधन की रक्षा, व द्धि के लिए स्तुतिगान लिए गए हैं। यहाँ तक कि सम्बोधन भाषा का निर्माण भी पशुओं से संबंध की पुष्टि करता है, नीति प्रति के लिए दाहित्री शब्द उत्तर वैदिक साहित्य में वैदिक ऋचाओं के साथ-साथ बहुत से विधि-विध ाान पाए जाते हैं। **अथर्ववेद** में जादू-टोने पाए जाते हैं और बीमारियों से कैसे छुटकारा पाया जाए, इसके उपाय मिलते हैं। इसका समय ई० पू० 1000 के बाद रखा जाता है और विद्वान लोग ऐसा मानते हैं कि इसमें अवैदिक संस्क तियों के तत्त्वों की प्रधानता है।

यजुर्वेद का काल लगभग **अथर्ववेद** जैसा ही है और उसमें ऋचाओं के अतिरिक्त अनेक विधि-विधान और अनुष्ठान हैं। इन विधि-विधानों और अनुष्ठानों की व्याख्या ब्राह्मण ग्रंथों में की गई है जिनके नाम हैं- **ऐतरेय ब्राह्मण, पंचविश ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण** आदि। इनमें ऐसे अनुष्ठानों का वर्णन है जिनसे पता चलता है कि राजा अथवा राजन्य ब्राह्मण की सहायता से विश को अपने नियंत्रण में लाने की चेष्टा करता है। अनुष्ठानों की व्याख्या करते हुए इस पर जोर दिया गया है कि राजन्य/क्षत्रिय तथा ब्राह्मण का स्थान सबसे ऊँचा है और वैश्यों का स्थान नीचा है। इसलिए एक ही बिरादरी के बीच आपस के कलह और संघर्ष के कारण कुछ लोग सरदार बन गए और उनके अधिकाँश भाई-बंधु जनसाधारण किसान की कोटि में आ गए, यह अनुष्ठानों से पता चलता है। उत्तर वैदिक काल के अनुष्ठानों के द्वारा शूद्रों को धीरे-धीरे यज्ञ के अधिकार से वंचित किया जाता है। अतएव वर्णव्यवस्था के उदय को जानने के लिए उत्तर वैदिक साहित्य में वर्णित अनुष्ठानों का अध्ययन परमावश्यक है। साथ-साथ इस साहित्य में तक्षत, कर्मार, रथकार आदि बहुत से शिल्पियों का भी वर्णन है, और चावल, गेहूँ जैसे कई अनाजों की चर्चा है। इस प्रकार उस साहित्य को पढ़कर कुरु-पांचाल देश में जो आर्थिक परिवर्तन हुए उनका खाका तैयार किया जा सकता है।

सामाजिक इतिहास की द ष्टि से धर्मशास्त्रों का बहुत बड़ा महत्त्व है। चार प्रकार की विधि-विषयक रचनाओं को मिलाकर धर्मशास्त्र की संज्ञा दी जाती है। ये हैः (1) धर्मसूत्र, (2) स्म ति, (3) टीका और (4) निवंध आदि। धर्मसूत्रों का समय ई० पू० 500–200 के लगभग है। धर्मसूत्रों में आपस्तम्ब और बौद्धायन सबसे प्राचीन माने जाते हैं। गौतम की प्राचीनता मानी जाती है परन्तु उसमें बहुत से प्रक्षिप्त अंश है। धर्मसूत्रों को गद्य में लिखा गया है। इन विधि ग्रंथों में सबसे पहले वर्णव्यवस्था का सुनिश्चित रूप से वर्णन है और चारों वर्ण के अलग-अलग धर्म अथवा कर्त्तव्य निर्धारित किए

गए हैं। राजा को यह जिम्मेदारी दी गई है कि वह वर्णव्यवस्था की रक्षा करें और प्रत्येक वर्ण के लोगों से उनके कर्त्तव्य का पालन कराएँ।

इसी प्रकार धर्मसूत्रों में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया गया है। कुछ विवाहों को धर्मसम्मत् और कुछ को धर्मविरुद्ध बतलाया गया है। स्त्रियों का क्या दायित्त्व है और नियोग अथवा विधवा विवाह हो सकता है या नहीं, इसके लिए धर्मशास्त्रकारों ने नियम बनाए हैं। पहले-पहल अंत्यजों और वर्णसंकरों की चर्चा आती है। पुत्र के क्या अधिकार होते हैं और पिता के मरने पर उसे कैसे संपत्ति में हिस्सा मिलता है, इसकी भी चर्चा है। इसलिए विवाह, परिवार, संपत्ति, वर्णव्यवस्था और अंत्यजों के इतिहास के लिए धर्मसूत्रों का अध्ययन आवश्यक है।

सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ धर्मसूत्रों के पढ़ने से आर्थिक अवस्था का भी पता चलता है। उनमें वणिक और शिल्पियों के श्रेणियों की चर्चा है। श्रेणियों का अंदरूनी काम उनके अपने प्रचलित नियमों के अनुसार संपादित होता था। व्यापार में तथा सजा देने में सिक्कों के प्रयोग का ज़िक्र है। धर्मसूत्रों से सूद लेने की प्रथा के शुरू होने का पता चलता है। इस प्रकार आर्थिक द ष्टि से भी धर्मसूत्रों का अध्ययन लाभदायक है।

ईसवी सन् के प्रारंभ होते-होते धर्मसूत्रों का स्थान स्म तियों ने ले लिया। स्म तियों का रचना काल लगभग 200 वर्ष ई० पू० से नवीं सदी तक है। परंतु अधिकाँश स्म तियों की रचना छठी शताब्दी तक समाप्त हो गई। जहाँ धर्मसूत्र गद्य में लिखे गए हैं वहाँ स्म तियाँ पद्य में लिखी गई हैं। धर्मसूत्र में जिन विषयों का वर्णन है उनकी चर्चा स्म तियों में विस्त त रूप से की गई। साथ-ही नए-नए विषय भी जोड़े गए हैं। स्म तियों में मनु स्म ति को सबसे पुराना माना जाता है। जर्मन विद्वान ब्यूलर ने इसका रचनाकाल 200 ई० पू० से 200 ई० सन् के बीच बताया है पर इसमें ऐसे भी अध्याय हैं, जिन्हें जैसा कि आर०एस० शर्मा कहते हैं, इसमें प्राचीन हिन्दू समाज का वर्णन मिलता है जिसे ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रखा जा सकता है। इसके दसवें अध्याय में 61 वर्णसंकर जातियों का वर्णन है जिनकी उत्पत्ति अधिकतर प्रतिलोम प्रक्रिया के फलस्वरूप बतलाई गई है।

गुप्त काल में याज्ञवल्क्य, नारद, व हस्पति और कात्यायन की स्म तियाँ प्रमुख मानी जाती हैं। गुप्तोत्तर काल में पराशर स्म ति में भी काम की सामग्री पाई जाती है। इन सारी स्म तियों में विशेषकर नारद स्म ति में ब्राह्मण वर्ण को अत्यधिक सुविधाएँ दी गई हैं। स्म तियों में दायभाग का लंबा विवेचन मिलता है। इससे परिवार में विभिन्न प्रकार के पुत्रों का क्या स्थान था, इसका पता चलता है। इनमें व्यवहारकाण्ड में सम्भुय समुत्थान विषय पर नियम बताए गए हैं। उनसे पता चलता है कि व्यापारी आपस में मिलकर कैसे श्रेणी अथवा निगम बनाने थे और पूँजी निवेश के अनुसार मुनाफा बाँटते थे। आचार और प्रायश्चित्त वाले काण्ड विभिन्न जातियों के सामाजिक संबंधों तथा धार्मिक क त्यों पर प्रकाश डालते हैं।

दायित्त्व केवल राजा पर ही नहीं था। ब्राह्मणवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण स्म तियों में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का प्रावधान था। जो लोग अपने वर्ण धर्म, संस्कारक त्य आदि की अवहेलना करते थे उन्हें प्रायश्चित्त भी करना पड़ता था। स्पष्टतः सामाजिक बंधन के कारण ही उन्हें ऐसा करना पड़ता था, इसमें राजा का कोई हाथ नहीं था।

7वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक धर्मसूत्रों और स्म तियों पर अनेक टीकाएँ, निबंध इत्यादि भाष्य के रूप में लिखे गए। भाष्यकारों ने प्राचीनकाल के नियमों की व्याख्या की। विशेषकर दायभाग पर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गई क्योंकि दायादों से संपत्ति के बँटवारे का सवाल बराबर खड़ा होता था। याज्ञवल्क्य स्म ति पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं उनमें दायभाग की व्याख्या पर

बड़ा ध्यान दिया गया है। मनु स्म ति पर 7 टीकाएँ मिलती है। इनमें 9वीं शताब्दी में लिखी हुई मेध ातिथि की टीका प्रसिद्ध है। टीकाओं से पुराने नियमों को समझने में सहायता अवश्य मिलती है पर जहाँ-जहाँ टीकाकारों ने अपने समय के अनुसार पुराने नियमों की व्याख्या की है, यदि हम केवल उन्हीं पर भरोसा करें तो प्राचीन धर्मशास्त्रकारों की वास्तव में क्या मंशा थी, उसका ठीक-ठीक पता नहीं चलेगा। यह भी उल्लेखनीय है कि धर्मशास्त्रों में और उनकी टीकाओं में एक ही तथ्य को बार-बार दुहराया गया है जिससे लोग समझते हैं कि पुराने भारत की सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन का सर्वथा अभाव था। पर एक ही विषय पर धर्मशास्त्रकारों और टीकाकारों के भिन्न-भिन्न मत भी पाए जाते हैं। इन मतों को देश, काल और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही ठीक से समझा जा सकता है और उनसे यह भी पता लगता है कि सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन होते रहते थे। उदाहरण के लिए धर्मसूत्रों के अनुसार वर्णसंकर जातियों की संख्या प्रारंभ में लगभग एक दर्जन थी पर मनु स्म ति में यह बढ़कर 61 हो जाती है।

ई० पू० 500–200 के लगभग बहुत से ग ह्यसूत्र लिखे गए जिनका महत्त्व आर्थिक और सामाजिक जीवन के ज्ञान के लिए कहीं अधिक है। खदिंर, गोभिल, बौधायन, पराशर इत्यादि प्राचीन लेखकों क ग ह्यसूत्र पाए जाते हैं। इनका समय करीब-करीब वही है जो धर्मसूत्रों को है। इन ग्रथों में जन्म से लेकर मरण तक के संस्कारों का वर्णन है। इनमें अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, विवाह, श्राद्ध इत्यादि संस्कारों का वर्णन है। ये संस्कार केवल द्विजों के लिए हैं, शूद्रों के लिए नहीं। शूद्रों के संस्कार बिना वैदिक मंत्र के होते हैं। प्रारंभ में संस्कारों की संख्या 16 है किंतु बाद में बढ़ते-बढ़ते तीन दर्जन हो जाती है और उनमें से बहुत से संस्कार शूद्र भी निष्पादित कर सकते हैं।

ग ह्यसूत्र में संस्कारों के संबंध में अनेक अनुष्ठान निर्धारित हैं जिनमें तरह-तरह के उपकरण, जैसे पौधे, अनाज, धातुओं आदि की आवश्यकता होती है। इन सामग्रियों का ठीक से अध्ययन करने पर प्राचीन काल के भौतिक और आर्थिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

धर्मसूत्रों के समान ग ह्यसूत्र भी गद्य में लिखे गए और उसी प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना भी अधिकाँशतः गद्य में हुई है। अर्थशास्त्र में जहाँ-तहाँ पद्य भी मिलते हैं पर उसे प्रक्षिप्त मानना चाहिए। यद्यपि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाई गई सामग्री का उपयोग मौर्यकाल की आर्थिक और सामाजिक अवस्था जानने के लिए की जाती है। पर सुनिश्चित रूप से इस ग्रंथ का काल निर्धारण नहीं हो सका है। इसके दूसरे, तीसरे व पाँचवे अधिकरण में पुरानी सामग्री पाई जाती है जिसका उपयोग मौर्यकाल के लिए किया जा सकता है। इसके बाकी अधिकरण मौर्योत्तरकाल की अवस्था को प्रतिबिंबित करते हैं। स्वभावतः अर्थशास्त्र में अर्थ-संबंधी विषयों का विशद विवेचन है। द्वितीय अधिकरण के पढ़ने से क षि, वाणिज्य, शिल्प, सिंचाई, मुद्रा की ढलाई इत्यादि बहुत प्रकार के आर्थिक क्रिया-कलापों पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य ने सभी प्रमुख आर्थिक क्रियाकलापों का संचालन राजा के हाथ में दिया है और हर काम के लिए एक अध्यक्ष नियुक्त करने की व्यवस्था दी है। अर्थशास्त्र में सीताध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष आदि अनेक अध्यक्षों की चर्चा है, और आर्थिक क्रियाकलापों को संपादित करने के लिए उनके कर्त्तव्यों का निर्धारण है। अर्थशास्त्र के 5वें अधिकरण में भ त्यभरणीयम् नामक पहला अध्याय है जिसमें राजा द्वारा नियुक्त बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे पदाधिकारियों-कर्मचारियों के वेतन की चर्चा है। सबसे अधिक वेतन 48 हजार पण दिया गया है और सबसे कम 60 पण । ऐसे 10 और 20 पण पानेवाले कर्मचारियों की भी चर्चा है। इस प्रकार की वेतन व्यवस्था से पता चलता है कि अधिकतम वेतन पानेवाले और न्यूनतम वेतन पानेवाले में बहुत बड़ा भेद था। पर इतना स्पष्ट है, जैसा कि कौटिल्य कहता है, वेतन जिन्स के रूप में नहीं बल्कि मुद्रा के माध्यम से दिया जाता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राचीन भारत के समाज के स्वरूप को समझने के लिए यथेष्ट सामग्री मिलती है। इसमें दासकर्मकरकल्प नामक अध्याय है जिसमें विभिन्न प्रकार के दासों की चर्चा है। कौटिल्य ने आठ प्रकार के विवाहों का भी वर्णन किया है और बतलाया है कि उसमें चार धर्म्य हैं और चार अधर्म्य हैं। जो धर्मसम्मत विवाह हैं उसमें केवल पिता की बात चलती है और जो अधर्म्य विवाह हैं वे माता-पिता दोनों की सहमति से होते हैं।

ऐसे तो कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी ब्राह्मणवादी परंपरा की प्रधानता है लेकिन निकट से देखने से धर्मशास्त्रों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कुछ अंतर मालूम पड़ता है। धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों को अनेक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उन सारी सुविधाओं का जिक्र नहीं है तथा साथ ही अपराधी ब्राह्मण को कड़े दंड देने की भी व्यवस्था है। ऐसा लगता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में क्षत्रियों का कुछ अधिक बोलबाला है।

पुराणः कई विद्वानों का विचार है कि पुराणों में क्षत्रियों की वंशावली प्रमुख है। इन ग्रंथों में क्षत्रिय राजाओं की वंशावली दी गई है। बहुत सी वंशावलियाँ गढ़ी हुई है, इसलिए उन पर भरोसा करना कठिन है। यदि हम गुप्तोत्तर के अभिलेखों का अवलोकन करें तो पता चलेगा कि नए-नए राजवंश अपनी वंशावली सूर्यवंश और चंद्रवंश से प्रारंभ करते हैं। ये वंशावलियाँ क्षत्रियों ने अपने लिए स्वयं नहीं बनाई बल्कि ब्राह्मणों ने उनको तैयार किया। बदले में ब्राह्मणों को भूमि अनुदान और दूसरे प्रकार के भी दान मिलते थे। सामाजिक इतिहास की द ष्टि से पुराणों का पढ़ना आवश्यक है। पुराणों की संख्या 18 हैं परंतु उनमें **विष्णु, ब्रह्माण्ड, भागवत, वायु, मत्स्य और भविष्य-पुराण** प्राचीन माने जाते हैं। अधिकाँश पुराणों का संकलन गुप्तकाल के अंत तक हो गया था। किंतु बहुत से पुराण 15वीं 16वीं शताब्दी तक लिखे जाते रहे और उनके जोड़ तोड़ तो 19वीं सदी तक चलता रहा। सामाजिक और सांस्क तिक द ष्टि से अग्निपुराण का अपना महत्त्व है पर यह 9वीं से 11वीं सदी तक की रचना मालूम होती है। अग्निपुराण का रूप भी और पुराणों की तरह विश्वकोश जैसा है। इसमें व्याकरण और भुवनकोश से लेकर वंशावली तक पाई जाती है। राजतंत्र संबंधी सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। आर्थिक जानकारी के लिए यदि यह महत्त्वपूर्ण है, आर्थिक द ष्टि से **अग्निपुराण** में क षि संबंधी जानकारी करीब-करीब उसी प्रकार मिलती है, जैसे- वराहमिहिर की **ब हत्संहिता** (6वी शताब्दी) और पराशर स्म ति (8वी शताब्दी) में मिलती है।

पुराणों की संख्या 18 है। स्म तियों की भी संख्या वही बतलाई जाती है। कभी-कभी जातियों और प्रक तियों की संख्या भी 18 बतलाई जाती है। इस तरह 18 पारंपरिक पद हैं जिनका प्रयोग कई संदर्भो में होता है। इसलिए यह जरूरी नहीं है कि पुराणों की संख्या केवल 18 तक ही सीमित हो। पुराणों में सभी प्रकार के विषयों का समावेश है। संकलनकर्ताओं को समाज, धर्म, तीर्थ, भूगोल, राजवंश इत्यादि के विषय में जो भी जानकारी उपलब्ध थी वह पुराणों में पाई जाती है। अधिकाशं पुराणों में धर्मशास्त्र के बहुत अंश पाए जाते हैं। जिससे सामाजिक संस्थाओं के संचालन में सहायता मिलती थी। पुराणों के संकलनकर्ता परिवर्तन की धारणा से अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने क त, त्रेता, द्वापर और कलिचार युगों का वर्णन किया है। इनमें प्रत्येक आगे आने वाले युग को अपने पिछले युग से अधम बतलाया गया है और कहा गया है कि एक युग के पश्चात् जब दूसरे युग का आविर्भाव होता है तब नैतिक मूल्यों तथा सामाजिक मानदंडों का अधःपतन होता है। इस प्रकार कलियुग को वर्णसंकर का युग बतलाया गया है जिसमें विभिन्न वर्ण के लोग अपने शास्त्र-सम्मत कर्त्तव्यों को त्यागकर दूसरे के कर्त्तव्यों को अपनाते हैं।

प्रमुख पुराणों का अंतिम रूप से संकलन 400 ई० आसपास हुआ प्रतीत होता है। प्राचीन भारत के दो महाकाव्य (रामायण और महाभारत) पुराण जैसे ही हैं। महाभारत व्यास की क ति मानी जाती

है। पहले-पहल इसमें केवल 8,800 श्लोक थे और इसका नाम था जय अर्थात् इसमें विजय संबंधी कहानी थी। बाद में यह बढ़कर 24,000 श्लोकों का हो गया और इसका नाम भारत पड़ा। भारत नाम इसलिए पड़ा कि इसमें प्राचीनतम वैदिक जन भरत के वंशजों की गाथा है। गुप्तकाल तक आते-आते श्लोकों की संख्या 1,00,000 हो गई और फलस्वरूप यह शतसाहस्त्री संहिता महाभारत कहलाने लगा। इसकी मूलकथा कौरवों और पाण्डवों के बीच का युद्ध है, जिसका समय उत्तरवैदिक काल में लगभग 1000 ई०पू० रखा जाता है। इसमें जिन प्राचीनतम सामाजिक प्रथाओं की चर्चा है उनका उपयोग उत्तरवैदिक काल के संदर्भ में किया जा सकता है पर महाभारत में आख्यानात्मक अंश के अतिरिक्त उपदेशात्मक अंश भी है। इस अंश का उपयोग मौर्योत्तर काल और गुप्तकाल के संदर्भ में हो सकता है। महाभारत के शांति पर्व में राजतंत्र संबंधी शिक्षाएँ हैं। इसमें करारोपण के जो सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं, वे आर्थिक द ष्टि से महत्त्व के हैं। वर्ण और जातियों की भी चर्चा है। शांति पर्व में बहुत से ऐसे श्लोक मिलते हैं जो अक्षरशः मनुस्म ति में पाए जाते हैं।

रामायण वाल्मीकि की रचना है। इसमें मूलतः 6,000 श्लोक थे जो बढ़कर 12,000 हो गए और अंततः इसकी संख्या 24,000 हो गई। इस महाकाव्य में महाभारत की अपेक्षा विजय की अधिक एकरूपता है और उतने मिथक तथा आख्यान नहीं है। किंतु इसमें भी उपदेश वाले भाग बाद में जोड़े गए हैं। इसकी रचना संभवतः ई० पू० 5वीं सदी में शुरू हुई तब से यह पाँच अवस्थाओं से गुजर चुकी है और इसकी पाँचवी अवस्था 12वीं सदी तक बतलाई गई है। कुल मिलाकर रामायण की रचना महाभारत के बाद हुई मालूम पड़ती है। जो लोग प्राचीन भारत के पित सत्तात्मक परिवार के स्वरूप के विषय में जानना चाहते हैं उनके लिए रामायण का पठन आवश्यक है। इसके अध्ययन से नारी और शूद्र की अवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है।

6ठी शताब्दी से मध्यकाल के प्रारंभ में हमें कुछ जीवनचरित मिलते हैं। जिनसे समाज के सामंती स्वरूप का पता चलता है। वाणभट्ट का हर्षचरित जो 7वीं सदी में लिखा गया, इसी प्रकार की रचना है। यह लगभग जीवनचरित के ढंग का गद्यकाव्य है जिसमें अलंकारों की भरमार है। इसमें हर्ष के प्रारंभिक जीवन का विवरण है। हर्षचरित में हर्ष के परिवार के सामंती स्वरूप और उसके युग के सामाजिक और धार्मिक जीवन का विलक्षण आभास मिलता है। बाद में और भी कई चरित लिखे गए। संध्याकर नन्दी ने 12वीं सदी में रामचरित लिखा जिसमें कैवर्त्त जनजाति का वर्णन है। विल्हण के विक्रमांकदेव चरित में कल्याण के चालुक्य राजा पंचम विक्रमादित्य (1016–1127 ई०) के पराक्रमों का व तांत है। बढ़ते वाणिज्य-व्यापार के कारण 12 वीं-13 वीं सदी में गुजरात में कई सेठों के चरित लिखे गए। इनमे एक जगडु चरित है जो तत्कालीन पश्चिम भारत की आर्थिक अवस्था पर प्रकाश डालती है। उत्तरी केरल में 11वीं सदी में मुशिकवंश नामक एक रचना मिलती है जिससे पता चलता है कि जनजाति के सरदार कैसे राजवंश स्थापित करते थे और ब्राह्मणों के समर्थन में वैधता प्राप्त करते थे। प्रारंभिक इतिहास लेखन का सबसे अच्छा उदाहरण राजतरंगिणी है। इसका अर्थ होता है राजाओं की धारा और इसमें कश्मीर के राजाओं के चरित की चर्चा है। इसकी रचना कल्हण ने 12वीं सदी में की। इस पुस्तक से पता चलता है कि यह मध्यकाल के प्रथम चरण में सामाजिक संगठन और भूमि व्यवस्था में किस प्रकार के बदलाव आए।

चरितों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ जिनमें नाटक, काव्य आदि आते हैं, आर्थिक और सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिए लाभदायक हैं। भास के बहुत से नाटक मिले हैं जिनको मौर्योत्तर काल में रखा जाता है। ये नाटक तत्कालीन सामाजिक प्रचलन के प्रतिबिंब हैं। कालिदास को गुप्तकाल में रखा जाता है। उनकी रचनाओं में मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तलम,

रघुवंश इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इनके आधार पर भगवतशरण उपाध्याय ने कालिदास के काल में भारत नामक पुस्तक लिखा है। जिसमें बतलाया गया है कि उस समय की आर्थिक, सामाजिक और सांस्क तिक अवस्था कैसी थी। इसी प्रकार शूद्रकलिखित म च्छकटिक और विशाखदत्तरचित मुद्राराक्षस गुप्त और गुप्तोत्तरकाल की सामाजिक अवस्थाओं से हमारा परिचय कराते हैं। 7वीं सदी में लिखी हुई दण्डी की पुस्तक दशकुमारचरित दक्षिण भारत और दक्कन की सामाजिक अवस्थाओं का आभास देती है। मध्यकाल के आदि चरण में माघ, भारवि और राजशेखर जैसे साहित्यकारों की पुस्तकों से समाज विषयक जानकारी मिलती है। धनपाल की तिलकमंजरी, जो 10वीं सदी की रचना है, उस समय के व्यापार के विषय में बतलाती है।

संस्क त साहित्य में व्याकरण, ज्योतिष, शब्दकोश जैसे बहुत से तकनीकी अथवा शास्त्रीय ग्रंथ लिखे गए हैं जिससे पुराने समय के आर्थिक और सामजिक जीवन का ज्ञान होता है। पाणिनी के अष्टाध्यायी नामक व्याकरण के सूत्रों को समझाने के लिए जो उदाहरण दिए गए हैं उनसे आर्थिक और सामाजिक अवस्था का पता लगाया जा सकता है। पाणिनी का समय ईसा से लगभग 400 वर्ष पूर्व माना जाता है और पाणिनी की पुस्तक से उत्तर भारत के भूगोल का पता चलता है। अष्टाध्यायी और उसकी टीकाओं के आधार पर वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनीकालीन भारत नामक पुस्तक लिखी है। पाणिनी के व्याकरण पर ई०पू० 150 के लगभग पत जलि ने अपना महाभाष्य तैयार किया। उसको पढ़ने से मौर्योत्तर काल की आर्थिक और सामाजिक अवस्था का पता चलता है।

ज्योतिष के ग्रंथों का भी कुछ कम महत्त्व नहीं है। 6ठी सदी में वराहमिहिर ने उज्जैन में ब हत्संहिता नामक पुस्तक लिखी जिसका उपयोग शोधकर्ताओं ने गुप्तकाल में उत्तरभारत के आर्थिक इतिहास के लिए किया है। ब हत्संहिता में क षि संबंधी बहुत-सी जानकारी मिलती है। विभिन्न वर्णो और विभिन्न प्रकार के अधिकारियों का किस प्रकार का घर होना चाहिए, इसकी भी चर्चा इस पुस्तक में है। क षि की द ष्टि से क षिपराशर और काश्यप क षिसूक्ति नामक दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। पहली लगभग 11वीं सदी का है और दूसरी का संकलन 11वीं सदी के बाद कभी मध्यकाल में हुआ है। पर यह माना जाता है कि दूसरी पुस्तक में बहुत सी ऐसी बातें है जो 8वीं-9वीं सदी की हो सकती हैं। क षिपराशर में जो वर्णन आया है वह उत्तर भारत पर लागू होता है। काश्यप क षिसूक्ति किसी धान उपजानेवाले इलाके में लिखी गई; यद्यपि यह दक्षिण भारत में पाई गई है, यह उत्तर या दक्षिण कहीं की भी रचना हो सकती है। इन पुस्तकों में फसलों की, तरह तरह के बीजों की और विभिन्न प्रकार के अनाजों की चर्चा है। वर्षा होने का अनुमान कैसे लगाया जा सकता है इसकी भी जानकारी क षिपराशर में दी गई है। अतएव क षि के इतिहास के लिए इस तरह के ग्रंथ बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं।

अमरसिंह के लिखे अमरकोश से आर्थिक और सामाजिक अवस्था का पता चलता है। इसकी रचना 400 ई० के लगभग हुई और इसमें एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं। इन पदों या शब्दों का अध्ययन करने से आर्थिक और सामाजिक स्थिति तथा विशेषकर विभिन्न प्रकार के पेशों और उपकरणों का पता चलता है।

वात्स्यायन का कामसूत्र जो गुप्त अथवा गुप्तोत्तरकाल में लिखा गया, नगर जीवन, वेश्या जीवन जैसे विषयों की जानकारी के लिए उपयोगी है। नगर में रहनेवाले नागरिक का जीवन कैसा होता था, इसकी चर्चा वात्स्यायन ने विस्तार से की है। इससे पता चलता है कि नगर में रहनेवाले सम द्ध लोग हाथ-पाँव नहीं चलाते थे और उनके पास इतने साधन थे कि बैठे-बैठे अच्छी तरह से उनका

गुजारा होता था। कामसूत्र में यह भी बतलाया गया है कि गाँव का मुखिया ग्रामीण औरतों को अपने खेत-खलिहान में जबर्दस्ती खटवाता था।

शिल्पशास्त्रों पर अनेक पुस्तकें हैं जिनसे केवल शिल्पियों के विषय में अथवा तकनीकी जानकारी ही नहीं मिलती है बल्कि यह भी पता चलता है कि विभिन्न श्रेणियों के राजाओं और सामंतों के लिए किस-किस प्रकार के मकान बनते थे। इससे समाज के उच्च वर्ग में भी विभेदीकरण दिखाई पड़ता है।

जैन साहित्यः आर्थिक और सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए जैन ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक है। जैन धर्म ने वर्णव्यवस्था और वैदिक कर्मकांडों की बुराइयों को रोकने का बड़ा प्रयास किया। जैनों ने ब्राह्मणों द्वारा संपोषित संस्क त भाषा का परित्याग कर अपने धर्मोपदेश के लिए प्राक त भाषा को अपनाया। उनके धार्मिक ग्रंथ अर्द्धमागधी भाषा में लिखे गए और ये ईसा की 6ठी सदी में गुजरात के विद्या केंद्र वलभी नामक स्थान में अंतिम रूप से संकलित किए गए। जैन धर्म की शिक्षाएँ आगम नामक धर्मग्रंथों में पाई जाती हैं। इनमें कल्प सूत्र, भगवती सूत्र आदि प्रधान आगम हैं, और उन्हें ई०पू० 6ठी सदी के आसपास रखा जाता है। पढने से प्राचीन सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था की जानकारी नहीं मिलती अपितु नगर और आर्थिक गतिविधियों का पता चलता है। हमें यह पता चलता है कि उस समय कितने प्रकार की शहरी और देहाती बस्तियाँ होती थी। सामुद्रिक व्यापार के विषय में भी पता चलता है। 6ठी शताब्दी के बाद जैन धर्म-ग्रंथों पर अनेक टीकाएँ एवं चर्णियाँ लिखी गईं जिनका अध्ययन अभी भी सामाजिक एवं आर्थिक द ष्टि से नहीं हुआ है। प्राचीन जैन साहित्य के आधार पर जगदीशचन्द्र जैन ने पुस्तक लिखी है जिसमें बतलाया गया है कि जैन ग्रथों में जनजीवन कैसा था। जैन साहित्य में महाकाव्य, पुराण, आख्यायिका, नाटक आदि हैं, जैसे- हरिभद्र सूरि को समरादित्य कथा धूर्ताख्यान और कथाकोष उद्योतन सूरि का कुवलयमाला सिद्धर्षिसूरि की प्रपंच कथा, जिनसेन का आदिपुराण, गुणचद्र का उत्तरपुराण। इसमें काफी रचनाएँ संस्क त में भी पाई जाती हैं। इस साहित्य का बहुत बड़ा भाग आज भी पांडुलिपि के रूप में गुजरात और राजस्थान के जैन मठों में पड़ा है और अप्रकाशित है। पांडुलिपियों और प्रकाशित ग्रंथों को आलोचनात्मक ढंग से पढ़ने की आवश्यकता है। इनमें विशेषतः पश्चिमी भारत की 7वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी तक की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों का प्रतिबिंब मिलता है। ऐतिहासिक द ष्टि से वसुदेवहिण्डी, व हत्कल्पसूत्र, भाष्य आवश्यक चूर्णि, कलिका पुराण, कथाकोष महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथ हैं परन्तु महत्त्वपूर्ण हेमचन्द्र क त परिशिष्ट पर्व है जिसकी रचना ईसा की 12वीं शताब्दी में हुई।

बौद्ध साहित्यः जैनों ने पहले प्राक त में लिखा और बाद में संस्क त और क्षेत्रीय भाषाओं में, पर बौद्धों ने पाली भाषा में लिखा और इसमें लिखे हुए साहित्य का प्रचार श्रीलंका, बर्मा, चीन इत्यादि देशों में हुआ। पाली मे लिखे सारे बौद्ध साहित्य को तीन कोटियों में बाँटा गया है। ये हैं-सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। सुत्तपिटक, का भंडार बहुत बड़ा है। ऐसे तो इसमें गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का संग्रह है किंतु इसके अतिरिक्त बहुत-सी कथाएँ भी मिलती हैं। सुत्तनिपात धार्मिक शिक्षाओं का सबसे पुराना संग्रह माना जाता है यद्यपि धम्मपद सर्वप्रिय शिक्षासंग्रह है। सुत्तनिपात के पढ़ने से पता चलता है कि बौद्ध भिक्षु गाय-बैल को खेती के लिए अति आवश्यक क्यों समझते थे। दीघनिकाय सुत्तपिटक का प्राचीन अंश है जिसमें कृषिव्यवस्था, वाणिज्य इत्यादि के विषय में जानकारी मिलती है। यह भी पता चलता है कि गौतम बुद्ध ब्राह्मणों को केवल जन्म के आधार पर समाज में सर्वश्रेष्ठ क्यों नहीं मानते थे पर आर्थिक और सामाजिक द ष्टि से खुद्दकनिकाय में समाविष्ट जातक कथाओं का सबसे अधिक महत्त्व है। बौद्धों का ऐसा विश्वास है कि गौतम बुद्ध

के रूप में पैदा होने वाले पहले बुद्ध ने 550 बार से अधिक जन्म लिया। प्रत्येक जातक में बुद्ध पूर्व जन्म की कहानी है जिसमें उस समय की सामाजिक आर्थिक की झलक मिलती है। जातक बतलाते है कि वाणिक समुदाय का समाज में अच्छा स्थान था और वे जल-स्थल दानों मार्ग से व्यापार करते थे। बहुत से विद्वान जातक कथाओं का समय ई०पू० 6ठी अथवा 5वीं सदी में रखते है। पर जातक कथाओं में ई०पू० लगभग 200 अथवा उससे कुछ पहले का प्रतिबिंब मिलता है। इन कथाओं का रेखांकन साँची और भारहुत के शिल्प में मिलता है जिसका समय ई०पू० लगभग 200 वर्ष पहले है।

विनयपिटक में उन नियमों की तालिका है जिनका भिक्षु और भिक्षुणियों को पालन करना पड़ता था। उदाहरण के लिए उन्हें सोने एवं चाँदी छूने की मनाही थी, वे साधारण उपासक जैसे- क षि और वाणिज्य में भाग नहीं ले सकते थे। भिक्षाटन के द्वारा उनके लिए सादा जीवन बिताना जरूरी था। संघ में भिक्षुणियों के लिए जो नियम बने है उनसे स्त्रियों की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। विनयपिटक के नियमों को पढ़ने से पता चलता है कि भिक्षु और भिक्षुणियों का संबंध विभिन्न पेशों में लगे रहनेवाले लोगों से कैसा था और आपस में ये किस प्रकार का रिश्ता रखते थे।

अभिधम्मपिटक में बौद्ध दर्शन की चर्चा है और इसमें सिद्धांतों को प्रतिपादित करने के लिए जो कुछ उदाहरण दिए गए है उनसे सामाजिक गतिविधियों का आभास मिलता है।

5वीं सदी में प्राचीन पाली पोथियों की व्याख्या करने के लिए श्री लंका में बहुत-सी टीकाएँ लिखी गई। बुद्धघोष और धर्मपाल को इन टीकाओं का रचयिता माना जाता है। टीकाओं के पढ़ने से पता चलता है कि बदलती आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में पुरानी शिक्षाओं अथवा घटनाओं की व्याख्या किस प्रकार की गई।

संगम साहित्यः संस्क त, पालि और प्राक त स्रोतों के अतिरिक्त कुछ प्राचीनतम तमिल ग्रंथ हैं जिनसे ईसा के प्रारंभिक सदियों में दक्षिण भारत की सामाजिक-आर्थिक अवस्था का पता चलता है। प्राचीनतम तमिल ग्रंथ संगम साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। संगम तमिल कवियों का संघ अथवा सम्मेलन था जो संभवतः राजा या सरदार के प्रश्रय में आयोजित होता था। संगम की कितनी संख्या थी और कब-कब बैठकें हुई, यह पता नहीं है। ईसा की 8वीं सदी में संगम साहित्य की तमिल टीकाओं में कहा गया है कि तीन संगम 99990 वर्ष चलते रहे, उनमें 8898 कवि शामिल थे और 197 पाण्ड्य राजा उनके संपोषक थे। किंतु यह अतिरंजन की पराकाष्ठा है। केवल इतना कहा जा सकता है कि मदुरै में पाण्ड्य राजा के आश्रय में संगम आयोजित होते थे। संगम साहित्य का अधिकांश संकलन लगभग 300 ई० और 600 ई० के बीच हुआ। परंतु इसके कुछ भाग ई० पू० दूसरी सदी के प्रतीत होते है। संगम साहित्य में काव्य 30,000 पंक्तियों में है, और इसें संकलनों में बाँटा गया है। इसमें संदेह नहीं कि संगम साहित्य के कई स्तर है जो एक के बाद एक लिखे अथवा संकलित किए गए है। विद्वानों ने शैली, विषयवस्तु और पुरातात्त्विक आधार पर संगम साहित्य में स्तर-निर्धारण की चेष्टा की है। परंतु अभी तक यह सर्वमान्य नहीं हो पाया है संगम साहित्य को मोटे तौर पर दो समूहों में बाँटा जा सकता है। आख्यान समूह और उपदेश समूह। आख्यान वाले ग्रंथ मेल्कनक्कु अर्थात् 18 मुख्य ग्रंथ कहलाते है। उपदेशात्मक ग्रंथ किल्कनक्कु अर्थात् 18 लघुग्रंथ कहलाते हैं।

दोनों प्रकार के संगम ग्रंथो में सुदूर दक्षिण में समाज के विकास के चरण दिखलाई देते है। प्रारंभ मे दक्षिण के लोग अपने सरदारों के अधीन जीवन बिताते थे और आख्यानात्मक ग्रंथों में नायकों (वीर पुरुषों) की और नायिकाओं की भी कीर्ति गाई गई है। निरन्तर चल रहे युद्धों और पशुहरणों

का बारंबार उल्लेख है। इससे लक्षित होता है कि तमिल और उनके पड़ोसी प्रारंभ में पशुचारक थे। संगम साहित्य से प्रकट होता है कि युद्ध की लूट से बहुतों का जीवन निर्वाह होता था। यह भी कहा गया है कि जब वीर मरता है तो वह पत्थर के टुकड़े के समान हो जाता है। पुरातत्त्व बतलाता है कि मैगेलीथिक अर्थात् महापाषाणिक लोग अपनी कब्रों को पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों से घेरते थे।

आख्यानात्मक संगम ग्रंथों से पता चलता है कि सेना नाममात्र की होती थी और कर-संग्रह-प्रणाली तथा न्यायव्यवस्था प्रारंभिक अवस्था में थी। इन ग्रंथों से हमें वणिकों, शिल्पियों तथा क षकों के बारे में जानकारी मिलती है। इनमें कई नगरों का उल्लेख है जिनमें काँची, मदुरै और पुहार अथवा कावेरीपट्टनम प्रसिद्ध है। इस आधार पर संगम स्थलों पर खुदाई हुई है और इससे प्राचीन नगरों के अवशेष मिले हैं तथा उनके वाणिज्य व्यापार का पता चला है।

संगम ग्रंथों के उपदेशात्मक अंश-संस्क त और प्राक त जाननेवाले ब्राह्मण पंडितों की रचना है। इन ग्रंथों में न केवल राजा और राजसभा के लिए बल्कि विभिन्न सामाजिक और व्यावसायिक वर्गों के लिए भी आचार-विचार निर्धारित किए गए है। संभवतः ऐसे नियम ईसा की चौथी सदी के बाद बने जब पल्लवों के प्रश्रय से काफी संख्या में ब्राह्मण आए। संगम ग्रंथों में ग्राम-दान राजाओं के सूर्यवंश और चंद्रवंश का भी उल्लेख है। ऐसा लगता है कि यह पुराणों के प्रभाव के कारण हुआ।

संगम साहित्य के अतिरिक्त कुछ और भी प्राचीन तमिल साहित्य हैं। इनमें से शिक्षा संबंधी एक ग्रंथ है जिसका नाम है तिरूकुरल। यह नीतिशास्त्र जैसा है। इसमें जो दार्शनिक विचार और सूक्तियाँ है उनसे 6ठी शताब्दी के आस-पास के ब्राह्मण प्रभावित समाज पर प्रकाश पड़ता है। तोल्कल्प्पियम नामक तमिल ग्रंथ में व्याकरण और अलंकारशास्त्र पाया जाता है, पर इससे भी समाज की झलक मिलती है।

तमिल के दो प्रसिद्ध महाकाव्य है - सिलपदिकरम और मणिमेकलै। दोनों की रचना ईसा की 6ठी शताब्दी के लगभग हुई। सिलपदिकरम में एक प्रेम-कथा वर्णित है जिससे कावेरीपट्टनम में नारी की अवस्था और अमीरों के जीवन के विषय में पता चलता है। मणिमेकलै महाकाव्य मदुरै के एक बनिया का लिखा हुआ है जो अनाज का व्यापार करता था। दोनों काव्यों से ईसा की 6ठी सदी तक के तमिलों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का आभास मिलता है।

विदेशी विवरणः विदेशी विवरणों को भारतीय साहित्य तथा पुरातत्त्विक स्रोतों को अनुपूरक के रूप में बनाया जा सकता है। अनेक यूनानी, रोमन एवं चीनी यात्री भारत आए। कुछ तो पर्यटक के रूप में और कुछ भारतीय धर्म को अपनाकर इसे ठीक से समझने के लिए कुछ विदेशी महान सिकन्दर के साथ आए और कुछ उसके बाद दूत बनकर आए। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में मेगस्थनीज दूत बनकर आया। उसकी पुस्तक का नाम इंडिका है। इसकी पूरी प्रति नहीं मिली है परंतु बाद के विदेशी लेखकों ने अपनी रचनाओं में इसके उद्धरणों का हवाला दिया है। इन उद्धरणों को एक साथ मिलाकर पढ़ने से मौर्यकालीन सामाजिक वर्गो और आर्थिक गतिविधियों का ज्ञान होता है। इंडिका में परिकल्पना भी पाई जाती है। इसके अनुसार पाण्ड्य देश मे 7 साल की माताएँ होती थी। इस अतिशयोक्ति के बावजूद समाज के वास्तविकरूप का पता चलता है। इसमें वर्णव्यवस्था का वह रूप नहीं मिलता है जो धर्मशास्त्रों में आदर्श के तौर पर रखा गया है। इंडिका में मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र नगर के आर्थिक एवं प्रशासनिक संगठन का वर्णन मिलता है।

ईसा की पहली और दूसरी सदियों के यूनानी एवं लैटिन भाषाओं में लिखे विवरणों में भारतीय

बंदरगाहों के उल्लेख मिलते हैं। वे बतलाते हैं कि भारत तथा रोमन साम्राज्य के बीच होनेवाले व्यापार में कौन-कौन सी वस्तुएँ भारत मे आती थी और कौन-कौन सी वस्तुएँ भारत से बाहर जाती थी। यूनानी भाषा में लिखी गई तोलेमी की **ज्योग्राफी** भारतीय वाणिज्य के अध्ययन के लिए बड़े महत्त्व की है। यह पुस्तक 140 ई० के लगभग सिकन्दरिया मे लिखी गई। आठ अध्याय वाली इस पुस्तक में नकशा बनाने के सिद्धांत दिए गए हैं, और भारत तथा इसके पड़ोसी क्षेत्रों का वर्णन दिया गया है। इसमें सिन्धु के मुहाने से गंगा के मुहाने तक समुद्रतट पर अवस्थित प्रमुख स्थानों की चर्चा की है। ज्योग्राफी के लेखक ने छः प्रकार की शहरी बस्तियाँ होने की चर्चा की है। कुल मिलाकर इनकी संख्या 41 है, और ये सब सिन्धु घाटी और उसके पड़ोस में पड़ती थी। अधिकांश शहर व्यापार मार्ग पर बसे थे और वाणिज्य के केन्द्र थे। यूनानी भाषा में लिखी हुई दूसरी पुस्तक **पेरिप्लुस ऑफ़ दि एरिथ्रियन सी** है। यह 100 ई० के कुछ किसी अज्ञात् सौदागर ने लिखी थी। सामुद्रिक व्यापारियों की गाइड जैसी इस पुस्तक में भारतीय बंदरगाहों में बाहर की किन चीजों की माँग थी और बदले में ये बाहर क्या भेजते थे उनकी सूची है। प्लिनी की **नेचुरलिस हिस्टोरिका** ईसा की पहली सदी की रचना है। यह लैटिन भाषा में लिखी गई है और इससे हमें भारत एवं रोमन साम्राज्य के बीच होनेवाले व्यपार का पता चलता है। प्लिनी अपने विवरण में इस बात का रोना रोता है कि भारत के साथ व्यापार करके रोम अपना स्वर्णभंडार लुटाता जा रहा है।

चीनी पर्यटकों में फाह्यान और हुआन त्सांग मुख्य माने जाते हैं। दोनों बौद्ध थे और बौद्ध तीर्थों का दर्शन करने तथा बौद्ध धर्म का अध्ययन करने भारत आए थे। फाह्यान ईसा की पाँचवी सदी के प्रारंभ में आया था और हुयान त्सांग 7वीं सदी के पूर्वार्द्ध में। फाह्यान ने गुप्तकालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक और विशेषतः बौद्ध होने के नाते धार्मिक स्थिति की जानकारी दी है। हुआन त्सांग ने हर्षकालीन भारत का इसी प्रकार का वर्णन किया है। दोनों बतलाते हैं कि चंडालों को अछूत माना जाता था। हुआन त्सांग ने लगभग सारे भारत की यात्रा की। वह बतलाता है कि कहाँ-कहाँ बौद्ध मठ से और किस-किस जगह कितने बौद्ध भिक्षु रहते थे। हुआन त्सांग का विवरण पढ़ने से बौद्ध मठों की अवनति का पता चलता है, और ऐसा आभास होता है कि प्राचीन भारत के अधिकांश प्रमुख नगर पतनावस्था में चल रहे थे। 7वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इ-चिंग के विवरण को पढ़ने से भी धार्मिक और सामाजिक विषयों की जानकारी होती है।

इन यात्रियों के अतिरिक्ति 608 से 907 ई० तक जब चीन में टांग राजवंश का शासन चल रहा था, धर्म की खोज में बहुत से प्रमुख भिक्षु चीन के बाहर गए। उन पर जो जीवनचरित लिखे गए है उसका 1986 में लतिका लाहिड़ी ने अनुवाद किया है। इन जीवन चरितों को पढ़ने से टांग काल में भारत की सामाजिक और आर्थिक अवस्था का पता चलता है। 1225 ई० में लिखी चौ जू-कुआ की पुस्तक में भारतीय राज्यों के विषय में जानकारी मिलती है। भारत और चीन के बीच 11वीं सदी से व्यापार बढ़ गया था जिसका विवरण इस पुस्तक में मिलता है, इसलिए यह बड़े महत्त्व का है।

विदेशी लेखकों ने अपने व त्तांत में अपने-अपने देश की स्थिति के आधार पर भारत के बारे में वैसा ही जहाँ-तहाँ कुछ लिख डाला। कहीं-कहीं पढ़ने से ऐसा लगता है कि उनके यहाँ जिस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक व्यवस्था थी उसकी छाया उन्हें भारतवर्ष में भी मिली। इन व त्तांतों में परिकल्पना भी बहुत है। चीनी विवरणों में बौद्ध धर्म से लगाव होने के कारण धार्मिक पूर्वाग्रह भी पाए जाते हैं। पर यदि इन सब बातों के विषय में सतर्क रहा जाए तो विवरणों के पढ़ने से आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्क तिक इतिहास के पुनर्निर्माण में मदद मिल सकती है।

आर्थिक और सामाजिक इतिहास का निर्माण

सुविधा की दुष्टि से आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास को अलग-अलग पढ़ा जाता है। पर इतिहास की गति को ठीक से समझने के लिए कालक्रम के परिवेश में सामाजिक एवं आर्थिक प्रक्रियाएँ एक दूसरे पर आश्रित है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि सारे स्रोतों की समीक्षा तथा सापेक्षित महत्त्व के आधार पर आर्थिक-सामाजिक इतिहास का निर्माण किया जाए।

हम साहित्यिक स्रोत और पुरातात्त्विक स्रोत को मिलाकर आर्थिक और सामाजिक इतिहास की रचना कर सकते है। सिक्कों के अध्ययन की अपनी अलग उपादेयता है। इनके अध्ययन का उपयोग अभी तक राजनीतिक और थोड़ा-थोड़ा धार्मिक इतिहास के लिए किया गया है जबकि उनका आर्थिक इतिहास के निर्माण में सर्वोपरि स्थान है। प्राचीन अर्थव्यवस्था में वस्तुविनिमय और पारस्परिक आदान-प्रदान के स्थान पर मुद्रा-विनिमय कैसे प्रारंभ हुआ और विभिन्न क्षेत्रों एवं कालों में इसकी क्या स्थिति थी, इसको मुद्राशास्त्र और उत्खनित नगरों के शिल्प-वाणिज्य संबंधी अवशेषों से मिलाकर देखना पड़ेगा। अभिलेखों का सहारा अभी तक राजनीतिक या धार्मिक इतिहास के प्रसंग में लिया गया है। परंतु भूमि अनुदान संबंधी अनेक अभिलेख बतलाते हैं कि किन-किन नए राज्यों का उदय हुआ, नए क्षेत्रों में कैसे क षि का प्रसार हुआ और विशेषकर गुप्तोत्तर काल में भूमि व्यवस्था में कैसे परिवर्तन हुए। आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि सिक्के, अभिलेख और पुरातत्त्व उन मिथक तथा अनुश्रुतियों से अधिक मूल्यवान हैं जो हमें रामायण, महाभारत और पुराणों में मिलती है। मिथकों के द्वारा सामाजिक प्रथाओं को पुष्ट और प्रबल किया जाता है, लोकाचार को मान्य बनाया जाता है, जातियों या सामाजिक वर्गों के विशेषाधिकारियों और असुविधाओं को न्यायोचित ठहराया जाता है। परंतु मिथक मे वर्णित घटनाओं को सही नहीं माना जा सकता है। प्रारंभिक इतिहास की आर्थिक और सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए यह भी आवश्यक है जैसा कि आर०एस० शर्मा कहते हैं कि हम जनजातियों के जीवन का अध्ययन करें, प्राचीन व्यवस्थाओं के विद्यमान अवशेषों पर ध्यान दें और साथ-ही-साथ भारत की प्रारंभिक आर्थिक और सामाजिक गतिविधियों की तुलना उस समय के और देशों की गतिविधियों से करें। अतः साहित्यिक स्रोतों का उपयोग करते समय इतिहासकार उस विचारधारा का ध्यान रखना चाहिए जिससे प्रेरित होकर लेखक ने अपने ग्रंथ की रचना की थी। उदाहरण के लिए आर्य-मुंज-श्री-मूल-कल्प के लेखक का, अपना ग्रंथ लिखते समय, मुख्य उद्देश्य बौद्ध धर्म का इतिहास लिखना था। इसलिए उसने बौद्ध धर्म के संरक्षक शासकों का गुणगान किये और अन्य शासकों की निंदा की। इतिहासकार लेखक के वर्णन का सही अर्थ तभी समझ सकता है जब वह उसके इस उद्देश्य को ध्यान में रखे। इसी प्रकार अभिलेखों का ठीक अर्थ तभी समझा जा सकता है जब हम यह भलीभाँति समझ लें कि अभिलेख का उद्देश्य क्या था और लेखक की विचारधारा क्या थी। प्रागैतिहासिक काल का इतिहास लिखते समय पूर्ण तथा पुरातात्त्विक सामग्री पर निर्भर रहना पड़ता है किंतु आद्य इतिहास और इतिहास लिखते समय इतिहासकार साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्य का समन्वय करके यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। इतिहास लिखते समय वह यथासंभव अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त रखने का प्रयत्न करना चाहिए। सच्चा इतिहासकार अतीत को वर्णन करते समय उस वर्णन पर आधुनिक संकल्पनाओं को थोपने का प्रयत्न नहीं करता। आधुनिक इतिहासकार अतीत का विचारधारा का ध्यान रखकर अपने मन मे उस काल का परिवेश तैयार करता है और उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर उस परिवेश के अनुरूप तत्कालीन समाज के विभिन्न पहतुओं का चित्र प्रस्तुत करता है। निपुण इतिहासकार को ऐसा सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए सदैव बहुत सतर्क रहना पड़ता है जिससे उसकी व्यक्तिगत विचारधारा

से वह चित्र दूषित न हो जाए।

ये सभी ग्रंथ यद्यपि राजनैतिक सामाजिक, सांस्क तिक जानकारी अधिक देते हैं परन्तु चूँकि राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक एवम् सांस्क तिक पहलू अन्तर्निर्भर है तथा एक दूसरे के स्वरूप को निर्धारित करते है इसलिए प्राचीन भारत में आर्थिक इतिहास के पुनर्निर्माण में पुरातात्त्विक साक्ष्यों के साथ-साथ ये सभी ग्रंथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

अध्याय-2

नवपाषाणकालीन संस्क ति - भोजन उत्पादन
(Neolithic Culture - Food Production)

नवपाषाणकालीन क्रान्ति

(Neolithic Revolution)

मानव की भौतिक प्रगति के इतिहास में नवपाषाण काल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काल में कृषि व पशुपालन का व्यवसाय सबसे पहले प्रारम्भ हुआ। मानव सभ्यताओं के उदय और विकास की प ष्ठभूमि नवपाषाण काल की अर्थव्यवस्था ने प्रदान की। जो मानव समाज भोजन संग्रह तथा आखेट की अवस्था से बाहर नहीं निकल पाए वे समाज आज भी जहाँ के तहाँ हैं। नवपाषाण काल की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए ही गॉर्डन चाइल्ड ने इस काल को **नवपाषाण काल की क्रान्ति** कहा है। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि मानव जाति की उत्पत्ति से लेकर आजतक के जीवन का 99% हिस्सा शिकारी तथा भोजन संग्रहकर्ता के रूप में गुजरा है अर्थात् मनुष्य ने केवलमात्र 10,000 वर्ष पूर्व ही कृषिकर्म से भोजन उत्पादन करना सीखा है, इससे पहले मानव अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं के लिए पूर्णरूप से प्रकृति पर निर्भर था। मनुष्य तथा पशु में कोई ज्यादा अन्तर नहीं था। मानव ने संस्कृति के नए चरण में उस समय प्रवेश किया जब जीवित रहने के लिए प्रकृति के साधनों पर पूरी तरह निर्भर रहने की बजाय जौ, गेहूँ, चावल इत्यादि अपने आप उत्पादन करना प्रारम्भ किया। जैसे ही मनुष्य ने भोजन संचयकर्ता से भोजन उत्पादक की अवस्था में प्रवेश किया, इससे मनुष्य के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। अब वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर नहीं था। वह अब आत्मनिर्भर होता जा रहा था। अव वह अपना भोजन स्वयं उगाने में समर्थ हो गया था अपनी दूध, मांस आदि की आवश्यकताओं के लिए पशु-पालन शुरू कर दिया था, अन्न आदि संग्रह करने तथा भोजन पकाने व खाने के लिए म दभांड बनाना सीख चुका था तथा सर्दी-गर्मी तथा घातक पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए अब उसने अपनी झोपड़ी बनाना भी सीख लिया था, यही नहीं तकनीकी के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण उन्नति की। अब उसके औजार सुडौल कृषि उपयुक्त तथा पॉलिशदार हो गए थे। सांराशतः यदि यह कहा जाए कि मानव सभ्यता व संस्कृति के विकास की कहानी के बीज नवपाषाणकालीन सभ्यता में निहित है तो अतिशयोक्ति न होगी और इसलिए गॉर्डन चाइल्ड ने इसे अपने आप में पर्याप्त अन्न उत्पादक अर्थव्यवस्था बताया और क्रान्ति का नाम दिया क्योंकि मनुष्य के जीवन के चहुमुखी विकास की कहानी यहीं से प्रारम्भ होती है।

नियोलिथिक (नवपाषाण) शब्द का प्रयोग सबसे पहले जॉन लूम्बक ने किया था और माइल्स बरकिट ने निम्न विशेषताओं वाली संस्कृति को नवपाषाण संस्कृति माना-

1. कृषि कार्य
2. पशुपालन

3. घ षित तथा पालिशदार औजार
4. म दभांड बनाना

'नवपाषाण' की परिभाषा को लेकर इधर कुछ वर्षों में परिवर्तन हुआ। एक अध्ययन के अनुसार 'नवपाषाण' शब्द उस पूर्वधातु चरण संस्कृति का सूचक है जब मानव ने अनाज उगाकर और पशुओं को पालतू बनाकर भोजन की विश्वस्त पूर्ति की व्यवस्था कर ली थी और एक स्थान पर टिककर जीवन निर्वाह करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु घर्षित पाषाण औजार इस संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही। अतः नवपाषाण संस्कृति की निम्न विशेषताएँ थी-

1. एक स्थान पर टिककर जीवन बिताना जिससे ग्राम समुदायों की शुरुआत हुई
2. म दभांड निर्माण
3. कृषि तकनीकी की शुरुआत
4. प्रकृति पर अधिक नियन्त्रण तथा प्राकृतिक साधनों का संदोहन
5. घार्षित तथा पॉलिशदार उपकरणों का समूह

नवपाषाण काल के बारे में विद्वानों में कतिपय भ्रान्त धारणाएँ बनी हुई हैं, उदाहरणार्थ, बहुत समय से यह माना जाता रहा है कि कृषि का विकास सर्वप्रथम केवल मध्य-पूर्व के क्षेत्रों मे हुआ था, वहाँ पर कृषि-कर्म की शुरुआत इसलिए हुई क्योंकि मध्य-पूर्व के हरे-भरे घास के मैदान तेजी से मरुस्थलों में परिवर्तित हो रहे थे। जिसके फलस्वरूप वहाँ पर निवास करनेवाले लोगों के सामने अपने अस्तित्त्व की रक्षा की जटिल समस्या उत्पन्न हो गई। मानव-समुदाय तथा पशु-मरुस्थलों में परस्पर एक दूसरे के समीप रहने के लिए बाध्य हो गए और इन विषम परिस्थितियों का सामना करने के लिए कृषि तथा पशु-पालन प्रारम्भ किए गए।

बीसवीं शताब्दी ईसवी के चालीसवें दशक में हुई नवीन खोजों, नए अनुसंधानों के फलस्वरूप नव पाषाण काल के सम्बन्ध में उल्लेखनीय जानकारी प्राप्त हुई है, जिस वजह से धारणाओं में कुछ संशोधन प्रस्तावित किए गए हैं। कृषि-कर्म का उदय एवं विकास किसी बढ़ते हुए संक्रमणात्मक अभाव के फलस्वरूप नहीं हुआ। अकाल की विभीषिका से पीड़ित और अभाव की काली छाया में निवास करने वाले लोगों के पास कृषि-कर्म जैसे मन्द प्रयोग तथा परीक्षण करने के लिए साधन एवं समय नहीं रहा होगा। मानव के लिए उपयोगी जंगली घासों के पौधों में चयन के द्वारा सुधार लोगों द्वारा किया गया होगा जो आवश्यक आवश्यकताओं की सीमा से पर्याप्त ऊपर जीवन-यापन कर रहे थे। अतः कुछ के अनुसार, कृषि एवं पशु-पालन सम्बन्धी प्राचीनतम प्रमाण पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में इसलिए मिलते हैं क्योंकि यहाँ पर मौसम की अनुकूलता, उपयुक्त जंगली पौधों तथा पशुओं की उपलब्धता और मानव की समुन्नत तकनीकी प्रगति के रूप में इसके लिए अनुकूल साधन प्रचुर मात्रा में पर्याप्त थे।

परन्तु यह मत भी सर्वमान्य नहीं रहा। मिश्र में नीलधारी तथा अन्य क्षेत्रों के हाल ही में प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर, इस द ष्टिकोण में फिर से परिवर्तन करना पड़ा तथा कुछ विद्वानों के अनुसार गेहूँ और जौ की सबसे पहली खेती के साक्ष्य नील घाटी में वाड़ी टस्का, कोम अम्बों तथा एसना के पास के स्थल समूहों से प्राप्त हुए है। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इन स्थलों का काल निर्धारण 14500–13000 वर्ष के बीच किया है ओर ये सभी स्थल नील घाटी में स्थित उत्तर पुरापाषाण स्थल है न कि नवपाषाण स्थल।

एक अन्य प्रश्न जो नवपाषाण काल के सम्बन्ध में स्वतः उठता है वह है कि कृषि तथा पशु-पालन

का विकास साथ-साथ हुआ अथवा दोनों का विकास अलग-अलग क्षेत्रों में और विभिन्न समयों में हुआ? इस सम्बन्ध में निश्चितरूप में कुछ कह पाना कठिन है परन्तु प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ स्थलों पर फसल उगाना तथा पशु-पालन में अंतः सम्बन्ध है जैसे पश्चिमी एशिया (जैसे इराक में जारकों) जबकि कुछ क्षेत्रों में कृषि कार्य पशुपालन से पहले प्रारम्भ हुआ जैसे नीलघाटी से प्राप्त साक्ष्यों में। परन्तु जो भी हो इतना निश्चित है कि दोनों तुरन्त ही एक दूसरे के पूरक बन गए और कृषि तथा पशुपालन की मिश्रित अर्थव्यवस्था ग्राम्य जीवन का एक अभिन्न अंग बन गई। तथा कृषि और पशुपालन के विकास के बाद भी जंगली जानवरों के शिकार और कन्द मूल-फल का संचय भी होता रहा। नवपाषाण काल की एक अन्य विशेषता यह रही है कि कृषि का प्रचलन सब जगह एक ही समय में नहीं हुआ और न ही सभी प्रकार के खाद्यान्नों की उत्पत्ति का कोई एक स्थान रहा है उदाहरणस्वरूप पश्चिमी एशिया ने मानव को जौ, गेहूँ, दलहन तथा तिलहन आदि सबसे महत्त्वपूर्ण खाद्यान्न प्रदान किए तो दक्षिण-पूर्व एशिया से धान, अमेरिका से मक्का खाद्यान्न उपलब्ध हुए तो कपास की कृषि भारत में सर्वप्रथम प्रचलित हुई।

नव पाषाण काल में कृषि के विकास के फलस्वरूप बढ़ईगीरी में काम आनेवाले पाषाण उपकरणों का विशेषरूप से निर्माण किया गया। कुल्हाड़ी के अतिरिक्त वसूला, रुखानी आदि प्रमुख पाषाण उपकरण थे। इसके अलावा हँसिया, सिल-लोढ़ा, ओखली आदि अन्य पाषाण उपकरण तथा उपादान भी उल्लेखनीय है। दन्तुर-कटक प्रविधि से निर्मित लघु पाषाण उपकरणों का प्रचलन इस काल में भी मिलता है।

मिट्टी के बर्तनों का निर्माण नव पाषाण काल की अन्य प्रमुख विशेषता मानी जाती है, यद्यपि सर्वत्र प्रारम्भ से ही मिट्टी के बर्तन नहीं मिलते हैं। आरम्भ में मिट्टी के बर्तन हस्त-निर्मित होते थे। बर्तनों के निर्माण में मन्दगति के चाक (Turn-table) को इस दिशा में प्रगति का अगला कदम माना जा सकता है। चाक का आविष्कार मानव की तकनीकी प्रगति की द ष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रारम्भिक मिट्टी के बर्तनों में अलंकरण बहुत कम मिलता है। चाक के प्रचलन के साथ ही मिट्टी के बर्तनों की सतह पर चित्रकारी की प्रक्रिया भी विशेष लोकप्रिय हुई। मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त नव पाषाण काल के पुरास्थलों से प्राप्त तकुए तथा करघे के मिट्टी के पुरावशेषों से यह इंगित होता है कि ऊन, सन और कपास के धागों से वस्त्र तैयार किए जाते थे। कृषि तथा पशु-पालन आदि के फलस्वरूप लोगों के जीवन में स्थायित्त्व का संचार हुआ। सुनिश्चित खाद्यान्न-व्यवस्था के फलस्वरूप जनसंख्या में व द्धि होने लगी। सूखा अदि प्राकृतिक आपदाओं और किसी एक मानव-समूह का दूसरे पर आक्रमण के संकट को छोड़कर मानव का जीवन अन्य पाषणिक कालों की तुलना में काफी सुरक्षित हो गया था।

नव-पाषाण काल का क्षेत्रीय विभाजन

भारत में कर्नाटक प्रान्त (तत्कालीन मैसूर राज्य) के लिंगसुगुर नामक पुरास्थल से सन् 1842 ई० में सर्वप्रथम नव पाषाणिक उपकरण मैसूर रियासत के पुरातत्त्व अधिकारी एम०एच० कृष्ण द्वारा प्रतिवेदित किए गए थे। सन् 1860 ई० में एच०पी० ले मेसूरियर (H. P. Le Mesurier) को उत्तर प्रदेश के इलाहबाद जिले मे स्थित टौंस नदी घाटी में नव-पाषाण काल के कतिपय उपकरण प्राप्त हुए थे। तदनन्तर इस प्रकार के पाषाण उपकरणों की प्राप्ति बुन्देलखण्ड, दक्षिण तथा पूर्वी भारत के अनेक क्षेत्रों से समय-समय पर होती रही। राबर्ट ब्रूसफुट नामक पुराविद् ने दक्षिण भरत के कई स्थानों पर स्थित राख के ढेरों को नव-पाषाणिक बतलाया था। उसकी यह धारणा थी कि राख के ये टीले इस बात का संकेत करते हैं कि नव-पाषाण काल के लोग एक स्थल पर अपने पालतू पशुओं को लम्बे समय तक बाँधते रहे। इस तरह एक स्थान पर गोबर इकट्ठा होता रहा। बाद मे गोबर के उस ढेर को जला दिया जाता था। दक्षिण भारत के राख के ये टीले इस बात की ओर इंगित करते हैं कि इस तरह की प्रक्रिया इस क्षेत्र में काफी लम्बे समय तक चलती रही होगी। लेकिन ब्रूसफुट को दक्षिण

भारत की नव पाषाणिक संस्कृति के सन्दर्भ में अन्य किसी प्रकार की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी थी।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों से नव पाषणिक जो उपकरण इकट्ठे किए गए थे उनमें कुल्हाड़ियों की संख्या सबसे अधिक थी। अन्य नव पाषाणिक उपकरणों में वसुले, छैनियाँ, रुखानियाँ, तथा हथौड़े आदि थे। ये सभी उपकरण किसी पुरातात्त्विक साक्ष्य में नहीं बल्कि धरातल से प्राप्त हुए थे। सन् 1947 ई० में मार्टीमर ह्वीलर ने कर्नाटक प्रान्त के चित्रदुर्ग जिले के एक तालुका में स्थित ब्रह्मगिरी पुरास्थल का उत्खनन कराया जिससे दक्षिण भारत की नव पाषाणिक काल के बारे में अनेक सांस्कृतिक उपादानों के साथ-ही-साथ उसके संभावित कालानुक्रम के बारे में जानकारी प्राप्त हुई। तबसे लेकर आज तक भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक नव-पाषाणिक पुरास्थलों का उत्खनन हो चुका है। जिससे स्पष्ट है कि कालानुक्रम की द ष्टि से भारत के विभिन्न क्षेत्रों की नव पाषाण संस्कृतियाँ समकालिक या एक दूसरे के थोड़ा आगे-पीछे विकसित हुई, इन संस्कृतियों में क्षेत्रीय विभेद भी द ष्टि देखने का मिलता है। विभिन्न विद्वानों ने भारत की नव पाषाणिक संस्कृतियों का उनकी प्रमुखताओं तथा कालानुक्रम आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न ढंग से विभाजन किया। वी०डी० कृष्णास्वामी ने सन् 1960 ई० में चार क्षेत्रों में भारत की नवपाषणिक संस्कृतियों का विभाजन किया था। अल्चिन दम्पति ने भारत की नव पाषाणिक संस्कृतियों का अध्ययन करते समय सन् 1968 ई० में इसे निम्नलिखित पाँच वर्गो में विभाजित किया : (अ) उत्तरी वर्ग : कश्मीर घाटी, (ब) दक्षिणी वर्ग : गोदावरी के दक्षिण का क्षेत्र, (स) पूर्वी वर्गः असम का क्षेत्र (द) मध्य वर्ग : गंगा के दक्षिण का पठारी क्षेत्र और (य) पूर्वी-मध्य वर्गः बिहार, उत्तर छोटा नागपुर का पर्वतीय क्षेत्र। सन् 1975 ई० में पी० के० थापर ने जघत सांस्कृतिक विभाजन प्रस्तावित किया उसमें अल्चिन दम्पति के उपयुक्त वर्गो में उत्तरी-पश्चिमी एक छठवाँ वर्ग और जोड़ दिया। उत्तरी-पश्चिमी वर्ग मे पाकिस्तान के बलूचिस्तान एवं सिन्ध प्रान्त में विकसित होने वाले नव पाषाणिक संस्कृति को भी सम्मिलित किया गया।

उपलब्ध पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर भारत की नव पाषाणिक संस्कृतियों को अधोलिखित छः वर्गो में वर्गीकृत किया जा सकता हैः (1) उत्तरी भारत की नव पाषाणिक संस्कृति, (2) विन्ध्य क्षेत्र की नव पाषाणिक संस्कृति, (3) दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति, (4) मध्य गंगाघाटी की नव पाषाणिक संस्कृति, (5) मध्य-पूर्वी नव पाषाणिक संस्कृति और (6) पूर्वोतर भारत की नव पाषाणिक संस्कृति।

उत्तरी भारत की नव पाषाणिक संस्कृति

कश्मीर घाटी एक नाव के आकार की है जिसकी दक्षिणी-पश्चिमी सीमा का निर्धारण पीर पंजाल की पर्वत मालाएँ करती हैं और उत्तरी-पूर्वी सीमा हिमालय की चोटियाँ बनाती है। झेलम प्रमुख नदी है।

उत्तरी भारत में नव पाषाण काल के पुरावशेष जम्मू-कश्मीर प्रदेश में झेलम की घाटी में स्थित विभिन्न पुरास्थलों से प्राप्त हुए है। प्रमुख पुरास्थलों में बुर्जहोम, गुफकराल तथा मार्तण्ड का उल्लेख किया जा सकता है। पीटरसन ने सन् 1935 ई० में बुर्जहोम की खोज तथा यहाँ पर परीक्षणात्मक उत्खनन कराया। कालान्तर में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग की ओर से सन् 1959–60 ई० से 1963–64 ई० तक चार उत्खनन सत्रों में टी० एन० खजांची की देख-रेख में बुर्जहोम का सुव्यवस्थित ढंग से उत्खनन कराया गया। गुफकराल नामक पुरास्थल की खोज सन् 1962–63 ई० में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग ने किया था तथा पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग की प्रागितिहासिक शाखा के तत्त्वाधान में ए० के० शर्मा ने सन् 1981 ई० में यहाँ पर उत्खनन कराया। वुर्जहोम तथा गुफकराल के उत्खननों के परिणामस्वरूप तीन प्रमुख सांस्कृतिक कालों के सम्बन्ध में जानकारी हुई-

1. नव पाषाणिक काल
2. व हत्पाषाणिक काल
3. ऐतिहासिक काल

नव-पाषाण काल से सम्बन्धित प्रथम काल की संस्कृति को बुर्जहोम के उत्खन्न से उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर 'अ' तथा 'ब' दो उपकालों में विभाजित किया गया है। गुफकराल के उत्खनन से उत्तरी भारत की नव-पाषाणिक संस्कृति 'अ', 'ब', 'स' तीन उपकालों में विभाजित किया गया हैः

1. **प्रथम अः म द्भाण्डरहित नव पाषाणिक काल** (Aceramic Neolithic)
2. **प्रथम बः प्रारम्भिक नव पाषाणिक काल** (Early Neolithic)
3. **प्रथम सः उत्तर नव पाषाणिक काल** (Late Neolithic)

यद्यपि बुर्जहोम में दो एवं गुफकराल में तीन उपकालों के साक्ष्य मिले हैं तथापि कुल मिलाकर दोनों में कोई खास सांस्कृतिक अन्तर नहीं है।

प्रथम 'अ' फालः ऐसा प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में करेवा (Karewa) या लोयस मिट्टी का जमाव हो जाने के बाद म द्भाण्डरहित नव पाषाणिक संस्कृति अस्तित्त्व में आई। बुर्जहोम के उत्खनन में इस तरह का स्पष्ट स्तर नहीं मिला था। यद्यपि बुर्जहोम के विषय में भी इस प्रकार की सम्भावना कुछ पुराविदों ने प्रकट की है। गुफकराल के उत्खनन से 35 से.मी. से 1.10 मीटर मोटा जो जमाव मिला है उसमें मिट्टी के बर्तनों का पूर्ण अभाव मिलता है। इस उपकाल की फर्श के दो स्तरों के आधार पर दो चरणों में विभाजित किया गया है।

आवासः प्रथम 'अ' काल में 'करेवा' मिट्टी के धरातल में गोल तथा अण्डाकार गड्ढे खोदकर लोग निवास करते थे। बुर्जहोम के प्रथम 'अ' उपकाल में भी इसी प्रकार के गड्ढ़ों में निवास के प्रमाण मिले हैं। दोनों ही पुरास्थलों पर ये गड्ढे ऊपर की तरफ सँकरे तथा नीचे पेंदी में चौड़े मिलते हैं। गड्ढ़ों की औसत गहराई 20 से.मी. से 30 से.मी. तक और मुँह के पास का व्यास 1.50 मीटर से 3.80 मीटर तक मिलता है। बुर्जहोम में, जो सबसे बड़ा गड्ढा है, उसका व्यास मुँह पर 2.74 मीटर तथा पेंदे में 4.57 मीटर है। बुर्जहोम में इस प्रकार के सोलह गड्ढे अभी तक ज्ञात हो चुके हैं। खाना पकाने के लिए इन गड्ढों के समीप ही चूल्हों के साक्ष्य भी मिलते हैं। गड्ढों के अन्दर आवास की फर्श चौरस है। गड्ढों में नीचे उतरने के लिए ताख या आले बने हुए हैं। इन गड्ढों के अन्दर फर्श के ऊपर राख इत्यादि के मिलने से यह इंगित होता है कि इनका उपयोग रहने के लिए होता था। इन गड्ढो के किनारों पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर स्तम्भ-गर्त (Post-holes) मिलते हैं। जिनसे यह आभास होता है कि इन गड्ढों के ऊपर घास-फूस का छाजन भी सम्भवतः बनाया जाता था। गुफकराल के उत्खनन से बाँस-बल्ली की छाप से युक्त मिट्टी के टुकड़े मिले हैं जिससे यह अनुमान किया जाता है कि गड्ढों के किनारों पर निर्मित छाजन के कम-से-कम निचले भाग को छाप-लीप कर मजबूत तथा पानी एवं बर्फ को रोकने योग्य बनाया जाता था। गुफकराल के प्रथम चरण में गड्ढों के फर्श को गेरू से प्रलेपित किया जाता था। इस पुरास्थल के दूसरे चरण के गड्ढो में गेरू का प्रलेप नहीं मिलता है। दूसरे चरण में कतिपय गड्ढों को दो भागों में विभाजित करने के प्रमाण मिले है गड्ढों का आकार-प्रकार भी पूर्ववर्ती चरण की तुलना में बड़ा मिलता है।

उपकरणः पाषाण उपकरणों में ट्रैप पत्थर पर निर्मित कुल्हाड़ियाँ, वेधक, पाषाण-वलय अथवा गदाशीर्ष, लोढ़े तथा सिल गुफकराल से प्राप्त हुए हैं। इनके अलावा भेड़-बकरी एवं हिरण के सीगों तथा पाँव की हड्डियों पर बने हुए हड्डी के सत्ताईस उपकरण भी मिले हैं। इनमें से अधिकांश बेधक

तथा बाण (Arrow-heads) है। दो छिद्रक, कतिपय खुरचनी एवं नोकदार सुई की गणना भी हड्डी के बने हुए उल्लेखनीय उपकरणों में की जा सकती है। श्रंग का बना हुए एक मनका और सिलखड़ी के बने हुए दो मनके भी प्रथम उपकाल की अन्य विशिष्ट पुरानिधियाँ है।

पशु-पालन : गुफकराल के म द्भाण्डरहित प्रथम उपकाल में वहाँ के लोगों का जीवन प्रधानरूपेण जंगली पशुओं के शिकार पर निर्भर था। जंगली भेड़, बकरी, गाय-बैल, हिरण तथा भेड़िया एवं भालू की हड्डियाँ प्राप्त हुई है। केवल भेड़ और बकरियों को ही इस उपकाल में अभी पालतू बनाया गया था।

अनाजः गुफकराल में 'प्लवन तकनीक' (Floatation Technique) के माध्यम से जौ, गेहूँ तथा मसूर के कार्बनीकृत या अधजले दाने प्राप्त हुए है। इसमें संदेह नहीं कि जौ, गेहूँ एवं मसूर के दानों का खाद्यान्न के रूप में महत्त्व भली-भाँति ज्ञान हो चुका था लेकिन यह निश्चित नहीं है कि इनके जंगली पौधों से दाने एकत्र किए जाते थे अथवा सीमित क्षेत्र में इनकी कृषि प्रारम्भ हो चुकी थी। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रथम उपका से कृषि-कार्य में सहायक उपकरण प्राप्त नहीं हुए है।

प्रथम 'ब' कालः प्रथम 'अ' काल के पश्चात् बिना किसी व्यवधान एवं अन्तराल के प्रथम 'ब' काल गुफकराल नामक पुरास्थल पर प्रारम्भ होता है। इसकी प्रमुख विशेषताओं में हस्त-निर्मित म द्भाण्डों के प्रचलन तथा गड्ढों मे निवास के स्थान पर समतल धरातल के ऊपर मकान बनाने की प्रथा का उल्लेख किया जा सकता है। बुर्जहोम के प्रथम 'ब' काल को इसका समकालिक माना जा सकता है।

आवासः ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपकाल में लोगों ने गड्ढो में निवास करने की प्रथा का परित्याग कर दिया था। धरातल के ऊपर मिट्टी और कंकड़-पत्थर की दीवारें बनाना प्रारम्भ कर दिया था। इस काल के मकान अपेक्षाकृत बड़े तथा आयताकार थे। बुर्जहोम में इस काल के मकानों की फर्श पर रैगिक रंग का प्रलेप मिलता है। गुफकराल में फर्श को साफ-सुथरा बनाने के लिए छः-सात से. मी. मोटी पीली मिट्टी का उपयोग किया गया है ओर किनारे-किनारे चूने का प्रयोग किया गया है। बुर्जहोम में मकानों में चबूतरे बने हुए मिले हैं और मकानों को कई कमरों में विभाजित करने वाली दीवारें भी उपलब्ध हुई हैं। घरों से बुर्जहोम में चूल्हे, सिल-लोढ़े एवं मिट्टी के बर्तन आदि के अवशेष मिले हैं। बुर्जहोम में प्रथम 'ब' काल में अन्त्येष्टि संस्कार म तकों को दफनाकर करने के भी साक्ष्य प्रकाश में आए है। गुफकराल से अभी तक अन्त्येष्टि के प्रमाण नहीं मिले हैं।

मिट्टी के बर्तनः इस काल में हस्त-निर्मित म द्भाण्डों का प्रचलन हो गया था। धूसर पात्र परम्परा (Grey ware) के सर्वाधिक ठीकरे मिलते हैं। रुक्ष तथा फीके लाल रंग की पात्र-परम्परा (Coarse dull red ware) के भी कतिपय नमूने उपलब्ध होते हैं। बर्तन अच्छी तरह तैयार मिट्टी से निर्मित नहीं है। ये भली-भाँति पके भी नहीं है। इनकी पेंदी में चटाई की छाप का अलंकरण मिला है तथा बर्तनों की बारी पर चुटकी से दबाकर बनाई गई डिजाइन मिलती है। बर्तनों के बाहर तथा भीतर दोनों ओर नरकुल या सरकण्डे की छाप अंकित मिलती है। कटोरे, तसले तथा घड़े कुल मिलाकर यही तीन प्रकार के पात्र मिलते हैं। गुफकराल से लाल रंग की पात्र-परम्परा में साधार तश्तरी (Dish-on-Stand) के आधार का एक टुकड़ा मिला है।

उपकरणः बुर्जहोम से प्राप्त उपकरणों में कुल्हाड़ियाँ, छेनियाँ, वसूले, खुरपा अथवा गडाँसा (Harvester), गदाशीर्ष तथा कुदाल (Hoe) आदि उल्लेखनीय है। गुफकराल से एक पाषाण निर्मित बेधक, एक खण्डित गदाशीर्ष तथा हड्डी के बने हुए उन्नीस उपकरण प्राप्त हुए है। हड्डी के उपकरणों में अधिकांश ओपदार बंधक (Polished Points) हैं और केवल दो स्क्रेपर हैं। कृषि में प्रयुक्त होनेवाले उपकरण गुफकराल से नहीं मिले हैं।

पशु-पालनः गुफकराल के उत्खनन से प्रथम 'ब' काल से पशुओं की जो हड्डियाँ मिली हैं, वे पालतू भेड़-बकरी तथा छोटे सींगवाले मवेशियों की हैं। इस काल में भी भेड़-बकरी का प्राधान्य प्रतीत होता है। भेड़ का आकार जंगली भेड़ की तुलना में कुछ छोटा हो जाता है। कुत्ते की हड्डियाँ भी मिली हैं। हिरण, साफिन (1bex) तथा भालू की हड्डियाँ यह इंगित करती हैं कि शिकार का अभी भी इनके आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। बुर्जहोम में एक शिला-पट्ट पर धनुष-बाण से शिकार का द श्य अंकित मिला है। अनेक हड्डियों में हलाल करने के चिह्न मिलते हैं। पक्षियों में मुर्गे (Gellus) को भी पालतू बनाया गया है। बुर्जहोम में कुत्ते, भेड़िये तथा साकिन की हड्डियाँ विधिवत दफनायी हुई मिली हैं।

कृषिः जौ, गेहूँ एवं मसूर के अतिरिक्त इस काल में मटर के भी दाने प्राप्त हुए है। इस प्रकार पशु-पालन तथा कृषि की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के प्रचलन का संकेत मिलता है।

शवाधानः बुर्जहोम के उत्खनन के फलस्वरूप नव पाषाण काल के द्वितीय चरण से सम्बन्धित मनुष्यों तथा पशुओं के पूर्ण (Primary) एवं आंशिक (Secondary) शवाधान के साक्ष्य आवास-क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। गुफकराल से शवाधान के प्रमाण अभी तक नहीं मिले है समाधियाँ या कब्रें गोलाकार अथवा अण्डाकार गड्ढ़ों के रूप में अधिकतर प्राप्त होती है। पूर्ण समाधियों मे विस्तीर्ण शवाधान (Extended Inbumation) मिलता है जिनमें म तक को चित लिटाकर दफनाया गया है। इन समाधियों से जो मानव-कंकाल मिले हैं उनके ऊपर गैरिक रंग छिड़का गया है। मानव-कपालों को देखने से विदित होता है कि वे लोग संभवतः कपाल-क्रिया (Trepanning) भी करते थे। आदमियों के साथ कुत्ते, बकरे आदि पालतू पशुओं को भी दफनाया जाता था। आंशिक शवाधान में कतिपय चुनी हुई मानव-अस्थियों को दफनाया जाता था। इसके अतिरिक्त पशुओं की भी पूर्ण तथा आंशिक स्वतंत्र समाधियाँ मिली है। कुत्ता, भेड़िया तथा हिरण की समाधियाँ प्राप्त हुई हैं। एक पशु-समाधि में पाँच जंगली कुत्ते तथा एक हिरण के सींग दफनाये हुए मिले हैं। मालिक के साथ तथा स्वतन्त्ररूप से पशुओं को दफनाने की प्रथा चीन की नव पाषाणिक संस्कृति में भी मिलती है।

प्रथम 'स' कालः गुफकराल के उत्खनन से प्राप्त नव पाषाणिक पुरावशेषों के तीसरे चरण को 'उत्तर नव पाषाणिक' कहा गया है। इस उपकाल से सम्बन्धित लगभग 70–80 से.मी. मोटा आवासीय जमाव मिलता है। इस सांस्कृतिक जमाव में कुड़े-कचरे के अनेक गड्ढे मिलते है।

आवासः इस काल में भी मिट्टी तथा कंकड़-पत्थर की दीवालों के मकान मिलते हैं। मकानों के फर्श पर चूने का गाढ़ा प्रलेप पूरे आवास-क्षेत्र में मिलता है। छाजन घास-फूस तथा बाँस-बल्ली का संभवतः होता था।

मिट्टी के बर्तनः इस उपकाल में कई प्रकार की पात्र-परम्पराएँ प्रचलित थी। धूसर, घर्षित धूसर (Burnished Grey Ware) तथा फीके रंग की लाल पात्र परम्पराएँ हस्त-निर्मित म द्भाण्ड परम्पराएँ थी। गोलाकार छिछले कटोरे, गहरे कटोरे, बोतल की भाँति सँकरे मुँहवाले घड़े, मोटे पर्देवाली छिछली थालियाँ या प्लेटें आदि प्रमुख पात्र-प्रकार हैं। घर्षित पात्र-परम्परा में साधार तश्तरी भी मिलती है। बर्तनों की पेंदी में चुटकी से दबाकर बारी पर निर्मित डिजाइनें एवं तिर्यक् डिजाइनें उल्लेखनीय अलंकरण की विधाएँ है।

उपकरणः एक अर्द्ध निर्मित प्रस्तर कुल्हाड़ी को छोड़कर इस उपकाल से अत्यल्प संख्या में नव पाषाणिक बड़े उपकरण प्राप्त हुए हैं। इस काल में पाषाण निर्मित चौदह बेधक प्राप्त हुए हैं। अन्य पाषाणिक उपकरणों में दो छिद्र युक्त खुरपे या गड़ाँसे, गोफन-पाषाण, सिल-लोढ़े तथा मिट्टी एवं पाषाण दोनों के बने हुए तंकुओं आदि की गणना की जा सकती है। हड्डी के बने हुए सर्वाधिक इकतालीस उपकरण इसी उपकाल से प्राप्त हुए जिनमें से अधिकांश पालिशदार अस्थि-बेधक है। बेधें

की नोक को आग में सेंककर नुकीला तथा मजबूत बनाया गया है। मिट्टी की बनी हुई चूड़ियाँ, हड्डी तथा पत्थर के मनके अन्य महत्त्वपूर्ण पुरानिधियाँ है। इस काल के ऊपर के स्तर से प्राप्त ताँबे की एक कुण्डलित शीर्ष वाली (Coiled head) पिन की भी गणना विशिष्ट पुरानिधियों में की जा सकती है।

पशु-पालनः इस उपकाल तक आने-आते पशु-पालन की प्रक्रिया लगभग पूर्ण हो चुकी थी। भेड़-बकरी तथा मवेशी पूर्णरूपेण पालतू बना लिए गए थे। बकरियों तथा मवेशियों के आकार काफी छोटे हो गए थे। भेड़-बकरियों की इस काल में भी बहुतायत थी। इस उपकाल में सुअर, खरगोश, मछली, चूहे आदि की भी हड्डियाँ मिली हैं। इस प्रकार कतिपय छोटे-छोटे जीवों तथा जलचरों का शिकार इस काल में भी होता रहा।

कृषिः खुरपी या गड़ाँसे की प्राप्ति से यह इंगित होता है कि इस-काल में कृषि कर्म में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। जौ, गेहूँ, मटर और मसूर इस उपकाल में भी प्रमुख खाद्यान्न थे।

कालानुक्रमः उत्तरी भारत की नव पाषाणिक संस्कृति के कालानुक्रम निर्धारित के लिए बुर्जहोम तथा गुफकराल से प्राप्त सात रेडियो कार्बन तिथियाँ उपलब्ध हैं। रेडियों कार्बन तिथियों के अनुसार बुर्जहोम के पुरास्थल पर 2375 ई०पू० के लगभग सर्वप्रथम निवास प्रारम्भ हुआ। इस पुरास्थल से ज्ञात अनेक रेडियों कार्बन-तिथियों से सिद्ध होता है कि लगातार 1,400 ई०पू० तक मानव-आवास का क्रम चलता रहा। गुफकराल से जो रेडियो कार्बन तिथियाँ प्राप्त है, वे द्वितीय एवं त तीय उपकाल से सम्बन्धित हैं। द्वितीय चरण के प्रारम्भ की तिथि लगभग 2000 ई०पू० मानी जा सकती है। म दभांड रहित प्रथम उपकाल की आरम्भ का कालानुक्रम 400–500 वर्ष पहले रखा जा सकता है। इस प्रकार इस बात की प्रबल संभावना है कि उत्तरी भारत की नव पाषाणिक संस्कृति के प्रारम्भ की तिथि 2,500 ई०पू० और अन्त की तिथि 1400 ई०पू० फिलहाल निर्धारित की जा सकती है।

साद श्य तथा उत्पत्तिः बी०डी० कृष्णस्वामी ने उत्तरी भारत की नव पाषाणिक संस्कृति को पाकिस्तान के बलूचिस्तान प्रान्त में स्थित किले गुलमुहम्मद नामक पुरास्थल की नव पाषाण काल की संस्कृति से अनुप्राणित माना था। पाकिस्तान के सरायखोला, स्वात-घाटी में स्थित गलीगई (Ghalighai) तथा लोबनार (Loebnar) नाम पुरास्थलों के नव पाषाणिक स्तरों से प्राप्त घर्षित-कृष्ण और सलेटी म द्भाण्डों एवं बुर्जहोम के म द्भाण्डों में कुछ समता दिखलाई पड़ती है। किन्तु इस संस्कृति में कई विशिष्ट उपादान विद्यमान है जिनकी प्रेरणा कदाचित् उत्तर की ओर स्थित किसी बाहरी संस्कृति से प्राप्त हुई होगी। उत्तरी भारत की नव पाषाणिक, संस्कृति के हड्डियों के औजारों के आकार, दो छिद्रों वाले आयताकार खुरपे या गड़ाँसे, गड्ढों में रहने की परम्परा तथा कब्रों में मालिक के साथ पशुओं-विशेषकर कुत्तों को दफनाने की प्रथा आदि से विशिष्ट तत्त्व उत्तरी चीन गणराज्य की नव पाषाण काल की संस्कृति में विशेषरूप से उपलब्ध होते हैं। कुत्ते की कब्र के प्रमाण मंचूरिया की एंग-एंग-सी (Ang-Ang-Hsi) संस्कृति से भी प्राप्त हुए हैं। ऊपरी अमूर नदी की घाटी में स्थित 'शिलका गुफा संस्कृति' (Shilka Cave Culture) में कुत्ते को धार्मिक अनुष्ठान के पशु का स्थान प्राप्त था। इस क्षेत्र में कुछ समय पूर्व तक कतिपय मानव समुदायों में कुत्तों की बलि देकर उनके मालिकों के साथ उन्हें दफनाया जाता था। उत्तरी भारत की नव पाषाणिक संस्कृति में प्राप्त हड्डियों के बने हुए उपकरण-विशेषकर मत्स्य भाले की तरह के हड्डियों के उपकरण-उत्तरी चीन गणराज्य की नव पाषाण काल की संस्कृति में भी मिलते हैं। बुर्जहोम से प्राप्त पाषाण की कुल्हाड़ियों की तरह की पाषाण कुल्हाड़ियाँ मंगोलिया की नव पाषाणिक संस्कृति में प्राप्त होती है। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि उत्तरी भारत की नव पाषाण काल की संस्कृति के हस्तनिर्मित म द्भाण्डों की समानता उत्तरी चीन के नव पाषाणिक म द्भाण्डों से बिल्कुल नहीं है। अल्चिन दम्पति तथा वी०के० थापर ने ऐसी संभावना प्रकट की है कि उत्तरी भारत की नव पाषाणिक संस्कृति की उत्पत्ति में उत्तरी चीन

गणराज्य की नव पाषाण काल की संस्कृतियों का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है।

जिस समय जम्मू-कश्मीर प्रदेश में नव पाषाणिक संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय सिंधु धाटी तथा राजस्थान के क्षेत्रों में प्राक्-हड़प्पा संस्कृतियाँ विद्यमान थी। इन दोनों के बीच परस्पर कोई सम्बन्ध था अथवा नहीं इसके साक्ष्य अत्यल्प हैं। बुर्जहोम से लगभग साबुत एक ऐसा घड़ा मिला है जो देखने में बैल के सीगों की तरह प्रतीत होता है। पाकिस्तान में स्थित कोटदीजी और गुमला नाम पुरास्थलों के प्राक्-हड़प्पा स्तर से इससे मिलता-जुलता चित्रण मिट्टी के बर्तनों पर प्राप्य है। राजस्थान के गंगानगर जिले में स्थित कालीबंगा के भी प्राक्-हड़प्पा स्तर से इस तरह की चित्रकारी मिट्टी के एक बर्तन पर मिली है। गुफकराल के नव पाषाणिक सांस्कृतिक काल के तीसरे चरण के ऊपरी स्तर से कुण्डलित शीर्षवाली जिस तरह की ताँबें की एक पिन मिली है उसी तरह की ताँबे की एक पिन चान्हु-दड़ों से प्राप्त हुई थी। क्या इनको बाह्य-सम्पर्क का द्योतक माना जा सकता है? यदि सम्पर्क था तो उसका क्या स्वरूप था? इन और इन्हीं की तरह के अन्य प्रश्नों का उत्तर अनुसंधान की वर्तमान स्थिति में देना संभव नहीं है।

विन्ध्य क्षेत्र की नव पाषाणिक संस्कृति

उत्तरी प्रदेश में गांगेय क्षेत्र के दक्षिण में स्थित पठारी भाग को प्रायः बुन्देल-खण्ड तथा बधेलखण्ड इन दो भौगोलिक क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। यह क्षेत्र मध्य भारत के पठारी भाग और गांगेय मैदान के मध्यवर्ती क्षेत्र में स्थित है। किसी एक उपयुक्त तथा सार्थक नाम के अभाव में इस क्षेत्र को यहाँ पर फिलहाल 'उत्तरी विन्ध्य क्षेत्र' का नाम दिया गया है। इस क्षेत्र से दो प्रकार की नव पाषाणिक कुल्हाडियाँ समय-समय पर प्राप्त होती रही है। मिर्जापुर और बाँदा जिलों तथा इनके समीपवर्ती क्षेत्रों से नुकीले समन्तान्त वाली त्रिभुजाकार कुल्हाड़ियाँ प्राप्त हुई हैं।

इलाहाबाद जिले के दक्षिणी भाग और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों से प्राप्त गोलाकार समन्तान्त वाली नद पाषाण काल की कुल्हाड़ियाँ पूर्वी तथा पूर्वोत्तर भारत से मिलनेवाली नव पाषाणिक कुल्हाड़ियों से आकारगत समानता रखती है। सन् 1972–73 ई० और उसके बाद किए गए पुरातात्त्विक अन्वेषणों के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले के दक्षिणांचल में विद्यमान मेजा तहसील में स्थित वेलन घाटी में कोलडिहवा, पँचोह, महगड़ा तथा वेलन की सहायक नदी अदवा की घाटी में इन्दारी और मध्य प्रदेश में सोन नदी की घाटी में स्थित कुनझुन एवं ललनहियाँ नामक पुरास्थल प्रकाश में आ चुका है। इन पुरास्थलों में से कोलडिहवा, पँचोह और महगड़ा का उत्खनन हो चुका है।

इलाहाबाद नगर से दक्षिण-पूर्व की दिशा में लगभग 85 कि.मी. की दूरी पर बेलन नदी के बायें तट पर कोलडिहवा, दाहिने तट पर महगड़ा तथा इन दोनों पुरास्थलों से लगभग 2.50 कि.मी. की दूरी पर पश्चिम दिशा में पँचोह नाम पुरास्थल स्थित है। सन् 1964 ई० में किए गए पुरातात्त्विक अन्वेषण के फलस्वरूप कोलड्हिवा का टीला प्रकाश में आया जो बरसाती नालों के कटाव के कारण कोलडिहवा का टीला कई भागों में बँट गया है। इनमें से पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिणी टीलों पर सन् 1972–73 से 1975 के बीच में उत्खनन हुआ। कोलडिहवा के टीले का 1.90 मीटर मोटा सांस्कृतिक जमाव अपने अन्तस्तल में तीन संस्कृतियों से सम्बन्धित सामग्री छिपाये हुए है। ये संस्कृतियाँ हैं :

1. नव पाषाणिक संस्कृति (45 से.मी. मोटा जमाव)
2. ताम्र पाषाणिक संस्कृति
3. आरम्भिक ऐतिहासिक काल की लौह संस्कृति

परन्तु पँचोह तथा महगड़ा मात्र नव पाषाण काल की एकाकी संस्कृति वाले पुरास्थल हैं।

आवासः कोलडिहवा तथा महगड़ा के नव पाषाणिक पुरास्थलों पर एक निश्चित क्रम-विन्यास में स्तम्भ-गर्त मिले हैं जिनके आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि रहने के लिए लकड़ी के लट्ठों को जमीन में गाड़कर गोलाकार या अण्डाकार झोपड़ियों का निर्माण किया जाता था। उत्खनन से प्राप्त सरकण्डों की छापयुक्त जली हुई मिट्टी के टुकड़ों से यह इंगित होता है कि छाजन घास-फूस तथा सरकण्डों आदि का बनाया जाता था। महगड़ा के उत्खनन से अभी तक बीस झोपड़ियों के साक्ष्य ज्ञात हो चुके हैं। झोंपड़ियों के फर्श पर हस्त-निर्मित मिट्टी के बर्तनों के ठीकरे, गोलाकार समन्तान्त वाली नव पाषाणिक कुल्हाड़ियाँ, हथौड़े, गदाशीर्ष, सिल-लोढ़े, गोफन-पत्थर (Sling-Balls) लघु पाषाण उपकरण, मिट्टी की बनी हुई गुरियाँ और पशुओं की अधजली हड्डियाँ मिली हैं। दो या तीन झोपड़ियों को मिलाकर एक घर बनता था। घरों का निर्माण भी एक सीधी पंक्ति में न करके वलयाकार (Ringshaped) ढंग से करते थे।

मिट्टी के बर्तनः विन्ध्य क्षेत्र के सभी नव पाषाणिक पुरास्थलों से हस्त-निर्मित म द्भाण्ड प्राप्त हुए है। म द्भाण्डों में सालन (Degraissant) के रूप में धान की भूसी एवं पुआल के टुकड़ों को उपयोग किया गया है। प्राप्त म द्भाण्डों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता हैः 1. डोरी-छाप म द्भाण्ड, (Cord-impressed pottery) 2. खुरदरे म द्भाण्ड (Rusticated ware) 3. चमकाये म द्भाण्ड (Burnished ware)। डोरी-छाप म द्भाण्ड इस नव पाषाणिक संस्कृति के विशिष्ट म द्भाण्ड प्रतीत होते हैं। इनकी बाहरी सतह पर डोरी अथवा बटी हुई रस्सी की छाप मिलती है। इस वर्ग के म द्भाण्ड हल्के लाल रंग तथा अधिकांशतः मोटी गढ़न (Thick fabric) के हैं। प्रमुख पात्र-प्रकारों में छिछले एवं गहरे कटोरे, टोंटीदार कटोरे (Spouted bowls) तथा घड़े विशेष उल्लेखनीय है। दूसरे वर्ग के पात्रों का रंग भी हल्का लाल है लेकिन इनके बाहरी भाग विशेषकर निचले हिस्से को जान-बूझकर खुरदरा बनाया गया है। इस श्रेणी के बर्तनों को आड़े तिरछे तथा अंगुष्ठ-नख डिजाइनों से अलंकृत किया गया है। विविध प्रकार के कटोरे, छिछले तसले, तश्तरियाँ, चौड़े मुँह की हाण्डियाँ तथा घड़े प्रमुख पात्र-प्रकार हैं। तीसरे वर्ग के मिट्टी के बर्तनों की भीतरी एवं बाहरी दोनों सतहों को पकाने के पूर्व किसी चीज से रगड़कर चमकाया गया है। लाल एवं काले दोनों ही प्रकार के म द्भाण्ड इन श्रेणी में मिलते है। कटोरे, तश्तरियाँ, तसले तथा घड़े प्रमुख पात्र-प्रकार है। जिन पर उत्कीर्ण एवं चिपकवाँ दोनों प्रकार के अलंकरण मिलते हैं।

नमने संदूषित रहे हों। दूसरी बात यह है कि पुरातात्त्विक आधार पर तिथि-क्रम की अनावश्यक रूप से बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया हो। तथ्य चाहे जो भी हों, इस विषय में किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए अभी और अधिक विश्वसनीय प्रमाणों की आवश्यकता है।

यह कहा जाता है कि वेलन घाटी का नवपाषाणकालीन किसानों को भारत का सबसे पहला चावल उगानेवाला कहा है यद्यपि कुछ विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं।

दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति

दक्षिण भारत का पठारी भाग बनावट की द ष्टि से भारत का सबसे प्राचीन भू-खण्ड है। इसमें अनेक छोटी-छोटी पहाड़ियाँ हैं। आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक तथा तमिलनाडु में गोदावरी, कृष्णा, तुंगभद्रा, कावेरी, ताम्रपर्णी और बैगाई आदि नदियों की घाटियों में दक्षिण भारत के नव पाषाण काल के अधिकांश पुरास्थल पहाड़ियों पर या तलहटियों में प्राप्त हुए हैं।

दक्षिण भारत से ही सर्वप्रथम नव पाषाणिक ओपदार प्रस्तर उपकरण सन् 1842 ई० में कर्नाटक के लिंगसागर नामक पुरास्थल से मिले थे। नव पाषाण काल के सम्बन्ध में अध्ययन एवं अनुसंधान की द ष्टि से भी इस क्षेत्र का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। सन् 1947 ई० में मार्टीमर ह्वीलर के द्वारा कर्नाटक के चित्रदुर्ग जिले में स्थित ब्रह्मगिरी के उत्खनन के पूर्व दक्षिण भारत की नव पाषाण काल की संस्कृति

के काल-क्रम आदि के विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं थी। ह्वीलर के द्वारा संचालित इस उत्खनन के फलस्वरूप सांस्कृतिक विशेषताओं तथा कालानुक्रम आदि के विषय में जानकारी प्राप्त हुई। बाद के तीन-चार दशकों में इस क्षेत्र के अनेक पुरास्थलों की खोज तथा कतिपय उत्खनन किए गए। बहुसंख्यक उत्खनित पुरास्थल कर्नाटक प्रदेश में स्थित हैं, जबकि कतिपय अन्य आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु में हैं। कर्नाटक प्रदेश के उत्खनित पुरास्थलों में ब्रह्मगिरि के अतिरिक्त संगनकल (बेलारी जिला), पिकलीहल (रायचूर जिला), मास्की (रायचूर जिला), टेक्कल-कोटा (बेलारी जिला), हेल्लूर (धारवाड़ जिला), टी० नरसीपुर (वेलारी जिला), हेम्मिगे (मैसूर जिला), तेरदल (बीजापुर जिला) तथा कोडेकल (गुलबर्गा जिला) का वर्णन किया जा सकता है। आन्ध्र प्रदेश में उतनूर (महबूबनगर जिला), नागार्जुनीकोण्डा (गुन्टूर जिला), पलवॉय (अनंतपुर जिला) तथा सिंगनपल्ली (कर्नूल जिला) का अभी तक उत्खन्न हुआ है। उत्तर आर्काट जिले में स्थित पैय्यमपल्ली तमिलनाडु प्रदेश का प्रमुख उत्खनित पुरास्थल है। ये समस्त पुरास्थल गोदावरी नदी के दक्षिण में कृष्णा, तुंगभद्रा और कावेरी नदियों की घाटियों में स्थित है। दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृतियों के निर्माता प्रारम्भ में पहाड़ियों के ऊपर अथवा ढलान पर निवास करते थे।

सांस्कृतिक विकास की द ष्टि से दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति को दो या तीन उपकालों में विभाजित किया जा सकता है : प्रथम उपकाल के अन्तर्गत उतनूर, प्रथम काल, पिकलीहल का प्रारम्भिक नव पाषाण काल मास्की का प्रथम काल, ब्रह्मगिरि का प्रथम 'अ' काल रखा जा सकता है। इस उपकाल में गिनी चुनी ओपदार प्रस्तर की कुल्हाड़ियाँ, ब्लेड-प्रधान लघु पाषाण उपकरण हस्त-निर्मित हल्के धूसर रंग तथा काले रंग के म द्भाण्ड, ककुदमान पशुओं की म ण्मूर्तियां, मवेशियों और भेड़-बकरियों की हड्डियाँ आदि पुरावशेष मिलते हैं। गोबर के ढेर के जलने से निर्मित राख के टीले इसी काल से सम्बन्धित है।

द्वितीय उपकाल में ओपदार प्रस्तर-कुल्हाड़ियों एवं लघु पाषाण उपकरणों का आधिक्य मिलता है। धूसर या सलेटी तथा काले म द्भाण्ड बहुत ही कम पाए जाते हैं और इनका स्थान चमकाये हुए धूसर म द्भाण्ड ले लेते है। पिकलीहल के उत्तर नव पाषाण काल, ब्रह्मगिरि प्रथम 'ब' काल, संगनकाल प्रथम, टेक्कलकोटा प्रथम, हल्लूर द्वितीय उपकाल को इस काल में रख सकते हैं। इस काल में बाँस-बल्ली की झोपडियों का निर्माण होने लगा जिनके फर्श मिट्टी से लीप-पोत कर चिकने बनाए जाते थे।

तीसरे चरण में दूसरे उपकाल की अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त चाक पर बने हुए पाण्डु रंग के बिना चमकाये हुए म द्भाण्ड मिलते हैं। इनके साथ ही ताम्र-उपकरण भी मिलने लगते हैं जिससे यह इंगित होता है कि दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति, महाराष्ट्र की ताम्र-पाषाणिक जोर्वे संस्कृति से प्रभावित हो रही थी।

आवास: दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति के लोग बाँस-बल्लों से निर्मित गोलाकार अथवा अण्डाकार झोपड़ियों में रहते थे। ब्रह्मगिरि, मास्की, पिकलीहल आदि के उत्खननों से झोपाड़ियों के बनाने में प्रयुक्त स्तम्भो के गर्त मिले हैं। झोपड़ियों के फर्श को गोबर तथा मिट्टी से लीप-पोत कर साफ-सुथरा बनाया जाता था। कभी-कभी चूने के घोल से भी पुताई की जाती थी। झोपड़ियों के फर्श की प्रायः समय-समय पर मरम्मत होती रहती थी तथा कभी-कभी फर्श को ऊँचा भी किया जाता था।

मिट्टी के बर्तन: हस्त निर्मित म द्भाण्ड बनाने की कला से ये लोग प्रारम्भ से ही परिचित प्रतीत होते हैं। धूसर या सलेटी तथा लाल रंग के म द्भाण्ड मुख्यतः प्रचलित थे। पकाने के बाद मिट्टी के बर्तनों पर अलंकरण भी किया जाता था। ब्रह्मगिरि, मास्की तथा पिकलीहल से चित्रकारी से युक्त म द्भाण्ड के ठीकरे मिले हैं। चित्रित अभिप्रायों में रेखाकृतियाँ प्रमुख हैं जिन्हें पकाने के बाद बैगनी रंग से बनाते

थे। सलेटी रंग के बर्तनों पर गैरिक रंग से पट्टी (Band) बनाते थे। कभी-कभी बर्तन की बाहरी सतह को रगड़कर चमकाया जाता था। प्रमुख पात्र-प्रकारों में तश्तरियाँ, कटोरे, घड़े तथा बर्तनों, ढक्कनों आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

उपकरण: प्रमुख प्रस्तर उपकरणों में त्रिभुजाकार समन्तान्तवाली ओपदार कुल्हाड़ियों, वसूलों, छेनियों एवं गैतियों आदि का उल्लेख किया जा सकता है। उपकरणों के निर्माण के लिए ट्रैप तथा बेसाल्ट नामक प्रस्तरों का उपयोग किया जाता था। हथौड़े सिल-लोढ़े, गदाशीर्ष तथा प्रस्तर उपकरणों को चिकना एवं चमकदार बनानेवाले पाषाणों आदि की भी गणना कर सकते हैं। टी० नरसीपुर को छोड़कर अन्य सभी पुरास्थलों पर चर्ट, चाल्सेडनी, क्वार्ट्ज, जैस्पर, फ्लिण्ट, अगेट आदि के बने हुए लघु पाषाण उपकरण प्रारम्भ से अन्त तक बराबर मिलते हैं। दांतेदार (Serrated), कुण्ठित, प ष्ठवाले ब्लेड, स्क्रेपर, चान्द्रिक, समलब्म चतुर्भुज तथा बेधक आदि प्रमुख लघु पाषाणिक उपकरण मिलते हैं। कतिपय पुरास्थलों से हड्डी के बने हुए उपकरण भी मिलते हैं। इन पुरास्थलों में पलवॉय का उल्लेख किया जा सकता है। वहाँ से हड्डी के बाण मिले हैं। लेकिन दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति में हड्डी के बने हुए उपकरणों की संध्या बहुत सीमित प्रतीत होती है। सिलखड़ी के मनके तथा ककुदमान पशुओं की हस्त-निर्मित कतिपय म ण्म र्तियाँ भी उल्लेखनीय है।

कृषि तथा पशु-पालन: दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति के लोग कृषि तथा पशु-पालन से परिचित प्रतीत होते हैं। टेक्कलकोटा और पैय्यमपल्ली से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये लोग चना, मूँग, कुलथी तथा रागी की खेती करते थे। भेड़, बकरियों के अतिरिक्त गाय-बैल तथा भैंस और सूअर आदि प्रमुख पालतू पशु थे। आन्ध्र प्रदेश के उतनूर तथा पल्लवॉय और कर्नाटक के कुपगल एवं कोडेकल नामक राख के टीलों के उत्खनन से भी पशुपालन की पुष्टि होती है। पिकलीहल के पास शिला-चित्रों में भी ककुदमान बैलों के चित्र अंकित मिलते हैं। इनके अलावा ककुदमान बैलों की म ण्मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है। उतनूर के राख के टीले के उत्खनन से पशु-बाड़े में प्राप्त पशुओं के खुरों के निशान के प्रमाण से भी पशु-पालन प्रधान अर्थ-व्यवस्था का संकेत मिलता है।

शवाधान: दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति से सम्बन्धित कई पुरास्थलों से शवाधान के प्रमाण मिलते हैं। मुर्दों को मकान के अन्दर फर्श के नीचे या मकान के समीप ही बाहर दफनाया जाता था लेकिन नागार्जुनीकोण्डा में आवास क्षेत्र के बाहर कब्रिस्तान मिला है। विस्तीर्ण शवाधान (Inbumation) आंशिक शवाधान (Fractional burial) तथा अस्थि कलश (Urn burial)– ये तीन प्रकार की अन्त्येष्टि-संस्कार की परम्पराएँ प्रचलित थी। जमीन में कब्र खोदकर प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों को चित लिटाकर दफनाया जाता था। अन्त्येष्टि-सामग्री के रूप में म द्भाण्ड और यदा-कदा प्रस्तर कुल्हाड़ियाँ तथा लघु पाषाण उपकरण भी रखे हुए मिलते हैं। छोटे-छोटे बच्चों को शव-कलशों में भर कर दफना दिया जाता था। शिशुओं के अस्थि-कलशों में अन्त्येष्टि-सामग्री का प्रायः अभाव मिलता है।

कालानुक्रम: दक्षिण भारत की नव पाषाण काल की संस्कृति से सम्बन्धित अनेक पुरास्थलों से रेडियों कार्बन तिथियाँ उपलब्ध है। इन पुरास्थलों से प्राप्त रेडियों कार्बन तिथियों के आधार पर दक्षिण भारत की नव पाषाणिक संस्कृति के प्रथम उपकाल का कालानुक्रम 2500 से 2000 ई० पू० के मध्य तथा द्वितीय उपकाल का काल-मान 2000 या 1800 ई०पू० से 1400 ई०पू० के मध्य निर्धारित किया जा सकता है। इस बात की प्रबलतम सम्भावना है कि इस संस्कृति के प्रथम उपकाल की प्रारम्भिक सीमा-रेखा और पीछे खींची जा सकती है।

मध्य गंगा घाटी की नव पाषाणिक संस्कृति

मध्य-पूर्वी नव पाषाणिक संस्कृति का प्रसार गंगा नदी के उत्तर की ओर स्थित उत्तरी बिहार में माना जाता है। बिहार का उत्तरी क्षेत्र गंगा तथा उसकी सहायक घाघरा, गण्डक, तथा कोसी आदि द्वारा लाई हुई मिट्टी से बना हुआ है। मध्य गंगा घाटी में अभी तक इस संस्कृति से सम्बन्धित एकमात्र उत्खनित पुरास्थल चिरांड है। चिरांड उत्तरी बिहार के सारन जिले में स्थित है। यहाँ पर सर्वप्रथम सन् 1962–63 ई० में बिहार के पुरातत्त्व विभाग और पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग की ओर से उत्खनन कार्य आरम्भ किया गया। सन् 1968 ई० तक इसे ताम्र-पाषाणिक पुरास्थल माना जाता था किन्तु सन् 1967–70 ई० में और इसके बाद यहाँ पर जो उत्खनन हुए, उनके फलस्वरूप यहाँ पर नव पाषाणिक संस्कृति से सम्बन्धित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध हुए। चिरांड के उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों को ध्यान मे रखते हुए यहाँ कुल छः सांस्कृतिक काल माने गए हैं जिनमें से प्रथम सांस्कृतिक काल नव पाषाणिक है। इस काल से नव पाषाणिक काल के ओपदार प्रस्तर उपकरण, हड्डी, तथा श ंग के बने उपकरण तथा म दभाण्डों के ठीकरे प्राप्त हुए हैं।

आवासः चिरांड के नव पाषाण काल के लोग सम्भवतः बाँस-बल्लियों से निर्मित झोपड़ियों में रहते थे जिनका संकेत बाँस तथा नरकुल की छाप से युक्त जली हुई मिट्टी के टुकड़ों से मिलता है। सीमित क्षेत्र में शैषिक-उत्खन्न के कारण मकानों की रूपरेखा के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिल पाई है।

मिट्टी के बर्तनः चिरांड की नव पाषाणिक संस्कृति में कई प्रकार कं म द्भाण्डों का प्रचलन था। अधिकांश म द्भाण्ड हस्त-निर्मित थे किन्तु कुछ पात्र धीमी गतिवाले चाक पर सम्भवतः बनाए गए थे। प्रमुख म द्भाण्ड लाल, काले, सलेटी अथवा धूसर तथा कृष्ण-लोहित है। कुछ पात्रों को पकाने के पूर्व चमकाया गया था। सलेटी और कृष्ण-लोहित म द्भाण्डो में पकाने के बाद गैरिक रंग की चित्रकारी की गई थी। अलंकरण-अभिप्रायों में पाँच से सात-तिरछी रेखाएँ, संकेन्द्रिक अर्द्धव त्त एवं व त्त, लहरिया रेखाएँ आदि प्रमुख है। चिपकवाँ (Applique) तथा उत्कीर्ण अलंकरण बनाने की भी परम्परा थी। प्रमुख पात्र-प्रकारों में कटोरे, तसले, कलश, घड़े और टोंटीदार बर्तनों का उल्लेख किया जा सकता है।

उपकरणः चिरांड के उत्खनन से नव पाषाणिक प्रस्तर के उपकरण बहुत कम संख्या में प्राप्त हुए हैं छोटे आकार एवं गोल समन्तान्तवाली कतिपय कुल्हाड़ियाँ प्रस्तर के प्रमुख औजार हैं। अन्य प्रस्तर उपकरणों में सिल-लोढ़े, हथौड़े, गोफन-पाषाण आदि का उल्लेख किया जा सकता है जो क्वार्ट्-जाइट, बेसाल्ट तथा ग्रेनाइट पत्थरों के है। लघु पाषाण उपकरणों में ब्लेड, खुरचनी, चान्द्रिक, बाण, छिद्रक तथा बेधक आदि चर्ट, चाल्सेडनी, अगेट और जैस्पर आदि पर बने हुए है। दन्तुर-कटक ब्लेडों का अभाव है।

चिरांड की नव पाषाणिक संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता हड्डी तथा श ंग (Antlers) पर बने हुए उपकरणों को माना जा सकता है। इन औजारों में खुरचनी छेनी, बरछे, बेधक, पुच्छल एवं खाँचेदार बाण, हथौड़े, कुदाल, बाण सीधा करने के उपकरण तथा हड्डी के बने हुए लटकन (Pendants) नाकेदार सुइयाँ एवं चूड़ियाँ आदि उल्लेखनीय हैं। विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार इन उपकरणों का उपयोग किया जाता रहा होगा।

कृषि तथा पशु-पालनः चिरांड की नव पाषाणिक संस्कृति के लोग धान, मूँग, जौ, गेहूँ तथा मसूर की खेती करते थे। यहाँ ये मवेशियों, हाथी, बारहसिंघा, हिरण तथा गैडे की हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं। अनुमान किया जाता है कि इनमें से गाय-बैल तथा भैस पालतू पशु रहे होंगे। शेष जानवरों का शिकार किया जाता रहा होगा। हड्डी और बारहसिंघा तथा हिरण के श ंगों के बने हुए औजार भी इस बात के

परिचायक है कि आखेट का इनके जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा।

कालानुक्रम: चिरांड की नव पाषाणिक संस्कृति के विभिन्न स्तरों से 9 रेडियो कार्बन तिथियाँ प्राप्य है जिनके आधार पर इसका कालानुक्रम 1800–1200 ई०पू० माना जा सकता है। लेकिन नव पाषाण काल के निचल स्तरों से रेडियो कार्बन तिथियाँ उपलब्ध नहीं है। अत: इस आधार पर नव पाषाणिक संस्कृति के आरम्भ की तिथि कम-से-कम 2500 ई० पू० प्रस्तावित की जा सकती है।

मध्य-पूर्वी नव पाषाणिक संस्कृति

मध्य-पूर्वी नव पाषाणिक संस्कृति का प्रसार दक्षिणी बिहार, पश्चिम बंगाल के पश्चिमी भाग तथा उड़ीसा के कतिपय भागों में मिलता है। इस क्षेत्र में गोल तथा स्कन्धित समन्तान्त वाली ओपदार प्रस्तर-कुल्हाड़ियाँ पुरास्थलों की ऊपरी सतह से समय-समय पर प्राप्त होती रही है। बिहार के सिंहभूमि जिले में स्थित बरुडीह तथा उड़ीसा के मयूरभंज जिले में स्थित कुचाई नामक स्थल इस क्षेत्र के दो प्रमुख उत्खनित पुरास्थल है। बरुडीह का उत्खनन कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में डी० सेन तथा ए०के० घोष ने सन् 1962-63 ई० में कराया। कुचाई का उत्खनन सन् 1961–62 ई० में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण की ओर से बी०के० थापर ने कराया है। कुचाई के 40 से 45 से. मी. मोटे ऊपरी जमाव से नव पाषाण काल के पाषाण उपकरण, म द्भाण्ड तथा अन्य पुरावशेष प्राप्त हुए हैं।

मिट्टी के बर्तन : बरुडीह के उत्खनन से हस्त एवं चाक-निर्मित दोनों प्रकार के म द्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। सलेटी तथा काले रंग की प्रमुख पात्र-परम्पराएँ हैं। कटोरे तथा थालियाँ प्रमुख पात्र प्रकार हैं। इसी प्रकार कुचाई के उत्खनन से मोटी वालुका युक्त लाल रंग के हस्त-निर्मित म द्भाण्ड मिले हैं। इस पात्र-परम्परा के म द्भाण्डों के कतिपय टीकरों में गैरिक रंग की पट्टी (Slip) भी मिलती है। कुछ म द्भाण्डों के उत्कीर्ण (Incised) और अंगुलि-छाप (Finger-tip) अलंकरण मिलते हैं। प्रमुख पात्र-प्रकारों में कटोरे, कलश तथा घुण्डीदार ढक्कन आदि उल्लेखनीय है।

उपकरण: बरुडीह के उत्खनन से ऊपरी सतह से 40 से 90 से.मी. की गहराई तक गोल समन्तान्त की प्रस्तर की ओपदार कुल्हाड़ियाँ तथा वसुले प्राप्त हुए हैं। कुचाई के उत्खनन से गोल समन्तान्त की घर्षित प्रस्तर-कुल्हाड़ियाँ, फलकित कुदालें, छेनियाँ, लोहे, खण्डित गदाशीर्ष तथा सान (Grinding stone) आदि मिले हैं। ऊपरी सतह से यद्यपि स्कन्धित कुदाल अन्वेषण में प्रतिवेदित की गई थी लेकिन उत्खनन से इस प्रकार का काई प्रस्तर-उपकरण नहीं मिला है। धातु का भी पूर्ण अभाव उल्लेखनीय है।

सीमित पैमाने पर उत्खनन के परिणामस्वरूप कृषि और पशु-पालन के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव है। प्रस्तर-कुल्हाड़ियाँ जंगलों को काट कर खेती के लिए जमीन की व्यवस्था करने की परिचायक मानी जा सकती है। गदाशीर्ष, लोढ़े तथा सान आदि से भी कृषि-कार्य का संकेत मिलता है। बरुडीह से पशुओं की टूटी हुई और खण्डित हड्डियाँ भी मिली हैं। इस संस्कृति का कालानुक्रम द्वितीय सहस्राब्दी ई०पू० के अन्तिम चरण में निर्धारित किया जा सकता है।

पूर्वोत्तर भारत की नव पाषाणिक संस्कृति

पूर्वोत्तर भारत की नव पाषाणिक संस्कृति का प्रसार असम, मेघालय तथा नागालैण्ड प्रान्तों और मिजोरम एवं अरुणाचल प्रदेश के केन्द्र शासित क्षेत्रों में मुख्य रूप से है। इनके अतिरिक्त बंगलादेश के चटगाँव (Chittagong) के पर्वतीय क्षेत्र को भी इसमें सम्मिलित किया जाता है। सन् 1867 ई० में जॉन लुॅब्बक ने असम की ब्रह्मपुत्र घाटी में नव पाषाणिक कुल्हाड़ियों की सर्वप्रथम खोज की थी। तबसे लेकर आज तक इस क्षेत्र से समय-समय पर नव पाषाणिक उपकरण प्राप्त होते रहे हैं। पूर्वोत्तर

क्षेत्र में नव पाषाण काल के उपकरण पुरास्थलों की ऊपरी सतह से अथवा लोगों के घरों से खोज कर इकट्ठा किए जाते रहे हैं।

पूर्वोत्तर भारत की नव पाषाणिक संस्कृति पर दओजली हैडिंग (Daojali Hading), सरुतरु (Sarutaru) तथा मरकडोला (Markadoal) नामक पुरास्थलों के सीमित पैमाने पर किए गए उत्खननों से महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। दओजली हैडिंग असम प्रदेश के उत्तरी कछार जिले में स्थित है। यहाँ पर गोहाटी (गुवाहाटी) विश्वविद्यालय की ओर से टी० सी० शर्मा के नेत त्त्व मे उत्खनन कराया गया जिसके फलस्वरूप 76 से.मी. मोटा नूतन पाषाणिक सांस्कृतिक जमावड़ा प्राप्त हुआ। इसमें गोल और स्कन्धित समन्तान्त वाली ओपदार प्रस्तर-कुल्हाड़ियाँ तथा अन्य नव पाषाणिक उपकरण तथा हस्त-निर्मित डोरी/टोकरी-छाप म द्भाण्ड आदि मिले हैं। सरुतरु और मरकडोला नामक पुरास्थल भी असम प्रदेश के कामरूप जिले में ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी में स्थित है। सरुतरु का उत्खनन डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय के नेत त्त्व में विभाग की ओर से सन् 1967 से 1973 ई० के बीच में कराया गया। यहाँ से ऊपरी सतह से 20 से.मी. की गहराई से लेकर 56 से.मी. की गहराई तक नव पाषाणिक पुरावशेष प्राप्त हुए हैं।

मिट्टी के बर्तन: दओजली हैडिंग और सरुतरु के उत्खनन के फलस्वरूप हस्त और चाक-निर्मित दोनों प्रकार के मिट्टी के बर्तनों के ठीकरे प्राप्त हुए हैं। धूसर या भूरे रंग के म द्भाण्ड हस्त-निर्मित हैं। इस प्रकार के म द्भाण्डों के निर्माण में प्रयुक्त मिट्टी भली-भाँति गुंथी हुई नहीं है। वनस्पतियों के रेशों (Fibres) को सालन के रूप में इस्तेमाल किया गया है। बर्तन मोटे तथा मध्यम गढ़न के मिलते है जो भली-भाँति पकाये गए नहीं प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के बर्तनों की बाह्य सतह पर डोरी/टोकरी की छाप (Cord/Basket impresson) अंकित मिलती है। बर्तनों के आकार-प्रकार के विषय में ठीकरों के छोटे होने के कारण कुछ निश्चितरूप से कहना संभव नहीं है। लाल रंग के म द्भाण्ड चाक पर बनाए गए हैं। इनकी मिट्टी भी अपेक्षाकृत अच्छी तरह से तैयार की गई है तथा ये ठीक से पके हुए भी हैं। लाल रंग के म द्भाण्डों के पात्र-प्रकारों के सम्बन्ध में भी निश्चितरूप से कुछ कहना संभव नहीं है।

उपकरण: पूर्वोत्तर भारत के नव पाषाणिक प्रस्तर उपकरणों में गोल तथा स्कन्धित समन्तान्त वाली पूर्ण अथवा आंशिक (मात्र धार) ओपदार प्रस्तर-कुल्हाड़ियाँ, बसुले, छेनी, खराँचेदार हथौड़े, सिल, लोढ़े, मूसल या बड़े आकार के लोढ़े आदि प्रमुखरूप से उल्लेखनीय हैं। उपकरणों के निर्माण के लिए विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रस्तरों का उपयोग किया गया है। असम के क्षेत्र में शेल (Shale), बलुअर पत्थर, क्वार्टजाइट और अश्मीभूत काष्ठ (Fossil-wood) का उपयोग किया गया है। मेघालय में डोलराइट (Dolerite) और नगालैण्ड में हरें रंग के प्रस्तर (Greenstone) पर उपकरण बनाए गए हैं। ई०सी० वोरमॅन, अहमद हसन दानी, और टी०सी० शर्मा आदि ने पूर्वोत्तर भारत से प्राप्त नव पाषाणिक उपकरणों का आकार-प्रकार तथा बनावट की द ष्टि से वर्गीकरण किया है। दानी, अल्चिन दम्पति और बी०के० थापर ने दक्षिण चीन तथा इण्डो-चीन के नव पाषाणिक उपकरणों से इनकी आकारगत समता की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। स्कन्धित कुल्हाड़ियों के निर्माण में तार्बे के तार के उपयोग के आधार पर उनको बहुत प्राचीन नहीं मानते हैं। इसके विपरीत टी०सी० शर्मा का विचार है कि दओजली हैडिंग के उत्खनन में धातु का अभाव मिलता है लेकिन स्कन्धित प्रस्तर-कुल्हाड़ियाँ मिलती है। ऐसी स्थिति में धातु की इस क्षेत्र में प्रचलन के पूर्व इस प्रकार के उपकरणों का निर्माण सम्भव है।

कृषि तथा पशु-पालन: कृषि तथा पशु-पालन के प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव मिलता है। मिट्टी के बर्तनों तथा सिल-लोढ़ों आदि के प्रचलन के आधार पर यह सम्भावना प्रकट की जा सकती है कि अस्थायी या 'झूम कृषि' (Slash and burn) की प्रथा यहाँ पर नव पाषाण काल से ही रही होगी।

कालानुक्रमः पूर्वोत्तर भारत की नव पाषाणिक संस्कृति का कालानुक्रम डोरी-छाप मिट्टी के बर्तनों तथा गोल समन्तान्तवाली कुल्हाड़ियों की दक्षिण चीन, दक्षिण-पूर्व एशिया के क्षेत्रों में प्राचीनता को द ष्टि में रखकर इस संस्कृति के आरम्भ की तिथि द्वितीय सहस्राब्दी 2000 ई०पू० के प्रथम चरण में निर्धारित की जा सकती है। पूर्वोत्तर भारत के कतिपय आदिम तथा पिछड़े समाजों में इस प्रकार के उपकरणों का प्रचलन, यदि ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों तक चलता रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सरुतरु तथा मरकडोला नामक पुरास्थलों के स्तरीकरण, सम्बन्धी साक्ष्यों से भी यही इंगित होता है।

अतः नवपाषाण काल में कृषि कर्म और पशुपालन प्रारम्भ होने से अनेक परिवर्तन आए। इस काल में नवपाषाणकालीन मानव ने अन्न संग्रह तथा भोजन बनाने व खाने के लिए म द्भाण्डों की आवश्यकता महसूस की। अतः विभिन्न प्रकार के हस्तनिर्मित तथा चाक निर्मित म द्भाण्ड बनाए गए। कृषि के लिए कारगार घड़ित, घर्षित तथा पालिशदार औजार बनाए और एक स्थान पर ग्राम समुदाय के रूप में संगठित हो रहना प्रारम्भ किया। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में नवपाषाण संस्कृतियों का उदय भिन्न-भिन्न समयों में हुआ और उनकी अवधि भी अलग-अलग रही तथा पारिस्थितिक अन्तरों के धारण नवपाषाणिक संस्कृतियाँ अपनी-अपनी क्षेत्रीय विशेषता भी लिए हुई थी।

अध्याय-4
वैदिककालीन अर्थव्यवस्था
(Vedic Economy)

वैदिक काल को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक द ष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है - पूर्ववैदिक अर्थात ऋगवैदिक काल तथा उत्तर वैदिक काल। ऋगवैदिक काल की जानकारी का एक स्रोत ऋगवेद है जबकि उत्तरवैदिक काल की जानकारी का मुख्य आधार अन्य तीन वेद संहिताएँ-सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद है।

(क) ऋगवैदिक अर्थव्यवस्था (ई०पू० लगभग 1500–1000)
(Rigvedic Early Vedic Economy [1500–1000 B.C.])

थोड़े बहुत उपलब्ध पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर स्पष्ट संकेत मिलता है कि ऋग्वैदिक लोग संभवतः स्थायी जीवन व्यतीत नहीं कर रहे थे। ऋगवेद के अध्ययन से भी उनके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन में भी कबीलाई तथा यायावारी संगठन के चिह्न अधिक नजर आते हैं। ऋगवैदिक काल में शहरों का अस्तित्व एकदम नहीं है और इस प्रकार ऋगवैदिक अर्थव्यवस्था हड़प्पाकालीन विकसित अर्थव्यवस्था से पूर्णतः भिन्न है। वैदिक देवता इन्द्र के वीरतापूर्ण कारनामों का वर्णन करते समय उसे नगरों के विध्वंसकर्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है अतः यही कहा जा सकता है कि ऋगवैदिक लोग प्रायः बाढ़, आँधी-तूफान आदि से बचने के लिए मिट्टी की दीवारों से घिरे हुए सुरक्षित स्थानों पर रहते रहे होंगे।

तिथिक्रम की द ष्टि से यद्यपि ऋग्वैदिक काल हड़प्पा काल के पश्चात आता है लेकिन यदि हम दोनों सभ्यताओं की उन्नति का तुलनात्मक अध्ययन करें तो स्पष्टतः हड़प्पाकालीन सभ्यता वैदिक सभ्यता से कही अधिक उन्नत नजर आती है। स्वभावतः ही प्रश्न उठता है तो क्या ऋग्वैदिक लोग भौतिक तथा तकनीकी जानकारी की द ष्टि से हड़प्पाकालीन लोगों से पिछडे हुए थे? यदि हम उनकी जीवन शैली तथा उनकी परिस्थितियों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो इस प्रश्न का उत्तर स्वतः ही मिल जाता है। ऋग्वेद के अध्ययन से एक बात तो स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है और वह यह कि उन दिनों जन-जीवन के वातावरण में युद्धों, आक्रमणों एवम् जनसंहार का बोल बाला था। आर्यो की इन जातियों/ग्रुपों को आन्तरिक तथा अंतर्जातीय युद्धों का सामना करना पड़ रहा था जिसकी पुष्टि ऋग्वेद संहिता में इधर-उधर बिखरे अनेकों उदाहरणों से हो जाती है। स्वयं दशराज्ञ युद्ध इसका एक प्रमाण है। इस युद्ध में दस नही वरन् तीस से अधिक राजाओं ने भाग लिया। इस प्रकार सर्वव्यापी युद्धों से स्पष्ट हो जाता है कि आर्य लोग कोई स्थायी जीवन यापन नहीं कर रहे थे अपितु स्थायी जीवन के लिए संघर्षरत थे। चूँकि वे अभी कबीलाई तथा यायावारी जीवन व्यतीत कर रहे थे अतः अभी ऐसी सम्पदा ही रख सकते थे जो चलयमान हो और ऐसी सम्पदा केवल पशुधन ही हो सकता था इसलिए उनकी अर्थव्यवस्था पशुचारण अर्थव्यवस्था ही हो सकती थी। वास्तविकता तो यह है कि आर्य भौतिकी, प्रौद्योगिकीय अर्थात्

तकनीकी द ष्टि से अपने भारतीय पूर्वजों (हड़प्पाकालीन लोगों से) बेहतर स्थिति में थे ओर इसी कारण धीरे-धीरे वे पूर्वोत्तर निवासियों को हराकर भारत में अपने पैर जमा सके। रथ और घोड़े की जानकारी और उपयोग के कारण ही वैदिक लोग अपना प्रसार कर सके। प्रौढ़ हड़प्पाई संस्क ति में घोड़े का अभाव रहा है हालांकि आर. एस. शर्मा के अनुसार पछेती हड़प्पाई संस्क ति (1600–1000 ई०पू०) जहाँ-तहाँ घोड़े मिलते हैं। घोड़ों और रथों के उपयोग ने उन्हें सैन्य द ष्टि से दुर्जेय बना दिया था और रथ और घुड़सवारी से उनके आवागमन के साधन ही नहीं बढ़े वरन उनमें तीव्रता भी आ गई। अतः स्पष्ट है कि आर्यो में शहरी जीवन का अभाव उनका तकनीकी द ष्टि से पिछड़ापन अथवा उनकी संस्क ति के भौतिक आधार की कमजोरी नहीं वरन् उनकी खानाबदोश आदतें तथा पशुचारण अर्थव्यवस्था है। इसके अतिरिक्त जैसा कि आर.एस. शर्मा कहते हैं, अपने क्रमशः विस्तार में जब तक वे दास और दस्यु जैसे विरोधी जनो से घिरे हुए थे, वे नगरवासियों के रूप में विकसित नहीं हो सकते थे।

क षि-कार्य: इन्द्र के विनाशकारी कारनामों के कारण यह कदापि नही समझना चाहिए कि भारत के आर्थिक इतिहास में आर्यो ने कोई रचनात्मक भूमिका नही निभाई समय की कसौटी पर ऋग्वेद के सबसे बाद वाले भागों से प्रकट होता है कि वे बैलों से खीचे जाने वाले हलों से खेती करते थे। परवर्ती वैदिक मूल पाने में जहाँ ब्रात्यों को भूमि पर खेती न करते हुए दिखाया गया है वहाँ आर्यो को बार-बार खेती करने का श्रेय दिया गया है। अनार्य लोग भी खेती करना जानते थे इसमें, आर.एस.शर्मा के अनुसार कोई शक नहीं है। इसलिए आर०एस० शर्मा के अनुसार, खेती किसानी न करने वाले के रूप में ब्रात्यों की निंदा का आशय केवल यही है कि अनार्य लोग आर्यो के ढंग से खेती नहीं करते थे। खेत जोतने, बोने, हँसिए से फसल काटने, गहाई करने (थ्रेसिंग), अनाज से भूसी अलग करने से जुड़ी हुई अनेक गतिविधियाँ ऋग्वेद काल के पहले तथा दसवें मंडल में आई हैं। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर दो तीन बातें स्पष्ट रूप से कही जा सकती हैं। पहली बात तो यह कि पशुचारण की तुलना में क षि का धन्धा कम से कम ऋग्वेदकाल में प्रथम चरण में गौण सा ही था। और इसकी प ष्टि इस बात से हो जाती है कि ऋग्वेद के 10462 श्लोकों में से केवल 24 में ही क षि का उल्लेख है और इनमें से भी अधिकतर श्लोक बाद में जोड़े गए माने जाते हैं। ऋग्वेद संहिता के मूलभाग में तो क षि के केवल तीन ही शब्द उपलब्ध हैं-उर्दर, धान्य एवं वपन्ति। क ष शब्द भी मूल खंडों में उपलब्ध नहीं है। क षि शब्द का उल्लेख 33 बार हुआ है, किन्तु लोगों के अर्थ में, जैसे- पंचक ष्टम। इसी प्रकार सिंचाई से संबंधित सभी उल्लेख भी परवर्ती काल के मंडलों मे ही मिलते हैं। ऋग्वेद में एक ही अनाज अर्थात् यव का उल्लेख है, जो या तो विभिन्न प्रकार के अनाजों के सामान्य नाम का द्योतक है या फिर-जैसा कि अधिक संभव है- परवर्तीकालीन संहिताओं की तरह जौ का सूचक माना जा सकता है। किंतु ऋग्वेद में इसके कुल 15 उल्लेखों में से तीन ही मूल पाठ में मिलते हैं। संपूर्ण पंजाब एवं गंगा की ऊपरी घाटी के पुरातात्त्विक साक्ष्यों में केवल अतरंजीखेड़ा के त तीय चरण से ही एक प्रकार के जौ एवं चावल के अवशेष मिले हैं। किंतु उत्खननकर्त्ता द्वारा प्रस्तुत इस चरण का तिथिक्रम इतना बड़ा (ईसा पूर्व लगभग 1200–600) है कि इन अनाजों की निश्चित प्राचीनता निर्धारित नहीं की जा सकती। चावल तो वस्तुतः उत्तर वैदिक काल का ही हो सकता है क्योकिं ऋग्वेद में इसका कोई भी उल्लेख नहीं है।

ऋग्वेद के काल की अर्थव्यवस्था के कम-से-कम प्रारंभिक चरणों में क षि का गौण स्थान ही था- इस बात की पुष्टि ऋग्वैदिक देवकुल में देवियों के स्थान से भी हो जाती है क्योंकि इससे देवताओं की तुलना में उन्हे नगण्य ही माना गया है। इन्द्राणि, रोदसी, श्रद्धा, ध ति आदि सभी को कोई विशेष महत्ता नहीं दी गई है। यहाँ तक कि अदिति एवं उषा जैसी तथाकथित महत्त्वपूर्ण देवियों का उल्लेख भी आदर से नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ, अदिति के लिए कोई अलग सूक्त नहीं है तथा

इन्द्र द्वारा उषा का बलात्कार अनेक स्थलों पर वर्णित है। क्या यह संयोग है कि जिन स्थलों पर इन्द्र एवं उषा का द्वन्द्व वर्णित है वहाँ अ-वैदिक मुखियों के विरुद्ध इन्द्र की सफलता का भी वर्णन है? कोसांबी का यह कहना कि इन्द्र-उषा द्वंद्व में आर्यो एवं अनार्यो के संघर्ष की भनक मिलती है। यदि इसे हम सत्य नहीं भी माने तो भी इतना तो स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में देवियों का अधिक सम्मान नहीं था जो कि क षिप्रधान अर्थव्यवस्था के सिद्धान्तों के विपरीत है। अतः इससे भी स्पष्टः होता है कि इस काल में पशुचारण ही लोगों का मुख्य धन्धा था।

दूसरे ऋग्वेद के अन्त तक क षि का आगमन ही नहीं हो चुका था अपितु क षि कार्य से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाओं से परिचित हो चुके थे। हल की सहायता से खेत जोतने से लेकर, अनाज निकालकर घर ले जाने तक यहाँ तक कि खेती के लिए सिंचाई के क त्रिम साधनों के महत्त्व को भी समझते थे। हालाँकि अभी उच्चस्तरीय सिंचाई प्रणाली का विकास नहीं हुआ था। खेती के लिए जमीन तैयार करने का काम जंगलों को आग लगाकर किया जा रहा था तथा परिवर्तित खेती का प्रयोग आरम्भ हो गया था ग्रंथों मे वर्णित हँसियां, कुदाल और कुल्हाड़ी का प्रयोग परिवर्तित खेती के लिए या फिर जंगलो का काटकर साफ करने के लिए भी किया जाता रहा होगा।

पशुपालनः प्रारम्भिक वैदिक समाज पशुपालन पर आधारित था, पशुपालन ही लोगों का मुख्य धन्धा था। साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि लोग खानाबदोश या अर्धखानाबदोश की स्थिति में पशु झुंडों को लेकर कुछ निश्चित समय के लिए अपने पशुओं को चराने के लिए घुमते थे।

प्रारम्भिक वैदिक काल में पशुपालन का ऋग्वेद साक्ष्यों में काफी बड़े स्तर पर वर्णन हुआ है। ऋग्वेद में बहुत सी भाषागत अभिव्यक्तियाँ गाय (गौ) से जुड़ी है। पालतू पशु सम्पन्नता के प्रधान प्रतीक थे और एक सम्पन्न आदमी जो पालतू पशुओं का स्वामी होता था ''गोमतू'' कहलाता था। इस काल में संघर्ष एवं लड़ाइयों के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता था, वे थे गविष्टि, गवेश्ना, गवयत आदि। पहले शब्द का अर्थ है गाय की खोज करना और ये शब्द यह स्पष्ट करते हैं कि इन पालतू पशुओं पर अधिकार समुदायों के मध्य असंतोष का आधार होता था तथा कभी-कभी इसको लेकर कबीलों के बीच संघर्ष एवं युद्ध छिड़ जाते थे। ऋग्वेद में पानि शब्द का प्रयोग हुआ है, जो वैदिक जनों के शत्रु थे तथा वे आर्यों के धन, विशेषकर गायों को, पर्वतों एवं जंगलो मे छिपा लेते थे। इन पशुओ को छुड़ाने के लिए वैदिक देवता इंद्र की पूजा की जाती थी। यह संदर्भ यह भी बताता है कि पशुओं का अपहरण सामान्य बात थी। राजा या मुखिया को ''गौपति'' कहा जाता था, जो गायों की रक्षा करता था। ऋग्वेद में ''गोधुली'' शब्द का प्रयोग समय को मापने के लिए हुआ है, दूरी को गवयुती नाम दिया गया है, पुत्री को दुहिता कहा गया है क्योंकि वह दूध दूहन का काम करती थी, तथा जो लोग अपनी गायों के साथ एक ही गोष्ट मे रहते थे उनको उसी गोत्र का माना जाने लगा। ये सारे शब्द गौ से बने हुए हैं और इससे लगता है कि ऋग्वेदकालीन जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य गौ-पालन था। चरागाह, गौशाला, दुग्ध उत्पादन और पालतू जानवर के साहित्यिक संदर्भ श्लोकों एवं प्रार्थनाओं मे पाए गए है। पशु ही दक्षिणा की वस्तु समझे जाते थे। एक स्थान पर तो स्वयं देवताओं को भी गायों से उत्पन्न हुआ बताया गया है, गायों के अतिरिक्त, बकरियाँ, भेड़े और घोड़े आदि भी पाले जाते थे, इनमें से गायों और घोड़ो का क षि गतिविधियों के संदर्भ में ऋग्वेद में कई स्थानों पर उल्लेख आया है परन्तु घोड़ा क षि कार्य में किस रूप में सहायक था कहना कठिन है क्योंकि घोड़े की सहायता से हल जोता नहीं जा सकता। संभवतः घोडे का उपयोग चारा तथा अनाज ढोने के लिए किया जाता रहा होगा। घोड़े के कारण ऋग्वैदिक आर्यो की गतिशीलता मे पैदल से पाँच गुणा व द्वि हुई और अब वे ग्वाले (Cow Boys) की तरह अपने पशुओं को चारागाहों में देखभाल रखने मे भी अधिक समर्थ हुए। पुरातात्त्विक स्त्रोतों

से पता चलती है कि क षि की शुरूआत 9000 ई०पू० मे ही हो गई थी किन्तु गौ-पालन की प्रक्रिया 6000 से 9000 ई०पू० के बीच ही प्रारम्भ हुई। जैसा कि मौरिस गोडेलियर कहते हैं कि आगे चलकर जब गाय के साथ घोडा और ऊँट को भी पालतू बनाया गया तो उन्होंने पूरी तरह पशुचारी अर्थव्यवस्था को जन्म दिया। क षि क्षेत्रों में अतिरिक्त पशुओं के हरण की गंभीर समस्या थी लोग पाठीयों से डरते थे क्योंकि वे पशुचोर होते थे।

स्वामित्वः पशुओ की देखभाल चरवाहे सामूहिक रूप से करते थे। ऋग्वेद के मूल भाग में भी ऐसे अनेको उल्लेख आए हैं जैसे- I.24.3, 27.6, II.14.12, III, 2.12, VI, 66.1, VII, 52.21 आदि। इनमें पशु संपदा के सामूहिक तथा उसके समान वितरण का वर्णन मिलता है। जहाँ तक खेतों के स्वामित्व का प्रश्न है यद्यपि निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है परन्तु खेतों के अनेक नामों के होने तथा भूमि नापने की प्रथा से ऐसा लगता है कि कम से कम वास्तविक व्यवहार के रूप में जमीन पर खेती के लिए व्यक्तिगत कब्जे थे। परन्तु यह स्वामित्व बड़े ही सीमित किस्म का रहा होगा क्योंकि ऋग्वेद के बाद के मंडलो में भी कहीं भी भूमि की बिक्री हस्तांतरण, गिरवी रखने या किसी भी रूप में किसी व्यक्ति को बेचे जाने का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। टैसीटस ने साद श्य के एक प्रकार के सामुदायिक स्वामित्व का वर्णन किया है जिसमें समय-समय पर भूमि व्यक्तियों के बीच बाँट दी जाती थी टैसीटस द्वारा दिया गया जर्मन साद श्य, ऋग्वैदिक आर्यों पर भी लागू होता था या नहीं कहना कठिन है खेतों पर भी संभवतः सैद्धान्तिक तौर पर समुदाय का ही अधिकार था।

उद्योग धन्धेः शिल्प-ऋग्वेद काल के शिल्पों के अधीन चर्मकार, धातुकार, बुनकर, रथकर और शिल्प संभवतः सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। बुनाई का काम केवल मात्र अब तक ही सीमित था तथा ऊन भेड़ो से प्राप्त की जाती थी। अनुष्ठानों में भी ऊनी कपड़े पसंद किए जाते थे। हालाँकि हड़प्पा के लोग रुई व सूती कपड़े से परिचित थे परन्तु आर.एस.शर्मा के अनुसार ऋग्वैदिक लोगों को रुई की जानकारी नहीं थी हालांकि कुछ विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। ऋग्वेद में कपड़े के लिए वस्त्र, वास, वसन आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्य कपड़ा बुनना जानते थे। ऋग्वेद में 'वाय' शब्द जुलाहे के अर्थ में प्रयोग हुआ है और 'तसर' का प्रयोग करछे के रूप में, इस ग्रंथ में एक स्थान पर रात्रि और ऊषा की तुलना बुनाई में लगी हुई दो नदियों से की गई है। वस्त्रों पर कढ़ाई करनेवाली स्त्री को परोस्कारी कहते थे

धातु कर्मः इस काल में कर्मार अर्थात् लुहार का धन्धा भी बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है जो अयस अर्थात् ताम्र या कास्य द्वारा विभिन्न उपकरण साजो-सामान और अस्त्र-शस्त्र बनाते थे। विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर यह कहना कठिन है कि अपने पूर्ववर्ती हड़प्पावासियों की शिल्पपरंपराओं को कहाँ तक विरासत में प्राप्त किया और उसे और अधिक विकसित किया। ऋग्वेद में अयस शब्द का प्रयोग हुआ है। यह अनुमान लगाया जाता है कि अयस शब्द संभवतः ताँबा या फिर कास्य के लिए प्रयोग होता रहा होगा या फिर यह संभवतः सभी धातुओं के लिए एक सामान्य नाम के तौर पर। यद्यपि ऋग्वेद में 'हिरण्य' शब्द नहीं आता परन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार वे संभवतः सोने से भी परिचित थे तथा उससे विभिन्न प्रकार के स्वर्ण आभूषण निर्माण करते रहे होंगे। उनके अनुसार 'निष्क' एक आभूषण था जो सोने से ही बनाया जाता था। दान दक्षिणा में भी सुवर्ण दिया जाता था। परन्तु प्रमाणों के अभाव मे निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है।

लकड़ी-उद्योगः तक्षन (बढ़ई) लकड़ी का काम करता था। वह खेत जोतने के लिए हल तथा घर के लिए विभिन्न-विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ, सवारी तथा माल ढोने के लिए गाड़ी भी बनाता था। युद्ध तथा रथ दौड़ प्रतियोगिताओं के लिए रथ भी बनाता था। युद्धों में रथ का उपयोग होने की वजह से रथकर का काम काफी महत्त्वपूर्ण था। साहित्य में नाव और पोत का वर्णन भी आता है

जो कि बढ़ई द्वारा ही बनाई जाती रही होगी। उसके काम में आनेवाले उपकरणों में कुलिश (कुल्हाड़ी) का उल्लेख भी हुआ है।

चमड़ा उद्योग: चर्मण नामक शिल्पी चमड़े से बनी वस्तुओं द्वारा आर्यजनों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। चमड़े से बननेवाली वस्तुओं में धनुष की प्रत्यंचा, रथ के विभिन्न भागों को बाँधने के लिए चर्मरज्ज, घोड़े की लगाम तथा चाबुक उल्लेखनीय है। संभव है चमड़े का थैला अर्थात् चरस भी बनाया जाता रहा है। उस युग में विभिन्न प्रकार के बाजे आदि भी चमड़े में बनते रहे होंगे।

म द्भाँड़ उद्योग: ऋग्वेद के कुम्हार के लिए कुलाल शब्द का व्यवहार किया गया है। अन्य किसी यूरोपीय भाषा में इसके सामानांतर कोई शब्द नहीं मिलता जिससे यह संकेत मिलता है कि आर्यो ने म द्भाँड़ो के संदर्भ में स्थानीय परंपराओं को अपनाया। पंजाब और हरियाणा में जो खुदाई हुई है उसमें कई जगह परवर्ती हड़प्पाई म द्भाँड, चित्रित धूसर म दभांडों से गुँथे हुए मिले हैं, जो संभवत वैदिक लोगों द्वारा इस्तेमाल में लाए जाते थे। इन सभी स्थलों में अभी तक चित्रित धूसर म दभाँड़ों के साथ लोहा कहीं भी नहीं मिला है। लगभग 200 धूसर म द्भाँड स्थलों की भी जाँच-पड़ताल की गई है और इनमे से ज्यादातर स्थल पंजाब में स्थित हैं। किंतु जम्मू प्रदेश स्थित मंडा में धूसर म द्भाँड स्तरों की जो खुदाई हुई है, उसमे लोहा कहीं भी नहीं मिला। हो सकता है, धूसर म द्भाण्ड बस्तियाँ चित्रित धूसर म द्भांड बस्तियों से पूर्ववर्ती हों। किंतु पुरातात्त्विक साक्ष्य के बिना हम आरंभिक वैदिक जनों के पशुचरण को धूसर म द्भाँड बस्तियों के साथ नहीं जोड़ सकते।

विनिमय तथा वितरण प्रणाली: ऋग्वैदिक समाज मे विनिमय, वितरण या उपभोग का स्वरूप क्या था, इसके बारे में कोई स्पष्ट विचार उपलब्ध नहीं है। किंतु जैसे पशुओं का अपहरण और युद्ध में शत्रु से अपहृत द्रव्य जीविका का महत्त्वपूर्ण स्त्रोात था (एक प्रकार से लूट के माल जैसा), उसी प्रकार इंद्र, अग्नि तथा अन्य देवताओं (जो कबीलाई मुखियों के प्रतिरूप थे) द्वारा लूट का वितरण महत्त्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि थी। त्वष्टा को प्रथम वितरक कहा गया है और जिन ऋभु जनों की सभा का वह प्रधान था, उन्हें वितरण के काम में लगे हुए स्वैच्छिक वितरक की संज्ञा दी गई है। चरागाह के प्रधान (व जनस्य राजा) को शत्रु से छीनकर लूट के माल पर कब्जा करते हुए और उसे अपने लोगों मे बाँटते हुए वर्णित किया गया है। गण-सदस्यों का वर्णन इस रूप में है कि वे युद्ध मे अपहृत संपूर्ण सामग्री उस चरागाह-प्रधान को समर्पित कर रहे हैं। यह अपहृत सामग्री शायद उन लोगों के पास भी पहुँचती थी जिनका इसे प्राप्त करने में कोई योगदान नहीं होता था। विदथ (जो ऋग्वेद की सबसे आरंभिक संस्था मे से है) का भी महत्त्वपूर्ण दायित्व वितरण ही था। यह भी देखने को मिलता है कि कम-से-कम आधा दर्जन धातुएँ ऐसी हैं जिनसे उपहार और वितरण के सूचक अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति हुई है और उनमें से कुछ का इस्तेमाल तो बार-बार किया जाता है। इन धातुओं मे से दा और भज् (वितरित करना) का प्रयोग तो उत्तर वैदिक काल में भी होता रहा।

ऐसा प्रतीत होता है कि मवेशी (गाय-बैल, घोड़े, दासियाँ, खाद्य पदार्थ जिसे वाज या अन्न कहा जाता था, खेती-योग्य भूमि और पानी का वितरण किया जाता था। किंतु गण, विदथ या कबीले के हर सदस्य को क्या बराबर-बराबर हिस्सा दिया जाता था, यह स्पष्ट नहीं है। कबीलाई सरदारों और उनके पुरोहितों को युद्ध में अपहृत माल का ज्यादा बड़ा भाग मिलता था। इसके अतिरिक्त जो विभिन्न गोत्र-आधारित समूह थे, उनके सरदारों को अपने शत्रुओं से और साथ ही अपने कबीले के लोगों से बलि तथा भेटें मिलती थी। देवताओं और उनके भक्तों के बीच भेंट के आदान-प्रदान का विचार अनेक सूक्तों में साफतौर पर व्यक्त हुआ है। उदाहरण के लिए, भोजन और लंबी आयु के एवज में अग्नि को आहुतियाँ दी गई है। ये सूक्त कबीला-सरदारों और उनके कबीलाई जनों के बीच या फिर बड़े तथा विस्त त परिवारों के विभिन्न सरदारों के बीच उपहारों

के आदान-प्रदान की प्रथा को व्यक्त कर सकते हैं। उत्सव के अवसरों पर कबीले का मुखिया अपने कबीले के सदस्यों को भोज कराता था और उनको उपहार देता था। इसका आयोजन संभवतः सम्मान प्राप्त करने के लिए होता था। इस प्रकार विभिन्न गोत्र-आधारित समूहों मे उपार्जित संसाधनों के बँटवारे की और परस्पर सहायता की प्रथा थी। इससे विभिन्न सगोत्रियों तथा अन्य लोगों की आवश्यकताएँ पूरी होती होंगी और कबीलाई जन भी उनके साथ इसी तरह का व्यवहार करते होंगे।

व्यापार व वाणिज्यः इस विषय पर इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार इस ऋग्वेद से प्राप्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि आर्यजन दूरस्थ प्रदेशों से भी व्यापार करते थे। ऋग्वेद में धन के लिए प्रदेश जाने की स्पष्ट चर्चा मिलती है। इसके अतिरिक्त अन्तर्वर्ती प्रदेशों मे भी व्यापार कम हो रहा होगा यद्यपि इसके विषय में इसमें निश्चित सूचना नहीं प्राप्त होती। क्रय-विक्रय में सामान्यतः वस्तु विनिमय प्रणाली का बोलबाला था, किन्तु इसके साथ ही गाय मूल्य की इकाई के रूप में निश्चित रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। एक मंत्र मे कवि दान में रनै अश्वो के साथ सौ निष्को की प्राप्ति का उल्लेख करता है। और यह संभव लगता है कि यहाँ निष्कं से तात्पर्य हार आभूषण नहीं अपितु मूल्य की एक निश्चित इकाई के रूप में इसका उल्लेख हुआ है।

ऋग्वेद मे व्यापार करने वालों को पाणि, वणिज, वाणिज और वणिक कहा गया है। पणि लोग अधिक धन अर्जन के निमित्त सामान से लदे अपने जहाजों को दूर-दूर तक ले जाते थे उस युग में पदार्थों का आदान-प्रदान भी होता था। एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि दस गायों को देकर इन्द्र की प्रतिमा ली गई थी। इस काल में यात्रा का पर्याप्त प्रचलन था। पूषन नामक देवता की परिकल्पना मार्ग के अधिष्ठाता के रूप में की गई है जो यात्री को सकुशल घर तक पहुचाँता है तथा लुटेरों तथा चोरों आदि का नाश कर यात्री पथ को निरापद बनाता है। यात्रा के लिए विस्तीर्ण मार्ग तथा पंथ सीधा एवं संकट रहित हो इसके लिए देवताओं से प्रार्थना की गई है। रथ तथा गाड़ियाँ यात्रा को सुविधा-जनक तथा सुखकर बनाती थी। एक मंत्र में, जिसमें सुरक्षित यात्रा के लिए इन्द्र की प्रार्थना की गई है, यात्रा में प्रयुक्त होनेवाले रथ का अत्यंत विशद विवरण प्राप्त होता है। प्राक्ट या गाड़ी यातायात का अन्य प्रमुख साधन था। अश्वाराहेण भी पर्याप्त प्रचलित था। जल मार्ग के लिए नावों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद मे समुद्र शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। एक स्थान पर तुग्र के पुत्र भुज्यु की समुद्र यात्रा का वर्णन है। मार्ग में उसके जलयान जल मग्न हो गये। अश्विन देवताओं ने भुज्य को बचाने के लिए सौ पतवारी वाली एक नाव भेज दी। इतनी बड़ी नाव की आवश्यकता सामुद्रिक आवागमन के लिए ही होगी। कुछ इतिहासकारों के अनुसार इन उल्लखों में यह विचार अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि आर्यजन समुद्र से पूर्ण परिचित थे तथा समुद्र द्वारा व्यापार करते थे। ऋग्वैदिक काल में सिंधु नदी के मुहाने स्थित यानी के समुद्र के लिए समुद्र शब्द का प्रयोग हुआ है।

परन्तु आर०एस० शर्मा के अनुसार समुद्र शब्द का प्रयोग सिंधु नदी के मुहाने पर स्थित पानी संग्रह के लिए किया गया है। यह सोचना युक्तिसंगत होगा कि ऋग्वैदिक जनों के समुद्र की कोई जानकारी नही थी। उनमें व्यापार एवम् व्यवसाय की हालत कमजोर थी तथा आस-पास के इलाकों से ही लेन देन रखते होंगे जो समाज यायावरी पशुचारण तथा कलीबाई अवस्था में हो तथा जन मुख्यतः युद्ध में लगे रहते हों उनके पास व्यापार के लिए अपेक्षित अधिशेष उत्पादन के लिए कोई समय नहीं था तथा दूसरे इस प्रकार जीवन प्रणाली व्यापारिक विकास में बहुत बड़ी बाधा थी।

क षिकर्म तथा पशुपालन आर्यजनों के सामान्य व्यवसाय थे किन्तु अन्य कई व्यवसाय तथा शिल्प भी प्रतिष्ठित हो चुके थे। गाय विनिमय का माध्यम थी अतः खरीद फरोख्त के सौदे अधिकतर वस्तु विनिमय के रूप में होते थे। वस्तु विनिमय प्रणाली के साथ ही मूल्य की एक निश्चित इकाई की परिकल्पना का भी जन्म हो गया था। एक स्थान पर इन्द्र से मिलती जुलती मूर्ति की कीमत एक इकाई के रूप में बताना आरम्भिक मुद्राव्यवस्था का संकेत देता है। व्यापार का विकसित रूप का वर्णन अधिकतर आक्षेप मंडलों में ही मिलता है।

अतः उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक समाज के समान तत्कालीन अर्थतन्त्र भी आद्य अवस्था मे था जोकि उत्तरवैदिक काल से विकसित तथा जटिल होता चला गया।

(ख) उत्तरवैदिक अर्थव्यवस्था (लगभग 1000–600 ई०पू०)
(Later Vedic Economy [C.1000 to 600 B.C.])

उत्तरवैदिक काल में आर्य सिंधु घाटी और उसकी सहायक नदियों में मैदानों से सिंधु गंगा विभाजक तक और उच्च गंगा द्रोणी तक फैल गए थे अर्थात् उनका पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश और राजस्थान से मिले हुए क्षेत्र पर अधिकार हो गया था। इस क्षेत्र की रेतीली मिट्टी और इसकी हल्की वनस्पतियों ने जमीन साफ करने और बस्ती बसाने में कोई दिक्कत पैदा नहीं की। इस काल में साहित्यिक साक्ष्यों से वैदिक संस्क ति के इस विस्तार की पुष्टि होती है। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि किस प्रकार विदेह माधव सरस्वती नदी से चलकर, जंगलों को जलाते हुए उत्तरी बिहार में सदानीरा तक पहुँच गया। जंगल जलाकर खेती योग्य जमीन बनाने की प्रक्रिया बड़े पैमाने पर अपनायी गई। एक वर्णन के अनुसार सदानीरा अर्थात् गंडक के पूरब में विदेह पड़ता था, जहाँ की भूमि दलदल तथा अक ष्ट थी और यज्ञ तथा ब्राह्मण विहीन थी। अग्निदेव के जंगल जलाने से वहाँ क षि, यज्ञ तथा ब्राह्मणवास का आरम्भ हुआ। इस प्रकार उत्तरवैदिक काल वह काल था जहाँ लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में जीवन के सभी पहलुओं में एक निश्चित दिशा में परिवर्तन हो रहे थे और सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में एक जैसे ढाँचे का अविर्भाव हुआ, जो छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ सदियों तक चला। इस काल के आर्थिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी क षि प्रधान ढाँचा।

क षि अर्थव्यवस्थाः हालाँकि अथर्ववेद मे मवेशियों की व द्धि के लिए असंख्य प्रार्थनाएँ हैं, परन्तु फिर भी क षि इस समय लोगों की जीविका का प्रमुख साधन बन गई थी। अथर्ववेद में ऐसी-ऐसी बलियों का वर्णन है जिससे कि भौतिक लाभ की प्राप्ति होती थी तथा इसी के साथ ब्राह्मणों को गाय, बछड़े, सांड, सोना, पक्के चावल, छप्पर वाले घर तथा अच्छी पैदावार देने वाले खेतों को उपहार के रूप में दिया जाने लगा। उपहार में दी जानेवाली इन वस्तुओं से स्पष्ट हो जाता है कि क षि तथा क षि पर आधारित स्थायी जीवन का महत्त्व बढ़ रहा था। क षि के महत्त्व की पुष्टि समकालीन साहित्य से भी हो जाती है, तैतरीय उपनिषद में कहा गया है- अन्न ही वहा है, इसी अन्न से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए अन्न से ही इनमें जीवन चलता है और ये विनिष्ट होकर अन्न मे ही मिल जाते हैं और उसी में एकरूपता प्राप्त करते हैं। इस काल में खेती की अच्छी पैदावार तथा आर्थिक सम्पन्नता के लिए राजसुय यज्ञ में दूध, घी व पशुओं के साथ-साथ अनाज भी चढाया जाने लगा राजसुय यज्ञ में राजा के अभिषेक के अवसर पर पुरोहित राजा को सम्बोधित करता था, हे राजन् यह राज्य तुम्हें क षि, समाज कल्याण तथा पोषण के लिए दिया जाता है। शतपथ, ब्राह्मण में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से स्वतः उत्पन्न होनेवाली वनस्पति तथा क षि-कर्म क्षरा उत्पादित वनस्पति में अन्तर किया गया है। अथर्ववेद में प्रभूत प्रदान करने के लिए सीता (जोते हुए खेत की हराई) की प्रार्थना की गई है।

खेत को जोतने के लिए 'कर्षण', बोने के लिए 'वपन', काटने के लिए 'कर्तन' ओर माड़ने के लिए 'मर्दन' शब्द का व्यवहार करते थे, जिससे लगता है कि वे लोग क षि कर्म अत्यंत सुव्यवस्थित और सुचारु रूप से सम्पन्न करते थे। खेत की जुताई तथा अन्न की बोआई, कटाई और मड़नी (भूसे से अलग करना) का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण मे हुआ है। अष्टाध्यायी मे क षि सम्बन्धी अनेक शब्दों हल, हलयति, हलि, वर्ष जुताई का उल्लेख मिलता है। इनसे पता चलता है कि क षि, हल और बैल की सहायता से होती थी। एक स्त्रोत के अनुसार हल उदुम्बर लकड़ी का बनाया जाता था और किसान खादिर के फाल का इस्तेमाल करता था। छह, आठ, बारह तथा चौबीस बैलों को हल में जोते जाने के प्रसंग मिलते हैं। इससे गहरी जुताई का संकेत मिलता है जो लोहे की फाल के इस्तेमाल से ही सहमत थी। फसल को टिड्डियों से रक्षित करने के लिए वे अनेक यंत्रों का उपयोग करते थे। इस युग में टिड्डियों के कारण फसल बहुत नष्ट होती थी।

इस काल तक आकर वे अनेक प्रकार के अन्न उपजाने लगे थे। व्रीहि और सली के कई प्रकार विकसित किये जा चुके थे। क ष्ण, आशु और महाव्रीहि नामक तीन प्रकार के धान का उल्लेख मिलता है तथा 'तंदुल' नामक दूसरे प्रकार का भी धान पैदा किया जाता था। चित्रित धूसर म दभाँड़ तथा बाँस संस्क ति के खुदाई किए गए स्थलों से चावल के काले पड़े हुए दाने मिले हैं। हस्तिनापुर से भी चावल के अवशेष प्राप्त हुए हैं जिन्हें 8वीं शताब्दी ई०पू० का बताया जाता है। इसी प्रकार अतरंजीखेड़ा से जौ, चावल एवम् गेहूँ के प्रमाण भी मिल गए हैं। चावल की फसल वर्षा ऋतु में बोई तथा शरद ऋतु में पकती थी। अनुष्ठानों मे चावल के प्रयोग की अनुशंसा की गई है। किंतु गेहूं की अनुशंसा क्वाचित-कदाचित ही है। विभिन्न किस्म की दालें भी पैदा की जाती थी। ईख का उल्लेख अथर्ववेद मे आया है। इसे शायद जंगली उत्पाद के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। जौ, गेहूँ तिल, सरसों, गण, कांगणी, कुल्थी आदि फसलें भी होती थी। उस युग में फसल के नाम से खेतों के नाम होने लगे थे। फलों में आम, जामुन और बेल का उल्लेख पाणिनी ने किया है यह लगता है कि इस समय फसल चक्र का प्रयोग होने लगा था। अष्टाध्यायी के उल्लेख के अनुसार उस युग में प्रायः तीन फसले बोई जाती थी। खेत के अधिपति देवता के अस्तित्व में विश्वास किया जाता था जिसे क्षेत्रपति कहते थे। क षक अच्छी उपज के लिए खाद का महत्त्व जानते थे और इसके लिए गाय का गोबर एकत्रित किया जाता था। इसके अतिरिक्त ऋतुओं के ज्ञान का क षि प्रक्रिया में उपयोग भी तत्कालीन विकसित क षि-प्रणाली का प्रतीक है। परन्तु इस चरण में चावल उपजाने की अधिरोपण (पौध लगाना) की तकनीक से ये लोग अभी परिचित नहीं थे। यद्यापि पुरातात्त्विक साक्ष्य अभी तक उपलब्ध नहीं है। किंतु इस काल के साहित्य में प्रवीरवन्त अथवा पंवीख (धातु में चोंच वाला फाल) का भी उल्लेख है। दात्र अथवा स णि अर्थात् दराँती के कुछ अवशेष खुदाईयों मे भी मिले हैं (अतरंजीखेड़ा से) इस काल में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जैसे अनुत्पादी वर्गो का उदय हो चुका था जिससे स्पष्टतयः निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ क षक अपनी आवश्यकता से कहीं अधिक अन्न अर्थात् अधिशेष उत्पन्न कर रहा था। जिस पर यह भूस्वामित्त्व अनुत्पादक वर्ग पल रहा था।

इस काल के दौरान भूमि के निजी उपयोग के स्पष्ट संकेत मिलते हैं, हालाँकि भूधारण अधिकार की विभिन्न किस्मों की हमें कोई जानकारी नहीं है। यह कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति का खेत को लेकर या अपने पड़ोसियों से और कोई विवाद हो तो उसे मिट्टी के बर्तन के ग्यारह ठीकरों पर प्रार्थनाएँ लिखकर उन्हें इंद्र और अग्नि को समर्पित करना चाहिए। पहले-पहल हम भूमि के अनुदान की कोशिशों के बारे में सुनते हैं। हमे यह पता चलता है कि कोई क्षत्रिय अपने कबीले की सहमति से किसी व्यक्ति को बस्ती दान में दे सकता है। इसमें यह भाव निहित है कि अलग-अलग जोतों का अस्तित्व था। इन जोतों पर शासन करनेवाली जनजाति के प्रधान या राजा

का नियंत्रण होता था जिसकी स्थिति उत्तम कोटि के कबीलाई सरदार से बेहतर नहीं थी। किंतु वास्तविक अनुदानों के उदाहरण नहीं मिलते, क्योंकि एक मामले में जब किसी ब्राह्मण को भूमि अनुदान में दी गई तो प थ्वी देवी ने हस्तांतरित होने से मना कर दिया। भूमि को बेचने या क्रय करने की कोई प्रथा नही थी इसकी पुष्टि एक और साक्ष्य से हो जाती है। प थ्वी द्वारा भवाना विश्वकर्मा नाम के एक शासक की इसलिए निंदा की गई कि उसने भूमि का अनुदान देने की कोशिश की। स्पष्ट नहीं है कि इस काल में उनके पास बड़ी-बड़ी जमीने थी या नहीं। कीथ के अनुसार ब्राह्मण काल में बड़ी-बड़ी भू-संपदाएँ उभर आई थीं जिन पर दास तथा क षिदास काम करते थे। किंतु दासों के उत्पादन में लगाए जाने का कोई उदाहरण नहीं है। **कर्मकर** (भाड़े का श्रमिक) शब्द वैदिक ग्रंथों में नही पाया जाता इससे यह संकेत मिलता है कि लोगों के पास उतनी ही जमीन थी जितनी वे अपने पारिवारिक श्रम से सँभाल सकते थे। आर्थिक असमानताएँ दास-श्रम के सीधे उपयोग के कारण उतनी नहीं थी। बल्कि राजा और उसके अधिकारी किसानों से कर या भेंट के रूप मे उपज का जो अंश वसूल करते थे वह इन असमानताओं के लिए ज्यादा उत्तरदायी था। **अथर्ववेद** में इंद्र से यह प्रार्थना की गई है कि गाय-बैल तथा घोड़ों में से एक अंश वह राजा को प्रदान करें। कदाचित गाँवों में से अंश प्रदान करने से आशय है किसानों द्वारा उत्पादित फसलों का एक अंश, जो शायद **संग्रहिता** के पास जमा करा दिया जाता था।

पशुपालनः क षिकर्म के साथ ही साथ पशुपालन भी होता था हालाँकि अथर्ववेद मे मवेशियों की व द्धि के लिए असंख्य प्रार्थनाएँ है, फिर भी लगता है क षि लोगों की जीविका का प्रमुख साधन बन गई थी जबकि उनकी चल संपति का प्रमुख रूप पशुधन ही था। कई द ष्टियों से क षि की आधार के रूप में महत्त्वपूर्ण गाय को एक पवित्र पशु मानना स्वाभाविक था। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि 'गाय ही प थ्वी है' तथा अथर्ववेद में रूद्र से प्रार्थना की गई है कि वह गायों को अपने अस्त्रों के प्रहार से अछुता छोड़ दे। पशु आर्य जीवन का मुख्य अपरिहार्य अंग था और पशुओं के बिना किसी घर की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। आर्य समाज में पशु श्री तथा सम द्धि सूचक थे। और उनकी व द्धि के लिए नाना प्रकार के उपाए किए जाते थे। पहचान के लिए पशुओं को चिह्नित करने की प्रथा और उनके नाम भी रखे जाते थे। पशुओं को इस उद्देश्य से बनाए गए बाड़े में रखा जाता था और उनके चरने के लिए चरागाहों की व्यवस्था थी और उनकी देखभाल की जाती थी। अपने लाखों अनुपात से लोग पशुओं के भोजन में नमक के महत्त्व से परिचित हो गये थे, यही नहीं नमक वाली भूमि पशुओं के लिए अच्छी मानी जाती थी।

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर स्पष्ट घोषणा की गई है कि गाय और बैल प थ्वी को धारणाएँ करते थे। अतः उनका माँस नहीं खाना चाहिए। गाय-बैल के अतिरिक्त भैस, भेड़, बकरी और घोड़ा विशेष महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। अथर्ववेद हाथी का भी उल्लेख करता है। गाड़ी खीचने के लिए गधे भी काम में लाये थे। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर गधे अश्विन देवताओं की गाड़ी खीचते हुए प्रदर्शित किये है। अथर्ववेद ऊट-गाड़ी का उल्लेख करता है। शतपथ ब्राह्मण मे शूकर का वर्णन है। यजुर्वेद मे कैवर्त का उल्लेख मिलता है। यह मछुये का काम करता था। मछलियों के अतिरिक्त यह कूर्म, कुक्कट आदि भी पकड़ता था।

उद्योग-धन्धेः उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्था में विभिन्न उद्योग धन्धों और शिल्पों का उदय हुआ। इसकी गणना पुरुषमेध के लिए निर्दिष्ट लोगों की सूची में की गई है। इससे यह जाहिर होता है कि कार्यो के विभेदीकरण मे तो काफी विकास हुआ किन्तु अर्थव्यवस्था में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया। जनंसख्या व द्धि के कारण जीविकोपार्जन के नए-नए साधनों की खोज होने लगी। यजुर्वेद के अतिरिक्त वजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, पंचविग ब्राह्मण, अथर्ववेद आदि में अनेक शिल्पकारों के कार्यो का वर्णन मिलता है। 'शिल्प' शब्द का प्रयोग इसी काल मे उद्योगों के लिए हुआ जो बाद

में भी पलता रहा।

वाजसनेयी संहिता से विदित होता है कि उस युग में धीवर, दाशा और कैवर्त जैसे कई तरह के मछुएँ, कीशवा और वप जैसे क षि करनेवाले किसान आदि विभिन्न कार्य करनेवाले लोग थे। उस युग में कपड़े धोने का काम करनेवाले 'वारन पल्पूली' (धोबी), मणि का धंधा करने वाले मणिकार, बेंत का काम करनेवाले विदलकार और रस्सी बटने का काम करने वाले रज्जूसर्ज्ज कहे जाते थे। इसके अतिरिक्त रथकार, धनुषकार, इषुकार (बाण बनाने वाला), अयस्ताप (लोहा गलानेवाला लोहार), हिरण्यकार (सुनार), कुलाल (कुम्हार), वनप (जंगलों की देखरेख करनेवाला) आदि भी समाज मे थे। व्यापार करनेवाले वणिक भी थे तथा ब्याज पर रूपया प्रदान करनेवाले लोग भी, जिन्हें कुसीदी कहा जाता था। श्रेष्ठि और प्रधान व्यापारी थे जिनके लिए श्रैष्टय शब्द का प्रयोग किया गया है। कपड़े रंगने का काम करनेवाली स्त्रियों को रजयित्री कहा जाता था। कसीदा और सुई का काम करनेवाली स्त्री पेशकारी के नाम से विख्यात थी। बास का काम करनेवाली कंटकीकारी, मदिरा बनानेवाला सुराकार, ज्योतिष गणक तथा गाँव का मुखिया, ग्रामीण के नाम से जाना जाता था। यजुर्वेद मे हिरण्य, अयस, श्याम, सीस और लघु जैसी अनेक धातुओं का उल्लेख है जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में विभिन्न धातुओं के शिल्पकार थे। अथर्ववेद में ताँबे के लिए लोहित अयस और लोहे के लिए श्याम अयास का प्रयोग हुआ है। सिषक (चिकित्सक) का भी उल्लेख मिलता है। उत्तर वैदिक चिकित्सा शास्त्र में जादू-मंत्र का भी स्थान था। लोह तकनीक का प्रयोग आरम्भ मे युद्धास्त्रों के लिए और धीरे-धीरे क षि एवम् अन्य आर्थिक कार्यकलापों में होने लगा क्योंकि अब तक प्राप्त समकालीन लौह उपकरणों में युद्धस्त्र की ही बहुलता है।

व्यापार एवम् वाणिज्य : समाज का वैश्यवर्ग क षि और पशुपालन के अतिरिक्त वाणिज्य तथा व्यापार से सम्बन्धित भी था। यह वर्ग ही राज्य में अर्थतंत्र का प्रमुख आधार था। शतपथ ब्राह्मण मे 'वाणिज्य' तथा 'वाणिक' (इस कार्य मे लगे हुए लोग) शब्द आये हैं। विभिन्न स्थानों के व्यापारी अपने-अपने स्थान के नाम से जाने जाते थे, जैसे- मद्रदेश का व्यापारी मद्रवणिज, गांधार का गांधार वणिज, कश्मीर का व्यापारी कश्मीर वाणिज। इसी प्रकार व्यापारियों की विभिन्न वर्ग (Categories) भी मिलती है जैसे व्यापारियों का वह वर्ग जो व्यापार में अपना धन तो लगाते थे परन्तु उसकी व्यवस्था या देखभाल स्वयं न करते हों, दूसरे वे व्यापारी जो स्वयं की पूँजी न लगाकर दूसरे की पूँजी पर व्यापार करते हों। इसी प्रकार भौम से व्यापारी किस वस्तु में व्यापार करते थे उसके आधार पर भी ये वर्ग विभाजित (Catories) थे।

यद्यपि पुरातात्त्विक उत्खननों में अभी तक इस काल की कोई मुद्रा प्राप्त नहीं हुई है तथापि प्राप्त उल्लेख इस ओर निश्चित संकेत करते हैं कि वाणिज्य वस्तु का मोल निश्चित इकाई में ही किया जाता था। वैसे विनिमय प्रचलित वस्तु में बदले वस्तु (Barter System) से ही किया जाता था परन्तु निष्क और शतमान, कुछ इतिहासकारों के अनुसार, एक किस्म की मुद्रा भी थी। एक स्थान पर तीन सौ सुवर्ण शतमानों का दक्षिणा के रूप में दिए जाने का उल्लेख मिलता है। जिससे ऐसा लगता है कि ये एक निश्चित कीमत (Value) के सुवर्ण खण्ड रहे हैं। गाय अब भी विनिमय का साधन थी।

अथर्ववेद में आए वर्णन के अनुसार वणिक कर्म मे लोगों को कभी-कभी लम्बी यात्रा करनी पड़ती थी, मार्ग में उसे तस्कर, डाकुओं और जंगली जानवरों का जोखिम उठाना पड़ता था इसलिए वे काफिले के रूप में चलते थे। वैश्यो का एक वर्ग विदेशी व्यापार हेतु ऋण देने का काम भी करता था। ऐसे लोगों को 'कुसीदिन' कहा जाता था।

इस युग के साहित्य के मूल पाठों में समुद्री यात्राओं और समुन्द्र का स्पष्ट उल्लेख आए हैं। ये यात्राएँ वाणिज्य व्यापार की गतिविधियों के लिए की जाती होगी और शिल्पों तथा कलाओं के उदय से उन्हें और गति मिली होगी। ऐतरेय ब्राह्मण मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि दूरस्थ देशों में जानेवाले यात्री अपने साथ पर्याप्त समय तक चलने वाला भोजन तथा पेयजल ले जाते थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर खराब मार्ग के लिए विपथ तथा अच्छे/उपयुक्त मार्ग के लिए राजपथ शब्दों का प्रयोग किया है। उत्तर वैदिक काल के कम से कम अन्त में नगरीय जीवन का सूत्रपात हुआ। इस काल मे नगरों में इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर और वाराणसी महत्त्वपूर्ण थे जो कि व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गए।

यद्यपि पुरातात्त्विक स्त्रोतों से हमें तत्कालीन व्यापारिक गतिविधियों की संपुष्टि नहीं हो पाई हो परन्तु इस युग के मूल पाठों में समुद्र और समुद्री यात्राओं के स्पष्ट उल्लेख हैं। ये यात्राएँ वाणिज्य तथा व्यापार की गतिविधियों के लिए की जाती होंगी और नवीन कलाओं और शिल्प के उदय से इनमे तेजी आई होगी इसमें संदेह नहीं कि कम से कम उत्तर वैदिक काल मे अन्त होते-होते व्यापार काफी विकसित हो चुका था। उत्तर वैदिक अर्थव्यवस्था के बारे में संक्षेप मे कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर प्रथम सहस्राब्दी ई०पू० में सिंधु-गंगा विभाजक तथा उच्च गंगा द्रोणी में रहने वाले लोगों की अर्थव्यवस्था तथा उनके भौतिक जीवन में भारी प्रगति के लक्षण दिखाई देते है। आरंभिक वैदिक जनों की चरागाही तथा अर्ध-घुमंतू जीवन पद्धतियाँ पीछे ठेल दी गई। खेती जीविका का मुख्य साधन बनी और इससे जीवन में स्थायित्व तथा स्थिरता आई। उच्च गंगा के मैदानों में दो-तीन शताब्दियों तक बस्तियों का बसना जारी रहा। इस तथ्य की पुष्टि अनेक ऐसे उत्खनन-स्थलों से होती है जहाँ लोहे के साथ चित्रित्र धूसर म द्भाँड मिले हैं। पूर्ववर्ती बस्तियों की तुलना में उनका फैलाव भी अधिक व्यापक क्षेत्र में था, क्योंकि उत्खनन और अनुसंधान के परिणामस्वरूप सतलज तथा उच्च गंगा-द्रोणी मे अब तक लगभग 700 चित्रित धूसर म द्भाँड स्थलों की गणना की जा चुकी है। मैदानों में रहनेवाले किसान अपने निर्वाह के लिए पर्याप्त अनाज पैदा कर लेते थे। साथ ही वे ब्राह्मणों और राजन्यों के उभरते हुए वर्गो के लिए भेंट, उपहार कर और खिराज के रूप मे अपनी उपज का कुछ भाग बचा भी लेते थे। किसानों से या किसानों पर शासन करनेवाले छोटे मुखिया से बड़े सरदार जो कुछ वसूल करते थे उसे वे राजसूय या अश्वमेध जैसे बड़े यज्ञों के अवसर पर अपने सगोत्रियों, अधिकारियों तथा अन्य लोगों को बाँट देते थे। ये यज्ञ, जिनका महाकाव्यों में विस्तार से वर्णन किया गया है, मुखियों तथा अन्य लोगों से खिराज वसूल करने का अवसर तो प्रदान करते ही थे। साथ ही साथ इन यज्ञों के दौरान यह मौका भी मिलता था कि वस्तुओं और खाद्य-पदार्थो के रूप में खिराज के एक अंश को उन सभी लोगों में वितरित किया जा सके जो यज्ञ के विभिन्न सत्रों में शरीक होते थे। वस्तुतः ब्राह्मणों के संदर्भ में यह पुनर्वितरण लगभग एकतरफा हो जाता था, क्योंकि यज्ञ के अवसर पर राजा द्वारा जुटाई गई सामान्य धनराशि में उनका कोई अंशदान तो होता नहीं था। समय-समय पर होनेवाले इन पुनर्वितरणों को वस्तु-विनिमय व्यवस्था का समर्थन मिला हुआ था। यही वजह है कि वैदिक अर्थव्यवस्था चलती रही। मवेशी अब भी विनिमय के माध्यम थे। निष्क तथा शतमान जैसे धातु-पदार्थो का उपयोग -प्रतिष्ठासूचक' वस्तुओं के विनिमय के लिए किया जाता होगा, क्योकिं छठी शताब्दी ई०पू० तक धातु-मुद्रा का चलन शुरू नहीं हुआ था।

यद्यपि उच्च गंगा द्रोणी में क षि-अर्थव्यवस्था दूर-दूर तक फैली हुई दिखाई देती है, फिर भी इसके मार्ग मे अनेक बाधाएँ थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें हस्तशिल्प अथवा क षि-उत्पादन के लिए लोहे का बड़े पैमाने पर उपयोग नहीं किया गया। ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि पड़ोस के क्षेत्रों में लोहे की आपूर्ति बहुत सीमित थी। खेती ओर हस्तशिल्पों मे व्यापक इस्तेमाल के लिए लोहे

की प्रचुर मात्रा में आपूर्ति बेहद जरूरी थी, किंतु दक्षिणी बिहार में उपलब्ध सम द्धतम लौह अयस्क संभवतः वैदिक लोगों की पहुँच के परे थे। दूसरे, परवर्ती वैदिक काल अथवा चित्रित धूसर म द्भाँड खरड के लौह पदार्थो पर आदिम प्रौद्योगिक की छाप है। लुहारों का यह पता नहीं था कि लौह पदार्थो पर आदिम प्रौद्योगिक की छाप है। लुहारो को यह पता नहीं था कि लोहे की चीजें बनाते समय अतिशय उच्च तापमान कैसे कायम रखा जाए और इसलिए वे इस उपकरणों को द ढ़ता प्रदान करने में समर्थ नहीं हो पाते थे। इसका परिणाम यह होता था कि पिटवाँ लोहे से बनी ये वस्तुएँ बहुत कारगर नहीं होती थी। उनका इस्तेमाल अधिकतर शिकार और लड़ाई में होता था, खेती में नहीं। पुनः जिस धान का उत्तर वैदिक लोग उत्पादन करते थे वह साठ दिनों में पकती थी। वे धान की पौध लगाना नहीं जानते थे इसलिए उत्पादन में पहले के मुकाबले बहुत अधिक व द्धि नहीं हो सकी। इन बाधाओं के बावजूद काफी अधिशेष उत्पन्न कर लेते थे जिसके कारण इस काल के अन्त समय शहरों का उत्थान हुआ जो व्यापार व उद्योग धन्धों में केन्द्र बने।

अध्याय-5
लगभग 600 ई०पू० से 300 ई०पू० तक भारत की आर्थिक स्थिति
(Economic Condition of India from C.600 B.C. to 300 B.C.)

लगभग 600 ई.पू. से 300 ई०पू० का काल जो कि बौद्धकाल अथवा द्वितीय शहरीकरण अथवा शहरों के पुनरुत्थान का काल भी कहलाता है, के काल में आर्थिक-क्षेत्र में महान एवम् महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए ओर इस परिवर्तन का वाहक बने अनेक कारण जैसे लोहे का युद्धास्त्रों के लिए ही नहीं वरन् क षि यन्त्र बनाने के लिए भी व्यापक प्रयोग, वाणिज्य फसलें, जैसे चावल, कपास ओर ईख की विस्त त खेती, शहरों का उदय एवम् विकास, उद्योग धन्धों का और अधिक विशेषीकरण एवम् विकास ही नहीं बल्कि अपने को श्रेणीबद्ध कर लेना तथा तेज स्थानीय एवम् दूरस्थ व्यापार जिसकी पुष्टि विभिन्न आहत सिक्कों की प्राप्ति से होती है।

पुरातात्त्विक द ष्टि से इस काल की N.B.P. Phase भी कह सकते हैं क्योंकि अब तक इलाहाबाद और भागलपुर के बीच गंगा नदी के दोनों तरफ लगभग 450 N.B.P. (Sides) पुरास्थल प्राप्त हुए है। जो कि विभिन्न गाँवों अर्थात् विस्त त क षि बस्तियों की पुष्टि करते हैं। इनका वर्णन हमें पाली साहित्य में भी मिलता है। ये पुरास्थल शहरों तथा ग्रामों के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों की भी पुष्टि करते है। जैसा कि शहरी स्थल और उसके चारों और बसे गाँव में एक जैसे ही म द्भाण्ड प्राप्त हुए है। इसके अतिरिक्त इन पुरास्थलों से यह भी स्पष्ट होता है कि उस काल में मालवा और गंगा के मैदानों में एक ऐसा उच्च वर्ग भी उभर चुका था जो बहुमूल्य पत्थर तथा डीलक्स म दभाण्ड प्रयोग में लाने लगा था। लोहे के प्रयोग, क षि विस्तार, सिक्कों का प्रचलन व्यापार और व्यवसायों के विकास का परिणाम यह हुआ कि एक जटिल ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था का विकास हुआ।

(क) क षि अर्थव्यवस्था
(Agrarian Economy)

बहुत से समकालीन साहित्य स्त्रोतों से जानकारी मिलती है कि बहुत से ग्रामीण केन्द्रों की अर्थव्यवस्था का अपना एक रूप था। विभिन्न ग्रामीण समुदायों के भूमि पर अधिकारों का विवरण मिलता है। पाली साहित्य में तीन प्रकार के ग्रामों का विवरण मिलता है–

(a) ऐसे गाँव जिनमें विभिन्न जातियों और समुदायों के लोग रहते थे, इस प्रकार के गाँव अधिक थे।

(b) अर्द्धशहरी गाँव एक प्रकार के व्यावसायिक केन्द्र थे। अन्य गाँवों के लिए एक बाजार का काम करते थे।

(c) जंगलो की सीमाओं पर स्थित गाँव भी थे जिसमें शिकारी बहेलिए रहते थे।

इस माल में, जैसा कि पुरातात्त्विक तथा साहित्यिक स्त्रोतों से स्पष्ट है, नई बस्तियाँ बसी जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था विकसित हुई ग्रामीण क्षेत्रों का मुख्य धन्धा खेती करना था। क षि क्षेत्र के विस्तार तथा तकनीकी उपलब्धियों के कारण क षि उत्पादन अब अधिशेष की स्थिति में पहुँच गया था।

बिना जंगलों को साफ किए बिना क षि के क्षेत्र मे इतना महत्त्वपूर्ण विकास सम्भव नहीं था। यद्यपि जंगलों को जलाकर साफ करने की प्रथा पहले से ही प्रचलित थी परन्तु भूमि को और आधिक ऊर्वरा और जोतने योग्य बनाने हेतु यह आवश्यक था कि पेड़ों को जड़ों से ही साफ किया जाए और ऐसा करना बिना लोहे की कुल्हाड़ी के सम्भव नहीं था। फावड़ो की सहायता से छोटे-छोटे जमीन के टुकड़ो पर तो क षि सम्भव थी। परन्तु इतने बड़े पैमाने पर क षि कार्य सम्भव नहीं थी। और न हीं यह लकड़ी की हल की फाल से सम्भव था क्योंकि लकड़ी के हल से गंगा के ऊपरी हिस्से पर जहाँ जमीन नरम थी, पर खेती तो की जा सकती थी, परन्तु पटना की सख्त जमीन को तो केवल लोहेवाली फाल के हल से ही जोता जा सकता था। समकालीन साहित्यिक प्रमाणों से भी लोहे की फाल के प्रयोग की पुष्टि होती हैं हालाँकि खुदाई में अभी तक इस काल के दो फाल (एक कौशाम्बी तथा दूसरा वैशाली) से प्राप्त हुए है। परन्तु लोहे की हत्थेवाली कुल्हाड़ी तथा अन्य क षि यंत्र काफी मात्रा में बड़े स्थानों जैसे- कौशाम्बी, बनारस, वैशाली, पटना, प्रह्लादपुर, चम्पा आदि से प्राप्त हुए हैं। एक बार लोहे की खानों की खोज हो जाने तथा लोहे से क षि यन्त्र बनाने की तकनीक का ज्ञान होते ही अधिशेष उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

साहित्यिक स्त्रोतों से भी स्पष्ट हो जाता है कि लोहे से औजार बनाने से धौंकनी के प्रयोग के ज्ञान ने भी सहायता की हालाँकि एक समकालीन ''सुत्तनिपात'' में कहा गया है। एक फाल को तेज करने के लिए उसे सारा दिन गर्म किया गया। सुत्तनिपात के पद्य भाग में हथौड़े (रूयोकुट) का भी उल्लेख है। इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि धौंकनी का अलग तक ज्ञान नहीं था। परन्तु जैसा कि R.S. Sharma ने कहा है कि ये कहना उचित नहीं होगा क्योंकि समकालीन अन्य साहित्यों में धौंकनी का स्पष्ट वर्णन मिलता है। जिससे आसानी से काफी मात्रा में लोहे से क षि यंत्र बनाए गए। जिसके परिणामस्वरूप यू.पी. और बिहार में बड़ी तेजी से जंगलो को साफ किया गया। वाणिज्य फसलों अर्थात् विभिन्न प्रकार के चावल तथा गन्ने की खेती के लिए लोहे की फाल को बारबार तेज करना पड़ता था। पाणिनि के अनुसार खेत को दो या तीन बार जोता जाता था तथा उसको फसलों के हिसाब से बाँटा जाता था। क षि क्षेत्र में एक अन्य महत्त्वपूर्ण विकास इस समय यह हुआ कि इस हाल का क षक धान की पौध तैयार करने की कला से भी परिचित हो चुका था। इस काल मे पाली साहित्य में तथा संस्क त साहित्य में एक सा स्पष्ट वर्णन मिलता है। अब धान सर्दी की फसल हो गई और पौध रोपकर धान उगाने की जानकारी ने धान का उत्पादन दुगना कर दिया इसलिए चावल उत्तर प्रदेश और बिहार का एक आवश्यक भोजन बन गया। पाली साहित्य में विभिन्न प्रकार के चावल और चावल की खेती का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त इस काल का क षक जौ, बाजरा, विभिन्न प्रकार की दालें, कपास व गन्ना भी पैदा करता था।

इस प्रकार क षि ज्ञान तथा लोहे के क षि औजारों के प्रयोग ने अतिरिक्त उत्पादन सम्भव कर दिया और यहाँ का क षक इतना अधिशेष उत्पादन कर लेता था जिससे न केवल नवउदित 60 शहरों के लोगों की भोजन की आवश्यकता की पूर्ति करता था अपितु व्यापार की आवश्यकता की भी पूर्ति करता था। व्यापार को आवागमन के साधनों के सुधार ने और भी बढ़ावा दिया। बाद के काल के जातकों के अनुसार अब पहियों के और अधिक मजबूत और गतिशील बनाने के लिए दो इंच चौड़ी लोहे की पत्ती लगानी शुरू कर दी आर०एस० शर्मा (R.S. Sharma) के अनुसार ऐसा लगता है कि सम्भवतः इस समय लोहे की वस्तुओं का इतना अधिक उत्पादन शुरू हो गया कि अब इनका व्यापार भी गरम हो गया था। हेरोडोट्स के अनुसार फारस के शासक जार्ज (क्षयार्ष) की सेवा में

भारतीय सैनिक लोहे की नोंक वाले बाण लिए हुए थे। इसी प्रकार समसामयिक है टैसिट्स ने भारतीय स्टील निर्मित उन दोनों तलवारों की प्रशंसा की है जो आर्तजरजिस नेमन को भेंट स्वरूप दी गई थी। अतः जैसा कि आर.एस.शर्मा ने कहा है कि भले ही इस काल की खुदाई में लगव्य भौतिक अवशेष मिले हैं परन्तु लोहे के ज्ञान ने पूर्व मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है और लोहे तथा इस्पात का व्यापार चौथी सदी ई०पू० की नीति में प्रारम्भ हो गया था।

बुद्ध की अहिंसात्मक की नीति तथा बौद्धिक यज्ञों व पशुबली के खिलाफ आवाज ने पशुधन रक्षा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। क्योंकि क षि कार्य में पशु-धन बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। बौद्ध साहित्य में पशुओं के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए वर्णन किया है "चूँकि पशु, अन्न, शक्ति, सुन्दरता और वैभव के दाता है अतः पशुवध नहीं करना चाहिए।" इसी प्रकार बौधायन धर्म सूत्र के अनुसार दूध देने वाली गाय या भरवाही बैल का वध करने के लिए चन्द्रायण के कठोर प्रायश्चित्त का विधान है। ''इस प्रकार पाली और वैदिक साहित्य में गौ-हत्या न करने के पक्ष में आए अनेक संदर्भो से स्पष्ट है कि तब आर्थिक द ष्टि से पशुओं के महत्त्व को भली-भाँति जान लिया गया था। इस प्रकार द्वितीय शहरीकरण के विकास में यह विचार भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

बुद्धकालीन भारत की जनसंख्या विशेषतः नगर घनी आबादी वाले थे। क्योंकि बुद्ध साहित्य में सभी बुद्धकालीन नगरों के वर्णन में उन्हें ''बहुजना'' और ''आकिष्ण मनुसा'' कहकर पुकारा गया है। बुद्धकालीन भारत के सब छोटे-बड़े नगरों की संख्या पाली परम्परा के अनुसार 84,000 बनाई गई है। डा० मललसेकर का कहना है, इसको पाली विवरणों में कहीं-कहीं घटाकर 60,000 और यहाँ तक 4000 लाया गया, परन्तु इससें कम कभी नहीं किया गया अभिदान पदीपिका में बुद्धकालीन भारत के बीस (20) नगरों का उल्लेख है, जैसे- वाराणसी, श्रावस्ती, वैशाली, मिथिला, कौशाम्बी आदि।

आज की तरह बुद्ध काल में भी लोगों का मुख्य पेशा क षि था राजा का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि उसके जनपद में जो लोग क षि करना चाहते हों उन्हें वह बीज की सहायता दे। क षि कर्म उस समय किसी जाति विशेष का पेशा नहीं माना जाता था। हम मगध के एकनाला ब्राह्मण ग्राम के कसि भारद्वाज ब्राह्मण को 500 हल लेकर खुदाई करवाते देखते है। इसी तरह का वर्णन हमें मज्झिम निकाय में भी मिलता है।

बुद्ध काल में भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों मे बँटी थी जिन पर अलग-अलग परिवार अपने परिवार में श्रम से खेती करते थे। परन्तु एक प्रकार का सामूहिक अधिकार भी सम्पूर्ण गाँव की भूमि पर माना जाता था जिसे 'ग्रामखेत' कहा जाता था और जिसके सम्बन्ध में ''गामिक'' या ''गाम मोजक'' के विशेष कर्त्तव्य और अधिकार होते थे। पूरे गाँव के सामूहिक खेत या 'गाम खेत'' में भिन्न-भिन्न परिवारों के अलग-अलग खेतों के टुकड़े होते थे जिनको मेड़ों या पानी को नालियों के द्वारा एक दूसरे से अलग किए जाते थे। इसके अतिरिक्त बड़े खेतों का वर्णन भी मिलता है। सुण सुवष्ण-कक्कट जातक और सालिकेदार जातक में 500 से 1000 करीब क्षेत्रफल के एक खेत का उल्लेख है। तथा इस खेत में मजदूरों द्वारा खेती कराई जाती थी। गाँवों में गहपतियों का लगभग वही स्थान था जो श्रेष्ठियों का नगरों में गॉव की उर्वरा भूमि का बड़ा भाग गहपति के पास होना था। बौद्ध साहित्य में जैसे कई गहपतियों का वर्णन है जो कि बड़े-बड़े खेत होने के कारण बहुत धनाड्य लोग थे। गहपति मेंदक के बारे में साहित्य में यह वर्णन आया है कि वह सेना को वेतन देता था और गौतम बुद्ध और बौद्ध संघ की सेवा के लिए उसने 1250 गायों का झुण्ड भेंट किया। इस प्रकार गाँव में भी एक ऐसा वर्ग बना जिनके हाथ में क षि उत्पादन का एक बड़ा भाग था।

जिस ढंग से बुद्ध काल में खेती की जाती थी वह प्रायः आजकल के समान ही थी। जोतने-बोने

से लेकर अन्न को इकट्ठा करने तक सब प्रक्रियाऐं प्रायः आजकल के समान नहीं थी। इसकी पुष्टि हमें महानामेशाक्य द्वारा अपने छोटे भाई को दी ग हस्थी की जानकारी से होती है। हल और बैल भारतीय क षि कर्म के अनिवार्य अंग है। उस समय भी हलों में बैल जोड़कर खेत जोते जाते थे इस का उल्लेख हमें अन्य साहित्य तथा कई जातकों से मिलता है। खड़ी फसल का हिरण आदि से बचाने के आदि प्रबन्ध करें इसके लिए बुद्धकालीन किसान उन्हें पकड़ने आदि का प्रबन्ध भी करते थे रंगता हमें लक्खण जातक से पता चलता है।

फसलें: बुद्धकाल में भारतीय किसान कौन-कौन सी और क्या-क्या फसलें पैदा करते थे, इसके सम्बन्ध में हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी जातकों से मिलती है। मगध और पूर्वी उत्तर प्रदेश का वर्णन चूँकि पाली त्रिपिटकों में अधिक हुआ है। अतः मुख्य फसल जिसका अधिक वर्णन पाली साहित्य में मिलता है, वह धान ही है। उसके विभिन्न किस्म जिनका वर्णन मिलता है वह शालि, वुढ़ि और तंदुल है। धान के अतिरिक्त यव (जौ), कंगु (बाजरा), कोंदों (ज्वार) की भी खेती की जाती थी। दाले जैसे- मूंग और उड़द का उत्पादन किया जाता था। तिल, सरसों और अरंड की खेती भी की जाती थी। मसालों में मिर्च और जीरे की भी क षि की जाती थी। साहित्यिक स्त्रोतों के अनुसार पान और सुपारी की जानकारी भी इस काल में थी उनके पेड़ भी काफी संख्या में उगाए जाते थे। ईख की खेती काफी बड़े पैमाने पर उस समय मगध में होती थी और गुड़ तथा शक्कर भी गाँव में बनाए जाते थे। गुड़ से भरी पाँच सौ गाड़ियों को राजग ह से अन्धविद् के मार्ग में जाते हुए विनयपिटक में वर्णन किया गया है। कपास की खेती भी बुद्धकाल में बड़े पैमाने पर होती थी। तुण्डिल जातक में हमें वाराणसी के आस-पास कपास के खेतों का वर्णन मिलता है। प्याज और लहसुन की भी खेती होती थी। लौकी और ककड़ी जैसे कई शाक उस समय काफी मात्रा में पैदा किए जाते थे और फलों की भी खेती होती थी। जयसुमन और केतक जैसे फूलों के व क्ष और पौधे भी उस समय उगाये जाते थे। फल और फूल बेचनेवालो को क्रमशः 6 पष्णिका और मालाकार कहा जाता था।

सिंचाई: सिंचाई का यद्यपि प्रबन्ध था, परन्तु अधिकांश किसान वर्षा पर ही निर्भर करते थे। शाक्य और कोलियों के रोहिणी नदी के बाँध पर हुए झगड़े से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि नदियों को बाँध कर नहरें निकालने के ढंग उस समय लोगों को विदित था। पुण्करिणियों से भी सिंचाई का काम लिया जाता था। चूँकि अधिकतर खेती वर्षा पर ही निर्भर थी। अतः अकालों के पड़ने का वर्णन भी हमें मिलता है। बौद्ध साहित्य में एक का अकाल वर्णन मिलता है जिसमें पड़ने पर बौद्ध भिक्षु संघ सहित भगवान बुद्ध को उत्तरापथ व्यापारियों द्वारा दिए गए जौ पर निर्भर रहना पड़ता था। इसी प्रकार अन्य कड़ी अकालों के वर्णन भी मिलते हैं।

भू-लगान: बुद्धकाल में खेती पर राजा की ओर से लगान लगता था उसे 'र जो भाग' या राजबलि कहा जाता था। यह अक्सर फसल के अंश के रूप में लिया जाता था। यद्यपि अनाज का भाव-तौल मुद्रा के रूप में होता था परन्तु लेन-देन ज्यादातर जिन्स के रूप में ही खेती की जाती थी और अनाज के व्यापारियों 'ध ज वाणिज्य' कहलाते थे। जब फसल तैयार हो जाती थी तो राजा के क संग्रह करनेवाले अधिकारी जिन्हें 'निग्गाहका' या 'बाले-साधिका' कहा जाता था, खेतों में आकर फसल का आंकलन कर लेते थे या खलिहानों में तैयार अनाज का निश्चित भाग राजकर के रूप में ले लेते थे। कभी-कभी इस काम को गाँव मुखिया, जिसे 'ग्राम भोजक' या ग्रामिक कहते थे, करता था। उपज का कितना अंश कर के रूप में दिया जाता था इसके सम्बन्ध में आचार्य बुद्धघोष ने कहा है, ''दसवाँ भाग कर देना जम्बू द्वीप का पुराना रिवाज है, इसलिए दस भाग में एक भाग भूमि के मालिक को दे देना चाहिए।'' विशेष अवस्थाओं मे राजा भूमि-कर से लोगों को मुक्त भी कर देता था। परन्तु वी.एस.अग्रवाल पाणिनि को उद्धत करते हुए कहते हैं कि यह दर 1/6 से लेकर 1/2 वे हिस्से तक कुछ भी हो सकती है और आपात स्थिति में लोगों से नकद कर वसूल किए

जाते थे।

पशुपालनः क षि के साथ गौरक्षा का अटूट और अनिवार्य सम्बन्ध है। बुद्ध काल में गौ का सम्मान था, स्वयं बुद्ध ने गायों को माता, पिता, भाई, बन्धुओं की तरह परममित्र और अथवा बलदा तथा सुखदा बताया है। गौ पशुपालन का प्रतीक है। बुद्धकाल में हम पशुपालन के कार्य को व्यवस्थित रूप में पाते हैं। प्रत्येक गाँव में निश्चित भूमि गोचर के रूप में अलग छोड़ दी जाती थी। प्रतिदिन गोप या गोपालक आकर प्रत्येक घर के पशुओं को ले जाता था और चारागाह में दिन भर चराने के बाद फिर वापस घरों पर पहुँचा दिया करता था। गोपालों के समान गजपाल भी होते थे जो बकरियों और भेड़ो को चराते थे। अनेकों पुरातात्त्विक स्थलों से मवेशी, भेड़, बकरी, घोड़े और सुअर की हड्डियाँ मिली हैं। धान अथवा चावल का उत्पादन करनेवाली अर्थव्यवस्था की कमी की पूर्ति के लिए पशुपालन और शिकार किया जाता था। इस काल में वैदिककाल के विपरीत अब पशु लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति थी किंतु वैदिक काल की तरह ही चारागाह और जंगल सामान्य (सामूहिक) संपत्ति थे। इस काल में आर्थिक सम्पन्नता में पशुधन के अटूट सम्बन्ध को समझ लिया था अतः पशुपालन भी एक महत्त्वपूर्ण धन्धा बन चुका था।

शिल्पकारी तथा उद्योग धन्धेः शिल्पकारों का बुद्धकालीन समाज में महत्त्वपूर्ण और आदरणीय स्थान था। एक ओर शिल्पकारी क षि द्वारा उत्पादित कच्चे माल पर आधारित थी तो दूसरी ओर क षकों की आवश्यकता की पूर्ति कर वह तत्कालीन ग्रामीण जीवन को आत्मनिर्भर बनाने में लगा हुआ था। बुद्धकालीन व्यापार और उद्योग इन्हीं शिल्कारों पर और क षि द्वारा उत्पादित कच्चे माल पर निर्भर था। उस समय कई शहर कलाओं और शिल्पों की वजह से प्रारम्भिक प्रसिद्ध थे इसलिए परवर्ती ग्रंथों में राजग ह मे अठारह शिल्पश्रेणियों का वर्णन किया गया है।

अनेक प्रकार की शिल्पकारियाँ भगवान बुद्ध के जीवन काल में प्रचलित थी। साम ञ्फल सुत्त में 25 शिल्पकारों का वर्णन है। जिनमें रउफा थोबी, नलकार बाँस की वस्तुएँ कप्पका (नाई) पेन्सकारा (जूलाये) आदि प्रमुख हैं। इनके अलावा कुछ अन्य शिल्पकारी भी थी जो उस समय प्रचलित थी। पाली त्रिपिटक और अट्ठकथाओं में इनका उल्लेख मिलता है।

वस्त्र उद्योगः सबसे पहले वस्त्र उद्योग से संबंधित शिल्पों को लेते हैं। इस उद्योग के साथ अनेक अन्य छोटे उद्योग जुड़े हुए थे, जैसे- कताई, बुनाई और रंगाई का कार्य अनेक प्रकार के सूक्ष्म वस्त्र बुद्धकाल मे बनाए जाने का वर्णन हमें बुद्ध साहित्य में मिलता है। जैसे अलसी की छाल के सूक्ष्म वस्त्र बुद्रकाल में बनाए जाने का वर्णन हमें बुद्ध साहित्य में मिलता है। जैसे अलसी की छाल की छाल के सूक्ष्म वस्त्र, कपास के सूक्ष्म वस्त्र तथा ऊन के सूक्ष्म वस्त्र इनका उल्लेख महानजनक जातक मे आता है। काशी जनपद बुद्धकाल में अपने बहुमूल्य वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। काशी के कोमल वस्त्र अपनी ख्याति के लिए विदेशों में प्रसिद्ध थे उनका मूल्य एक लाख महापण तक होता था। गांधार और कोटुम्बर जनपद अपने बहुमूल्य कम्बलों और ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। राजाओं की पगड़ियाँ तो स्वर्णजड़ित होती थी ओर उनके हाथियों की झूले भी इसी प्रकार के होती थे।

(ख) शहरों का पुनरुत्थान

(Reemergence of Urbanisation)

इस काल की अर्थात् छठी शताब्दी ई०पू० की एक अन्य विशेषता शहरी अर्थव्यवस्था का पुनः विकास है। लगभग 1000 वर्ष के अन्तराल के बाद 600 ई०पू० क आस-पास शहर उदय होते हैं। भारतवर्ष में दूसरी बार शहर उदय होते है और यह शहरीकरण इस द ष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि काफी लम्बे समय तक यह शहरी/नगरीय व्यवस्था बनी रही। तत्कालीन साहित्य में राजग ह,

श्रावस्ती, काशी आदि नगरों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। बुद्ध और महावीर ने भी अधिकांशतः शहर के लोगों को ही सम्बोधित किया। एक जैन धर्मग्रंथ मे विभिन्न प्रकार की नगर-बस्तियों का उल्लेख किया गया है, जैसे- करमुक्त नगर, मिट्टी का प्राचीरवाला नगर, छोटी प्राचीरवाला नगर, अलग-अलग नगर, विशाल नगर, समुद्रतटीय नगर और राजधानी। हमें आगे यह भी पता चलता है कि अरिस्टोब्यूलूस को सिकंदर के आदेश से एक ऐसे क्षेत्र मे भेजा गया जो सिंधु नदी द्वारा मार्ग बदलकर पूर्व की ओर चले जाने के कारण रेगिस्तान में परिणत हो गया था। उसने वहाँ एक हज़ार से ऊपर शहरों और गाँवों के अवशेष देखे, जो किसी समय जनसंकुल रहे होंगे। दुर्भाग्यवश सिंधु घाटी के इन शहरों की अभी तक खुदाई नहीं हुई है। पूरे देश में इस काल के दौरान कुल मिलाकर प्रसिद्ध शहरों की संख्या साठ निर्धारित की गई है, जो पूर्व में चंपा से लेकर पश्चिम में भ गुंकच्छ तक, और दक्षिण में कावेरिपट्टन से लेकर उत्तर में कपिलवस्तु तक फैले हुए थे। श्रावस्ती जैसे बड़े शहर संख्या में बीस थे जिनमें से कुछ तो बुद्ध की कार्यस्थली होने के नाते काफी महत्त्वपूर्ण थे। इनके नाम है चंपा, साकेत, कौशाम्बी, बनारस और कुशीनारा। पाटलिपुत्र की महानता का चरण अभी आना शेष था। बौद्ध तथा बाह्मणिक साहित्य ग्रंथो में प्राचीन भारतीय नगरों का विस्त त वर्णन मिलता है। जैसे दिव्यावदान और आपस्तम्ब धर्म-सूत्र जैसी पुस्तकें हमें उस समय के नगरों के विषय में जानकारी उपलब्ध कराती है। प्राचीन भारतीय साहित्य नगरों की आदर्श छवि प्रस्तुत करता है। रामायण में वर्णित अयोध्या या बौद्ध ग्रंथों में वर्णित वैशाली बिल्कुल आदर्श लगेगें। अगर उनके विवरण का गहराई से अध्ययन किया जाए तो आदर्श रूप में नगरों का वर्णन बिल्कुल शतरंज के बोर्ड की भाँति किया गया है। ऐसी सड़कें थी जिनके नाम बहुत से दस्तकारों के नाम पर थे। नगरों की घेरेबंदी सुरक्षित दीवारों तथा खाइयों द्वारा की गई थी। चौड़ी सड़के, रंगीन पताकाओं से सुसज्जित ऊँचे भवन, व्यस्त बाजार, फूलों वाले बाग, कमलो व हंसों के साथ पानी से भरे तालाब इस विवरण में आते हैं। पुरुषों की अच्छी वेशभूषा तथा नाचती व गाती सुन्दर महिलाएँ शहर का चित्रण पूरा करती हैं। आदर्श शहरों का यह असीमित विवरण हमें ऐसा अपर्याप्त विचार देता है जिसके आधार पर प्राचीन भारत के शहरों की वास्तविक स्थिति का बोध नहीं होता। अन्य बिखरे हुए सन्दर्भो की मदद से नगरों के विषय में हम एक अधिक उचित राय बना सकते हैं।

बाजारों में उपयोगी वसतुओं की बिक्री एवं खरीदारी बड़े पैमाने पर होती थी। लोगों को लोहे, ताँबें, टिन व चाँदी आदि धातुओं के बनें उपकरणों तथा औजारों को खरीदते हुए देखा जा सकता था। नमक के उपार्जन तथा बेचने के विशेषज्ञ व्यापारियों के गुटों को सड़क के उस टुकड़े पर, जो उनको दे दिया गया था, देखा जा सकता था। काशी के सूती कपड़ों की ओर खरीदनेवालो की काफी बड़ी संख्या आकर्षित होती थी। उत्तर-पश्चिम गंधार प्रदेश से आनेवाले ऊनी कम्बलों को केवल धनी लोग खरीदते थे। सिन्ध और कम्बोज से आयात होने वाले घोड़ों की भी बिक्री की जाती थी। यहाँ पर उन दिनों केवल समाज के उच्च धनी लोग खरीदार होते थे। शंख से बनी चूड़ियां, सोने से बने सुन्दर आभूषण, कंघियाँ, हाथी दांत से निर्मित आभूषण और कीमती पत्थरों की बहुत अधिक माँग कुलीन वर्ग मे थी।

समकालीन स्त्रोत इस ओर भी संकेत करते हैं कि प्रत्येक सामान को अलग सड़क पर बेचा जाता था। जो उसका उत्पादन करते थे या उसको लाते थे वही बेचते भी थे। विभिन्न प्रकार के सामानों को बेचने की कोई दुकान नहीं थी। विभिन्न प्रकार के व्यापारी होते थे, जैसे कि दुकानदार (अयानिका), खुदरा (क्रय-विक्रय) और धन विनियोक्ता (सेठी-गड़पति)। धनी लोग सिक्के का उपयोग भी करते थे। चाँदी का सिक्का सतमन अधिकतम मूल्य का था। उसके बाद कर्षापण का महत्त्व था। तांबे के माशाल और ककणि कम मूल्य के सिक्के थे।

यद्यपि साहित्यिक स्त्रोतो में शहरों का जो विवरण मिलता है वह काफी बढ़ा चढ़ा कर दिया गया

है जैसे साहित्यिक विवरण में अयोध्या तथा वैशाली जैसें नगरों का क्षेत्रफल 30 से 50 वर्ग किलोमीटर दर्शाया गया है लेकिन उत्खन्न से पता चलता है कि इनमें से कोई भी शहर 4 से 5 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल से अधिक नहीं था। परन्तु यदि इन साहित्यिक विवरण को पुरातात्त्विक स्त्रोतों के साथ अध्ययन किया जाए तो इन शहरों की काफी तस्वीर स्पष्ट हो जाती है। तत्कालीन शहरी व्यवसायों को तीन भागों/श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पहले वह जो उत्पादन की किसी-न-किसी प्रक्रिया से जुड़े थे। इस श्रेणी में शिल्पी वर्ग आता है। दूसरे वह जिनका न ही तो उत्पादन से काई सम्बन्ध था और न ही इनका अर्थव्यवस्था पर सीधा प्रभाव पड़ता था इस श्रणी में मुख्यतः प्रशासन अधिकारी आते थे। तीसरा वर्ग भी यद्यपि उनका था जिनका उत्पादन से कोई सम्बन्ध नहीं था परन्तु वस्तुओ में वितरण तथा विनिमय द्वारा अर्थव्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। अतः स्पष्ट है कि शहरी अर्थव्यवस्था दो कारकों पर निर्भर थी–

(1) ऐसे औद्योगिक उत्पादन, जिसमें बहुत प्रकार के व्यवसायी और कारीगर लगे हुए थे।

(2) शहर का आंतरिक एवम् बाहरी व्यापार इसीलिए शहर ज्यादातर या तो कच्चेमाल स्त्रोत के पास या फिर व्यापारिक मार्गो पर बसे मिलते हैं। ई०पू० 600 के सभी प्रसिद्ध नगर गंगा यमुना नदियों के आस-पास बसे हुए थे गंगा स्वयं ही, एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक थी और इसके द्वारा समुद्र तक पहुँचना भी संभव था। दूसरे बिहार में गंगा ऐसे स्थानों के पास से गुजरती थी जहाँ कच्चा लोहा काफी मात्रा में मिलता था।

विभिन्न शिल्प तथा उद्योग धन्धे : बड़े-बड़े रोये वाले चित्रित आसन, लम्बी दरी, हाथी, घोड़े तथा रथ के साज आदि वस्तुएँ उस समय पूरी कलात्मकता के साथ बनाई जाती थी।

अभिजात कुल की स्त्रियाँ भी अपने हाथ से कातने, बुनने के काम को करना सम्माननीय समझती थी। रूई को धुनने के लिए धनुषाकार यंत्र का प्रयोग किया जाता था। महीन सूतकातकर उनकी गुण्डी बनाने की भी क्रिया बुद्ध काल में ज्ञात थी। कपड़ा बेचने वाले व्यापारी ''दुस्सिका'' कहलाते थे। कपड़े बुनने के साथ रंगने का काम भी बुद्धकाल में अत्यतं उत्क ष्ट कला से किया जाता था। विनय पिटक में चीवर से रंगने के निर्देश दिए गए है। मज्झिम निकाय के एक वत्था गाथा से भी यही बात प्रकट होती है काले (काल) नीले, सफेद, पिंगल, सुनहली और चाँदी के रंगों की जानकारी उस समय थी। रजकार (धोबी) लेाग रंगाई का काम करते थे। कपड़े सीनेवाले दर्जी भी उस समय होते थे ओर वे 'तुष्णकारा' कहलाते थे। इसका विवरण भी हमें विनयपिटक से मिलता है।

धातु उद्योग: धातुकारी का काम करनेवाले लोग साधारणतः "कम्मार" कहलाते थे। वैसे लुहार के लिए लोतकार और सुनार, सुवण्णकार या मणिकार शब्द का प्रयोग किया गया है। बुद्धकालीन स्वर्णकार बहुत धनवान होते थे। बुद्धकाल में आभूषण बनाने की कला उच्चकोटि की थी। अनेक प्रकार के आभूषण उस समय बनाए जाते थे जैसे- चूड़ियाँ मालाएँ, कुण्डल आदि। मज्झिम निकाय के विभंग सुतन्त में हमें इनका वर्णन मिलता है। इसी निकाय में सुनार द्वारा भट्टी मे सोने को डालकर शुद्ध करने का उल्लेख है। ताँबे, कांसे और लोहे की धातुओं से अनेक प्रकार के औजार बनाए जाते थे। महीन काम के लिए भी धातुओं का उपयोग होता था सुईयाँ भी बनाई जाती थी। 'सूचीजातक' में वाराणसी में एक लुहार द्वारा सुई बेचने का उल्लेख है।

इन धातुओं के अलावा और भी उद्योग थे, जैसे हाथी दाँत का काम करनेवाले कुशल कारीगर माने जाते थे। अनेक प्रकार के घड़े और बर्तन बुद्धकालीन कुम्भकार आजकल के चाँदी चाक पर बनाते थे।

लकड़ी का काम करनेवाले लोग बढ़ई की कहलाते थे, पत्थर को काटकर काम करनेवाले लोग पाषाणकेतिका और ईंटों का काम करनेवाले लोग ईट का वड्ढकी कहलाते थे, राज लोग गहपति शिल्पकार कहलाते थे। बढई लोग लकड़ी के खिलौने, क षियन्त्र और वस्त्र उद्योग से सम्बन्धित औजार बनाते थे।

इनके अतिरिक्त चिकित्सक और वैद्य उस समय जड़ी-बूटियों से इलाज करते थे। माला बनानेवाले मालाकार कहलाते थे।

श्रेणी संगठनः भिन्न-भिन्न शिल्पों को करनेवाले लोगों के संघ बुद्ध काल में बने हुए थे जो श्रेणियों या पूग कहलाते थे। जातक के वर्णनानुसार 18 प्रकार शिल्पकारों के संघ बुद्धकाल में विद्यमान थी। यह अनुमान लगाया जाता है कि इनकी संख्या इससे भी अधिक थी। इन श्रेणियों के अपने कुछ नियम होते थे उन्ही के आधार पर आपस में झगड़ा होने पर स्वयं श्रेणी मुखिया जैट्ठन ही करते थे। एक जातक में पूग में जाकर किसी व्यक्ति द्वारा झूठी गवाही दिए जाने का उल्लेख मिलता है।

बुद्ध काल में अधिकतर शिल्प वंशानुगत ढंग से चलते थे। एक कुम्भकार या चर्मकार का पुत्र प्रायः उसी काम को अपनाता था। इसलिए कुम्भकार कुल्ल सत्थवा है कुल, आदि शब्द का प्रयोग मिलता है। विभिन्न शिल्पों का स्थानीकरण भी प्रायः बुद्धकाल में देखा जाता है। कुम्भकार जातक में हम देखते है कि वाराणसी के पास कुम्भकार नामक गाँव कुम्भकारों की श्रेणी द्वारा ही बसाया हुआ था।

बड़ी संख्या में लोहे की वस्तुएँ कौशाम्बी, प्रहलादपुर, बनारस और मसोन में (सभी पूर्वी उत्तर प्रदेश में) और चिरांद, वैशाली, पटना, सोनपुर और चंपा में (सभी बिहार में) मिली है। इनमें से काफी चीजें 300 ई०पू० के पहले उत्तरी काले पालिशदार भाँड वाले चरण की है। यदि इनकी तुलना उच्च गंगा द्रोणी से प्राप्त प्रथम चरण के लोहे की वस्तुओं से की जाए तो हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, उत्पादन के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले उपकरणों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि दक्षिण बिहार लौह अयस्क की द ष्टि से सबसे सम द्ध है, फिर भी मध्य गंगा के मैदानों में उपलब्ध लोहे की चीजों की संख्या उतनी नहीं जितनी अतरंजीखेड़ा, नोह अथवा उच्च गंगा द्रोणी स्थित चित्रित्र धूसर म द्भाँड चरण के अन्य ऐसे ही स्थलों से खोजी गई चीजों की है। फिर भी कौशांबी और बनारस (राजघाट) से भारी संख्या में उपकरण प्राप्त हुए है और उनमें पर्याप्त विविधता भी है। यही नहीं, उच्च गंगा द्रोणी से उपलब्ध चीजें कहीं ज्यादा बेहतर ढंग से सुरक्षित रखी गई है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में और बिहार में लोहे की वस्तुओं की सापेक्षिक कमी और उनके जंग खाए रूप के पीछे आर०एस० शर्मा के अनुसार मध्य गंगा और क्षेत्र की ओर नम जलवायु है जिससे जंग और लोनी लगकर हर चीज़ जीर्ण-शीर्ण हो जाती है। दूसरी ओर उच्च गंगा द्रोणी की शुष्क तथा कम वर्षावाली जलवायु से भूमि की स्थिति ऐसी है कि उसमें चीजों को ज्यादा बेहतर ढंग से सुरक्षित रखा जा सकता है।

खेती तथा हस्तशिल्पों में काम में आनेवाले उपकरणों की कमी का कारण यह भी है कि शहरी स्थलों की खुदाई पर जितना ध्यान दिया गया है उतना ग्रामीण स्थलों की पुरातात्त्विक जाँच पर नहीं। किंतु शहरी बस्तियों मे भी खासी संख्या में यह उपकरण खोज निकाल गए है। कौशांबी में कुल्हाड़ी, बसूला (तक्षणी), चाकू, छुरी, काँटे, हँसिया आदि अनेक लौह उपकरण मिले हैं, जो उत्तरी काले पालिशदार भाँड वाले चरण के आरभिंक स्तरों के है। इसी चरण के समानांतर कालावधि की कुछ कुल्हाड़ियाँ गया जिले के अंतर्गत सोनपुर में भी मिली है। चित्रित धूसर म द्भाँड चरण के द्वितीय काल से संबंधित एक फाल पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी एटा जिले के अंतर्गत जखेरा गाँव से मिली है। यह संभवतः प्रथम सहस्राब्दी ई०पू० के मध्य भाग का होगा। रोपड़ में अहाते के कुएँ मे एक लोहे की फाल मिली है, जो आरंभिक उत्तरी काले पालिशदार भाँड वाले चरण की हो सकती है। जब ग्रामीण बस्तियों की खुदाई

होगी तो हम मध्य गंगा क्षेत्र में इस तरह के फालों की प्राप्ति संभावित है। अभी यह स्पष्ट है कि मध्य गंगा द्रोणी के लोगों को दक्षिण बिहार में लोहे के प्रचुर स्त्रोत की जानकारी थी, क्योंकि बनारस से प्राप्त उत्तरी काले पालिशदार भांड वाले चरण के कुछ उपकरणों में वहीं अशुद्धताएँ देखने में आई हैं जो सिंहभूम तथा मयूरगंज के लौह अयस्क में पाई गई है।

यह भी संभव है कि इस समय तक लुहारों ने विनिर्मित वस्तुओं में ज्यादा मात्रा में कार्बन मिलाने और धातुमल निकालने की कला सीख ली हो। लौह अयस्क की भरपूर आपूर्ति और उनके विनिर्माण की तकनीक में सुधार जैसे कारकों को क षि तथा हस्तशिल्प-उत्पादन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका तो निभानी ही थी। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ताम्र अयस्क की अपेक्षा लौह अयस्क से काम की धातु निकालना और सामान बनाना कहीं ज्यादा फायदेमंद है। आर.एस.शर्मा के अनुसार लुहार अपनी संपूर्ण कला, शक्ति और समय लगाने के बाद भी 100 किलोग्राम ताम्र-अयस्क से केवल एक किलोग्राम ताँबा प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। किंतु ऐसी ही स्थिति में वह 100 किलोग्राम लौह-अयस्क से 60-70 किलोग्राम लोहा प्राप्त कर सकती है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि एक बार जैसे ही लौह अयस्क की खोज कर ली गई और अपेक्षित प्रौद्योगिकी पर अधिकार प्राप्त कर लिया गया, पूर्ववर्ती युग की जीवननिर्वाह वाली खेती का स्थान अधिशेष उत्पादनवाली खेती ने ले लिया।

शिल्पश्रेणियों का एक मुखिया अर्थात् प्रधान होता था जो कि प्रमुख कहलाता था। विशिष्ट शिल्प के साथ जेट्ठक का नाम जोड़कर अक्सर प्रदान किया जाता था जैसे रमार जेट्ठक, मालाकर जेट्ठक आदि। इन जेट्ठकों, जो प्रायः निर्वाचित होते थे इनके पास काफी अधिकार थे उन्हें कई बार राजदरबार में पदाधिकारी भी बना दिया जाता था। जिससे राज्य में इन श्रेणीयों के महत्त्व की पुष्टि होती है। कभी सेट्टं या श्रेष्ठ श्रेणी का मुखिया होता था। ये कई बार महाजन का कार्य करते थे। रायस डेविडस और रिचर्ड फिक्र ने इन शिल्पकार संघों या युगों की तुलना मध्ययुगीन यूरोप के गिल्डी से की है और व्यापार और वाणिज्य भी काफी विकसित अवस्था में हमें बुद्धकाल में देखने को मिलती है। उस समय देश को प्रायः साथ व्यापार ग्रहपति (ग हपति-वैश्य) लोगों के हाथ में था। राजग ह, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, चम्पा, वैशाली, तक्षशीला, मिथिला आदि नगरों में अनेक धनी सेठ उस समय थे, जिनका सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। जनपदों में भी इसी प्रकार के सेठ थे जिन्हें जनपद सेट्ठी कहा जाता था। ये व्यापार का और लेन-देन का काम करते थे। इस समय किसी जनपद की सम द्धि के लिए सेठों का होना आवश्यक माना जाता था। धरमपट्ठ कथा में कहा गया है कि राजा प्रसेनजित के राज्य में कोई बड़ा सेठ न होने के कारण राजा प्रसेनजित ने सुगन्ध में राजा तथा उसकी प्रार्थना करने पर राजा बिम्बसार ने अपने राज्य के सेठ धनंजय को कोसल में बसने भेज दिया। इससे स्पष्ट है कि उस काल में अर्थव्यवस्था को सुद ढ़ बनाने में व्यापार की भूमिका से लोग, यहाँ तक की राजा भी परिचित थे और इसको प्रोत्साहन देने के लिए राजा स्वयं तत्पर रहते थे ये ही कारण है कि इस समय आन्तरिक और बाहरी दोनों प्रकार के व्यापार के साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हैं।

अर्न्देशीय व्यापारः बुद्ध कालीन भारत के अन्तर्देशीय व्यापार के विचार पर सर्वप्रथम चित्र जो हमारे सामने उभरता है वह है कि माल से भरी 500 गाड़ियों के काफिलों को लिए हुए देश के एक कोने से दूसरे कोने जाना वाले व्यापारियों का जातकट्ठकथा की निदान कथा में हम देखते है कि श्रावस्ती का प्रसिद्ध व्यापारी अनाथपिडंक, राजग ह अपने व्यापारिक कार्य से 500 गाड़ियो के साथ, राजग ह से अन्धक विन्द ग्राम की ओर जाने वाले रास्ते पर देखते है। इसी प्रकार वाराणसी के एक व्यापारी का उल्लेख है जो माल खरीदने सीमान्त देश में गया और उसने चन्दन खरीदा। 500 गाड़ियों की बात को छोड़कर वैसे भी एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को जाने वाले व्यापारियों के अनेक विवरण है। अनेक जातकों में पूर्वान्त से उपरान्त जाने वाले व्यापारियों का उल्लेख है। गंधार

जातक में इस बात का साक्ष्य मिलता है कि विदेह के व्यापारी गांधार तक जाते थे। गंगा और यमुना को पारकर मरुस्थल से होते हुए गांधार की राजधानी तक्षशीला तक पहुँचते हैं।

विनयपिटक से स्पष्ट विदित होता है कि राज्य की ओर से आवागमन के मुख्य स्थानों पर, नदी के घाटों पर और गाँव और नगरों के प्रवेशद्वारों पर चुंगी वसूल करने के लिए चौकियाँ बनी हुई थी जहाँ यात्रियों और व्यापारियों को चुंगी चुकानी पड़ती थी। विनयपिटक के नालंदा संस्करण में उल्लेख है कि किस प्रकार एक भिक्षु कुछ यात्रियों के साथ पकड़ा गया क्योंकि वह चोरी से कुछ चीजें ले जा रहा था।

मार्गः सबसे प्रधान मार्ग बुद्ध काल में वह था जो पूर्व से पश्चिम तक जाता था। मगध की राजधानी से चलकर यह मार्ग उत्तर पश्चिम में गांधार की राजधानी पहुँचना था। श्रावस्ती से यह साकेत होते हुए एक मार्ग जल देश की राजधानी को श्रावस्ती से भी जोड़ता था, यही मार्ग उत्तरापंथ भी कहलाता था इसे हम प्राचीन ग्रांड ट्रंक रोड कह सकते हैं। राजग ह से चलकर यह मार्ग पहले नालन्दा आता था। फिर पाटलीपुत्र, प्रयाग आदि होता हुआ, मथुरा से चलकर तक्षशिला नगर तक पहुँचता था, बीच में पाटलीपुत्र, वाराणसी और प्रयाग प्रतिष्ठान पर गंगा नदी पार करने के अलावा अन्य कई नदियाँ पड़ती थीं। जहाँ घाटों पर नावें तैयार मिलती थीं। अनेक स्थानों पर घोड़ों के सौदागरों का वर्णन है जो उत्तरापथ से आकर बनारस में घोड़े बेचते थे।

राजग ह से श्रावस्ती जाने वाला मार्ग, बुद्धकाल का दूसरा मार्ग था। इस मार्ग पर पड़ने वाले स्थान इस प्रकार थे। श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुसीनारा, पाबा, जम्बू ग्राम, वैशाली आदि। भगवान बुद्ध अपनी अन्तिम यात्रा में जब राजग ह से कुसीनारा गए तो इसी मार्ग से होकर गए थे। नालंदा से एक सड़क गया को भी जाती थी जो उसे इस मार्ग से जोड़ती थी।

बुद्धकाल का तीसरा मार्ग दक्षिण पथ था जो उत्तर भारत को दक्षिण भारत से जोड़ता था। यह मार्ग श्रावस्ती से चलकर दक्षिण में प्रतिष्ठान (पैठन) तक जाता था। इस प्रकार बीच में पड़ने वाले स्थान उज्जैनी, निदिश, कौशाम्बी, साकेत आदि।

उपर्युक्त तीन मार्गों के अलावा अन्य कई छोटे-छोटे मार्ग भी बुद्धकाल में विद्यमान थे।

जलमार्गः नदियों के द्वारा भी बुद्धकाल मे माल लाया जाता था। गंगा नदी के मुहाने से लेकर चम्पा, पाटलिपुत्र, वाराणसी तक कमाल का परिवहन होता था। यमुना में कौंशांबी तक नावों के द्वारा माल लाया जाता था।

बाहरी या विदेशी व्यापारः समुद्री यात्रा और उसके द्वारा विदेशी व्यापारिक सम्बन्धों के अनेक विवरण हमें 'पालिब्रिपिटक' और उसकी अह्तकथाओं में मिलते हैं। 'महाजनक जातक' में चम्पा के व्यापारियों का सुब्रण्णमूली जाने का वर्णन है। इसी तरह एवं अन्य जातक में वाराणसी के व्यापारियों का उल्लेख सुवण्ण भूमि तकनमिका है। बुद्धकाल में व्यापारी समुद्री यात्रा पर जाने के लिए लालायित रहते थे। इसकी जानकारी सुधा भोजन जातक और समुद्र जातक से पता चलता है। छह-छह मास की लम्बी यात्रा उस समय व्यापार करते थे।

लंका के साथ समुद्री मार्ग द्वारा सम्बंध का भी उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध बावये जातक से यह सिद्ध होता है कि भारतीय व्यापारियों के जहाज फारस की खाड़ी से होकर बेबीलोन तक व्यापारिक यात्रा करते थे। इसी तरह सुप्पारक जातक में यस्कच्छ के व्यापारियों का उल्लेख है। पूर्व में कालमुख (अराकान) सुवण्ण आदि तमलि (ताम्रलिंग) माल था और जावा से भारत के समुद्री मार्ग द्वारा व्यापारिक सम्बंध थे। चीन के साथ व्यापारिक सम्बंध की बात मिलिंदपन्हों में तो है ही अपादान में भी इसका उल्लेख है।

व्यापारी दिशाओं का ज्ञान करने के लिए कभी-कभी अपने साथ कौओं (दिशा काक) को भी ले जाते थे ताकि वे दिशाभ्रमित न हो सारे दिशा का ज्ञान रहे।

भारतीय व्यापारी सामुद्रिक व्यापार द्वारा भारत में विदेशों से किन वस्तुओं का आयात करते इसका कोई निर्देश पाली साहित्य मे नहीं मिलता। हम विदेशों से सोने का आयात करते थे। सुपारक जातक से पता चलता है कि रत्न और मूंगे आदि को भी भारतीय व्यापारी खोजकर लाते थे। जिन वस्तुओं का वे निर्यात करते थे उनमें बहुमूल्य वस्त्रों का प्रमुख स्थान था। काशी से वस्त्र व्यापारी विदेशों में ले जाते थे। इसी प्रकार गांधार के कंबलों और जिवी देश के दशाओ और तबवारो आदि का निर्यात करते थे। मोर और चिड़ियों को भी विदेशों में ले जाने का वर्णन भी मिलता है। साधारणतः रेशमी कपड़े मलमल और हाथी दाँत की चीजें और सोने के आभूषण आदि निर्यात किये जाते थे। अतः अनेक व्यापारी अनेकों वस्तुएं, जैसे- सिल्क, मलमल, हथियार, सुगन्धित द्रव्य, हाथीदाँत की वस्तुएँ, जेवरात आदि के व्यापार करके सम द्ध हो रहे थे।

व्यापारिक संगठनः बौद्ध साहित्य से लगता है कि बुद्धकाल में स्थलीय और समुद्री दोनों प्रकार का व्यापार अत्यंत विकसित ओर संघबद्ध अवस्था में था। शिल्पकारों के समान व्यापारियों के भी संगठन थे। उनका प्रधान 'सेट्ठी' कहलाता था। सेट्ठी धनी व्यापारी होने के साथ उच्च पदाधिकारी भी होता था। वाणिक संधो का वह प्रतिनिधि होता था। सेठ या 'सेट्ठि' का पद प्रायः वंशानुगत हो गया था। अनेक जातकों में हमें उनके उत्तराधिकारियों का वर्णन मिलता है। सेट्ठी के नीचे उसका सहायक अधिकारी 'अनूसेटि' होता था। चूँकि बुद्ध काल मे मार्ग दुर्गम थे अतः व्यापारी काफिलों में चलते थे। काफिलें के कप्तान को 'सार्थ वाह' कहा जाता था।

विनिमय का साधनः बुद्धकाल में यद्यपि वस्तु विनियम वस्तुओं के अदला बदली द्वारा ही ज्यादा होती थी, विशेषकर ग्रामीण समाज में, परन्तु इस काल में सिक्कों का प्रचलन भी काफी हो गया था। 'हिरण्य' द्वारा क्रय-विक्रय का प्रचलन के भी अनेक साक्ष्य उपलब्ध है। सर्वाधिक प्रचलित सिक्का कहापण (कार्षापण) कहलाता था। कहापण का मूल्य निर्धारण कई विद्वानों ने करने का प्रयास किया है परन्तु तथ्य यह है कि अभी आज उसके मूल्य के विषय में ठीक से कुछ कह पाना कठिन है।

यह कहापण किस धातु का बना होता था इसके विषय में आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसाहिबा' में सफेद रंग के बड़े आकार वाले तथा चौकोर शक्ल के कहापणों का उल्लेख किया है, जिससे सफेद रंग का चाँदी का सिक्का ही सिद्ध होता है। यह उल्लेखनीय है कि प्राढ़-गौय के अनेक चाँदी के तथा ताँबे के कहापण मिले है। अतः हम यह मान सकते है कि कहापण चाँदी और ताँबे दोनों धातुओं से बनाये जाते थे, इसके अतिरिक्त अर्धकहापण, पाद कहापण, मासक, अर्धमासक और काकणिक आदि सिक्कों का वर्णन मिलता है। मानक सिक्के भी प्रचलित थे काकणिक उस समय कांसे का छोटा सिक्का रहा होगा। ताँबे और चाँदी के अतिरिक्त साहित्यिक स्त्रोतों के अनुसार स्वर्ण मुद्राएँ भी बुद्धकाल में प्रचलित थी। स्वर्ण मुद्राएँ 'हिरण्य' कहलाती थी, अनाथपीड़िक जातक में हिरण्यों से ही जेतबन की भूमि खरीदने का वर्णन है। सबसे बड़ा सोने का सिक्का निष्क था। पुरातात्विक स्त्रोतों से भी आहत मुद्राओं के इस काल में उपयोग के साक्ष्य मिलते है। इस दौर में मुद्राव्यवस्था इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई कि एक मरे हुए चूहे की कीमत भी मुद्रा मे बताई गई। बार-बार सेट्ठियों के बारे में वर्णन आता है जिनमें पास अस्सी करोड़ सम्पदा थी, जो शहरो में रहते थे तथा रुपया कर्ज पर देते थे।

इस प्रकार ग्रामीण आंचल का विस्तार, क षि कर्म में लोहे मे क षि यन्त्रों का उपयोग, नगरों का उत्थान, व्यापार व उद्योग धन्धों का विकास, सिक्कों का प्रचलन ये सब छठी शताब्दी की आर्थिक दशा का महत्त्वपूर्ण पहलू हैं।

इकाई - II

अध्याय-1
मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था
(Mauryan Economy)

मौर्यकालीन अर्थनीति की जानकारी के स्रोत कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इण्डिका अशोक के आर्यलेख तथा उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री है। इनके अध्ययन से स्पष्ट है कि मौर्यकाल में राज्य की आर्थिक गतिविधियों में अविश्वसनीय रूप से विस्तार हुआ। मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था अर्थात् अर्थनीति के दो प्रमुख आधार रहे हैं।

1. राज्य के सभी आर्थिक संसाधनों अर्थात् कार्यकलापों पर किसी-न-किसी रूप में राज्य का नियन्त्रण तथा
2. लोगों पर विभिन्न प्रकार के नियमित करों का आरोपण

इस प्रकार की आर्थिक नीति अपनाने के पीछे कारण रहा है, राज्य को भारी मात्रा में अधिशेष की आवश्यकता। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर ऐसे कौन से कारण थे जिसकी वजह से राज्य को इतनी भारी मात्रा में अधिशेष की आवश्यकता पड़ी? स्पष्ट है कि इतने विशाल साम्राज्य को संगठित रखने, विद्रोहों को दबाने तथा प्रशासन करने के लिए आवश्यक था कि राज्य के पास स्थायी विशाल सेना और लम्बी चौड़ी नौकरशाही हो। यह तभी संभव हो सकता था जब राज्य के पास विपुल संसाधन हो और राज्य के इन संसाधनों का कर व्यवस्था मुख्य आधार है - कृषि, उद्योग तथा व्यापार पर लगाए गए विभिन्न प्रकार के टैक्स। जितनी विकसित तथा विस्त त राज्य के आर्थिक कार्यकलाप उतनी ही अधिक राज्य की आय। यही कारण है कि इससे पहले या बाद प्राचीन भारत के किसी भी राज्य के पास इतनी विशाल और स्थायी सेना नहीं थी जितनी कि मौर्यों के पास थी। यह प्रक्रिया नंदों (354–324 ई०पू०) से शुरू हुई थी। 5,000 हाथियों, 20,000 घुड़सवारों और 50,000 पैदल सैनिकों से बढ़कर उनकी सेना 60,000 हाथियों, 1,00,000 घुड़सवारों और 2,00,000 पैदल सैनिकों तक पहुँच गई थी। नंदों की विपुल संपदा के बारे में जो अनुश्रुति है, ये आँकड़े शायद उसके अनुरूप ही हैं। चंद्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल आते-आते यह संख्या लगभग दुगनी हो गई थी, क्योंकि प्लूटार्क और जस्टिन ने यह जानकारी दी है कि प्रथम मौर्य सम्राट ने 6,00,000 सैनिकों की सहायता से संपूर्ण भारत को रौंद डाला था। मेगस्थनीज़ ने मौर्य सेना की कुल संख्या 4,00,000 आँकी है। रोमन साम्राज्य के चरमोत्कर्ष के समय में उसकी सेना की संख्या चार लाख थी। अतएव मौर्य सेना की संख्या पर आर.एस. शर्मा के अनुसार अधिक संदेह नहीं किया जा सकता है। एक विशाल साम्राज्य की जनता विशेषकर कृषक वर्ग को दबाकर रखने, जैसा पहले कहा, के लिए यह विशाल सेना बहुत जरूरी थी, क्योंकि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जनता के रोष या प्रकृतिकोप का उल्लेख किया गया है। साम्राज्य के दूर-दूर फैले हुए भागों की सुरक्षा के लिए भी इसकी आवश्यकता थी। किन्तु इन सभी दायित्वों के निर्वाह का मतलब था भयंकर आर्थिक दबाव। आय के नए साधन जुटाए बिना इस दबाव से नहीं निपटा जा सकता था। दूसरे, मौर्यों ने

आपात स्थिति के लिए कोष में समुचित अधिशेष बनाए रखने की नीति का अनुपालन किया। राज्य के सभी खर्चों को पूरा करने के लिए सामान्य कर पर्याप्त नहीं थे। इसलिए राज्य ने अनेक आर्थिक गतिविधियों को अपने हाथ में लिया, जो आय के स्रोत का काम करते थे। इन उद्यमों के लिए जरूरी हो गया कि एक विशाल और बहुमुखी नौकरशाही हो, जिसके लगभग तीस विभागों के अध्यक्ष और अधीनस्थ कर्मचारी थे इससे राजकोष पर भार और अधिक बढ़ गया जिन्हें आय के स्रोतों को बढ़ाकर पूरा करना था, यही कारण है कि राज्य ने आय के विभिन्न स्रोतों पर राज्य नियन्त्रण उचित समझा।

कृषि विस्तार के लिए उठाए गए कदम

कृषि अर्थव्यवस्था

मौर्यकाल में भी कृषि लोगों का मुख्य व्यवसाय था। मौर्यों ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। एक अच्छे जनपद की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने कहा कि भूमि कृषि योग्य होनी चाहिए। वह 'अदेव मातृक' हो अर्थात् ऐसी भूमि हो कि उसमें बिना वर्षा के खेती हो सके। मौर्य पूर्वकाल की भांति इस समय भी जंगलों को साधकर तथा अन्य प्रकार की अजोत पड़ी भूमि को कृषि योग्य बनाकर कृषि योग्य भूमि के विस्तार की प्रक्रिया जारी रही। कृषि के महत्त्व की पुष्टि एक स्मृतिकार के इस वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। उसके अनुसार कृषि का विस्तार करने तथा इसे सम्पन्न करने के लिए राजा फल-फूल वाले वृक्षों को काट सकता है।

विकासशील खेतिहर समुदायों के लिए एक मजबूत तकनीकी आधार की आवश्यकता है, साथ ही साथ सस्ती श्रम-शक्ति की भी जरूरत है ताकि अनाज और अन्य वस्तुओं का उत्पादन किया जा सके। अब प्रश्न यह है कि मौर्य काल में इस श्रम शक्ति को कैसे संयोजित किया जाता था और इन पर नियंत्रण किस प्रकार रखा जाता था? गंगा घाटी में नए प्रकार की खेती, खासकर धान की खेती शुरू हुई। धान की खेती में श्रम-शक्ति की ज्यादा जरूरत पड़ती है, खासकर रोपाई और कटाई के समय। किसान को इस समय अपने परिवार के सदस्यों के अलावा अन्य लोगों की भी सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार की खेती इस काल के दौरान लोकप्रिय हो चुकी थी। हमें इस बात का भी पता चलता है कि इस काल में नई भूमि पर खेती के लिए काफी जोर दिया जाता था। निश्चितरूप से इन नई बस्तियों में श्रम-शक्ति का अभाव रहता होगा। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि किस प्रकार राज्य नई बस्तियाँ बसाने के लिए प्रोत्साहन देता था।

इस संदर्भ में इन इलाकों में शूद्रों को बसाने की बात भी की गई है। वैसे भी खेतिहर मजदूर अधिकतर शूद्र थे और उनसे ही शारीरिक श्रम का काम लिया जाता था। बहुल जनसंख्या वाले इलाकों या विजित राज्यों से उन्हें इन नई बस्तियों में लाया जाता था। कलिंग युद्ध के बाद लगभग डेढ़ लाख लोगों को नई बस्तियों में खेती के काम में लगाया गया था। अर्थशास्त्र में सलाह दी गई है कि इन व्यक्तियों में विदेशियों को भी बसाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। इसी प्रकार, बढ़ई और व्यापारी जैसे अन्य समुदायों को भी संभवतः बसाया गया होगा। नए इलाकों में बसने वाले शूद्रों को वित्तीय सहायता, पशुधन, बीज, औजार आदि प्रदान करने का प्रावधान था। अनजुती भूमि पर खेती करने के लिए यह एक प्रकार का प्रोत्साहन था। हासोन्मुख और उजड़ी बस्तियों को भी इसी प्रकार आबाद किया गया। जरूरी नई बस्तियों में भूमि गाँव के सेवानिवृत्त अधिकारियों और पुरोहितों को अनुदान के रूप में दी गई। लेकिन इस प्रकार की भूमि को ना ही बेचा जा सकता था, न गिरवी रखा जा सकता था और ना ही उत्तराधिकार के रूप में उसे प्राप्त किया जा सकता था यहाँ तक कि जैसा कि आर०एस० शर्मा कहते हैं कि सामान्य किसान भी अपनी भूमि ऐसे किसानों को हस्तांतरित नहीं कर सकते थे जो किसान कर भू लगान न देते हों। यदि कोई किसान

आबंटित भूखंडों पर खेती नहीं कर पाते थे तो उन्हें दूसरे लोगों को दे दिया जाता था ताकि वे उस भूमि का बेहतर सदुपयोग कर सकें। हालाँकि जैसा कि आर.एस. शर्मा कहते हैं, जनपदनिवेश अथवा शून्यनिवेश के परिणामस्वरूप बनी इन नई बस्तियों के प्रसार के बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं है फिर भी यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि गंगा द्रोणी के काफी बड़े हिस्से पर खेती होने लगी थी। संभवतः बस्ती बसाने की यह कोशिश दूरस्थ क्षेत्रों में भी की गई होगी जैसा कि कौटिल्य में अर्थशास्त्र व अशोक के अभिलेखों से जानकारी मिलती है कि किस प्रकार जनजातियों तथा कबीलों (अनविक, अरण्यकार) को जो कि साम्राज्य के कई हिस्सों में बसे हुए थे, कृषि कार्य के लिए बढ़ावा दिया। अन्य इलाकों की तरह इनके इलाके विकसित नहीं थे। कौटिल्य ने राज्य को सुझाव दिया कि इन कबीलों को व्यवस्थित कृषि जीवन की ओर उन्मुख किया जाना चाहिए। उसने अर्थशास्त्र में पूरे एक अध्याय में कठिनाई व्यवस्था को भंग करने और उसके लिए सही और गलत-सभी तरह के तरीके अपनाने की सलाह दी है। अधिक-से-अधिक भूमि पर खेती करने के लिए आवश्यक था कि पाँच से दस परिवारों के एक समूह को एक साथ स्थायी तौर पर बसाया जाए। अशोक इन कबीलों को एक पिता की निगाह से देखता था, परन्तु वह उन्हें एक जगह चेतावनी भी देता है कि अगर उन्होंने महामात्यों के आदेश का पालन न किया तो उन्हें सख्त सजा दी जाएगी। जंगल में रहनेवाले इन कबीलों पर नियंत्रण दो द ष्टियों से महत्त्वपूर्ण थाः

1. पहला, नई खेतिहर बस्तियों की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक था कि कबीले उनके आर्थिक विकास में बाधा न पहुँचाएँ।
2. दूसरे, ज्यादातर व्यापार मार्ग कबीलाई क्षेत्रों के बगल से या उनसे होकर गुजरते थे। अतः इन क्षेत्रों पर नियंत्रण आवश्यक था।

यद्यपि यह बता पाना तो कठिन है कि कितने कबीलाई समूह कृषक बन पाए परन्तु यह निश्चित है कि इस प्रक्रिया को राज्य ने बढ़ावा दिया।

राजकीय भूमि (फार्म)

(Crown Land)

राजकीय फार्म राज्य की आय का प्रमुख स्रोत थे इन फार्मों की व्यवस्था सीताध्यक्ष अर्थात् कृषि अधीक्षक करते थे और इनसे होनेवाली आय को कौटिल्य ने 'सीता' कहा है। इन राजकीय फार्मों के उद्‌भव कब और कैसे हुआ के बारे में कोई जानकारी नहीं है। किन्तु इस काल में बड़े-बड़े खेतों की प्रथा चल पड़ी। राजकीय भूमि पर दासों, कर्मकारों और कैदियों द्वारा जुताई और बुवाई की जाती थी और इसके लिए दास, कर्मकारों को भोजन आदि दिया जाता था और कार्य के दौरान नकद मासिक वेतन आदि भी दिया जाता था। परन्तु ऐसे भी राजकीय फार्म होते थे जिन पर सीताध यक्ष द्वारा खेती नहीं कराई जाती थी बल्कि ऐसी भूमि पर करद कृषक खेती करते थे। मेगस्थनीज, स्ट्रैबो ऐरिसन इत्यादि यूनानी लेखकों के अनुसार सारी भूमि राजा की होती थी। वे राजा के लिए खेती करते थे और 1/4 भाग राजा को लगान में देते थे। यूनानी लेखकों का अभिप्राय राजकीय भूमि से है जो किसानों को अधबटाई पर दी जाती थी। कौटिल्य के अनुसार यदि कृषि उपकरण तथा बीज आदि राज्य द्वारा दिया जाता था तो उस स्थिति में बटाईदार कृषक 1/4 और 1/3 भाग का भागी था। सीताध्यक्ष कृषि के नए-नए उन्नत तरीकों का प्रयोग कृषि उपज बढ़ाने के लिए करता था। ये इलाके निश्चित रूप से उपजाऊ होंगे और इनमें काफी उपज होती होगी। राजकीय भूमि के अतिरिक्त ऐसी भूमि भी थी जो गहपतियों तथा दूसरे कृषकों की निजी भूमि होती थी। जिन पर वे खेती करते थे और उपज का एक भाग आमतौर पर छठा राजा को देते थे। जातक

कथाओं में बार-बार गहपति तथा ग्राम भोज का वर्णन आता है। ये भूमिपति थे जो जमीन पर खेती के लिए मजदूरों की नियुक्ति करते थे। सीता तथा जनपद (सीता में अतिरिक्त अन्य खेती हर इलाके) दोनों में राजा व्यक्तिगत जमीन रख सकता था हालाँकि कहीं भी इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। निजी क्षेत्र, ज्यादातर किसानों के पास इतनी ही जमीन होती थी जितनी कि वे अपने परिवार के श्रम से ही खुद जोत सकें।

भू-स्वामित्व

यद्यपि प्रमाणों के अभाव में भूस्वामित्व के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है परन्तु ऐसा लगता है कि जहां तक सीता अर्थात् राजकीय भूमि का प्रश्न है इन इलाकों में निश्चित रूप से स्वामित्व जोत नीलामी और बिक्री पर राजा और राज्य का लगभग पूर्ण अधिकार था। दूसरे प्रचार की भूमि पर भी अनेक प्रमाणों से व्यक्तिगत अधिकार सिद्ध होता है। अर्थशास्त्र में क्षेत्रक अर्थात् भूस्वामी तथा उपवास अर्थात् काश्तकार में अन्तर किया है। भूमि के सम्बन्ध में 'स्वाम्य' का उल्लेख है। यह भी कहा गया है कि जिस भूमि का स्वामी नही है वह राजा की हो जाती है। स्वाम्य से व्यक्ति का भूमि पर अधिकार सिद्ध हो जाता है। ऐसा लगता है कि गंगा घाटी में ही विभिन्न प्रकार की स्वामित्व-प्रणालियाँ कायम थी इसके कारण स्वभाविकतः खेती की विभिन्न व्यवस्थाएँ और कृषि विकास में कई स्तर देखने को मिलते हैं।

कृषि व्यवस्था

अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार की कृषि व्यवस्था की चर्चा मिलती है। कृषकों पर नियामक अधिकारी, समाहर्ता, स्थानिक तथा गोप होते थे, जो गाँव में भूमि तथा अन्य प्रकार की संपति के आँकड़े तथा लेखा-जोखा रखते थे। राज्य की भूमि की व्यवस्था सीताध्यक्ष द्वारा होती थी। मेगस्थनीज ने बताया है मिस्त्र की भाँति मौर्य साम्राज्य में भी अधिकारी भूमि की पैमाइश करते थे।

सिंचाई व्यवस्था

राज्य की ओर से सिंचाई का प्रबन्ध किया जाता था इसे 'सेतुबन्ध' कहा गया है इसके अंतर्गत तालाब कुएँ और झीलों पर बाँध बनाकर एक स्थान पर पानी एकत्रित करना आदि निर्माण कार्य आते हैं। मौर्यों के समय सौराष्ट्र में सुदर्शन झील के बाँध का निर्माण इस सेतुबन्ध नीति का एक उदाहरण है मेगस्थनीज के अनुसार नहरों से पानी कुल्याओं (पानी की नालियाँ) में वितरित किया। जाता था ताकि हर एक को पानी का बराबर लाभ मिलता रहे। अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि जहाँ राज्य द्वारा सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी वहां से जल कर अलग से वसूल किया जाता था जो कि कुल उत्पादन का 1/5, 1/4 या 1/3 भाग होता था। पानी का दुरुपयोग ना हो इसका भी ध्यान रखा जाता था। कौटिल्य के अनुसार यदि कोई व्यक्ति टैंक आदि में पानी को सिंचाई के अतिरिक्त दुरुपयोग करता था तो उसे छः पण का जुर्माना देना पड़ता था। इस प्रकार मिश्र की तरह ही आर०एस० शर्मा के अनुसार, सिंचाई के नियमन ने राज्यसत्ता के केन्द्रीकरण में योगदान दिया होगा, विशेष रूप से पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में जहाँ पानी की नियमित आपूर्ति से ही फसल की सामान्य उपज सुनिश्चित की जा सकती थी।

फसलें

मेगस्थनीज के अनुसार साल में दो फसलें ली जाती थी। कौटिल्य ने उगाई जानेवाली विभिन्न प्रकार की फसलों का वर्णन किया है इसके अनुसार गेहूँ, जौ, चावल की विभिन्न किस्में, विभिन्न प्रकार की दाले, सरसों, अलसी, तिल की खेती की जाती थी। नियोरकस के अनुसार बाजरा तथा पशुओं का चारा भी उगाया जाता था। कौटिल्य गन्ने का भी उल्लेख करता है जिसके द्वारा खांड

बनाई जाती थी नियोरकस के अनुसार भारत के अधिकतर लोग कृषि कार्यों में लगे हुए थे। इनका मुख्य भोजन अन्न ही था केवल पर्वतीय क्षेत्र के लोग ही जानवरों का मांस खाते थे।

भू-राजस्व

मौर्य राज्य की आमदनी का स्थायी और अनिवार्य स्रोत भू-राजस्व ही हो सकता था। अतः लोगों से अधिक से अधिक कर वसूलने के लिए भू-राजस्व प्रणाली को सुव्यवस्थित किया गया सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि प्राचीन भारत की कर-व्यवस्था के क्षेत्र में मौर्य शासन एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मौर्य शासक भू-राजस्व के निर्धारण पर विशेष बल देते थे और करों का लेखा-जोखा रखने के लिए अलग से एक विभाग था, जिसका प्रमुख अधिकारी समाहर्ता कहलाता था। कोषाध्यक्ष सन्निधाता के नाम से जाना जाता था। चूँकि राजस्व वस्तु के रूप में भी प्राप्त किया जाता था। अतः इस प्रकार की आय को संग्रहीत करना सन्निधाता का ही कार्य था।

यूनानी लेखकों के अनुसार, किसान कर के रूप में कुल उपज का चौथाई हिस्सा राज्य को देते थे। उनके अनुसार किसान नजराना भी देते थे। भूमि कर (भाग) राजस्व का प्रमुख आधार था। ग्रन्थों से प्राप्त विवरण के अनुसार भाग कुल उपज का छठा हिस्सा होता था। लेकिन ऐसा अनुमान है कि मौर्य काल में यह हिस्सा चौथाई तक पहुँच गया था। अशोक लुम्बिनी शिलालेख में कहता है कि वुद्ध के जन्म स्थल लुम्बिनी की यात्रा के दौरान उसने उस गाँव को बलि कर से मुक्त कर दिया गया और भाग कर को घटाकर कुछ उपज का आठवां हिस्सा कर दिया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बुद्ध के प्रति अगाध श्रद्धा रखने के बावजूद अशोक ने उस गाँव (लुम्बिनी) को पूर्णतया करमुक्त नहीं किया।

भू-राजस्व का एक प्रचलित तरीका था - बटाई। बटाईदारों को पहले बीज, हल-बैल आदि और खेती के लिए जमीन दी जाती थी। इस मामले में कृषक संभवतः कुल उपज का आधा हिस्सा राज्य को दे देता था।

इन करों के अतिरिक्त किसानों को दूसरे कई प्रकार के नजराने पेश करने पड़ते थे। मौर्यों ने कुछ नये कर शुरू किए और पहले से लगे करों को और भी प्रभावी बनाया। पिंड कर एक प्रकार का रिवाजी कर था, जो किसानों से समय-समय पर लिया जाता था। इस कर का निर्धारण सामूहिक रूप से होता था, जिसमें कई गाँव शामिल होते थे। अकसर गाँवों को उनके क्षेत्र से गुजरती हुई राजकीय सेना के लिए खाद्य सामग्री की व्यवस्था करनी पड़ती थी। हिरण्य नामक कर के स्वरूप के बारे में ठीक से पता नहीं है, परन्तु संभवतः यह एक प्रकार का नकद कर था क्योंकि हिरण्य का अर्थ सोना होता है। वैदिक काल से चला आ रहा बलि कर मौर्यों के अधीन भी कायम रहा। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने जिन करों का जिक्र किया है, उनसे कृषकों पर अतिरिक्त भार ही पड़ता होगा। अर्थशास्त्र में इस बात की भी सलाह दी गई है कि यदि इसके बावजूद राज्य को अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए और अधिक करारोपण करना पड़े तो आपात स्थिति के दौरान लागू किए जानेवाले करों की सहायता ले सकता है। इस प्रकार के करों में प्रमुख है युद्ध कर, जिसे प्रणय कहा जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'प्रेम से दिया गया उपहार'। इस कर का उल्लेख सबसे पहले पाणिनि ने किया था, परन्तु पहली बार विस्तार से इसका विवरण अर्थशास्त्र में ही मिलता है। यह कुल उपज का एक-तिहाई या एक-चौथाई होता था तथा यह हिस्सा भूमि की उर्वरता पर निर्भर था। इस कर का उल्लेख करते हुए प्रायः इसे स्वेच्छा से दिया जाने वाला कर बताया जाता है, परन्तु यथार्थ में यह निश्चितरूप से अनिवार्य कर हो गया होगा। इसके अतिरिक्त आपातकाल में किसानों को दो फसल उगाने के लिए बाध्य किया जा सकता था। इस

बात पर बार-बार बल दिया गया है कि अकाल के समय में इस प्रकार का कदम उठाना जरूरी हो जाता था, क्योंकि इस समय भू-राजस्व की वसूली काफी कम हो जाती होगी।

भू-राजस्व मौर्य अर्थव्यवस्था का आधार था, इसलिए अर्थशास्त्र में राज्य की राजस्व व्यवस्था पर काफी गंभीरता और सावधानीपूर्वक विचार किया गया है। काफी सूझ-बूझ के साथ भूमि की उर्वरता के आधार पर विभिन्न गाँवों पर अलग-अलग कर लगाए जाने का प्रावधान रखा गया है। विभिन्न प्रकार के राजस्व वसूल करनेवाले और उसका निर्धारण करनेवाले अधिकारियों की विशेष रूप से इसमें चर्चा की गई है। अतः यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया जा सकता है कि मौर्यकाल में करारोपण और वसूली की पद्धति सुद ढ़ थी और राज्य के बड़े हिस्से से अपार राजस्व वसूल किया जाता था। इसी राजस्व के बल पर सरकारी तंत्र और सेना का रख-रखाव संभव हो सका।

दुर्भिक्ष

मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में दुर्भिक्ष (अकाल) नहीं पड़ते। किन्तु कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** के अध्ययन से स्पष्ट है कि दुर्भिक्ष पड़ते थे और दूर्भिक्ष के समय राज्य द्वारा जनता की भलाई के लिए उपाय किए जाते थे। जैन अनुश्रुति के अनुसार मगध में 12 साल का एक दुर्भिक्ष पड़ा था। सोहगोरा और महास्थान अभिलेख में दुर्भिक्ष के अवसर पर राज्य द्वारा, राज्य-कोष्ठागार से अनाज-वितरण का विवरण है।

वन, चारागाह तथा पशु सम्पदा

इसके अतिरिक्त वन प्रदेश एवं चारागाह थे। वन दो प्रकार के होते थे-(1) 'हस्तिवन' जहाँ हाथी रहते थे। ये हाथी राज्य की संपत्ति थे और लड़ाई के लिए प्रयोग किए जाते थे, (2) 'द्रव्यवन' जहाँ से अनेक प्रकार की लकड़ी तथा लोहा, तांबा इत्यादि धातुएँ प्राप्त होती थीं। जंगलों पर राज्य का अधिकार था। इन वनों की उपज राज्य के कोष्ठागारों में पहुँचाई जाती थी और वहाँ से कारखानों में, जहाँ लकड़ी, मिट्टी तथा धातु की अनेक उपयोगी वस्तुएँ तथा युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्र बनाए जाते थे। कारखानों में बनी वस्तुएँ पण्याध्यक्ष के नियंत्रण में बाजारों में बेची जाती थीं।

प्रत्येक गाँव में जोतहर खेतों के अतिरिक्त पशुओं के चरने के लिए सामूहिक चारागाह भी होते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार चारागाह जुटाना राजा का काम था। चन्द्रगुप्त मौर्य में काल में चारा जुटाने के लिए पशुओं के लिए उचित और चारागाह चारा जुटाने के लिए तथा पशुओं के कल्याण के लिए बाकायदा एक विभाग था जिसमें कम से कम छः अधिकारी होते थे इनमें अर्थशास्त्र के अनुसार गायों का सुपरिटेन्डेन्ट, चारागाहों का सुपरिटन्डेन्ट सबसे महत्त्वपूर्ण थे। गायों का अधिकारी ना केवल गायों, भैसों, बकरियों तथा भेड़ों की ही देखभाल करता था अपितु सुअर और खच्चरों आदि की देखभाल करना भी उसमें कर्त्तव्यों में शामिल था। प्रत्येक अधिकारी के पास सौ पशु देखभाल के लिए दिए जाते थे। इस अधिकारी को पशुओं का रिकॉर्ड रजिस्टर में रखना पड़ता था। गायों के दूध, डेरी उत्पादन तथा पशुओं की डाईट से सम्बन्धित विभिन्न नियम बनाए गए थे। ताकि पशुधन का स्वस्थ और सुरक्षित रखा जा सके क्योंकि वे पशुधन के आर्थिक महत्त्व से भली-भाँति परिचित थे।

अतः कृषि के विकास से किसान का महत्त्व भी धीरे-धीरे बढ़ने लगा। मेगस्थनीज ने मौर्य समाज को सात वर्णों में विभक्त करते हुए किसान को दूसरे स्थान पर रखा है। यूनानी स्रोतों से यह भी स्पष्ट है कि खेतीहरों के पास अस्त्र-शस्त्र नहीं होते थे तथा युद्ध के दौरान किसानों को क्षति नहीं पहुँचाई जाती थी।

शहरी अर्थव्यवस्था का विकास

दुर्ग और ग्राम (राष्ट्र अथवा जनपद) राज्य की आय में दो प्रमुख साधन माने जाते थे। कृषि अर्थव्यवस्था ने मौर्य साम्राज्य को एक मजबूत आर्थिक आधार प्रदान किया जिसके कारण और नए-नए शहरों की उत्पत्ति और विकास हुआ ग्रीक प्रमाणों को राजा पोरस के समय में दो हजार शहरों का वर्णन मिलता है। मेगस्थनीज तीस शहर तो अकेले आंध्र प्रदेश में ही बताता है। यह संख्या भले ही बढ़ा-चढ़ाकर दी गई हो परन्तु इतना निश्चित है कि इस काल में शहरी केन्द्रों की संख्या में निश्चित रूप से व द्धि हुई।

शहरों में अधिकांशतः शिल्पी, व्यापारी और सरकारी कर्मचारी रहते थे। शहरी अर्थव्यवस्था का निर्माण सामान के निर्माताओं और व्यापारियों की गतिविधियों पर आधारित होते है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में व्यापारिक लेन-देन भी बढ़ता है। इस काल में यह लेन-देन गंगा घाटी से पश्चिमी और मध्य भारत, दक्कन तथा दक्षिणी भारत तक फैल गया। ग्रामीण बस्तियों के प्रसार और गहपतियों की सम द्धि ने शहरी केन्द्रों के और प्रसार के लिए सामाजिक आधार प्रदान किया। कई मामलों में अमीर ग्रामीण परिवारों ने शहरों से सम्पर्क स्थापित किया और व्यापारी-समुदायों को वित्तीय सहायता प्रदान की।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दुर्गनिवेश या दुर्गविधान का जिक्र है, इससे पता चतला है कि शहरों को दीवार से घेरा गया था। यह भी बताया जाता है कि इन शहरों में पुजारी, सैनिक, व्यापारी, शिल्पी और अन्य लोग रहते थे। इस उद्धरण में शहर की रक्षा के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें उनकी बनावट का भी उल्लेख है। इसका उद्देश्य था - आर्थिक नियंत्रण को सुव्यवस्थित करना। वस्तुतः अर्थशास्त्र में शहरों (दुर्गों) को जनपदों के समान राजस्व के स्रोत के रूप में देखा गया है। शहरों से प्राप्त कर से राज्य को अच्छी आमदनी होती थी, अतः मौर्यों ने शहर के उत्थान और प्रशासन पर विशेष ध्यान दिया। एक बात ध्यान देने की है कि केवल दुर्ग या राजधानी में रहनेवाली श्रेणियों पर कर लगाए जाने का जिक्र हुआ है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रामीण इलाकों में रहनेवाली श्रेणियाँ करों से मुक्त थी। इसका कारण यह हो सकता है कि शहर में रहनेवाले लोगों को नियंत्रित और व्यवस्थित करना ज्यादा आसान होता है।

मेगस्थनीज ने मौर्यों की राजधानी का विस्तार से वर्णन किया है, इससे यह भी पता चलता है कि शहर का प्रशासन कैसा था और शहरी अर्थव्यवस्था के कौन-से हिस्से राज्य के हित में नियंत्रित किए जाते थे। वह बताता है कि पाटलिपुत्र का प्रशासन तीस अधिकारियों के जिम्मे था, ये अधिकारी छह समितियों में विभक्त थे, प्रत्येक समीतियों में पाँच-पाँच सदस्य थे। इन छह समीतियों में भी चार आर्थिक कार्यकलापों से सम्बद्ध थी। ये समीतियाँ औद्योगिक उत्पादन, व्यापार और वाणिज्य तथा तैयार माल की सार्वजनिक बिक्री का निरीक्षण करती थीं और बेचे जानेवाले सामान पर कर वसूल करती थीं। अन्य दो समितियाँ विदेशियों के कल्याण और जन्म म त्यु के पंजीकरण से सम्बद्ध थी। आर्थिक गतिविधियों के समुचित विकास की द ष्टि से नगरों में कानून और व्यवस्था संबंधी प्रशासन भी महत्त्वपूर्ण हो गया।

नगर प्रशासन का यह विवरण मौर्य साम्राज्य के केन्द्र में बसे सभी प्रमुख बड़े शहरो पर लागू होते हैं। पर्याप्त सूचनाओं के अभाव में यह बताना कठिन है कि छोटे शहरों, तटीय शहरों और तीर्थ-स्थलों के प्रशासन का सही स्वरूप क्या था। इससे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मौर्यों की अर्थव्यवस्था ने शहरों के उदय और सम द्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शहरी अर्थव्यवस्था की सम द्धि के लिए लोगों का आवागमन और विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच परस्पर संवाद कयम होना आवश्यक है। और काल में ऐसा संभव हुआ क्योंकि साम्राज्य के बड़े शहरों और प्रमुख क्षेत्रों

में काफी हद तक राजनीतिक स्थिरता व्याप्त थी।

शहरी अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें मुद्रा का चलन बढ़ा और लेन-देन मुद्रा में होने लगा। हालाँकि मुद्रा का चलन मौर्यों के जमाने से पहले से चला आ रहा था, परन्तु वाणिज्य के विकास के कारण मौर्य काल में यह आम उपयोग की चीज हो गई। व्यापार में मुद्रा अर्थव्यवस्था की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है, परन्तु अर्थव्यवस्था में मुद्रा के बढ़ते हुए महत्त्व का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि अधिकारियों को भी शायद वेतन नकद ही दिया जाता था। अर्थशास्त्र में इस बात का जिक्र है कि 48,000 पण और 60,000 पण के बीच वार्षिक वेतन देने का प्रावधान था। इस प्रकार की शक्तिशाली नकदी अर्थव्यवस्था को सुचारू ढंग से चलाने के लिए सिक्कों की ढलाई और चाँदी तथा तांबे जैसे धातुओं का महत्त्व बढ़ गया होगा। मौर्यकालीन पंच मार्क्ड चांदी के सिक्के इस बात के प्रमाण हैं कि मौर्यों ने मुद्रा अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से लागू किया। वे पंच मार्क्ड सिक्के मुख्यरूप से उत्तर प्रदेश और बिहार में पाए गए हैं, जो साम्राज्य का केंद्रीय स्थल था।

उद्योग धन्धे

ये शहर अकृषक गतिविधियों के केन्द्र रहे हैं और शिल्प तथा व्यापार शहरी अर्थव्यवस्था के मुख्य आधार थे। मौर्य राज्य ने व्यापार तथा उद्योग को अनेक अधीक्षकों के माध्यम से नियमित किया था। मेगस्थनीज़ ने ऐसे "बड़े राज्याधिकारियों" का उल्लेख किया है जिनमें से कुछ बाजार का दायित्त्व संभाले हुए थे। मौर्यकालीन संदर्भ में इनका तालमेल वाणिज्य-अधीक्षक (पण्याध्यक्ष) से बैठ जाता है। माप-तोल के मानक लागू करना माप-तोल-अधीक्षक (पौतवाध्यक्ष) का दायित्व था। पोत-अधीक्षक जल-परिवहन का नियमन करता था और घाटाशुल्क वसूल करता था। किन्तु आंतरिक एवं बाह्य व्यापार के लिए पण्य-वस्तुओं पर सीमाशुल्क प्रायः पथकर-अधीक्षक (शुल्काध यक्ष) द्वारा वसूल किया जाता था। पण्य-वस्तुओं के स्वरूप के आधार पर इन्हें 1/5 वें भाग से लेकर 1/25 वें भाग तक सीमाशुल्क मिलता था। अनेक उद्योगों की देखरेख से राज्य को और लाभांश मिलता था। बुनाई-अधीक्षक (सूत्राध्यक्ष) बुनकर उद्योग की देखभाल करता था। यह उद्योग मुख्यतः स्त्रियों के श्रम के आधार पर चलता था। मद्यनिर्माणशाला तथा राज्य द्वारा संचालित शराब की दुकानों की देखभाल इस कार्य के लिए नियुक्त अधिमास करता था। ये दुकाने निजी मद्यनिर्माणशालाओं की कीमत पर चलती थीं जो राज्य को देय भारी शुल्क के भार तले दबी रहती थीं। इस प्रकार नमक की तरह ही शराब के व्यापार में राज्य का निर्माण एकाधिकार था। विभिन्न प्रकार की शराब जैसे मेदक, अरिस्ता, आसर तथा मन्ध को बनाया जाता था।

धातु उद्योग

एक अन्य महत्त्वपूर्ण गतिविधि थी खनन और धातुकर्म जो राजसत्ता, कृषि, व्यापार और उद्योग को बल प्रदान करते थे। सिकंदर के काल में कठों (Kathains) के बारे में चर्चा करते हुए स्ट्रैबो ने कहा है कि भारतीयों को खनन तथा अयस्कों के प्रगलन (स्मेल्टिंग) की कोई जानकारी नहीं है और इसलिए वे अपनी संपदा तथा आय-व्यय के बारे में आसानी से पता नहीं लगा सकते। किन्तु यह बात कथाइंस (Kathains) पर लागू होती है, पूरे भारतीयवासियों पर नहीं। मौर्यकाल में कौटिल्य ने खान-अधीक्षक (आकराध्यक्ष) की व्यवस्था की है जिसके लिए धातुकर्म-सहित खनन के तकनीकी पहलुओं की सम्यक् जानकारी अपेक्षित थी। उसे विभिन्न लक्षणों के आधार पर नई खानों का पता लगाना था और ऐसी खानों को खोजना था जो व्यवहार में नहीं थीं। साहित्यिक साक्ष्य से संकेत मिलता है कि खानों में से सोना, चाँदी, तांबा, सीसा, टिन, लोहा और टिमर (बिटूमीन) निकाले जाते थे। किन्तु तांबे और सोने के खनन को छोड़ अन्य चीजों के बारे में पुरातात्त्विक साक्ष्य बहुत कम

हैं। यह भी सुझाया गया है कि छोटानागपुर के अंतर्गत धालभूम में उत्खनन का कार्य चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से होता आ रहा था। तांबे की जो खानें मौर्य राजधानी पाटलिपुत्र के सबसे नजदीक पड़ती हैं वे हैं सिंहभूम और हजारीबाग जिले में बरगुंडा की खानें। कम-से-कम राजभवन में काम आनेवाले कुछ ताम्रपात्र यहीं से जुटाए जाते थे। चूँकि दक्षिण बिहार की पूरी लारैह पेटी में जगह-जगह धातुमल के अनेक ढेर मिले हैं, अतः शायद ये स्थानीय लौह-प्रागलकों के छोड़े हुए अवशिष्ट धातुमल के ढेर हैं। किन्तु यह कहना मुश्किल है कि क्या ये खानें मौर्यकाल जितनी पुरानी हैं। बहरहाल, साहित्यिक साक्ष्य लोहे की खानों के बारे में संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहने देता क्योंकि अर्थशास्त्र में लौह का अपने विभिन्न रूपों में जितनी बार उल्लेख हुआ है उतना ताम्र का नहीं। लोहाध्यक्ष संभावतः ऐसा अधिकारी था जिसके ऊपर लोहे के उत्खनन का दायित्त्व था। खनन और धातुकर्म के संबंध में जिन अन्य अधिकारियों को नियोजित किया गया था उनके नाम हैं खन्याध्यक्ष (अर्थात् खुदाई-अधीक्षक), लक्षणाध्यक्ष (अर्थात् वह अधिकारी जो विभिन्न मूल तत्त्वों की जाँच-परख करता था) और लवणाध्यक्ष। इस प्रकार खनन और धातु उत्पादों के व्यापार में राज्य का एकाधिकार था। यह आय का ही स्रोत नहीं था वरन् केन्द्रीय सत्ता को मजबूत बनाने में भी काफी सहायक था, क्योंकि केवल राज्य ही अपने सैनिकों को धातु के बने अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर सकता था और कृषि तथा उद्योग के लिए अपेक्षित उपकरण तथा औजार जुटा सकता था। धातुओं तथा खनन के महत्त्व के प्रति कौटिल्य पूरी तरह जागरूक थे। उन्होंने बताया है कि कोश का स्रोत खनन है, शक्ति (दण्ड) का स्रोत है और कोश तथा दण्ड दोनों के द्वारा प थ्वी को विजित किया जाता है। इस प्रकार ये खदानें ना केवल आय के स्रोत थी वरन् केन्द्रीय सत्ता की ताकत की भी प्रतीक थी।

वस्त्र उद्योग

वस्त्र उद्योग मौर्यकालीन उद्योगों में प्राचीनतम उद्योगों में एक था। कताई बुनाई उद्योग में भी सूती वस्त्र उद्योग प्रथम स्थान पर था। बुद्धिस्ट साहित्य में बनारस तथा सिवी देश के कपड़ों की प्रंशसा के उल्लेख मिलते हैं वस्त्र उद्योग भी एक राज्याधिकारी (सूत्राध्यक्ष) के देख-रेख में था तथा वही सूत तथा कपड़ा तैयार करने के लिए कारीगरों की नियुक्ति करता था। ऊन उद्योग भी बहुत पुराना उद्योग रहा है। गंधार की महीन ऊन की प्राचीनता वैदिक काल तक जाती है। सोलह प्रकार से ऊनी कम्बलों का उल्लेख साहित्य में मिलता है। मौर्य काल में सोने के तारों से अम्ब्रॉयडरी किए हुए वस्त्रों का वर्णन मिलता है। स्ट्रैबो के अनुसार भारतीय सोने के तारों से सज्जित वस्त्र बहुमूल्य जड़ित आभूषण पहनते थे।

वस्त्र बनाने के कार्यों में, जैसा कि अर्थशास्त्र से स्पष्ट है, जरूरतमन्द महिलाओं को जैसे जिसका पति बाहर चला गया हो, जो अपंग हो आदि। इनकी तनख्वाहें काते गए सूत की गुणवत्ता को देखते हुए निश्चित की जाती थी।

लकड़ी तथा जहाज उद्योग

इस काल में बढ़ई का तथा जहाज बनाने का उद्योग भी अपनी चरमसीमा पर था। मेगस्थनीज के अनुसार जहाज बनानेवाले कारीकरों को राज्य तनख्वाह पर राज्य नियुक्त करता था तथा उन्हें प्राईवेट काम करने की इजाजत नहीं थी। स्ट्रैबो के उल्लेख से इसकी पुष्टि होती है उसके अनुसार शस्त्र तथा जहाज बनानेवालों को राजकोष से तनख्वाह दी जाती थी क्योंकि वे राजा के लिए काम करते थे। शाही जहाजघर में बनाई गई जहाज राज्य द्वारा यात्रियों तथा व्यापारियों को किराए पर दी जाती थी। इससे ऐसा लगता है कि जहाज बनाने का उद्योग राजनियंत्रण में था और किसी भी व्यक्ति को निजी तौर पर जहाज बनाने की इजाजत नहीं थी। जहाजरानी विभाग भी एक राज

अधिकारी (नौकाध्यक्ष) के अधीन था। समुद्री डाकुओं, दुश्मन देश के जहाजों तथा नियमों को तोड़ने वाले जहाजों को नष्ट करने का उल्लेख भी मिलता है।

माल लानेवाले जहाजों के समुन्द्र में नुकसान हो जाने पर जैसे जहाजों को कर मुक्त भी किया जा सकता था। जहाज बनाने के शिल्प के साथ-साथ बढ़ईगीर का धन्धा भी अपनी चरम सीमा पर था। चन्द्रगुप्त मौर्य का महल जो कि मुख्यतः लकड़ी का बना हुआ था, का विवरण तथा कुमराहार से चन्द्रगुप्त मौर्य के काल के प्राप्त लकड़ी के फर्श इसकी संपुष्टि कर देते हैं।

इन उद्योगों के अतिरिक्त कई उद्योग भी मौर्य काल में अच्छी अवस्था में थे, जैसे हाथीदांत का काम करनेवाले, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले तथा चर्मकार। पशुओं की खाल जूते बनाने, वर्म या ढाल बनाने के लिए उपयोग में लाई जाती थी। नियार्कस ने लिखा है कि भारतीय श्वेत रंग के जूते पहनते हैं जो अति सुंदर होते हैं इनकी एड़ियाँ कुछ ऊँची बनाई जाती हैं। हाथीदांत के काम में भारतीय बहुत पहले से ही कुशल थे। एरियन ने सम द्ध परिवारों द्वारा हाथीदांत के कर्णाभूषण का इस्तेमाल किए जाने का उल्लेख किया है। यद्यपि कौटिल्य ने कुम्भकार की श्रेणियों का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी हमे मालूम है कि मिट्टी के बर्तन साधारण लोगों द्वारा बड़ी मात्रा में उपयोग में लाए जाते थे। मौर्यकाल के काली ओपदार मिट्टी के बर्तन मिले है, जो पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार ऊँचे वर्ग के लोगों द्वारा प्रयोग में लाए जाते थे।

व्यापार

व्यापार मौर्यकाल में अचानक विकसित नहीं हुआ यह लम्बे आर्थिक परिवर्तन का एक हिस्सा था जिसकी शुरुआत मौर्यकाल से पहले हो चुकी थी। जातक कथाओं में बार-बार ऐसे व्यापारियों के काफिलों का वर्णन आता है जो काफी मात्रा में सामान देश में एक हिस्से से दूसरे में पहुँचाते थे।

इस काल में भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों के एक शासनसूत्र में बँधने से व्यापार को और अधिक प्रोत्साहन मिला। प्रशासनिक एवं सैनिक आवश्यकता के कारण यातायात-मार्ग में व द्धि हुई तथा मार्गों की सुरक्षा भी बढ़ी। कृषि तथा उद्योगों के लिए वस्तुएँ देश के विभिन्न भागों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से पहुँचती थी। उत्तर पश्चिमी भाग यूनानियों के अधिकार से मौर्यों के अधिकार में आ गया। दक्षिण की विजय से दक्षिण और पश्चिम व्यापार-मार्ग पर मौर्यों का नियंत्रण हो गया। मेगस्थनीज के विवरण से स्पष्ट है मार्ग-निर्माण का एक विशेष अधिकारी था जो एग्रोनोमोर्ट (Agronomot) कहलाता था। ये सड़कों की देखरेख करते थे और 10 स्टेडिया की दूरी पर एक स्तंभ खड़ा कर देते थे। साम्राज्य के राजमार्गों में उत्तर-पश्चिम को पाटलिपुत्र से मिलानेवाला राजमार्ग था। मेगस्थनीज के अनुसार इसकी लंबाई 1,300 मील थी। पाटलिपुत्र के आगे यह मार्ग ताम्रलिप्ति (तामलूक) तक जाता था। हिमालय की ओर जानेवाले मार्ग की तुलना दक्षिण को जानेवाले मार्ग से करते हुए कौटिल्य ने दक्षिण-मार्ग अधिक लाभदायक बताता है क्योंकि दक्षिण से बहुमूल्य व्यापार की वस्तुएँ जैसे मुक्ता, मणि, हीरे, सोना, शंख इत्यादि आते थे। दक्षिण के लिए एक पुराना मार्ग श्रावस्ती से गोदावरी के तटवर्ती नगर प्रतिष्ठान तक जाता था। इसी मार्ग को संभवतः उत्तरी मैसूर तक आगे बढ़ाया गया। कृष्णा, गोदावरी और तुंगभद्रा के किनारे होते हुए कई मार्ग व्यापार एवं सैनिक अभियान तथा शासन की आवश्यकता के अनुसार बनाए गए होंगे। उत्तर की ओर एक पुराना मार्ग चंपा से बनारस तक और वहाँ से जमुना के किनारे-किनारे कौशांबी तक जाता था। इसके बाद स्थल मार्ग से कौशांबी से सिंधु-सौबीर तक व्यापार-मार्ग जाता था। एक तीसरा मार्ग श्रावस्ती से राजग ह तक था।

पश्चिमी तट पर भी समुद्र मार्ग भड़ोच और काठियावाड़ होकर लंका तक जाता था। पश्चिमी तट

पर सोपारा भी महत्त्वपूर्ण बंदरगाह था। पूर्व में जहाज बंगाल में ताम्रलिप्ति के बंदरगाह से पूर्वी तट के अनेक बंदरगाहों से होते हुए श्रीलंका जाते थे। रोमिला थापर के अनुसार अशोक द्वारा कलिंग की विजय का एक कारण व्यापार की द ष्टि से कलिंग का महत्त्व था। महानदी और गोदावरी के बीच स्थित होने के कारण बंगाल और दक्षिण का व्यापार सुरक्षित नहीं था।

कौटिल्य ने स्थलमार्गीय व्यापार की अपेक्षा नदी मार्गों से व्यापार को अधिक सुरक्षित माना है क्योंकि यह चोर डाकुओं के भय से अपेक्षाकृत मुक्त था। किन्तु नदियों से व्यापार स्थायी नहीं था। स्थल मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ थीं, चोरों और जंगली जानवरों से विशेष भय था। मरुस्थल की यात्रा अत्यन्त कठिन थी। खतरों और कठिनाइयों के कारण व्यापारी काफिलों में संगठित होकर चलते थे। व्यापारियों को यातायात और सुरक्षा संबंधी सुविधाएँ प्राप्त थीं। यदि मार्ग में व्यापारियों का नुकसान हो जाए तो राज्य क्षतिपूर्ति करता था। इसके बदले व्यापारियों से अनेक शुल्क लिए जाते थे।

अंतर्देशीय व्यापार की भाँति ही स्थल और जलमार्ग से विदेशों के साथ व्यापार को मौर्यों के सुसंगठित शासन से लाभ प्राप्त हुआ। यूनानी शासकों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध की वजह से पश्चिमी एशिया और मिस्र के साथ भारत के व्यापार के लिए अनुकूल वातावरण बना। एक मुख्य स्थल मार्ग तक्षशिला से काबुल, बैक्ट्रिया, और वहाँ से पश्चिमी देशों की तरफ जाता था।

समुद्री मार्ग भारत के पश्चिमी समुद्रतट से फारस की खाड़ी होते हुए अदन तक जाता था। भारत से और मिस्र से आनेवाली व्यापार-वस्तुओं का विनियम अरब सागर के तटवर्ती बंदरगाहों पर होता था। भारत में मिस्र को हाथीदाँत, कछुए, सीपियाँ, मोती, रंग, नील और बहुमूल्य लकड़ी निर्यात होती थी।

नई बस्तियों के विस्तार से लोगों का आवागमन बढ़ा और इसके परिणामस्वरूप भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में संचार कायम हुआ। इससे स्वाभाविकतः व्यापार में व द्धि हुई। राज्य के प्रयत्न से गंगा घाटी के वन काटे गए और इस प्रकार तटों के साफ हो जाने से नदी यातायात में तेजी आई। बिंदुसार और अशोक के शासनकाल में शांति की नीति अपनाई गई और यूनानियों से मित्रतापूर्ण संबंध कायम किया गया इससे विदेशी व्यापार में भी व द्धि हुई।

व्यापार के अनेक तरीके विकसित थे। यह सहज रूप से उत्पादन के तरीके और इसके संगठन से जुड़ा हुआ था। उत्तर भारत में कारीगर उत्पादन या हस्तशिल्प उद्योग श्रेणियों के आधार पर संगठित था। यह व्यवस्था मौर्य काल के पहले से चली आ रही थी। मौर्यों के अधीन शिल्पियों की संख्या में भी व द्धि हुई। प्रत्येक श्रेणी नगर के एक भाग में बसी हुई थी जिससे लिए श्रेणी के सदस्य एक साथ रह सकते थे और कार्य कर सकते थे। आमतौर पर उनमें पारिवारिक संबंध पाया जाता था। ज्यादातर पुत्र अपने पिता के व्यवसाय को अपनाते थे और इस प्रकार हस्तशिल्प अधिकांशतया वंशानुगत होता था। उस काल के अभिलेखों में इस बात का उल्लेख है कि मौर्य काल के बाद ये श्रेणियाँ काफी शक्तिशाली हो गयीं। मेगस्थनीज ने भी श्रेणियों की गणना सात जातियों/वर्गों में की हैं। इस काल की श्रेणियों में प्रमुख थे - विभिन्न प्रकार के धातुकर्मी, बढ़ई, कुम्भकर, चर्मकार, चित्रकार, बुनकर आदि। उत्तरी काली पालिश के बर्तन हस्तशिल्प के उत्तम नमूने हैं। यह बर्तन बनाने को विशेषज्ञतायुक्त हस्तशिल्प था और गंगा घाटी के बाहर कम ही पाया जाता है। इससे पता चलता है कि देश के इस भाग में यह तकनीक विकसित हुई और शायद यह एक विशेष प्रकार की मिट्टी से ही बनाया जा सकता था।

शिल्पियों के समान व्यापारी भी श्रेणियों में विभक्त थे। व्यापारियों का एक समूह किसी खास शिल्पी समुदाय से जुड़ा होता था, जिससे वितरण में सुविधा होती थी। वे भी शहर के किसी खास

हिस्से में रहते थे, जो बाद में उनके व्यवसाय से सम्बद्ध हो गया।

यह ध्यान देने की बात है कि मौर्यों के शासनकाल में राज्य प्रशासन ने व्यापार के संगठन पर भी ध्यान दिया। इस प्रकार के प्रशासनिक नियंत्रण से उत्पादन और व्यापार में काफी सुधार हुआ। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रशासन ने प्रत्यक्षतः श्रेणी संगठन में हस्तक्षेप किया और उसे बदलने की कोशिश की। राज्य का नियंत्रण वस्तुओं के वितरण पर होता था और यहाँ तक राज्य खुद उत्पादक भी बना। दूसरे स्तर पर इसने कुछ शिल्पों को कुछ-कुछ लघु उद्योग के रूप में विकसित किया। इस क्रम में उसने अस्त्र बनानेवाले, जहाज बनानेवाले, पत्थर काटनेवाले आदि शिल्पियों को सीधे नियुक्त किया। इन्हें कर नहीं देना पड़ता था क्योंकि ये राज्य को अनिवार्य श्रम सेवा अर्पित करते थे। परन्तु अन्य शिल्पियों जैसे सूत कातनेवाले, सुनक तथा खानों आदि में काम करनेवालों को कर देना पड़ता था।

व्यापार और वस्तु उत्पादन को व्यवस्थित करने के राजनीति का हिस्सा थे। आर्थिक गतिविधियाँ और राजस्व पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखने के लिए राज्य को यह नीति अपनानी पड़ी। आर्थिक गतिविधियों और राजस्व पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखने के लिए राज्य को यह नीति अपनानी पड़ी शिल्पियों तथा व्यापारियों पर सरकार ने अपना नियन्त्रण रखने के लिए विभिन्न अध्यक्ष नियुक्त किए। मेगस्थनीज ने वाणिज्य अधीक्षक का जिक्र किया है, जो वस्तुओं को मूल्य निर्धारित करता था और बाजार में किसी वस्तु की मात्रा, बहुत अधिक आ जाने की स्थिति में हस्तक्षेप भी था। अर्थशास्त्र में उसका उल्लेख पण्याध्यक्ष के रूप में हुआ है। इसमें कई ऐसे अधिकारियों का जिक्र है, जो विभिन्न आर्थिक गतिविधियों की देख-रेख करते थे। समस्याध्यक्ष बाजार की निगरानी करता था और व्यापारियों पर नियंत्रण रखता था। पौटवाध्यक्ष या माप-तौल अधीक्षक माप-तौल के स्तर पर सख्त नियंत्रण रखता था। कम तोलने वाले को दंड दिया जाता था। नावाध्यक्ष के अधीन राज्य की नावें रखती थी, जिनसे यातायात होता था। वह नदी यातायात पर नियंत्रण रखने में सहायता प्रदान करता था और उतराई भी वसूल करता था। सभी व्यापारियों को कर और चुंगी शुल्क देना पड़ता था, यह शुल्क वस्तु के मूल्य के 1/5 वाँ हिस्से से 1/25 वें हिस्से तक होता था। इस शुल्क की वसूली का काम शुल्काध्यक्ष करता था। लाभदर भी निश्चित थी। देराज वस्तुओं पर 4% और आयात वस्तुओं पर 10% बिक्री कर भी लिया जाता था। मेगस्थनीज के अनुसार बिक्री कर न देने वाले को म त्युदंड दिया जाता था।

राज्य द्वारा उत्पादित वस्तुओं की देख-रेख दूसरे अधिकारीगण किया करते थे। इस प्रकार की वस्तुओं को राजपण्य करते थे। राज्य उसी वस्तु के उत्पादन में हाथ लगाता था जो उसके काम-काज के लिए अनिवार्य और जिनसे अच्छा राजस्व प्राप्त हो सकता था। कभी-कभी राज्य की वस्तुएँ निजी व्यापारियों द्वारा भी वितरित की जा सकती थी, क्योंकि उनकी वितरण-व्यवस्था सुव्यवस्थित थी और काफी दूर तक फैली हुई थी। इन परिवर्तन के बावजूद यह कहना गलत नहीं होगा कि अधिकांश शिल्पी या तो निजी तौर पर या श्रेणी-व्यवस्था के अंतर्गत काम करते रहे। ये श्रेणियाँ इन उत्पादकों के बीच सौहार्द स्थापित करने का काम करती थीं, साथ-ही-साथ उन पर नियंत्रण भी रखती थीं। यहाँ तक कि शिल्पी भी श्रेणी में शामिल होना फायदेमंद मानते थे, क्योंकि अकेले काम करने में खर्च अधिक आता था और प्रतियोगिता काफी बढ़ जाती थी। राज्य को भी इन श्रेणियों से कर वसूलने में सुविधा होती थी। अंततः स्थानीय तौर पर केंद्रित होने और एक खास शिल्प में विशेषता हासिल करने के कारण उस व्यापार विशेष में खूब तरक्की हुई। परन्तु इस काल में श्रेणियाँ सम्पूर्ण भारत में नहीं फल-फूल रही थीं। खासकर दक्षिण में, मौर्य काल के बाद भी उनका उल्लेख मुश्किल से मिलता है। श्रेणियों के विकास के लिए शहरी वातावरण अधिक उपयुक्त था।

अतः एक तरफ तो मौर्यों ने पहली बार सुव्यवस्थित राज्य-तंत्र कायम किया जिसने शायद मध्य गंगा क्षेत्र में उत्पादन को सफलतापूर्वक नियंत्रित किया; और दूसरी ओर उनके विजय अभियानों ने अखिल भारतीय स्तर पर व्यापारिक तथा धर्मप्रचारक (मिशनरी) गतिविधियों के दरवाजे खोल दिए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रशासकों, व्यापारियों और जैन तथा बौद्ध साधु-संयासियों ने जो संपर्क स्थापित किए उनकी वजह से गंगा द्रोणी की भौतिक संस्कृति का प्रसार साम्राज्य के सीमांतों पर स्थित अन्य क्षेत्रों में भी हुआ। यदि हम साहित्यिक संदर्भों से पुष्ट पुरातात्त्विक साक्ष्य को आधार मानकर चलें तो ऐसा प्रतीत होगा कि गंगा द्रोणी की मौर्य अर्थव्यवस्था मुख्यतः लोहे के व्यापक उपयोग और रोपा धान के उत्पादन पर आधरित थी। इसके बने रहने में आहत सिक्कों, पकी ईंटों और छल्लेदार कुओं के चलन, उत्तरी काले पालिशदार भांड के प्रयोग तथा सबसे अधिक उत्तर-पूर्व भारत में नगरों के प्रसार का योगदान था। यूनानी इतिहासकार एरियन ने बताया है इस प्रकार मौर्य काल में गंगा द्रोणी क्षेत्र में भौतिक संस्कृति का तेजी से विकास हुआ।

दक्षिणी बिहार के सम द्ध लौह अयस्क तक आसानी से पहुँच होने की वजह से लोहे के औजारों का अधिकाधिक प्रयोग करते गए। हमें मौर्य कालीन सकोटर कुल्हाड़ियाँ, हँसिए और साथ ही हल की फाल मिली है। हालाँकि अस्त्र-शस्त्रों पर मौर्य राज्य का एकाधिकार था, किन्तु अन्य लौह उपकरणों का इस्तेमाल किसी वर्ग तक सीमित नहीं था। उनका निर्माण और उपयोग गंगा द्रोणी से साम्राज्य के दूरवर्ती भागों में भी फैला होगा। मौर्य काल के दौरान मध्य गंगा मैदानों में पहली बार पकी ईंटों का इस्तेमाल किया गया। बिहार तथा उत्तर प्रदेश में पकी ईंटों की बनी मौर्य इमारतें मिली हैं। मकान ईंटों के भी बनाए जाते थे और लकड़ी के भी। मौर्य काल में घनी वनस्पतियों की वजह से वह लकड़ी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थी। मेगस्थनीज ने मौर्य राजधानी पाटलिपुत्र में लकड़ी की इमारतों का उल्लेख किया है। खुदाई से यह पता चलता है कि बाढ़ और विदेशी हमले से बचाव के लिए लकड़ी के लट्ठों का महत्त्वपूर्ण सुरक्षा पंक्ति के रूप में उपयोग किया जाता था। आग में पकी ईंटों के उपयोग का साम्राज्य की बाहरी सीमाओं पर स्थित राज्यों में भी प्रसार हुआ। नम जलवायु और भारी वर्षा की वजह से मिट्टी या मिट्टी की ईंटों से विशाल और स्थाई इमारतें बनाना संभव नहीं था, जैसा कि हमें शुष्क क्षेत्रों में देखने को मिलती है। इसलिए पकी ईंटों के उपयोग का प्रसार बहुत बड़ा वरदान सिद्ध हुआ। आखिरकार इस प्रव त्ति ने साम्राज्य के विभिन्न भागों में शहरों के विकास में योग दिया। इसी प्रकार छल्लेदार कुएँ जो पहले-पहल गंगा द्रोणी में मौर्यों के शासनकाल में अस्तित्त्व में आए थे, साम्राज्य के केंद्रीय भाग को पार करके अन्य क्षेत्रों में भी फैले। छल्लेदार कुओं से घरेलू कामकाज के लिए पानी मिलता था, अतः नदी के किनारे बस्ती बसाना अब जरूरी नहीं रह गया था। घनी आबादी वाले इलाकों में ये कुएँ सोख्तों का काम देते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य गंगा की भौतिक संस्कृति के तत्त्व ही कुछ संशोधन के साथ उत्तरी बंगाल, कलिंग, सिंध, कर्नाटक और महाराष्ट्र में फैल गए। बांग्लादेश में बोगरा जिले में मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में महास्थान अभिलेख मिला है और दिनाजपुर जिले के अंतर्गत बानगढ़ में उत्तरी काले पालिशदार म द्भांड मिले हैं। उत्तरी काले पालिशदार म द्भांड के ठीकरे कुछ अन्य स्थानों (जैसे पश्चिम बंगाल में 24-परगना जिले के अंतर्गत चंद्रकेतुगढ़) से भी मिले हैं। उड़ीसा में शिशुपालगढ़ में जो बस्तियाँ मिली है वे गांगेय समाज की सूचक मानी जा सकती हैं। ये बस्तियां तीसरी सदी ई०पू० में मौर्यकाल की मानी गई हैं। उनमें उत्तरी काले पालिशदार म द्भांडों के साथ-साथ लोहे के औजार तथा आहत सिक्के मिले हैं। शिशुपालगढ़ चूँकि धैली तथा जौगढ़ के पास स्थित है, जहाँ भारत के पूर्वी समुद्रतट के किनारे-किनारे प्राचीन राजमार्ग पर अशोक के अभिलेख मिले हैं, अतः इस क्षेत्र में भौतिक संस्कृति मगध से संपर्क के परिणामस्वरूप पहुँची होगी। यह संपर्क चौथी सदी

ई०पू० में प्रारंभ हुआ होगा जब ऐसा माना जाता है कि नंदों ने कलिंग पर विजय प्राप्त की थी। किन्तु तीसरी सदी ई०पू० में अशोक की कलिंग-विजय के बाद यह और गहरा हुआ। संभवतः कलिंग युद्ध के बाद शांति स्थापना के एक उपाय के रूप में उसने उड़ीसा में कुछ बस्तियों का निर्माण किया, जो आगे चलकर उसके साम्राज्य में मिला ली गईं।

मौर्य काल में यद्यपि आंध्र और कर्नाटक में अनेक स्थानों पर लोहे के हथियार और औजार मिले हैं, फिर भी लौह-प्रौद्योगिकी के विकास में महापाषाणीय शवाधानों के निर्माताओं को योगदान था, जो विभिनन प्राकर के बड़े-बड़े प्रस्तर शवाधान (जिनमें गोलकार शवाधान भी शामिल हैं) बनाते थे। किन्तु इनमें से कुछ स्थानों के अशोक कालीन अभिलेख, उत्तरी काले पालिशदार म द्भांड आदि, तीसरी सदी ई०पू० के हैं। उदाहरण के लिए कुछ मौर्यकालीन अभिलेख अमरावती में मिले हैं। भारत प्रायद्वीप में स्तरित (स्ट्रैटिफाइड) उत्तरी काले पालिशदार म द्भांड के ठीकरों की सबसे बड़ी संख्या भी शायद यहीं मिली हैं। खास तरह की मौर्यकालीन पालिशवाले ग्रेनाइट स्तंभ में कई स्थानों पर अशोककालीन अभिलेख मिले हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक संस्कृति के विभिन्न उपादान मौर्य-संपर्क द्वारा पूर्वी समुद्रतट के दकन के निचले पठारी क्षेत्र में पहुँचे।

देश के कुछ भागों में इस्पात बनाने की कला भी मौर्य-संपर्क के माध्यम से पहुँची होगी। लगभग 200 ई०पू० या इससे भी पहले की कुछ इस्पात की बनी चीजें मध्य गंगा द्रोणी में मिली हैं। इस्पात के मिश्रण से बनी चीजों के फैलाव से कलिंग में खेती की बेहतर पद्धतियाँ अपनाई गई होंगी। साथ ही इससे ऐसी स्थितियाँ पैदा हुई होंगी जिनसे इस क्षेत्र में चेति साम्राज्य का उदय हुआ। सातवाहन साम्राज्य की भौतिक अंतर्वस्तु पर कुछ रूपों में मौर्य साम्राज्य की भौतिक अंतर्वस्तु का सीधा असर था। सातवाहन शासकों ने मौर्यों की कुछ प्रशासनिक इकाइयों को ग्रहण कर लिया और उनके समय में बौद्ध धर्म का वैसे ही प्रचार-प्रसार हुआ जैसे कि अशोक के साम्राज्य के केन्द्र-भाग में हुआ था।

लगभग 300 ई०पू० के आसपास और इसके बाद बांग्लादेश के कुछ भागों, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, और महाराष्ट्र अभिलेखों, यदाकदा प्राप्त उत्तरी काले पालिशदार म द्भांडों के ठीकरों और आहत सिक्कों के अस्तित्त्व से यह प्रकट होता कि मौर्य काल में मध्य गंगा की भौतिक संस्कृति के घटकों का दूर-दूर तक प्रसार हुआ। यह प्रक्रिया कौटिल्य के निर्देशों के अनुरूप प्रतीत होती है। कौटिल्य की यह सलाह थी कि किसानों (जो स्पष्ट ही वैश्य थे) और शूद्र श्रमिकों (दोनों घनी आबादी वाले क्षेत्रों से स्थानांतरित किए जाएँ) की सहायता से नई बस्तियों को बसाया जाए। परती जमीन को खेती के तहत लाने के लिए नए किसानों को कर में छूट दी जाती थी और पशु, बीज तथा धन से उसकी सहायता की जाती थी। राज्य ने इस आशा से यह नीति अपनाई थी कि उसने जो कुछ दिया है वह उसे वापस मिल जाएगा। इन बस्तियों से पिछड़े हुए क्षेत्रों में खेती के उन्नत तरीकों की शुरुआत हुई होगी। मौर्यों ने प्राचीरयुक्त शहरी बस्तियाँ भी बसाई होंगी ताकि दूरस्थ क्षेत्रों में भी सैनिक छावनी रखी जा सके। किन्तु नगर का उद्भव चाहे जैसे हुआ हो, अंततः यह बाजार का रूप ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार जहाँ वह स्थित है उस क्षेत्र के आर्थिक विकास में योगदान देता है।

गंगा द्रोणी की भौतिक संस्कृति का प्रसार मध्य भारत के जनजातीय क्षेत्र के उपांतों में भी हुआ था। इस प्रक्रिया में संभवतः मौर्य शासन से काफी सहूलियत मिली। जनजातीय क्षेत्र पूर्व में छोटा नागपुर से पश्चिम में विंध्य पर्वतमाला तक फैला हुआ था। यह सुस्पष्ट है कि अशोक जनजातीय लोगों के साथ घनिष्ठ संबंध बनाए हुए था। उन्हें धर्मपालन का उपदेश दिया जाता था। अशोक द्वारा नियुक्त धर्ममहामात्रों से उनका संपर्क रहता था। इस संपर्क से इन जनजातीय लोगों में उच्च संस्कृति के प्रसार का अवसर मिलता था। इस अर्थ में अशोक ने बाकायदा उत्संस्करण (संस्कृति

के संक्रमण) की सुविचारित नीति का सूत्रपात किया। उसने कहा है कि धर्म के प्रसार से मानव देवताओं से मिलेंगे। इसका आशय है कि धर्म के प्रसार से मानव देवताओं से मिलेंगे। इसका आशय है कि जनजातीय तथा अन्य लोग कर अदा करनेवाले कृषक समाज की आदतों को अपना लेंगे। साथ ही उनके मान में पित सत्ता तथा राजसत्ता के साथ-साथ साधु-संन्यासियों, पुरोहितों और अधिकारियों के प्रति सम्मान की भावना विकसित होगी। अशोक की इस नीति को सफलता मिली। उसने दावा किया है कि व्याधों (शिकारियों और मछुआरों) ने हत्या करना छोड़ दिया है और वे धर्म का पालन करने लगे हैं। इसका अर्थ हुआ कि खाद्य संग्राहकों को समझा-बुझाकर स्थिर खेतिहार जीवन अपनाने के लिए तैयार किया गया था।

इस प्रकार मौर्य राजाओं की हर नीति राज्य के आर्थिक स्रोत बढ़ाने के उद्देश्य से निर्धारित होती थी क्योंकि मौर्य साम्राज्य को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक स्रोतों की आवश्यकता थी।

अध्याय-2
गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था
(Gupta Economy)

प्राचीन काल में आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन इतने तेज नहीं थे जितने कि सामाजिक क्षेत्र में। परन्तु यह कहना सरासर गलत होगा कि प्राचीन काल में आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन एकदम अनुपस्थित थे अर्थात् Asiatic mode of production से साम्यवादी इतिहासकार भी सहमत नहीं हैं। प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास के अध्ययन से परिवर्तन के कुछ चरण स्पष्ट उभरते हैं जैसे यदि हड़प्पा संस्कृति की नगर व्यवस्था वैदिककालीन पशुचारण तथा हल द्वारा कृषि पर आधारित आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था मौर्यपूर्व काल में लोहे की जानकारी तथा व्यापक उपयोग और शहरों का पुनः उत्थान मौयकाल में आर्थिक स्त्रोतों पर राजकीय नियन्त्रण, मौर्योत्तर काल में मुद्रा अर्थव्यवस्था तथा रोम साम्राज्य के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का चरम तो गुप्तकाल की अर्थव्यवस्था की विशेषता रही है। भूमि व्यवस्था का आंशिक सामंतीकरण और उत्पादन की स्थानीय इकाइयों का उदय। गुप्तकाल में इन्हीं कारकों को मजबूत बनाने के लिए उसी प्रकार की आर्थिक नीतियाँ अपनाई गई। कृषि, शिल्प अर्थात् विविध उद्योगधन्धे तथा व्यापार के विकास की दशा से इसकी पुष्टि हो जाती है।

कृषि अर्थव्यवस्था

कृषि कर्म: आजकल के समान गुप्तकाल में भी भारत कृषि प्रधान देश था। कामन्दक के अनुसार पशुपालन , व्यापार और कृषि कार्य को वार्ता कहते थे। रघुवंश में भी इन पेशों को राष्ट्रीय आय का प्रमुख साधन बताया गया है। गुप्तकाल में कृषि योग्य भूमि की माँग अधिक होने के कारण नारद ने व्यवस्था की है कि अगर किसी खेत का मालिक बिना उत्तराधिकारी छोड़े मर गया है या किसी अज्ञात स्थान को चला गया है तो कोई भी अजनबी उस खेत को जोत सकता है। मालिक के लौट आने पर वह मालिक से जुताई में लगे व्यय को पाने का हकदार होगा। राजा लोग प्रायः भूमि को विशेषतः बंजर भूमि को कर मुक्त रूप में दान देते थे। इससे बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने की प्रव त्ति सबल हुई। कुछ बाद के अभिलेखों में राजाओं द्वारा वन्यभूमि दान दिए जाने का उल्लेख है और शुक्र ने व्यवस्था की है कि राजा को उन लोगों से जो कृषि योग्य बनाने के लिए तालाब, कुएँ आदि बनवाते, तब तक कर नहीं लेना चाहिए जब तक उनको उनके व्यय से दुगुना लाभ प्राप्त न हो जाए। ऋषि लोग भी आश्रमों से लगी भूमि में अपनी आवश्यकता के लिए अन्न उत्पन्न करते थे। कृषि की महत्ता व हस्पति व नारद ने अनाज, फल-फूल, घास तथा कृषि कर्म से सम्बंधित उपकरणों की चोरी करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था से भी स्पष्ट है। नारद स्म ति में किसी चरवाहे की लापरवाही के कारण उसके पशुओं द्वारा किसी खेत को पहुचने वाले नुकसान की पूर्ति के संबंध में विस्त त नियम मिलते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त युग में साधारणतया छोटे-छोटे कृषक होते थे, जो स्वयं अपने परिवार के साथ जमीन जोतते थे। परंतु कहीं-कहीं जैसे गुनैघर लेख में 'ग्यारह पाटक' जमीन का उल्लेख मिलता है। इसी तरह जो बड़ी जमीन दानस्वरूप दी जाती थी उसमें ग्रहीता स्वयं जमीन नहीं जोतता था अपितु भूमिहर मजदूरों के द्वारा जमीन जोतवाता था। नारद और ब हस्पति स्म ति में इन भूमि जोतने

वाले नौकरो को नकद वेतन व उपज का 1/5 भाग मिलता था और जो खेत मजदूर खाना कपड़ा नहीं लेते थे उन्हें उपज का 1/3 भाग उनके पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता था। परंतु गुप्त युग व उसके बाद जैसे-जैसे मठों और मंदिरों को दान में भूमि दी जाने लगी वैसे-वैसे कृषि मजदूरों की स्थिति में कुछ परिर्वतन आया। इन मठाधिपतियों और मंदिर के ग्रहतो को दान में भूमि दी जाने लगी और इस जमीन पर सरकार को कर नहीं देना पड़ता था। ये जमीन स्वयं जोतते भी नहीं थे। फाह्यान और ईत्सिंग के विवरण से पता लगता है कि विहारों मठों की जमीन अस्थाई पट्टेदार लोग जोतते थे। ये भूस्वामियों को मालगुजारी दिया करते थे। इस प्रकार भूमिदान का यह दुष्परिणाम निकलने लगा कि भूमिविहीन किसान अब तक सम्मानपूर्वक मजदुरी कर सकते थे, अब भूमिपतियों के अधिन अर्धदास से बनते से बनते चले गए। क्योंकि दानपत्रों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि केवल भूमि ही दान में नहीं दी जाती थी। वरन् उसमें रहनेवाली स्त्रियाँ भी ग्रहीता के सुपुर्द कर दी जाती थीं।

गुप्तकाल में कृषि वर्ग के विविध पक्षो का कुछ विस्त त ज्ञान वराह मिहिर की 'ब हत्संहिता' और 'अमरकोश' से होता है। ब हत्संहिता में ऋतु-विज्ञान संबंधी अनेक बातों का विचार किया गया है। जिनसे स्पष्ट है कि उस युग में भी भारतीय कृषक अपनी सम द्धि के लिए प्रकृति पर निर्भर था। इन दोनों ग्रंथ एवं ब हस्पति आदि से हमें तत्कालीन युग में प्रचलित हल की बनावट, खेतों के लिए भूमि तैयार किए जाने की विधि, कृषि वर्ग में काम आनेवाले औजारों, भूसी निकालने की प्रक्रिया, खेत की जुताई, विभिन्न अन्नों और फलों आदि की बुवाई और स्थानान्तरण-रोपण के शुभ मुहूर्त तथा विधियों, वनस्पतियों के रोगों और उनके उपचार अच्छे खेत की स्थिति, विभिन्न खाद्यों और अन्न पैदावारों की किस्मों आदि का पर्याप्त ज्ञान होता है। आर०एस० शर्मा के अनुसार अमरकोश में हलकी फसल के लिए पाए नाप दिए गए हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि, यह सबसे महत्त्वपूर्ण कृषि उपकरण सहज रूप से उपलब्ध था। कृषि कार्य में फासलों का प्रयोग किया गया था। भारी फसल का प्रयोग गहरी जुताई व परती भूमि को खेती के तहत लाने के लिए करते थे।

फसलें: वराहमिहिर ने तीन फसलों का उल्लेख किया है। एक फसल श्रावण के महीने में तैयार होती थी, दूसरी वसंत में और तीसरी चैत्र या वैशाख में। साधारणतया सभी तरह की उपज जो आजकल होती है उस युग में भी हुआ करती थीं। ऐसी फसलों की चर्चा अमरकोश तथा गुप्तकाल के पर्व में भी हुआ है। गेहूँ, धान, ज्वार, बाजरा, चना, मटर, दालें, तिल, सरसों, कपास, नील अलसी, अदरक, सब्जियाँ, काली मिर्च, आदि विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन प्रचुर मात्रा में होता था। उस युग में धान के जैसे शाले और कगल आदि अनेक प्रकार हो गए थे। यही नहीं चावल की एक फसल तो 60 दिनों में तैयार कर ली जाती थी। मगध में उत्पन्न होनेवाले चावल की किस्म काफी अच्छा होता था। जिसकी सुगंध बड़ी मोहक होती थी। इसलिए बाजार में इसकी माँग अधिक थी और उपज कम। फलतः इसका विक्रय मूल्य अधिक था, जिस कारण साधारणतया जनता इसे खरीद नहीं पाती थी। वस्तुतः इस प्रकार के चावल प्रायः बड़े घरों के लोग ही खाते थे। हर्षचरित के विवरण के अनुसार श्री कण्ठ जनपद में नकदी फसलें जैसे चावल, गेहूँ, ईख आदि के अतिरिक्त सेब, अंगूर, अनार आदि भी उपजाए जाते थे। ईत्सिंग ने लिखा है कि भारत में ईख, चावल और तरबूज प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। तथा अनेकानेक फल भी प्राप्त होते हैं। केला, आम, कटहल आदि भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में पाए जाते हैं। उस समय केसर की खेती भी होती थी। नदी के तट पर और कश्मीर की घाटी में केसर बोया जाता था। गरम मसालों में काली मिर्च, इलायची, लौंग आदि भी बोए जाते थे। पाण्ड्य देश के तटीय भागों में इनकी खेती अधिकतम होती थी। परन्तु इनसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि गुप्तकाल के किसानों को मक्का जैसे अनाज तथा आलू व टमाटर जैसी सब्जियों की भी जानकारी थी।

कृषिकार्य में बाधाएँ: भारतीय आर्थिक जीवन में सबसे बड़ी विपत्ति अकालों से आती थी। जिनके कारण प्रायः भूकम्प, अतिव ष्टि, महामारी, युद्ध जनित विनाश, तुफान, जंगली जानवरों (जैसे चूहे और

टिड्डियाँ) का प्रकोप आदि होते थे। वराहमिहिर ने इनका अनेकत्र उल्लेख किया है।

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में सुदर्शन झील के बाँध टूटने और उसके जीर्णोद्धार की चर्चा है। अन्य अभिलेखों में राजाओं द्वारा अतिजनों की सहायता किए जाने का प्रायः उल्लेख हुआ है। लेकिन गुप्तकाल में पड़नेवाले किसी अकाल का वर्णन कहीं नहीं मिलता।

सिंचाईः कृषक अधिकांशतः वर्षा पर निर्भर होते थे वर्षा के आभाव में कृत्रिम सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी। झील, कूप, तलाब आदि का उपयोग खेत सींचने के लिए भी किया जाता था। कुछ विद्वानों के अनुसार सिंचाई के एक यांत्रिकी जो कि घाटी यन्त्र के नाम से जाना जाता था, की जानकारी गुप्तपूर्व काल से ही किसान को थी। इसमें कुछ बर्तन एक जंजीर से जोड़कर उस जंजीर को पानी तक पहुँचाया जाता है, और इन बर्तनों को नीचे से पानी भरकर निकाला जाता है, तथा बाहर खाली किया जाता है जो नालियों के सहारे खेत में पहुँचता है। ये बर्तन पानी से भरकर लगातार जंजीर के सहारे बाहर आते रहते हैं। बाणभट्ट में हर्षचरित में इस घाटी यन्त्र का रोचक वर्णन मिलता है। नारद ने बाँधों और निकास कुल्याओं के विषय में अनेक नियम मिलते हैं। वराहमिहिर ने ज्योतिष के आधार पर नक्षत्रों का अध्ययन करके वर्षा के विषय में विस्त त विवरण प्रस्तुत किया है। सिंचाई के लिए बड़ी-बड़ी कृत्रिम झीलें बनाई जाती थीं। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से विदित होता है कि सौराष्ट्र के गिरनार नगर के निकट सुदर्शन झील थी जिसके जल का सिंचाई में उपयोग किया गया जाता था। इस झील का मूलतः निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में सिंचाई के निमित्त किया था, जो स्थानीय नदियों और वर्षा के जल को बांधकर बनाई गई थी। दूसरी सदी ईस्वी में रुद्रदामन के काल में इस झील का बाँध टूट गया, जिसका जीर्णोद्धार उसने अपार धन व्यय करके तथा सैकड़ों लोगों को लगाकर कराया था। किन्तु पाँचवी सदी में स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में सुदर्शन झील का बाँध टूटने पर कृषकों की दुर्दशा और सौराष्ट्र के गवर्नर पर्णदत्त तथा फिर उसके बेटे चक्रपार्तित द्वारा बाँध के पुनर्निर्माण का वर्णन है। गुप्तकालीन अभिलेखों में कूपों, वारिशों (लघु तलाबों), तड़ागों (बड़े तलाबों) तथा दीर्घकाओं (बहुत बड़े तलाबों) का अनेकत्र उल्लेख मिलता है। अतः इस काल में सिंचाई के साधन जुटाना केन्द्रिय सरकार की नहीं वरन् स्थानीय राज्य सरकार या स्थानीय लोगों की हो जाती है। ईसवीं सन् के आरम्भ से ही स्थानीय जनसमूह सिंचाई में पहल करने लगा था। ब हस्पति स्म ति के अनुसार शिल्प श्रेणियों को सिंचाई बाँध की देखभाल करनी चाहिए।

वन संपदाः कृषि के अतिरिक्त तत्कालीन समाज वनस्पतियों पर निर्भर करता था। तरह-तरह की जड़ी-बूटियाँ , जो दवाई के काम आती थीं, जैसे महुआ (जिसकी शराब बनती थी), भोज पत्र (जिस पर लिखा जाता था) और चंदन (जिसकी कला कृतियाँ बनती थीं) अहम वन संपदा थी। पशु चर्म, हाथी दांत, कस्तूरी आदि चीजें वन्य पशुओं से प्राप्त होती थीं।

गुप्तकाल में भारत का वन्य प्रदेश आधुनिक वन्य प्रदेश से सम्भवतः विशालतम था। समुद्र गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति तथा खोह दानपात्र से आटविक राज्यों का उल्लेख है और अमरकोश में पूर्वोत्तर भारत के वनराष्ट्रों और वनराज्यों का कालिदास की रचनाओं और अन्य गुप्तकालीन ग्रन्थो में उस समय काम आनेवाली विविध वन सम्पदा, वनों तथा उपवनों का वर्णन मिलता है। बिहार स्तम्भ लेख में उल्लिखित गौल्मिक सम्भवतः वन विभाग की देखभाल करनेवाला अधिकारी था।

भू-स्वामित्वः- जैसा कि विनोग्राडोफ ने ध्यान दिलाया है, मनु के इस सिद्धांत को जो कि 'खेत उसका जो सर्वप्रथम निराई करता है, और म ग उसका जो उसे पहले घायल करता है' केवल भूमि पर अधिकार की चर्चा है सागम स्वत्व की नहीं। सम्भवतः इसमें उस प्राचीन स्थिति की स्म ति मात्र शेष है जब भूमि इतनी प्रचुर थी कि कोई भी व्यक्ति अपने लिए वन्य प्रदेश को साफ कर नर-खेत बना सकता था। लेकिन गुप्तकाल में भूमि की माँग पूर्ति से अधिक थी। इसलिए मात्र अधिकार को समग्र स्वत्व का प्रमाण नहीं माना जा सकता था जिसका तात्पर्य प्राचीन स्म तिकारों ने भूमि को इच्छानुसार

बेचने, दान देने, गिरवी रखने आदि की क्षमता माना है। गुप्तकालीन स्म तियों के अनुसार मात्र भोग स्वत्व का प्रमाण नहीं होता, इसके लिए अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता होती है। नारद के अनुसार जो व्यक्ति बिना प्रमाण के भूमि का चाहे सौ वर्ष तक उपयोग करता रहा हो चोरों की तरह दण्डित किया जाना चाहिए। यद्यपि अन्यत्र स्वत्व की शर्ते बताते हुए वह कहता है कि अगर भूमि वर्तमान भोक्ता के पिता और उसके तीन पूर्वजों का लगातार किसी भूमि पर अधिकार - चाहे आगम विरुद्ध ही सही-रहा हो तो उसे उस भूमि का स्वामी मान लेना चाहिए। स्वत्व कई प्रकार से प्राप्त किया जा सकता था।

गुप्तकाल तक भारत में भूमि पर राजा के मूलभूत पूर्णस्वामित्व की सिद्धांत लोकप्रिय हो चुका था। मनु ने तो राजा को समस्त भूमि का सर्वोच्च स्वामी माना है। गौतम ने ब्राह्मणों के अतिरिक्त सबको राजा की सम्पत्ति बताया है। मेगस्थनीज के अनुसार भारत में किसान राजा को भूमिकर और उपज का एक चौथाई हिस्सा देते थे क्योकि यहाँ समस्त भूमि राजा की सम्पत्ति मानी जाती थी। गुप्तकाल में भी राजा का समस्त भूमि पर स्वामित्व अभिलेखों से संकेतिक है। विविध अभिलेखों से स्पष्ट है कि गुप्तकालीन नरेश सम्पूर्ण गाँवों अथवा ग्रामों को धार्मिक उद्देश्यों हेतु दान देते थे। ऐसा वे तभी कर सकते थे जब भूमि पर उनका मूलभूत अधिकार माना जाता रहा होगा। ऐसे उदाहरणों से दान पाने वाला न केवल राज्य को मिलनेवाले कुछ करों को वसूल करने का अधिकारी हो जाता था वरन् कभी-कभी उसे अन्य सभी प्रकार के करो को वसूल करने का अधिकार मिल जाता था। जब कोई नागरिक व्यक्तिगत रूप से कोई भूमिक्षेत्र दान देता था तो उसे प्रशासन से इसकी अनुमति लेनी होती थी क्योकि किसी भूमि को दान मुक्त करने का अधिकार केवल राजा का ही था। ज्यादातर अभिलेखों के अनुसार एक बार दान देने के बाद कोई राजा या उसके वंशज उसे वापिस नही ले सकते थे लेकिन कुछ दान पत्रों में स्पष्टतः कहा गया है कि दान पाने वाले के द्वारा राजद्रोह, ब्रह्महत्या, राजा को विष देना, चोरी और अन्य कुछ अपराध किए जाने पर दान में दी गई भूमि वापिस ली जा सकती थी। अगर किसी ब्रह्मणेत्तर व्यक्ति का कोई पुत्र भाई और पत्नी नहीं होती थी तो उसके मरने पर राजा उसकी सम्पत्ति का मालिक समझा जाता था। राजा का भूमि पर स्वामित्व उसके द्वारा वसूल किए जानेवाले करो से भी संकेतित है। बहुत सी बंजर और उर्वर भूमि राजा के व्यक्तिगत अधिकार में होती थी। निधियों व खानो पर राजा का अधिकार माना जाना अभिलेखों तथा नारद से प्रमाणित है।

लेकिन आधुनिक विद्वानों में प्राचीन भारत में भूमि पर राजा के भू-स्वामित्व के प्रश्न को लेकर गहरा मतभेद रहा है। यू०एन० घोषाल का कहना है कि गुप्तकाल में भूमि पर राजा का स्वामित्व माना जाता था जबकि जायसवाल ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया था कि प्राचीन काल में भूमि पर राजा का नहीं नागरिकों का अधिकार माना जाता था। पी॰ वी॰ काणे के अनुसार कृष्य भूमि पर कृषकों का अधिकार माना जाता था उनसे राजा उपज का केवल छठा भाग कर के रूप में ले सकता था, लेकिन अनुर्वर या बंजर भूमि राजा की सम्पत्ति समझी जाती थी। बसाक का मत है कि ग्रामों की भूमि पर सामूहिक रूप से ग्रामवासियों का स्वामित्व होता था। यदि ऐसा न होता तो राज्य को अपनी खास भूमि बेचने के लिए भी ग्राम महतरों और व्यावहारियों को अनुमति क्यो लेनी पड़ती। धर्मादित्य के दानपत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि विक्रय का 1/6 भाग राज्य का होगा। बसाक के अनुसार इसका अर्थ है कि मुल्य का 1/6 भाग राजकोष में गया था और शेष 5/6 भाग ग्राम पंचायत को मिला था, इसलिए वही भूमि की असली स्वामिनी हुई। मजूमदार और अल्तेकर बसाक से सहमत हैं। लेकिन मैती का कहना है कि ऐसे अवसरों पर ग्राम महतरों का सहयोग केवल इसलिए लिया जाता था क्योकि हस्तान्तरण समस्त गाँव से संबंधित घटना होती थी और विविध खेतों की सीमा व स्वत्व के संबंध में ग्राम महतर ही विशेषरूप से परिचित हो सकते थे। भारत में भूमि पर राजा के स्वामित्व के सिद्धांत का विरोध भी अति प्राचीन काल से चला आया है। ऐतरेय ब्राह्मण में विश्वकर्मा भौंगन द्वारा राजसूय यज्ञ में प थ्वी का दान देने व स्वयं प थ्वी देवी द्वारा उसके अधिकार का विरोध करने का वर्णन मिलता

है। मीमांसा सूत्र के टीकाकार शबर स्वामी ने लिखा है कि राजा प्रजा की रक्षा करने के कारण उपज का एक भाग मात्र ले सकता है लेकिन प थ्वी पर अधिकार सभी का है। इस तथ्य से स्पष्ट है कि गुप्तकाल में भूमि पर राजा के स्वामित्व का समर्थन और विरोध करनेवाली दोनों विचारधाराएँ प्रचलित थी। इससे ऐसा लगता है भूमि पर ग्रहीता, ग्रामिक सम्पूर्ण भूमि का मालिक था। कुटुम्बिक और महतर के भी किसी-न-किसी रूप में अधिकार बने हुए थे तथा राजा संवैधानिक तौर पर सम्पूर्ण भूमि का मालिक था।

भूमि प्रकार: अर्थिक उपयोगिता के द ष्टिकोण से भूमि के कई प्रकार बताए गए हैं। जैसे-

1. खेती के उपयुक्त जमीन जिसे 'क्षेत्र' कहा जाता था।
2. वास करने योग्य भूमि जिसे 'वास्तु' कहा जाता था।
3. चारागाह भूमि
4. जो भूमि जोती नहीं जाती थी उसे 'सिल' कहा जाता था।
5. बिना जोती गई जंगली भूमि को 'अप्रहत' कहा जाता था, इत्यादि। इनके अलावा भूमि की विशेषताओं के आधार पर अमरकोष में 12 तरह की भूमि गिनाई गई हैः (1) उर्वरा (2) ऊसर (3) मरु (4) अप्रहत (5) सद्वल (6) पंकिल (7) जलप्रायामनुपम (8) कच्छ (9) शर्करा (10) शर्कावती (11) नदीमात क (12) देवमात क।

भू-सर्वेक्षण और मापनः गुप्त युग में भूमि की माँग क्रमशः बढ़ती जा रही थी। अतः जब कोई भूमि खरीदता था या दान में देता था तो उस भूमि की नाप-तोल, सीमा रेखा बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की जाती थी। उदाहरण के लिए प्रवरसेन द्वितीय के सिवानी ताम्रपत्र में एक गाँव की सीमा रेखा का उस गाँव में बहने वाली नदी के द्वारा और गाँव पड़ोसी चार गाँवों में, द्वारा स्पष्ट की गई है। जमीन की मांग बढ़ने से जमीन-जायदाद के झगड़े भी इस युग तक बढ़ गए थे। इसी कारण ब हस्पति और नारद स्म तियों में इस बात पर जोर डाला गया है कि कभी किसी भूमि में स्वामित्व का प्रश्न उठ खड़ा हो तब जमीन की सीमा स्पष्ट निर्धारित की जानी चाहिए। तालाब, नदी, बड़े पेड़, बगीचे, टीले, ढाल, पहाड़ियाँ इत्यादि ऐसे प्राकृतिक साधन हैं जिनके द्वारा किसी गाँव या भूमि की सीमा निर्धारित की जा सकती है।

जमीन को साधारणतया दान में देने के उद्देश्य से खरीदा जाता था। सबसे पहले खरीदनेवाला व्यक्ति स्थानीय शासन को यह सूचित करता था कि वह कौन-सी जमीन किस उद्देश्य से खरीदना चाहता है या उस जमीन का जो भी मूल्य होगा उसे वह देने को तैयार है। इस प्रक्रिया का उदाहरण 478–79 ई॰ के पहाड़पुर ताम्रपत्र में उपलब्ध है। फिर स्थानीय शासक या विषयपति, पुस्तपाल या जमीन का ब्यौरा देने वाले अफसर के आलेख से जमीन के मालिकाना के प्रश्न पर बचपति और पुस्तपाल में विरोध भी हो सकता था, जैसा कि दामोदर गुप्त में दिखाई पड़ता है। पुस्तपाल के दफ्तर से अनुमति आने के खरीददार स्थानीय शासक के पास जमीन का मूल्य जमा करता था। तब स्थानीय परिषद् इस प्रश्न पर विचार करती थी और नहीं कोई आपत्ति न होने पर स्थानीय परिषद् इस भूमि की बिक्री को कानूनी करार दे देती थी। भूमि की नाप के लिए विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न तौर तरीके अपनाए गए जैसे कुछ क्षेत्रों में भूमि के नाप के लिए निवार्तन प्रणाली का प्रयोग किया गया जबकि बंगाल में जैसा कि उपलब्ध आये लेखों से स्पष्ट है, नापने के लिए कुलयावाद और द्रोणवाद प्रणालियों का। परन्तु यह कि अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि अमुक नाप वास्तव में क्या इंगित करता है।

भू-लगान व्यवस्थाः शासन के विशद् उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए राजस्व की क्या व्यवस्था थी? प्रचीन परंपरा के अनुसार, जैसाकि अर्थशास्त्र से विदित होता है, राजा भूमि का मालिक माना जाता था और वह भूमि से उत्पन्न उत्पादन के एक भाग (साधारणतया छठा) का अधिकारी था। इसलिए उसे सहभागी भी कहा गया है। इस कर को भाग के नाम से पुकारा जाता था। इसी प्रकार दूसरे

भूमिकर 'भोग' का उल्लेख मनुस्म ति में हुआ है, जो सलेतोर और सरकार के अनुसार सम्भवतः राजा को प्रतिदिन दी जानेवाली फल-फूल, तरकारी इत्यादी की भेंट के रूप में थी। इस प्रकार की भेंट का उल्लेख हर्ष चरित में भी आया है जिससे यही अनुमान लगता है, कि जब राजा अपने दल बल के साथ किसी गाँव के आसपास से गुजरता था, तो गाँव की जनता राजा और राजकर्मचारियों को भेंट स्परूप अपनी उपज का एक हिस्सा देने आती थी। राजा के उपयोग में लगने की वजह से ही यह हिस्सा भोग कहलाता था। गुप्तकालीन कुछ सामंतो के अभिलेखों में भाग और भोग का संयुक्त रूप से उल्लेख हुआ है। फ्लीट इन्हें साधारणरूप से भूमिकर का पर्यायवाची मानते हैं।

भाग व भोग के अतिरिक्त गुप्त अभिलेखों में उद्रंग और उपरिकर नामक करों का उल्लेख मिलता है। ब्यूहलर का मत है कि उद्रंग को भोग का पर्यायवाची माना है। भूमिकर कृषक हिरण्य या जिन्स (मेय) दोनों रूपों में दे सकते थे। फाह्यान ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि राजा की भूमि जोतने वाले अपनी उपज का एक अंश राजा को कर के रूप में देते थे। छठी सर्दी तक मुद्राओं का प्रचलन काफी कम हो चला था। छठी सर्दी के बाद से क्रमशः कृषक अपना कर हिरण्य के रूप में न देकर अनाज के अंश के रूप में देने लगे थे। शर्वनाथ के खोह दानपात्र में उल्लिखित 'हेलिसंकर' शायद एक प्रकार का हल कर था। हल करों के अतिरिक्त गुप्तकालीन नरेश शायद अस्थाई रूप से किसानों की गायें तथा बैल पर भी राज्य का काम चलाने के लिए ले लेते थे। गुप्त लेखों में जिन भूमिदानों का उल्लेख किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि भूमिदान के साथ-साथ गाँव की भूमि से उत्पन्न होनेवाली आय भी ग्रहिता को सौंप दी जाती थी। दान पत्रों में कृषकों को यही आदेश दिया गया है कि वे कर अपने भूपति को दें। भूपति कृषक व कृषकों की स्त्रियों से बेगार भी ले सकता था।

पशुपालनः अन्य युगों की तरह गुप्तकाल में भी पशुपालन राज्य और जनता की आय का एक मुख्य साधन था। कामदंक के अनुसार गोपालन या पशुपालन वैश्य का पेशा है। लेकिन व्यवहार में अन्य वर्ण के लोग भी पशुपालन करते थे। बहुत से उद्योग व पेशे वन्य पशुओं पर निर्भर करते थे और ज्यादातर पालतू पशुओं पर। अमरकोष में पालतू पशु के रूप में घोड़े, भैस, ऊँट, बकरी, भेड़, गधा, कुत्ता, बिल्ली आदि को गिनाया गया है। बैल सामान ढोने व हल चलाने के काम आता था। नारद तथा व हस्पति ने पशुपालक और ग्वालों के पारस्परिक संबंधों को व्यवस्थित करने के लिए विस्त त नियम दिए गए हैं। तत्कालीन सहित्य में दागकर घोड़े गर-बैलों और गायों की महत्ता, गोदान, भारवाहक पशुओं के साथ उचित व्यवहार तथा पशुओं की चोरी के लिए दिए जाने वाले दण्ड आदि का वर्णन प्रायः मिलता है। हाथियों व घोड़ों की महत्ता उनके सामरिक उपयोग के कारण भी मानी जाती थी।

उद्योग और व्यवसायः- गुप्तकाल में विभिन्न उद्योग धन्धों व व्यवसाय अपने चरमोत्कर्ष पर थे। गुप्तकाल में समाज अपने विभिन्न शिल्पों, उद्योगों और व्यवसाय के उत्कर्ष से अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर रहा था। तत्कालीन साहित्य उल्लेखों से विदित होता है कि उस समय विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे और शिल्प समाज में प्रचलित थे।

भारत में खनिज पादार्थो एवं संरक्षित वनों पर राज्य का एकाधिकार माना जाता था और राजा लोग गाँव दान में देते समय इन पर अपना अधिकार प्रायः बनाये रखते थे। उत्तर भारत में सोना, तांबा, लोहा और अभ्रक आदि कच्ची धातुएँ मुख्यतः छोटा नागपुर के सिंहभूम प्रदेश में मिलती थी।

सोने की खानें स्ट्रैबों के अनुसार पश्चिमोत्तर प्रदेश में तथा परिपल्स के अनुसार गंगा की उपत्यका में भी थी। चाँदी की खानों की चर्चा किसी गुप्तकालीन ग्रन्थ में नहीं मिलती। शायद उस समय सोने का निर्यात करके लंका तथा अफगानिस्तान आदि से चाँदी का आयात करना लाभप्रद पड़ता था। इस युग में धातुओं के विस्त त और बेहतर तकनीकी इस्तेमाल में हमे एक प्रकार की निरंतरता दिखाई देती है। अमरकोश में आम इस्तेमाल की धातुओं की एक लंबी सूची दी गई है।

इस युग में धातुओं के विस्त त और बेहतर तकनीकी इस्तेमाल में हमें एक प्रकार की निरंतरता दिखाई देती है। अमरकोश में आम इस्तेमाल की धातुओं की एक लंबी सूची दी गई है। वहाँ हमें घंटाधातु (पित्तल) के लिए दो नाम (II. 9, 96), लेड (राँगे) के लिए चार नाम (II. 9.105), अभ्रक के लिए तीन नाम, सुरमा के लिए चार नाम (II. 9.100), नीलाथोथा के लिए चार नाम (II. 9.101), ताँबे के कासीस (रसांजन) के लिए तीन नाम (वही, 102), पीतल के लिए चार नाम (II. 9.103), हरिताल के लिए पाँच नाम (वही), शिलाजतु के लिए पाँच नाम (वही, 104), लाल संखिया के लिए सात नाम (वही, 108), कलमी शौरा के लिए तीन नाम (वही, 108), और सज्जी या क्षार के लिए पाँच नाम मिलते हैं। इस प्रकार इनमें प्राकृतिक या कृत्रिम धातुओं के ही नहीं, वरन विविध प्रकार के ऐसे तत्त्वों के नाम मिलते हैं जो मिश्र धातुएँ बनाने के काम आते हैं। ताँबे, अभ्रक, मेंगनीज या काँच, और खानों (जिनका स्वामी राजा माना जाता था) का कालिदास की कृतियों में उल्लेख किया गया है।

आम इस्तेमाल की द ष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण धातु लोहा थी क्योंकि एक महायान मूलपाठ के अनुसार योगी मिट्टी या लोहे के बर्तनों का उपयोग तो कर सकता था, किन्तु सोने, चाँदी, काँसे या ताँबे के बर्तनों का नहीं। अमरकोश में लोहे के लिए सात नाम दिए गए हैं और मंदूर के लिए दो (II. 9.98.99)। अमरकोश में ही पाँच नाम हल की फाल के दिए गए हैं (II. 9.13)। इससे यह संकेत मिलता है कि यह सबसे महत्त्वपूर्ण कृषि-उपकरण सहज रूप से उपलब्ध था और भूमि का खेती के लिए खूब उपयोग किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में स्वयं हल की फाल में कुछ सुधार हुआ था। दैवी अनुष्ठान संपादन के सिलसिले में यह बताया गया है कि कृषि कार्य में 4 पौंड भारी तथा आठ अंगुल या चार इंच चौड़ी फाल का प्रयोग किया जाता था। इतना वजन तो तर्कसंगत लगता है, यद्यपि चौड़ाई वास्तव में कुछ कम रही होगी। बहरहाल इससे भारी फाल के इस्तेमाल का संकेत मिलता है जिससे गहरी जुताई हो सके या फिर परती भूमि को खेती के तहत लाया जा सके। जैसाकि महरौली लौह स्तंभ से स्पष्ट है, इस काल में लोहे के काम की तकनीकी जानकारी अपने चरम शिखर पर पहुँच गई थी। लौह उपकरणों के क्रमशः बढ़ते हुए और सहज उपयोग की वजह से काँसे की चीजों का निर्माण व्यापक रूप से होने लगा था। यही वजह है कि इस युग में काँसे के बर्तन उत्तरोत्तर बहुतायत से मिलने लगते हैं। दस्तकार वर्ग का एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा धातुकर्मियों का था, किंतु स्वयं उनके पास धातुएँ नहीं होती थीं। व्यवस्था यह थी कि लोहे, ताँबे, लेड, टिन, चाँदी या सोने के काम से जुड़े हुए कारीगर यदि प्रागलन के दौरान सामान्य से ज्यादा नुकसान कर दें, तो उन्हें उन धातुओं के मालिक को जो इन्हें ये चीजें बर्तन बनाने के लिए देता है, उस नुकसान की कीमत अदा करनी पड़ेगी। गुप्तकालीन लोहे के उपकरण सम्भवतः जंग लग जाने से नष्ट हो जाने के कारण बहुत कम मिले हैं। लेकिन लोहे के हथौड़े, छेनियाँ, कुल्हाड़ियाँ छूल्ले तथा छुरे व अन्य वस्तुओं के कुछ नमूने अवश्य ही प्राप्त हुए हैं। महरौली लौह स्तम्भ तत्कालीन लौह तकनीक का उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करता है। लौह उपकरणों को क्रमशः बढ़ती माँग और सहज उपयोग की वजह से काँसे की चीजों का निर्माण व्यापक रूप से होने लगा था। दस्तकार वर्ग का एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा धातु कर्मियों का था।

गुप्तकालीन युग में किसान के बाद लुहार ग्रामीण समाज का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। लुहार की तुलना में सुनार धनी वर्ग से अधिक संबंधित था। प्रत्येक नगर में छोटे-बड़े स्वर्णकार होते थे। स्वर्णकार के लिए तत्कालीन साहित्य और मुर्तियों में आभूषणों का अंकन हुआ है। गुप्तकाल में ताम्र, कांस्य तथा पीतल आदि धातुओं से बर्तन, मूर्तिया और सिक्के आदि बनाए जाते थे। ताम्र व कास्य के पालिशदार दर्पण भी उस युग में बनाए जाते थे।

मनका उद्योगः- गुप्तकाल में सोने चाँदी के अलावा हीरे-पन्ने आदि बहुमुल्य पाषाणों एवं मूंग, मोती तथा शंख आदि के आभूषण भी बनाए जात थे। वराहमिहिर की ब हतसंहिता में हीरा, मोती, मणिक, शंख इत्यादि की बनी चीजों का अनेक बार उल्लेख आया है। वराहमिहिर ने 22 मणियों का उल्लेख

किया है। जो देश के विभिन्न भागों में मिलती थी। स्वर्णकार अपने विविध अलंकारों में रत्नों का उपयोग करता था। इवान चवांग ने भी अपने यात्रा विवरण में अनेक रत्नों के मिलने का विवरण दिया है। मोती उत्पादन के प्रमुख केन्द्र पाण्ड्य देश तथा सिहंल थे।

वस्त्र उद्योगः- कपड़े बनाने का शिल्प काफी उन्नति कर चुका था। अमरकोश में कताई, बुनाई, हथकरधा, धागे इत्यादि का सन्दर्भ आया है। महीन कपड़ों का कालिदास के नाटकों से उल्लेख मिलता है। कुषाण काल में भारत में सिले हुए कपड़ों का प्रचलन हो चुका था। अतः कपड़ों को काटकर उनको सिलने की कला भी लोगों ने सीख ली थी।

बुनकरों ने अपने अद्भुत कौशल और लगन से तन्तुवाय व्यवसाय को सम द्ध किया था। सूती, ऊनी और रेशमी सभी प्रकार के वस्त्र बनते थे। कौशेय अथवा रेशम के वस्त्रों का उल्लेख गुप्तकालीन साहित्य में हुआ है। मन्दसौर लेख में रेशम बुनने वालों की श्रेणी तथा अमरकोश में रेशम बनने की प्रक्रिया का वर्णन है। कपास पर निर्भर वस्त्र उद्योग तो महत्त्वपूर्ण था ही, अमरकोश में जुलाहों तथा उनमें औजारों का विभिन्न विभिन्न प्रकार के वस्त्र बनाने के संबंध में मिलता है।

बर्तन बनाने की कला (कुम्हार की कला): मिट्टी के बर्तन, मूर्तियाँ, मुहरें व मनके आदि बनाने की कला भी गुप्तकाल में बहुत विकसित थी। मनकों को निर्धन लोग जेवर बनाने के काम में लाते थे। म द्भाण्डों में सर्वाधिक उल्लेखनीय चमकीली पॉलिश वाले अत्यन्त पतले रक्तिम म द्भाण्ड हैं जिनकी तकनीक ह्वीलर तथा कोडरिंगटन के अनुसार रोम की देन थी। मिट्टी की मूर्तियाँ तो बहुत बड़ी संख्या में मिलती हैं, जो कि पूजा तथा बच्चों के खेलने के काम में आती थी। मिट्टी से ईंटों का निर्माण भी किया जाता था। परन्तु वे विभिन्न स्थानों से विभिन्न प्रकार की मिलती हैं।

ताम्र, कांस्य तथा पीतल आदि धातुओं में बर्तन, मूर्तियाँ आदि बनाई जाती थी। सुल्तानगंज से प्राप्त साढ़े सात फुट ऊँची ताम्र निर्मित बुद्ध प्रतिमा किसी राजकीय कारखाने में ढाली गई होगी। मूर्तियाँ विभिन्न प्रकार के पत्थर से बनाई जाती थी।

नमक निर्माणः नमक दैनिक जीवन में काम आने वाला आवश्यक पदार्थ है। गुप्तकाल में यह आमतौर पर नदियों, झीलों और समुद्र के नमकीन पानी से बनाया जाता था। अमरकोश में नमक के दो स्त्रोत बताए गए हैं- समुद्री जल व पहाड़। वाकाटक राज्य में नकम के निर्माण पर राज्य का एकाधिकार था।

वास्तुकला एवं चित्रकलाः वास्तुकार अपने शिल्प से सुन्दर और आकर्षक वास्तुकला का निर्माण करता था तथा गुप्तकालीन वास्तुकला का विकास ऐसे ही कुशल और प्रवीण वास्तुशिल्पियों द्वारा हुआ। कामसूत्र के तक्षण को चौंसठ कलाओं में गिनाया गया है। अमरकोश में बढ़ईयों और उनके औजारों का वर्णन मिलता है। अजन्ता, एलोरा, बाक आदि की गुफाओं की कला उस युग के शिल्पियों की महान देन है।

गुप्तकाल में भवन निर्माण कला में पत्थर का प्रयोग भी होता था। विशेषतः स्तम्भों, सीढ़ियों, सजावट के लिए बनाई जाने वाली मूर्तियों आदि में। संगतराग, राजगीर तथा मूर्तिकार के उद्यम बहुत लाभप्रद रहे होंगे। इनके अतिरिक्त अन्य शिल्प व व्यवसाय भी थे जो कि गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था को सुद ढ़ करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे थे जैसे पशुओं से उपलब्ध चर्म, हस्तिदन्त, कस्तूरी, अस्थियाँ, श ंग, पंख, ऊन, कौशेय आदि वस्तुओं से भी बहुत से उद्योग धन्धे पनपे हुए थे। चर्म व्यापार पर राज्य अपना एकाधिकार बनाए रखता था। नारद व अमरकोश में चर्मोद्योग का उल्लेख है। उस युग में चर्मकार विभिन्न प्रकार की चमड़े की वस्तुएँ बनाते थे। तत्त्कालीन मूर्तियों और चित्रों से अनेक आकर्षक जूतों का पता चलता है। हस्ति-दन्त से सजावट की बहुमूल्य वस्तएँ तथा मुहरें आदि बनाई जाती थी। शीतकालीन वस्त्र ऊन और रेशम के बनाए जाते थे। कौशेय तथा रेशम के वस्त्रों का उल्लेख गुप्तकालीन साहित्य में मिलता है। अमरकोश ने माला बनाने वाले, धोबी, कुम्हार, राज, बुनकर, दर्जी,

चित्रकार, चर्मकार, लोहार, सीप तराशने वाले सभी के दो-दो नाम दिए हैं परन्तु स्वर्णकार के लिए चार, बढ़ई के लिए पाँच नाम दिए हैं जिससे स्पष्ट है कि ये शिल्प समाज के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। अभिलेख से स्पष्ट है कि मध्य एवं पश्चिमी भारत में रेशम बुनकरों तथा तेलियों का धन्धा काफी फल-फूल रहा था।

उपर्युक्त उद्योग करने वालों के अतिरिक्त गुप्तकालीन साहित्य में पौरोहित्य कर्म करने वालों के वर्ग का वर्णन भी मिलता है जो धार्मिक कार्य सम्पन्न करवाता था। उस समय ऐसे भी वर्ग थे जो व्यापार और वाणिज्य में लगे हुए थे। इसके अतिरिक्त इस वर्ग के लोग देश और विदेश में विभिन्न वस्तुओं का व्यापार करते थे। सैनिक व त्ति शास्त्र कर्म में विश्वास रखते थे। समाज में मछली उद्योग भी प्रचलित था। समाज का बहुत बड़ा वर्ग ऐसे लोगों का था जो राज सेवा में लगे रहते थें तथा अध्ययन करने वाले लोग भी थे। चित्रकार, कपड़ा बनानेवाले, माला बनानेवाले और सीप तरासनेवाले भी थे।

श्रेणी व्यवस्थाः- गुप्तकाल में आर्थिक श्रेणियों का बहुत विकास हुआ। आमतौर पर किसी व्यक्ति का पुत्र अपने पैत क व्यवसाय को ही अपनाता था फिर भी अवश्यकता पड़ने पर कुछ लोग अन्य धन्धे भी अपना लेते थे। गुप्तकाल में व्यावसायिक संघ कई प्रकार के थे। वराहमिहिर ने अनेको श्रेणियों का उल्लेख किया है। गुप्त काल में नालंदा, वैशाली आदि स्थानों से गोष्ठियों, सार्थवाहों, प्रथम कुलिकों, कुलिकों आदि की मुहरों शिल्पियों की संगठनात्मक गतिविधियों को प्रदर्शित करती है। आर०एस० शर्मा के अनुसार गुप्तकालीन स्म तियों में व्यापार में हिस्सेदारी और श्रेणियों की कार्यविधि को लेकर विस्त त नियम निर्धारित किए गए हैं। ये नियमित निकाय न केवल महत्त्वपूर्ण आर्थिक गतिविधियों जैसे संयुक्त करार निभाना, व्यापारिक गतिविधियों में प्रव त्त होना, रकम जमा स्वीकार करना आदि सम्पन्न करते थे, वरन् अपने सदस्यों के संदर्भ में न्यायिक एवं प्रशासनिक कार्य भी संपादित करते थे। इस काल के अभिलेखीय साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि ये श्रेणियाँ न केवल सिक्के और मुहरें जारी करती थी वरन् नागरिक सेना भी रखती थी। कलचूरि अभिलेखों के अनुसार यह सेना श्रेणी बल कहलाती थी। ये श्रेणियाँ उतरोत्तर स्वायत्त होती जा रही थी।

अपने-अपने व्यवसाय के हितो के अतिरिक्त श्रेणियों को अन्य सामाजिक कार्य भी करने पड़ते थे जैसे सभाग हों का निर्माण, यात्रियों के लिए पीने योग्य पानी की सुविधाओं से युक्त आश्रयग हों, जलाशयों उद्यानों, मंदिरों आदि का निर्माण। कुमार गुप्त प्रथम एवं बंधु वर्मन के मंदसौर अभिलेख से पता चलता है कि रेशम बुनकरों की श्रेणी ने किस प्रकार 437–38 में एक भव्य सूर्य मंदिर का निर्माण कराया और 473–74 ई॰ में उसकी मरम्मत भी करवाई। ये श्रेणियाँ बैंक का कार्य भी करती थीं। स्कंदगुप्त के इंदौर ताम्रपत्र से पता चलता है कि इन्द्रपुर के देवविष्णु नामक ब्राह्मण ने इन्द्रपुर के तहियों की श्रेणियों के पास पूँजी जमा कराई ताकि सूर्य मंदिर के दीपक की स्थाई रूप से देख-रेख की जा सके। स्वयं चंद्रगुप्त द्वितीय ने भी इसी प्रकार पूँजी जमा करवाई थी।

श्रेणी के आय के साधन-सदस्यों का चन्दा, राजा द्वारा प्रदत्त अनुदान, सूद के रूप में अर्जित धन, दोषी सदस्यों से वसूल जुर्माना, आदि लेते थे। श्रेणियों के नियमों का उल्लंघन करनेवाले सदस्यों को नगर से निष्कासित भी किया जा सकता था। जब तक श्रेणियाँ अपने विधान के अनुसार चलती थीं राज्य के विरुद्ध कार्य नहीं करती थी तब तक राज्य उनके कामों में हस्तक्षेप नहीं करता था। लेकिन अगर कोई श्रेणी किसी सदस्य के साथ ईर्ष्यावश या किसी अन्य कारणों से अन्याय करती थी तो वह सदस्य राजा से न्याय के लिए अपील कर सकता था। श्रेणियों द्वारा राज्य के हित के विरुद्ध किए जानेवाले कार्यों पर भी राजा अंकुश लगा सकते थे।

व्यापार वाणिज्यः उद्योग धन्धों के विकास के परिणामस्वरूप व्यापार का विकास स्वाभाविक था।

आन्तरिक व्यापारः गुप्तकालीन आन्तरिक व्यापार 'श्रेष्ठि' सार्थवाह, कुलिक और निगम के माध्यम से संगठित और व्यवस्थित होता था। विभिन्न वस्तुएँ क्रय और विक्रय की जाती थी और एक स्थान से

दूसरे स्थान पर ले जायी जाती थी। ऐसे व्यापारी जो अपनी वस्तुओं को घोड़ों, बैलों या अन्य पशुओं अथवा रथों पर लादकर समूह में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैदल आते-जाते थे तथा क्रय-विक्रय करते थे। व्यापारी दो प्रकार के होते थे, श्रेष्ठी तथा सार्थ के नाम से विख्यात थे। उन व्यापारियों के नेता को सार्थवाह के नाम से सम्बोधित किया गया था, जो व्यापारियों के समूह को नेत त्व प्रदान करता था। सार्थ में सम्मिलित होकर चलनेवाले व्यापारियों के बीच पारस्परिक तारतम्य (मेल-जोल) होता था तथा हानि-लाभ के लिए सभी समान रूप से भागीदार होते थे और नियमों के अनुसार आबद्ध रहते थे। सार्थ में पाँच तरह के लोग होते थे। श्रेष्ठि लोग व्यापार में धन लगाते थे और उनसे अधिक धनी श्रेष्ठि, जो नगर श्रेणी और अपनी जाति में विशेष प्रभाव रखते थे, ये नगर अधिकरण के सदस्य होते थे। वे व्यापार करने के अतिरिक्त धन का ब्याज पर लेन-देन का धन्धा भी करते थे। सार्थवाहों द्वारा आयात निर्यात की जानेवाली वस्तुएँ प्रायः मूल्यवान होती थी जैसे काली मिर्च, चंदन, मूँगा, कस्तूरी, केसर, सोना, चाँदी, तांबा, हीरे, मोती, अभ्रक, रेशम आदि। नारद व ब हस्पति में व्यापारियों और राज्य, व्यापारियों और ग्राहकों तथा व्यापारियों के पारस्परिक संबंधों को नियन्त्रित करने के लिए विस्त त नियम दिए गए हैं। बड़े-बड़े सौदों के लिए व्यापार पत्र लिखे जाते थे। व्यापार कभी-कभी विनिमय द्वारा भी होता था। परन्तु प्रायः वस्तुओं का क्रय-विक्रय भी होता था। छोटे सौदे में कौड़ियों का प्रयोग किया जाता था। दाम घटते-बढ़ते रहते थे। देश में आन्तरिक व्यापार थल के साथ नदियों के द्वारा भी होता था। मौर्य युग के विपरीत गुप्तकाल राज्य वस्तुओं की कीमत नियन्त्रित करने का प्रयास नहीं करते थे। अमरकोश में सड़क के दोनों ओर की दुकानों का उल्लेख हुआ है।

विदेशी व्यापारः- गुप्तकाल में विदेशी व्यापार जल और थल दोनों मार्गों से होता था। समुद्री मार्ग जलदस्युओं, चट्टानों, तूफानों तथा जलपोतो में उत्पन्न हो जानेवाली कठिनाइयों के कारण बड़े संकटग्रस्त रहते थे। चीनी साहित्य में, जैसे फा-शिएन की यात्रा के विवरण में, इनका सजीव वर्णन मिलता है। इसी प्रकार मध्य एशिया, ईरान व चीन आदि देशों को जानेवाले स्थल मार्ग भी निरापद नहीं थे। लेकिन इन कठिनाइयों के बावजूद धर्म-प्रचारक और व्यापारी दोनों ही जल और स्थल मार्गों का उपयोग करते थे। गुप्तकाल में एक दर्जन से अधिक भारतीय यात्रियों के इन मार्गों से चीन जाने का उल्लेख उपलब्ध है। फा-शिएन ने जिस जलपोत से जावा की यात्रा की थी उसमें 200 से अधिक यात्री थे। उसके अनुसार उस युग में ताम्रलिप्ति (आधुनिक तामलुक) सिंहल तथा दक्षिण-पूर्वी द्वीपों के साथ भारतीय व्यापार का बड़ा केन्द्र था। कोस्मस ने सिन्धु, ओरहथ (गुजरात), केलियाना (कल्याण), सिबोर (चौल, बम्बई के पास) तथा माले (मालाबार) के पाँच बन्दरगाहों का उल्लेख किया है। इन बन्दरगाहों से सिंहल, चीन, दक्षिण-पूर्वी द्वीपों, ईरान, अरब, इथियोपिया तथा बाइजेण्टियमी साम्राज्य के साथ व्यापार होता थां सिंहल (यूनानियों का ताप्रोबेन = ताम्रपर्णि) अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भारत तथा पूर्वी और पश्चिमी देशों के बीच व्यापार की कड़ी था। यह पूर्वी देशों से रेशम, लौंग, चन्दन और अगरु आदि का, मालाबार से काली मिर्चों का, कल्याण से वस्त्रों और ताम्र का, सिन्धु से कस्तूरी आदि का तथा ईरान से घोड़ों का आयात करता था और मोती जैसी स्वदेशी वस्तुओं सहित उनका विविध देशों को निर्यात करता था। ताम्रलिप्ति के साथ सिंहल के घनिष्ठ व्यापार सम्बन्धों का उल्लेख कई साक्ष्य में मिलता है। भारत में सिंहल से मोती, चाँदी और वस्त्रों का विशेष रूप से आयात किया जाता था। चीन के साथ भारत के घनिष्ठ व्यापार सम्बन्धों का उल्लेख 'सुँग-चु' आदि ग्रंथों में हुआ है। भारत से चीन जानेवाली वस्तुओं में मणिमुक्ता, मस्लिन (चीनी पो-ती), काली मिर्च, केसर तथा विभिन्न सुरभित द्रव्य मुख्य थे और वहाँ से आयात किया जाता था मुख्यतः रेशम का (ध्यातव्य कालिदास द्वारा 'चीनांशुक' का उल्लेख)। ये वस्तुएँ समुद्री और मध्य-एशियायी स्थल मार्ग, दोनों से आती-जाती थीं। इस व्यापार सम्बन्ध का गहरा प्रभाव दक्षिण-पूर्वी द्वीपीय राज्यों पर भी पड़ा। पश्चिम में भारत के घनिष्ठ व्यापार-सम्बन्ध रोमन साम्राज्य के साथ थे, विशेषतः ईसवी सन की प्रारम्भिक सदियों में। 408 ई॰ में जब एलेरिक ने रोम को बख्शा था तो इसके बदले में अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त 3000 पौंड काली मिर्चें और रेशम के 4000 वस्त्र वसूल किए थे। लेकिन 476

ई॰ में रोम के पतन के उपरान्त रोमन साम्राज्य साहित्य स्त्रोतों में भले ही कितने सम द्ध विदेशी व्यापार का उल्लेख हो परन्तु सच्चाई तो यह है कि इस काल में पाश्चात्य देशों से सम्पर्क की वह स्थिति अब नहीं थी जो कुषाण, सातवाहन युग में थी। जहाँ तक विदेशी व्यापार का प्रश्न है, उसमें भी पाश्चात्य रोमन साम्राज्य के विघटन के पश्चात् पाश्चात्य देशों से हो रहे व्यापार में गिरावट आ गई। 364 ई॰ में रोमन साम्राज्य का विभाजन दो भागों में हो गया था और उसके आगामी सौ वर्ष अत्यंत कठिनाईपूर्ण थे। पाँचवीं शताब्दी के आरंभ से ही अनेक आक्रमणकारियों ने उस साम्राज्य को अपना लक्ष्य बना लिया था। गोथ, अलारिक एवं अत्तिल हूण के विध्वंसकारी आक्रमण इसके उदाहण हैं। स्पष्ट है कि रोमन साम्राज्य की स्थिति इतनी डाँवाडोल थी कि रोम के नागरिक प्राच्य जगत् से व्यापार को प्रोत्साहन नहीं दे सकते थे। प्रोकोपियस के वर्णन (छठी शताब्दी) से पता चलता है कि फारसवासियों ने रेशम के व्यापार पर एकाधिकार-सा प्राप्त कर लिया था और रोमन साम्राज्य से उनकी शत्रुता के कारण भारतीय व्यापार को ठेस लगनी स्वाभाविक थी। भारत के रेशम व्यापार की क्या नियति थी, इसकी स्थिति एक समसामयिक अभिलेख द्वारा प्रकट होती है। कुमार गुप्त प्रथम बंधुवर्धन के मंदसौर अभिलेख में कहा गया है कि नर्मदा क्षेत्र के निकट लाट-विषय से रेशम बुनकरों की एक श्रेणी अपना काम छोड़कर पश्चिमी मालवा में आ गई। रेशम बुनकरों को अन्य व्यवसाय अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा, और फिर स्वयं रोमन साम्राज्य में रेशम उद्योग को विकसित करने के गंभीर प्रयास किए जा रहे थे। इन सभी कारणों से पाश्चात्य देशों के साथ भारत के विदेशी व्यापार में गिरावट आ गई थी। यह संभव है कि यूथोपिया के माध्यम से भारत ने रोमन साम्राज्य तक पहुँचने की चेष्टा की हो क्योंकि एक ओर हम देखते है कि कॉसमॉस (छठी शताब्दी) भारत एवं यूथोपिया के व्यापार का उल्लेख करता है और दूसरी ओर रोमन साम्राज्य जस्टिनियन यूथोपियाई नरेश हेल्लैस्थेयॉस से समझौता किया था, ताकि वह फारसवासियों की शत्रुता का सामना कर सके। किंतु वास्तविकता यह है कि रेशम व्यापार में फारसवासियों ने ऐसा एकाधिकार समाप्त कर लिया था कि कॉसमॉस के विवरण प्रायोगिक प्रतीत नहीं होते।

परन्तु आश्चर्य है कि भारत व चीन के व्यापारिक सम्बन्धों को इतनी चर्चा के वाबजूद न तो चीन के सिक्के यहाँ मिलते हैं और न ही भारत के सिक्के चीन में। रही दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों की बात, तो इस व्यापार का श्रेय गुप्त नरेशों को देना संभव नहीं है। केवल ताम्रलिप्ति ही ऐसा बंदरगाह है, जहाँ से गुप्त नरेश दक्षिण-पूर्वी एशिया से व्यापारिक संपर्क स्थापित कर सकते थे। किंतु इस स्थल में हुए उत्खननों से स्पष्ट है कि गुप्तकालीन अवशेष नहीं के बराबर हैं। कंबोडिया, चंपा, बर्मा, मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो एवं बालि, आदि के आरंभिक अभिलेखों में इस व्यापार की कोई चर्चा नहीं मिलती। सामान्यतया सम द्ध व्यापार का प्रभाव शहरी जीवन में विशेष रूप से द ष्टिगोचर होता है। किन्तु क्या जैसा कि डी॰एन॰ झा कहते हैं, यह भी संयोग मात्र है कि संपूर्ण गंगा घाटी में जो शहर पहले (विशेषकर कुषाण युग में) अत्यंत सम द्ध अवस्था में थे, उनमें से अधिकांश को गुप्त युग में या तो त्याग दिया गया अथवा वहाँ के आवसन में पर्याप्त विघटन हुआ? पाटलिपुत्र जैसा महत्त्वपूर्ण राजधानी नगर भी ह्यूनत्सांग के काल तक गाँवड़ा बन गया था। मथुरा जैसा महत्त्वपूर्ण व्यापार केंद्र भी विघटन के चिह्न ही प्रस्तुत करता है। कुम्हार, सोनपुर, सोहगौरा और उत्तर प्रदेश में गंगा घाटी के अनेक महत्त्वपूर्ण केंद्र ह्रास के ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। संभव है कि कुछ शिल्पी गंगा घाटी को छोड़कर मध्य भारत चले गए हों और वहाँ सुगमतापूर्वक जीवनयापन करते हों। पर प्रश्न उठता ही है कि आखिर उन्होंने गंगा घाटी, जो गुप्त साम्राज्य का केंद्र थी, छोड़ी क्यों? न इस तथ्य को ही नकारा जा सकता है कि शिल्पियों की गतिशीलता पर पर्याप्त अंकुश लग गए थे। भूमिदानपत्रों का जो ऊपर विशद् उल्लेख है, उनमें स्पष्ट है कि शिल्पी, व्यापारी, आदि विभिन्न व्यवसायों के लोग ग्रहीता की भूमि को छोड़कर नहीं जा सकते थे। क्या यह स्थिति सम द्ध व्यापार के लिए अनुकूल हो सकती है? इन तथ्यों के आधार पर गुप्तकाल के तथा कथित सम द्ध व्यापार के आगे प्रश्नचिह्न ही लगाया जा सकता है।

मुद्रा स्थितिः- आर्थिक स्थिति की जानकारी के लिए मुद्राशास्त्रीय साक्ष्य अत्यंत लाभदायक होते हैं। दुर्भाग्यवश गुप्तकालीन सिक्कों का अध्ययन अधिकांशतः राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पक्षों के लिए ही किया जाता रहा है। गुप्त साम्राज्य के विभिन्न भागों से 16 ढेर प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण बयाना (भरतपुर क्षेत्र में) का पुंज है। यद्यपि गुप्तकाल की सहस्त्रों स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त हैं, किंतु उनका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यद्यपि परवर्तीकालीन गुप्त मुद्राओं का वजन बढ़ता गया किंतु उनमें सोने का अंश गिरता गया। इस तथ्य से तथाकथित सुवर्ण मुद्राओं की बहुलता के आधार पर गुप्तकालीन आर्थिक स्थिति की तथाकथित सम द्धता के आगे एक प्रश्नचिह्न तो लग ही जाता है। जहाँ तक गुप्तकालीन चाँदी के सिक्कों का प्रश्न है, वे सर्वप्रथम चंद्र गुप्त द्वितीय की शकों के विरुद्ध विजय के पश्चात् आरंभ हो गए थे किंतु उनकी संख्या बहुत कम है और प्रचलन क्षेत्र भी काफी सीमित द ष्टिगोचर होता है। इसी संदर्भ में चाँदी का पानी चढ़े हुए ताँबे के सिक्कों का भी उल्लेख कर देना चाहिए। ताँबे के सिक्के स्वयं गुप्त काल में ही कम प्रचलित थे। राम गुप्त को छोड़कर चंद्र गुप्त द्वितीय से पूर्व के ताँबे के सिक्के तो नहीं के बराबर हैं ही, उसके बाद भी इनकी उपलब्धि विरल ही है। चूँकि सुवर्ण एवं चाँदी की मुद्राएँ दैनिक विनिमय में प्रयुक्त नहीं हो सकती थी और चूँकि ताँबे के सिक्कों की संख्या बहुत कम थी अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रा-प्रणाली उस प्रकार जनजीवन का अभिन्न अंग न थी, जैसा कि कुषाणकालीन एवं मौर्योत्तर ताँबे की मुद्राओं की बहुलता से लक्षित होती है।

भूव्यवस्था का सामंतीकरण तथा स्थानीय इकाईयों का उभारः- गुप्तकाल के आर्थिक इतिहास में हमारी दिलचस्पी का मुख्य कारण उसका विदेशी व्यापार और मुद्रा-अर्थव्यवस्था नहीं है। इस दिलचस्पी का ज्यादा महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि इसी युग में एक हद तक भू-व्यवस्था के सामंतीकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई और उत्पादन की स्थानीय इकाईयाँ उभरकर सामने आईं। उल्लेखनीय बात यह हुई कि उत्तरी तथा पूर्वी बंगाल में, और आधुनिक मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग में मंदिरों और ब्राह्मणों को कृषियोग्य भूमि-अनुदान में दी गई। किंतु मध्य प्रदेश के भूमि-अनुदान बंगाल के भूमि अनुदानों से दो महत्वपूर्ण रूपों से भिन्न थे। बंगाल के अनुदान व्यक्तियों द्वारा जमीन की खरीद-फरोख्त के परिणाम थे और इस भूखंड का हस्तांतरण किया जाता था। किंतु मध्य भारत के अनुदान सामंत या जागीरदार करते थे और वे पूरे-के-पूरे गाँव अनुदान में देते थे। बंगाल के अनुदान केंद्र-सरकार के अधिकारियों की सहमति से किए जाते थे और उनमें केवल कर से छूट रहती थी। किंतु मध्य भारत के अनुदानों में प्रशासनिक छूटें भी शामिल थीं। वाकाटक सम्राट प्रवरसेन द्वितीय के समय (पाँचवी सदी ई॰) के संबद्ध शासक राजस्व के सभी स्रोतों पर से अपना नियंत्रण छोड़ने लगा था। इन स्रोतों में चारागाह, पशुचर्म तथा कोयला नमक के उत्पादन वाली खानें और सभी गुप्त कोष तथा निक्षेप (deposits) शामिल हैं। खानों पर राजकीय स्वामित्व संप्रभुता का महत्त्वपूर्ण लक्षण था। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इसे भी ब्राह्मणों को हस्तांतरित कर दिया गया था। ईसा की चौथी और पाँचवीं सदी के अनेक भूमि-अनुदानों में ब्राह्मणों को गाँवों की गुप्त निधि के उपभोग की अनुमति दी गई थी। इतनी ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो गाँव अनुदान में दिए जाते थे उनके निवासियों पर शासन करने का अधिकार अनुदानकर्त्ता अपने पास नहीं रखता था। मध्य भारत में बड़े-बड़े सामंतों द्वारा ब्राह्मणों को अनुदान में दिए गए कम-से-कम आधे दर्जन ऐसे गाँवों के उदाहरण मिलते हैं जो स्पष्ट ही बसे हुए थे। इन गाँवों के अपने-अपने शासकों ने वहाँ के बाशिंदों से, जिनमें कृषक और कारीगर भी शामिल थे, साफ-साफ कहा कि वे अनुदान प्राप्त करनेवाले को न केवल प्रथागत करों का भुगतान कर दें वरन उनके आदेशों का पालन भी करें। इन बाशिंदों में किसान और दस्तकार भी शामिल हैं। फिर भी, पाँचवीं सदी ईसवी के उत्कीर्ण अधिकार पत्रों (चार्टरों) से यह प्रकट होता है कि शासक सामान्यतः चोर-डाकुओं को दंड देने का अधिकार अपने पास रखते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अधिकार राज्यसत्ता के प्रमुख अधिकारों में से था।

समुद्रगुप्त से जुड़े हुए भूमि-अनुदान चूँकि जाली कहकर खारिज किए जा चुके हैं, अतः सीधे गुप्त

सम्राटों द्वारा जारी भूमि अनुदानों के उतने उदाहरण नहीं मिलते जितने मध्य भारत में सामंतों द्वारा जारी अनुदानों के मिलते हैं। हालाँकि यह तय करना मुश्किल है कि अनुदानों का परिमाण क्या था, फिर भी स्कंदगुप्त के बिहार शिलालेख से (जो 489 ईसवी का है) यह धारणा बनती है कि गुप्त सम्राट पूरे-के-पूरे गाँव अनुदान में देते थे और प्रायः उन्हीं शर्तो पर जिन पर उनके सामंत देते थे। इस उदाहरण से पता चलता है कि यह गाँव अक्षयनीवि भूधारणा के अनुसार अग्रहार के रूप में हस्तांतरित किया गया था उत्तरी और पूर्वी बंगाल में और पूर्वी बिहार में व्यक्तिगत स्तर पर दिए गए अक्षयनीवि अनुदानों को गुप्त सम्राटों ने अपनी स्पष्ट सहमति प्रदान की। इन अनुदानों में विभिन्न प्रकार के खेतों की खरीद/बिक्री शामिल थी, जिसकी दर आम तौर पर दो दीनार प्रति कुल्यवाप थी। इस तरह के लेनदेन स्थानीय परिषद् और केंद्र सरकार के स्थानीय अधिकारियों की सहमति से ही अमल में लाए जा सकते थे। इन भूमि-अनुदानों में राज्य स्पष्ट ही ब्राह्मणों या मंदिरों के लिए होनेवाले उत्पादन का अपना भाग छोड़ने को तैयार था। ऐसा माना जाता था कि व्यक्तियों द्वारा किए गए भूमि-अनुदान से मिलने वाले धार्मिक पुण्य का छठवाँ भाग राज्य को भी मिलेगा। इसी पुण्य को ध्यान में रखकर राज्य स्वेच्छा से अपना अंश छोड़ देता था।

किंतु मध्य भारत और अन्य स्थानों पर अनेक अनुदान सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकताओं के दबाव से किए गए थे। सामाजिक उथल-पुथल की वजह से, जिसका जिक्र कलियुग के विवरणों में है, नियमित कर-वसूली और उसका पुरोहितों तथा अन्य लोगों में वितरण काफी कठिन हो गया था। इसलिए पुरोहितों को स्थायी भूसंपत्तियाँ (जागीरें) दी गईं जिनमें राजा के सैनिक और अधिकारी अपने खेतों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। यह उनकी सीधी जिम्मेवारी थी कि वे किसानों से लगान वसूल करें और इस प्रकार जीविका के अपने खुद के साधन जुटा सकें। सामान्यतः राजकीय सत्ता को समर्थ देने के एवज में ब्राह्मणों को भूमि अनुदान में दी जाती थी किंतु उनमें से कुछ ढीठ और दुराग्राही निकल सकते थे। इसलिए प्रवरसेन द्वितीय के अनुदान में यह साफ-साफ निर्दिष्ट किया गया है कि एक हजार ब्राह्मणों को जो गाँव अनुदान में दिया गया है वह उनके अधिकार में केवल इसी शर्त पर रहेगा कि वे राजा के खिलाफ विश्वासघात न करें, ब्रह्महत्या न करें, चोरी और व्यभिचार से दूर रहें, राजा को विष देने की कोशिश न करें, राज्य के खिलाफ युद्ध न छेड़े और अन्य गाँवों को नुकसान न पहुँचाएँ। यहाँ स्पष्ट ही पुरोहितों का समर्थन प्राप्त करना लक्ष्य नहीं है। मूल लक्ष्य यह है कि उन्हें विरोध करने से कैसे रोका जाए। अनुदानदाताओं अर्थात् गुप्त सम्राटों, सामंतों या निजी स्तर पर व्यक्तियों के उद्देश्य जो भी रहे हों, अनुदानों से एक ऐसे ताकतवर मध्यवर्ती वर्ग के निर्माण में मदद मिली जिसका आर्थिक और राजनितिक सत्ता पर काफी वर्चस्व था। चूँकि भूस्वामी ब्राह्मणों की संख्या में उत्तरोत्तर व द्धि होती गई, अतः उनमें कुछ धीरे-धीरे पुरोहितों का काम छोड़कर भूमि प्रबंध तथा अन्य सांसारिक गतिविधियों पर अधिक ध्यान देने लगे।

राजस्व अधिकारियों को भूमि अनुदान के रूप में मेहनताना दिया जाएगा, मनु के इस नियम को शांति पर्व तथा एक गुप्तकालीन धर्मशास्त्र में पुनः प्रस्तुत किया गया है। किंतु किसी अभिलेखीय साक्ष्य से इसकी पुष्टि नहीं होती। इस प्रथा को एक हद तक फाह्यान के एक अवतरण से समर्थन प्राप्त होता है। किंतु इस अंश का अनुवाद संदिग्ध है। इसके अनुसार राज के नौकरों, रक्षकों, परिचारकों सभी को परिलब्धियाँ (emoluments) मिलती हैं, किंतु सभी संदर्भो में 'परिलब्धियाँ' शब्द भूमि अनुदान के अर्थ में नहीं लिया जा सकता।

कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि बंगाल तथा भारत के अन्य भागों में भूमि-अनुदान की जो प्रथा थी वह केवल खेतीवाली भूमि और ग्रामीण बस्तियों तक सीमित नहीं थी। उत्तरी और पूर्वी बंगाल के कुछ भूखंडों और मध्य प्रदेश के कुछ गाँवों के संदर्भ में यह बात सच हो सकती है किंतु गंगा द्रोणी, गुजरात और महाराष्ट्र में सामान्यतः बसे हुए गाँव और कृषि वाली भूमि ही दान में दी जाती थी। कई मामलों में पुरोहितों को अनुदान में गाँव देने की सूचना ब्राह्मणों तथा अन्य ग्रामवासियों को दे दी जाती

थी। इससे यह पता चलता है कि ब्राह्मणों को गाँव में अग्रणी कृषकों के रूप में दाखिल नहीं किया गया था। पुनः गाँव और कृषि क्षेत्र, उद्रंग और उपरिकर के साथ दे दिए जाते थे, जिसमें सभी प्रकार की देयताएँ शामिल थीं। साथ ही किसी भी तरह की भेंट, बेगार तथा विशेषाधिकार से वे मुक्त थे और सैनिक या सिपाही भी उनमें प्रवेश नहीं करते थे। इस तथ्य से यह संकेत मिलता है कि ये क्षेत्र बसे हुए थे। इस युग के अधिकतर भूमि-अनुदानों में (इनमें गुजरात एवं महाराष्ट्र के भूमि अनुदान भी शामिल हैं) अप्रहत, खिल, भूमिच्छिद्रन्याय, और अवनिरन्ध्रन्याय, शब्दों का (जो परती भूमि के सूचक हैं) परंपरागत अर्थ में ही प्रयोग किया गया था। आर०एस० शर्मा के अनुसार -

देश के कुछ भागों में भूमि-अनुदान की प्रथा के परिणामस्वरूप भूमि का विखण्डन हुआ। उत्तरी बंगाल में डेढ़ कुल्यवाप भूमि भी चार अलग-अलग स्थानों पर छोटे-छोटे भूखंडों के रूप में खरीदनी पड़ी, इसका कारण यह हो सकता है कि लोग अपनी भूमि से विलग नहीं होना चाहते थे। किंतु इससे यह संकेत मिलता है कि भूमि की कमी थी और इस पर जनसंख्या का दबाव बढ़ता जा रहा था। कुल्यवाप की माप कुछ भी क्यों न रही हो (जो सुझाव आए हैं वे 1 से 14 एकड़ तक हैं), अब न तो हम बुद्धकालीन 500 या 1000 एकड़ के क्षेत्रों के बारे में सुनते हैं, न मौर्यकालीन बड़े-बड़े राजकीय फार्मों के बारे में। कलचुरि-चेदि युग के अभिलेखों में उल्लिखित भूखंडों से, बड़े-बड़े भूखंडों का संकेत नहीं मिलता। गुजरात में वल्लभी के मैत्रक शासकों द्वारा दिए गए भूमि अनुदानों के संदर्भ में भी यही बात कही जा सकती है। हालाँकि दान हेतु खरीदने के लिए कभी-कभी 4 कुल्यवास का भूखंड भी उपलब्ध था, फिर भी अनेक दान छोटे-छोटे भूखंडों के ही किए जाते थे। इससे न केवल मौजूदा खेतों के आकार की कमी आती जा रही थी, वरन छोटे-छोटे आकार के नए खेत बनते जा रहे थे। इस बँटवारे की प्रक्रिया से विभाजन को बढ़ावा मिला। मनुस्म ति में ही नहीं, बल्कि याज्ञवल्य भी आरंभिक उत्तराधिकार के बारे में जो कानून दिए गए हैं उनमें भूसंपत्ति के बँटवारे का कोई उल्लेख नहीं है। पहले-पहल इसका उल्लेख नारद और ब हस्पति ने संहिताओं में किया गया है। इस प्रकार गुप्तकाल के मध्य या उसके अंत की ओर बड़े-बड़े संयुक्त कृषक परिवार, जिनके पास बड़ी-बड़ी जमीनें थीं, टूटकर छोटी-छोटी इकाइयों का रूप ग्रहण करने लगे। उत्तर भारत की उपजाऊ नदी घाटी में जनसंख्या का घनत्व बढ़ता जा रहा था, इसलिए जैसे ही भूमि के बँटवारे को मान्यता मिली, भूमि का विभाजन और तेज हो गया।

चूँकि ब्राह्मणों के पास अनेक भूखंड थे अतः वे उन पर स्वयं खेती नहीं कर सकते थे - हालाँकि उस समय की कुछ स्म तियों के अनुसार वे कृषि कर्म अपना सकते थे और उनका ऐसा करना सर्वथा वैध था। हस्तांतरण की शर्तो से यह प्रकट होता है कि अनेक संदर्भों में अनुदान में प्राप्त भूमि पर ब्राह्मण स्वयं खेती नहीं करते थे, पर खेती अल्पकालिक किसानों से करवाते थे। महाराष्ट्र और गुजरात में चौथी से छठी के बीच के अधिकारपत्रों (चार्टरों) में साफ-साफ यह व्यवस्था है कि भूमि प्राप्त करनेवाले को यह अधिकार दिया जाता है कि वह भूमि का स्वयं उपयोग करे, दूसरों को उपभोग करने दे, उस पर खेती करे या दूसरों को पट्टे पर खेती करने दे। अतः संभव है कि कुछ पुरोहित भूमि को स्वयं जोतते हों, किंतु इतना तय है कि मंदिर और ज्यादातर ग्रहीता दूसरों से खेती कराते थे। फाह्यान के अनुसार मठों या विहारों को खेतों के साथ-साथ उन पर खेती करने के लिए किसान और बैल-मवेशी भी दिए थे। अभिलेखों से पता चलता है कि अनुदान प्राप्तकर्ता कभी-कभी पुराने किसानों के स्थान पर नए किसान ला सकते थे और इस प्रकार अपने असामियों को निकाल सकते थे। इस प्रकार धार्मिक अनुदान की बदौलत पुरोहितों और मंदिर अपने अस्थायी तथा स्थायी असामियों से लगान वसूल कर सकते थे, और उस पूरी राशि को अपने पोषण के लिए रखते थे। उसका कोई भी भाग राजस्व के रूप में राजकोष में जमा नहीं करते थे - जबकि जागीरदारों और जमींदारों को कुछ अंश कराना होता था। बहरहाल, मठ-विहार के बाहर की जमीन के स्वामियों को उपज का छठवाँ राजस्व के रूप में देना होता था किंतु उनमें से कई दूसरों से खेती कराते थे। प्रतीत होता है कि ऐसे स्वतंत्र और स्थायी कृषक भू-स्वामियों की संख्या घटती जा रही थी जो स्वयं खेती

करते हों और राजस्व सीधें सरकार के पास जमा करते हों। फाह्यान के अनुसार जो राजा की जमीन जोतते हैं केवल वे ही लगान अदा करते हैं। और वे चाहे जहाँ जाने और रहने के लिए स्वतंत्र हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि शायद खासी बड़ी संख्या में से ऐसे किसान थे जो राज्य को राजस्व अदा नहीं करते थे, वरन धार्मिक या दुनियाबी क्षेत्र के तरह-तरह के मध्यवर्तियों को लगान अदा करते थे। कौटिल्य ने यह निर्देश दिया है कि नई बस्तियों में जो जमीन खेती के लायक बनाई गई हो उसे राजा किसानों को दे। किंतु याज्ञवल्क्य ने यह व्यवस्था दी है कि जमीन जमींदार (क्षेत्रस्वामी) द्वारा किसान को दी जानी चाहिए, राजा (महीपति) द्वारा नहीं हालाँकि मालिक (क्षेत्रस्वामी) की अनुपस्थिति में राजा ही जमीन में सुधार के फलस्वरूप पैदा होने वाले कंदमूल-फल का हकदार था। भूमि अर्थव्यवस्था के गठन में याज्ञवल्य तीन चरणों का समावेश करते हैं, महीपति (राजा), क्षेत्रस्वामी (जमींदार) और कृषक (किसान)। मोटे तौर पर ब हस्पति ने भी इसकी पुष्टि की है। एक परवर्ती स्म तिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि स्वामी राजा वस्तुतः जमीन जोतनेवाले के मध्यवर्ती चरण में आनेवाला व्यक्ति है। ये स्वामी या जमींदार अस्थायी किसानों को जमीन पट्टे पर देते थे और किसान यदि खेती में लापरवाही करें तो उन्हें दंडित किया जा सकता था। इस तरह के अपने असामियों से वसूले गए लगान के आधार पर जीवनयापन करते थे। ये विभिन्न प्रकार के मध्यवर्ती किस हद तक जमीन के मालिक थे, यह निर्धारण करने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। किंतु यह तय है कि उनकी संख्या इतनी काफी थी कि उन्होंने सामंतवाद के उदय का आर्थिक आधार तैयार किया।

यह स्वाभाविक ही है कि एक तरह के सबसे बड़े जमींदार होने की वजह से राजा बिना किसी कठिनाई के ब्राह्मणों तथा अन्य लाभभोगियों को भूमि का दान कर सकता था। इसलिए इस प्रथा से जमींदारों के एक ऐसे वर्ग का निर्माण हुआ जिस का भूसंपत्ति में मालिकाना हक था। यह हक उन्हें पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था। अतः इस समय में हम एक ऐसे वर्ग को उभरते हुए देखते हैं जिसके पास सामंती संपत्ति थी और साथ ही सामंती अधिकार भी थे। ऐसे जमींदार इससे पहले किसी भी चरण में नहीं मिलते। बुद्ध के काल में हम कुछ संपन्न जमींदारों के बारे में उल्लेख मिलते हैं, किंतु वे दासों या खेतिहर मजदूरों के श्रम से अपने फार्मो की व्यवस्था करते थे। आर. एस. शर्मा के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यो के राजकीय फार्मों का प्रबंध भी ऐसे ही होता था। मौर्यपूर्व तथा मौर्यकाल में हमें कुछ ऐसे ब्राह्मण दिखाई देते हैं जो गाँवों के राजस्व का उपभोग करते थे। किंतु गुप्त और गुप्तोत्तर काल में भूमि अधिकारपत्रों द्वारा बड़ी-बड़ी भूसंपदा वाले बड़े वर्ग का निर्माण हुआ, जिसे न केवल कर वसूल करने का वरन् कानून और व्यवस्था स्थापित करने का भी अधिकार था। उदाहरण के लिए, राजा के कारिदें उस जमीन में प्रवेश नहीं कर सकते थे जो ब्राह्मण लाभभोगी को अनुदान के रूप में मिली हो। साथ ही यह लाभभोगी, परिवार और संपत्ति के विरुद्ध अपराधों का निपटारा भी कर सकता था। इन सबसे लाभभोगियों का धार्मिक वर्ग बहुत शक्तिशाली हो गया क्योंकि आध्यात्मिक एवं वैचारिक तंत्र पर अपने नियंत्रण के अलावा उन्हें राजकोषीय, आर्थिक और प्रशासनिक अधिकार भी मिल गए।

भूमि-अनुदानों का एक अन्य परिणाम था जमीन पर कृषक वर्ग के अधिकार का क्षरण और साथ ही जंगलों, चारागाहों, मछली पकड़ने, जलाशयों आदि पर सामूहिक अधिकारों में कमी। जनजातीय क्षेत्रों और पुराने जातिप्रधान क्षेत्रों, इन दोनों में ही कृषक वर्ग की स्थिति दासों जैसी हो गई। कुछ क्षेत्रों में विशेषरूप से जहाँ श्रमिकों या उत्पादन में लगी जनसंख्या की कमी थी, उन्हें खास तौर से लाभभोगियों के पास हस्तांतरित कर दिया गया तथा लोगों से यह कहा गया है कि वे अनुदान किए गए गाँव में ही रहें और अपने नए मालिकों के आदेश का पालन करें। उन्हें बेगार का शिकार भी बनना पड़ता था, किंतु बेगार की यह नौबत कभी-कभी ही आती थी और केवल खाद्य सामग्री ले जाने, सैन्य कार्य, सड़क निर्माण आदि तक ही सीमित थी। इसी वजह से कृषक वर्ग की स्थिति में गिरावट आई। मौके पर मौजूद होने की वजह से ये लाभभोगी किसानों का ज्यादा कारगर ढंग से शोषण कर सकते थे। साथ ही विभिन्न सामूहिक स्रोतों जैसे जलाशयों, नदियों, चारागाहों, जगंल, पेड़-पैधों आदि में

अनाधिकार हस्तक्षेप कर सकते थे। इन चीजों का गाँववाले अब तक बेरोक-टोक उपभोग करते थे।

भारतीय सामंतवाद का प्रमाण-चिह्न था जमींदारों के विशाल फार्मों या जागीरों का अभाव और छोटे स्तर के किसानी उत्पादन की प्रधानता। किसान अपने भूखंड पर क्या उत्पादन करें। यह जितना उसकी आजीविका की जरूतरों से निर्धारित होता था उतना ही लाभभोगियों की कर की माँग से। यहाँ इस बात पर बल देने की जरूरत है कि यूरोप तथा भारत दोनों जगह हमेशा विद्यमान लाभभोगी लोग किसानों से सभी तरह के करों की माँग करते थे। ऐसा ही उन्हें जारी किए गए राजकीय अधिकारपत्रों के बल पर करते थे। किंतु जमीन, बैल और अन्य कृषि-उपकरण चूँकि किसानों के वास्तविक अधिकार में थे, अतः नवोदित जमींदारों और स्थापित किसानों के बीच टकराव और खींचातानी लाजिमी थी। किंतु कुल मिलाकर धार्मिक तथा वैचारिक प्रचार के द्वारा कृषक असंतोष को संयत कर लिया जाता था। इसके बावजूद यदि किसान यह महसूस करते थे कि स्थिति असहनीय हो गई है तो वे किसी परती भूमि वाले क्षेत्र में जा सकते थे और नए गाँवों की स्थापना करके उत्पादन की मौजूदा इकाइयों में व द्धि कर सकते थे।

शायद भूमि का अधिकतर भाग ऐसे मुक्त किसानों के अधिकार में बना रहा जो सीधे-सीधे राज्य को लगान अदा करते थे। उपज का निश्चित भाग राज्य को नियमित कर के रूप में देने के अलावा, किसानों पर विविध प्रकार के अन्य कर भी लगाए जाते थे, जैसे उद्रंग (सीमाकर), उपरिकर (उपरिक पदनाम के मंडल अधिकारी को दिया जानेवाला कर) और हिरण्य (नकद अदायगी)। इसके अतिरिक्त, राजकीय सेवा और अधिकारी जब किसी क्षेत्र से गुजरते थे तो संबद्ध गाँवों के लोगों को उन्हें न केवल भाँति-भाँति के कर देने होते थे वरन् शायद सैन्य उद्देश्यों के लिए उन्हें सभी तरह की बेगार (सर्वविष्टि) भी करनी पड़ती थी। इन सबसे निस्संदेह किसानों की स्थिति में गिरावट आई।

स्थानीय अधिकारी धीरे-धीरे आर्थिक सत्ता ग्रहण करते जा रहे थे। वात्स्यायन से हमें यह जानकारी मिलती है कि किसानों की औरतों को गाँव के मुखिया अनाज अनाज भंडारों को भरने, चीजों को घर के अंदर या बाहर ले जाने, उसके आवास की सफाई, और साज-सज्जा करने, उसके खोतों में काम करने और उसके कपड़ों के लिए सूत, ऊन, या सन का धागा कातने के लिए विवश किया जाता था, ताकि स्थानीय स्रोतों से ही कपड़ों की आपूर्ति होती रहे। इस तरह से उत्पादित कुछ चीजों की बिक्री भी की जाती थी ताकि गाँववालों की सामान्य आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। व्यापार एवं उद्योग के बारे में मौर्यकालीन राज्य विनिमय के स्थान पर अब स्थानीय आर्थिक इकाइयों के प्रधान इन मामलों का प्रबंध देख रहे थे, जो केंद्र के नियंत्रण से सर्वथा मुक्त थे।

संगठनात्मक गतिविधियों को लेकर जो व्यापक कानून बनाए गए थे उन्हें भी उत्पादन की स्थानीय और 'स्वायत्त' इकाइयों के उदय के साथ जोड़ा जा सकता था। जैसा कि आर. एस. शर्मा कहते हैं, गुप्तकालीन स्म तियों में व्यापार में हिस्सेदारी और श्रेणियों की कार्यविधि को लेकर विस्त त नियम निर्धारित किए गए हैं। ये निगमित निकाय न केवल महत्त्वपूर्ण आर्थिक गतिविधियाँ, जैसे संयुक्त करार निभाना, व्यापारिक गतिविधियों में प्रव त्त होना, रकम जमा स्वीकार करना आदि संपन्न करते थे, वरन् अपने सदस्यों के संदर्भ में न्यायिक एवं प्रशासनिक कार्य भी संपादित करते थे। इस काल के अभिलेखीय साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि ये श्रेणियाँ न केवल सिक्के और मुहरें जारी करती थीं, वरन् नागरिक सेना भी रखती थीं। कलचुरि अभिलेखों के अनुसार यह सेना श्रेणिबल कहलाती थी। ये श्रेणियाँ उत्तरोत्तर स्वायत्त होती जा रही थीं, जिससे उन्होंने उत्पादन तथा राजनीतिक सत्ता की स्वतंत्र इकाइयों का रूप ग्रहण कर लिया था।

मुद्रा उत्पादन की स्थानीय इकाइयाँ अस्तित्व में आ रहीं थीं, इसका अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि गुप्तकाल के बाद से सामान्य उपयोग के सिक्कों में काफी कम आ गई थी। और क्षेत्रीय इकाईयाँ, जिनका आधार या तो नगरों में था या गाँव में अपनी पहचान स्थापित की जो उनका आर्थिक रूप से विकास सक्षम होना इंगित करता है।

अध्याय-3
प्रारंभिक मध्यकालीन अर्थव्यवस्था
(Early Medieval Economy)

प्रारंभिक मध्यकाल भारत के इतिहास में एक नए युग का द्योतक है। गुप्तकाल से प्रारंभ हुए परिवर्तन अब स्पष्ट आकार ले चुके थे। यह वह काल है जिसमें भारत के इतिहास में प्राचीनकाल का अन्त होता है तथा 8 – 10 वीं सताब्दी के लगभग भारत के इतिहास में प्रारंभिक मध्यकालीन युग का प्रादुर्भाव होता है। एक युग से दूसरे युग में परिवर्तन एक शासक वंश से दूसरे शासक वंश में मात्र सत्ता का परिवर्तन जैसा परिवर्तन नहीं था वरन् यह वह परिवर्तन था जिसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक धार्मिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में सभी विभिन्न पक्षों में महान परिवर्तन हुए और ये परिवर्तित राज्य व्यवस्था का स्वरूप सामंतीय सामन्तवाद राज्य व्यवस्था अर्थात सामन्तवाद का आकार लेता जा रहा था। यद्यपि भारतीय सामंत्त्वाद की तुलना यूरोपीय सामंत्त्वाद से नहीं की जा सकती क्योंकि भारतीय सामन्तवाद अपनी ही विशेषताएँ लिए हुए था जो कि, जैसा कि आर. एस. शर्मा कहते हैं, भूमि अनुदान पर मुख्यतः आधारित।

(क) प्रारम्भिक/पूर्व मध्यकालीन अर्थव्यस्था की विशेषताएँ
(Salient features)

1. **कृषि अर्थव्यवस्था** - पूर्व मध्यकाल में कृषि संगठन तथा कृषि अर्थव्यवस्था काफी पेचीदा थी। इस काल में कृषि का विकास और भूमि-संबंधों का संगठन भूमि अनुदान के माध्यम से हुआ। इस अनुदान प्रक्रिया की शुरुआत प्रथम शताब्दी से बाह्यदया तथा अग्रहार बस्तियों से हुई और बारहवीं शताब्दी तक व्यावहारिक रूप से यह पूरे उपमहाद्वीप में फैल गई। चौथी पाँचवी सदी तक मध्य भारत, उत्तर दक्कन और आंध्र के बड़े हिस्से में विस्तार, पाँचवीं से सात्त्वीं शताब्दी तक पूर्वी भारत अर्थात् बंगाल तथा उड़ीसा, पश्चिमी भारत अर्थात् गुजरात व राजस्थान, सात्त्वीं-आठवीं सदी तक तमिलनाडु और कर्नाटक, नवीं शताब्दी तक केरल, बारहवीं सदी के अन्त तक पंजाब को छोड़कर लगभग पूरे प्रायद्वीप में फैल गई। भु-अनुदान क्रिया को पाप तथा पुण्य के साथ जोड़कर धर्मशास्त्रकारों ने भू-अनुदान कार्य को प्रोत्साहित किया। ब्राह्मणवादी ग्रंथों में ब्राह्मणों को दान या उपहार देना पुण्य कमाने का और पाप को नष्ट करने का सबसे सही तरीका बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों को जीविका उपलब्ध कराने के लिए यह एक पहले से सोची-समझी कोशिश है। गुप्त काल के बाद की सदियों की सभी स्म तियों और पुराणों में ब्राह्मणों को खेती की जमीन अनुदान देने और ताँबे के स्म ति पत्रों पर जमीन दान दर्ज करने की बात की गई है।

दान में दी जानेवाली कई प्रकार की वस्तुएँ होती थीं -

- खाद्यान्न, अनाज, धान इत्यादि,
- चल सम्पत्ति जैसे सोना, मुद्रा इत्यादि, और
- अचल सम्पत्ति जैसे खेती की जमीन, बाग और रहने योग्य जमीन।

दान की वस्तुओं के अंतर्गत हल, गायें, बैल भी आते थे। ब्राह्मणों को दिए जानेवाले दानों में जमीन का दान सबसे उत्तम माना जाता था। दान के दुरुपयोग की स्थिति में अभिशाप का भागी बनने के भय या ब्राह्मणों को दी गई दान की जमीन को वापस लेने की प्रथा ने दान की प्रक्रिया को बनाए रखा। इस प्रकार भूमि अनुदान धर्मशास्त्र में प्रतिपादित एक निश्चित कानूनी तरीके के अनुसार दिया जाता था।

प्रारंभ में भूमि अनुदान मुख्यतः वैदिक पुजारियों (श्रोत्रिय अग्नि पुजारी) को दिया जाता था। लेकिन पाँचवीं से तेरहवीं सदी के बीच मंदिर के पुजारियों को भी भूमि अनुदान दिया जाने लगा। आठवीं सदी के बाद कृषि विस्तार और संगठन में मंदिर एक संस्थान के रूप में एक केन्द्रीय भूमिका अदा करने लगा। दक्षिण भारतीय संदर्भ में मंदिर को दिए गए अनुदान चाहे वह भूमि भागों, पूरे गाँव के रूप में हो, देवदान के नाम से जाने जाते हैं। यह बात जोर देने लायक है कि जो प्रक्रिया एक फुहार के रूप में शुरू हुई थी वह बाद में एक शक्तिशाली धारा बन गई। भू-सम्पत्ति प्राप्त करना सिर्फ ब्राह्मणवादी मंदिरों तक ही सीमित नहीं था। गैर ब्राह्मणवादी धार्मिक संस्थान, जैसे बौद्ध या जैन विहार (समोहा और बसाढ़ी) भी विशेषकर कर्नाटक, आंध्र, गुजरात और पूर्वी भारत (बिहार और उड़ीसा) में जमींदार बनने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करने लगे। भूमि अनुदानों की संख्या में व द्धि गुप्त तथा विशेषकर उत्तर-गुप्तकाल में हुई तथा सम्पूर्ण देश में इसका प्रसार हो गया। भूमि-अनुदानों को राजाओं, सरकारों, राज्य परिवार के सदस्यों और उनके सामंतों द्वारा, ब्राह्मणों और मंदिर जैसी धार्मिक संस्थानों एवं मठों को व्यापक स्तर पर किया जाता था। इससे पूर्व दक्कन में सात्त्वाहनों ने इन अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को केवल लगान वसूल करने के अधिकार दिए थे। परन्तु पाँचवीं शताब्दी ई. से न केवल इन भूमि-अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को भू-राजस्व (लगान) वसूल करने का अधिकार मिल गया अपितु इन क्षेत्रों में स्थित खानों से प्राप्त होनेवाले खनिज पदार्थों को भी उनके अधीन कर दिया गया। दान की गई भूमि, गाँव और गाँवों को राजकीय अधिकारियों एवं सिपाहियों के हस्तक्षेप से मुक्त कर दिया गया। अंततः राजाओं और राजकुमारों ने इन अनुदान ग्रहीता ब्राह्मणों को यह अधिकार भी दिए कि वे उन सभी अपराधों के लिए दण्ड दे सकते थे जो परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्ति विशेष के विरुद्ध किए गए हों तथा यहाँ तक कि उनको आर्थिक दण्ड देने और और इसको प्राप्त करने का भी विशेष अधिकार दिया गया।

राज्य के अधीनस्थ विभिन्न वर्गों के अधिकारियों को सेवा के लिए भूमि-अनुदान धार्मिक अनुदानों की अपेक्षा काफी कम दिया जाता था। समकालीन धर्मशास्त्रों के साहित्य में यह अनुमोदन किया गया है कि राज्य के अधिकारियों को वेतन के बदले भूमि-अनुदान या भू-राजस्व को एकत्रित करने का अधिकार दिया जा सकता था। गैर-धार्मिक अनुदानों की संख्या इस काल में कितनी थी इसके वास्तविक तथ्यों के बारे में विवरण देना इस इकाई का उद्देश्य नहीं है। आगामी समय अर्थात् 9–10 वीं ई. सदी में इनकी संख्या में अवश्य व द्धि हुई। इन अनुदानों में भी उसी प्रकार को छूटें एवं अधिकार दिए गए जो ब्राह्मणों, मंदिरों एवं मठों के लिए दिए गए थे।

अन्य बातों के साथ-साथ, भूमि-अनुदानों की यह प्रक्रिया भूमि पर अधिकारों क प्रश्न, किसान की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों, नगरों में दस्तकारों तथा व्यापारियों के स्वतंत्र संगठन के अधिकार और बंद अर्थव्यवस्था के उदय का एक अभिप्राय थी। जिन ग्रामों एवं नगरों का अनुदान किया जाता उनके निवासियों को बहुत से कर अदा करने के साथ-साथ दान प्राप्तकर्त्ताओं की आज्ञा का अनुसरण करने के लिए भी कहा जाता। समुद्रगुप्त को आरोपित करते हुए, सात्त्वीं सदी के दो राजाओं के द्वारा कर देनेवाले किसानों एवं कारीगरों को अपना गाँव छोड़ने और कर से मुक्त ग्राम में बसने से मना किया गया। भूमि-अनुदान के साथ-साथ अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं के लाभ के लिए किसानों को भी देने की परम्परा का प्रारंभ छठी शताब्दी में मध्य भारत, उड़ीसा और गुजरात में हुआ तथा आठवीं सदी

के आसपास यह परम्परा भारत के बहुत से भागों में काफी सामान्य हो गई। इससे भी अधिक, कारीगरों एवं सौदागरों को अपने स्थानीय ग्राहकों तथा स्वामियों की सेवा के लिए अपने निवास स्थलों तक ही सीमित कर दिया गया। दक्कन एवं दक्षिण भारत में कारीगरों को मंदिरों तथा मठों को दिया जाने लगा। हवेन-त्सॉंग ने भी इस प्रकार के दानों के प्रमाण दिए हैं। व्यापारियों को स्थिति भी कोई विशेष अच्छी नहीं थी। पश्चिम-दक्कन भारत से छठी-आठवीं सदी के प्राप्त हुए कुछ राजपत्रों में उन प्रतिबधों का उल्लेख है जो व्यापारियों के कार्यों को सीमित करते हैं।

किसानों, कारीगरों और व्यापारियों को उनकी बस्तियों के साथ जोड़ देने तथा उनकी गतिविधियों पर विभिन्न प्रतिबंधों को लगा देने से एक ऐसा वातावरण बना जिसमें बंद अर्थव्यवस्था का उदय एक स्वाभाविक परिणाम थाँ

2. विभिन्न प्रकार की कृषि बस्तियों का स्वरूप

ब्रह्मदेयः ब्राह्मणों को भूमि अनुदान में मिले खेत या पूरे गाँव को ब्रह्मदेय अनुदान कहा जाता है। जिससे वे भू-स्वामी या भू-नियंत्रक हो जाते हैं। इसका मतलब खाली जमीन को खेती में लाना था। मौजूद खेतों को ब्राह्मणों द्वारा प्रभावित नई अर्थव्यवस्था में लाना था। इन ब्राह्मणों ने विभिन्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों को नौकरी के जरिए और वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत जातीय समूह के जरिए नई अर्थव्यवस्था में लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उदाहरण के तौर पर शूद्रों को कृषक वर्ग में लाने के लिए तत्कालीन ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था में तार्किक रूप देने की कोशिश की।

ब्रह्मदेय के रूप में भूमि अनुदान के प्रचलन की शुरुआत शासक वंशों द्वारा की गई और उसके बाद छोटे राजा और सामंत आदि भी इसका अनुसरण करने लगे। ब्रह्मदेय अनुदानों के कृषि के विस्तार में सहायता क्यों की?

- उन्हें बहुत से करों और देयों से पूरी तरह या कम-से-कम प्रारंभिक व्यवस्था में छूट मिली हुई थी।
- उन्हें बहुत तरह के विशेषाधिकार (परिहार) मिलते थे।

शासक परिवार संसाधन के आधार में विस्तार से आर्थिक लाभ पाते थे। इसके अलावा ब्रह्मदेय अनुदान देने से उन्हें अपनी राजनीतिक सत्ता के लिए वैचारिक आधार मिलता था। दक्षिण भारत के संदर्भ में ऐसा देखा जाता है कि ब्रह्मदेय के रूप में जमीन या तो एक ब्राह्मण को या कई ब्राह्मण परिवारों को, जो कि कुछ से लेकर कई सौ और कभी-कभी हजार से ज्यादा होते थे, दी जाती थी। ब्रह्मदेय आवश्यक रूप से बड़े सिंचाई के साधन जैसे तालाब या झील के निकट होते थे। ऐसा अक्सर देखा जाता था कि जब ब्रह्मदेय अनुदान दिए जाते थे तो उस भूमि के निकट नए सिंचाई के साधनों का निर्माण किया जाता था। यह कार्य सूखे और अर्द्ध सूखे क्षेत्रों में या उन इलाकों में विशेषकर किया जाता था जो वर्षा पर निर्भर थे। नदी घाटी क्षेत्रों में जहाँ अधिक खेती होती है, वे कम उत्पादन के क्षेत्रों को साथ मिला दिया करते थे। कभी-कभी दो या अधिक बस्तियों को साथ जोड़कर एक ब्रह्मदेय या एक अग्रहार बना दिया जाता था। उन गाँवों से कर वसूलने का अधिकार भूमिदान करने वाले ब्राह्मणों को दे दिया जाता था और उन्हें दान में मिली जमीन पर खेती करने का अधिकार भी मिल जाता था। दान में दी गई जमीन या गाँव की सीमाएँ प्रायः बड़ी सावधानी से तय की जाती थी। गाँव के अन्दर भी सभी किस्म की जमीन जैसे - नम, सूखी और बाग आदि का विवरण भी दिया जाता था। कभी-कभी विशेष फसल और पेड़ों का उल्लेख भी होता था। जमीन दान का मतलब भूमि अधिकार के हस्तांतरण से ज्यादा होता था जैसे कई मामलों में गाँव की राजस्व और आर्थिक संसाधनों के साथ-साथ मानव संसाधन जैसे - किसान, कारीगर और दूसरे लोगों को भी दान पानेवाले के नाम हस्तांतरित कर दिया जाता था। ऐसे भी प्रमाण मिले हैं जिसमें गाँव के लोगों की सामुदायिक जमीन

या तालाब और झील पर अतिक्रमण कर लिया जाता था। इस तरह ब्राह्मण लोग इन बस्तियों में कृषि उत्पादन के प्रबन्धक हो गए और इसके लिए उन्होंने अपनी सभायें संगठित कर लीं।

3. गैर धार्मिक अनुदान

सातवीं सदी के उपरान्त राजकीय अधिकारियों को भी भूमि के रूप में वेतन दिया जाने लगा। इसका विशेष महत्त्व है क्योंकि इससे एक दूसरे जमींदार वर्ग का उदय हुआ जो ब्राह्मण नहीं थे।

प्रशासनिक अधिकारियों को जमीन दान देने का उल्लेख काफी प्रारंभ में 200 ई॰ (मनु के सयम में) मिलता है। लेकिन इसका ज्यादा प्रचलन गुप्त काल के बाद हुआ। मध्य भारत, राजस्थान, गुजरात, बिहार और बंगाल के साहित्यिक ग्रंथों से पता चलता है कि मंत्री, रिश्तेदार और वैसे लोग जो रक्षा सेवाओं में संलग्न थे उन्हें दसवीं से बारहवीं सदी में कई तरह के अुनदान दिए गए। पाल भूमि चार्टर में उल्लेखित राजा, राजपुत्रा, राणका और महासामंत लोग मुख्यतः जमीन से जुड़े हुए जागीरदार थे। एक क्षेत्र के अधिकारियों को मिले अनुदान अलग-अलग होते थे। उदाहरण के तौर पर हम आधा दर्जन परमार अधिकारियों के बारे में सुनते हैं परन्तु उनमें से कुछ को ही जमीन अनुदान के रूप में मिली थी। गुजरात के चालुक्यों के अधीन ऊँचे अधिकारियों और सामंतों को बहुत बड़े भू-क्षेत्र अनुदान के रूप में दिए गए। प्राप्त प्रमाण यह बताते हैं कि असम, बंगाल और बिहार में कुल मिलाकर जो अनुदान दिए गए, उनसे अधिक अकेले उड़ीसा में दिए गए। इसके अलावा अधिकारियों को विशेषाधिकार मिले जिसके अंतर्गत वे विशेष वसूली प्राप्त कर सकते थे। इनकी अवधि तय नहीं थी परन्तु यह निश्चित रूप से ऐसे विचौलिए पैदा करते थे जिनकी पट्टेदारों की जमीन में रुचि होती थी।

4. देवदान

अभिलेखों से यह विशेष प्रमाण मिलता है कि ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण धार्मिक प्रतिष्ठानों को उपहार मिलते थे। ये स्थान कृषि बस्तियों के लिए केन्द्र बिन्दु का काम करते थे और संस्कृति संक्रमण के जरिए किसान बस्तियों के और जनजातीय बस्तियों को एकीकृत करते थे। मंदिर की जमीन पट्टे पर पट्टेदारों को दी जाती थी जो उपज का एक बड़ा हिस्सा मंदिर को देते थे। ऐसी जमीन अग्रहार व्यवस्था के ब्रह्मदेय या महाजनों की सभा द्वारा संचालित की जाती थी। गैर-ब्राह्मण बस्तियों में भी मंदिर मुख्य संस्थान बन गए। मंदिर की जमीनें गैर-ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई मंदिर कार्यकारिणी समिति से संचालित होती थी जैसे तमिलनाडु के विलालाज और कर्नाटक व आंध्र के ओकालू, कम्पलू आदि। जाति संघ मंदिर के इर्द-गिर्द काम करता था जिसमें विभिन्न वर्गों को जाति और कर्मकाण्डी स्तर दे दिया गया था। इस प्रक्रिया में वैसे लोग जिन्हें अशुद्ध और निम्न पेशे वाला समझा जाता था वे अछूते समझे जाने लगे। उन्हें मंदिर में नहीं आने दिया जाता था और उन्हें बस्ती के बाहर उहने को जगह दी जाती थी।

मंदिर की जमीन की देखरेख ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण भू-पति अभिजात्य वर्ग करते थे। स्थानीय इकाइयों जिसमें भूमिपति अभिजात्य वर्गों का वर्चस्व था, सिंचाई के साधनों को नियंत्रित करती थीं। इस तरह ब्राह्मण, मंदिर, गैर-ब्राह्मण, जमींदार, नौकरी प्रदान करनेवाले तथा भूमि पर विशोषाधिकार रखनेवाले वर्ग प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि व्यवस्था में प्रमुख स्थान रखते थे।

नए भूमिपति अभिजात्यों के अंतर्गत परिवारों के प्रधान और स्थानीय किसानों के प्रमुख, जिन्हें कानूनी अधिकार अर्थात् देखरेख करने और स्वामित्व का अधिकार था, आते थे। दूसरे शब्दों में राजा और वास्तविक उत्पादक के बीच में विचौलियों का वर्ग उभरकर आ गया।

5. भूमि अधिकार

भूमि अनुदान का एक महत्त्वपूर्ण पहलू अनुदान पानेवाले को दिए गए अधिकार हैं। दिए जानेवाले

अधिकारों में वित्तीय और प्रशासनिक अधिकार भी हैं। करों में भूमि कर जो राजस्व का एक बड़ा हिस्सा था और जिसे राजा या सरकार को दिया जाता था, जमीन प्राप्त करनेवालों को सौंप दिया गया। ऐसी परिहार या छूट जिनका संदर्भ ताम्रपत्र और शिलालेखों में मिलता है जिसमें छूट की बात दर्ज की गई है और जो वास्तव में राजा को देय होती थी उसमें अदायगी पाने का अधिकार जमीन पानेवालों को हस्तांतरित कर दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह धर्मशास्त्रों के आधार पर किया गया जो भूमि पर राजा के अधिकार को स्थापित करना चाहते थे और ऐसे अनुदान को उचित ठहराते थे जिससे बिचौलियों का उदय हुआ।

हालाँकि इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि प्रारंभिक बस्तियों में भूमि अधिकार का आधार सामूहिक भी होता था लेकिन निजी स्वामितव या अधिकार का इस बात से पता चलता है कि जमीन पानेवाले को जमीन दे देने या हस्ताँतरित करने का अधिकार था। उन्हें इस बस्तियों में दूसरे वंशानुगत लाभ भी मिलते थे। भूमि उपहार अक्सर जमीन खरीदने के बाद दिए जाते थे। संभवतया धार्मिक और गैर-धार्मिक दोनों प्रकार के वंशानुगत स्वामित्त्व का विकास ऐसे अनुदानों से हुआ।

6. तकनीकी सुधार

सिंचाई व्यवस्था प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में सिंचाई के स्त्रोतों जैसे नहरों, झीलों, हौज (ततका, इरी) और कुओं (कूप और किनारु) की व द्धि हुई। क्षेत्रीय अध्ययनों से पता चलता है कि ग्रामीण बस्तियों के विस्तार में पानी के स्त्रोतों की सुलभता एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा। पश्चिमी राजस्थान में अरघट्टा कुएँ और बंगाल में स्त्रोत (पानी की नहर), पुष्करणी (तालाब), नदी, और दक्षिण कर्नाटक में केरेस या तालाब को भी गाँव की जमीन के हस्तांतरण के समय ध्यान में रखा जाता था। स्वाभाविक तौर पर पानी के स्त्रोतों को प्रमुखता देने से कृषि के विस्तार में मदद मिली। विभिन्न तरह के जल निकासी संयंत्रों की जानकारी थी जो कि मानव शक्ति व पशुओं द्वारा चलाए जाते थे। शिलालेखों द्वारा पता चलता है कि आठवीं और तेरहवीं सदी के बीच ऐसे कई सिंचाई के साधनों का निर्माण और रखरखाव किया जाता था, इनमें से कई झीलें और तालाब आधुनिक युग तक रहे। ब्रिटिश प्रशासन ने इनमें से कुछ की मरम्मत और विस्तार किया। ग्यारहवीं व तेरहवीं सदीं गुजरात व राजस्थान में सीढ़ी वाले कुएँ (वापीज) काफी लोकप्रिय थे। वे खेतों की सिंचाई के साथ-साथ पीने के पानी की भी आपूर्ति करते थे।

सिंचाई के साधनों में व द्धि सिंचाई तकनीक के विकास के कारण हुई। इस बात के प्रमाण मिले हैं कि इसके अंतर्गत बाढ़ नियंत्रण के अधिक तकनीकी और वैज्ञानिक उपाय किए गए। नदियों पर बाँध बनाने के साथ-साथ नहर, तालाब और झीलों के दोनों तरफ नालिकाएँ बनाई गई (जिनमें इच्छानुसार पानी रोका या छोड़ा जा सकता था।) नदी से नालिकाएँ निकाल कर मिट्टी के बाँध बनाकर बाढ़ को रोका जाता था जिससे पानी के स्त्रोतों का संचालन हो सके। राजतरंगिणी में खूया नामक कर्मचारी का उल्लेख है जिसने झेलम नदी के तट पर बाँध बनवाया और नहर निकलवाई जिस कारण अनाज की उपज में कई गुणा व द्धि हुई। चंदेल और परमार राजाओं ने बड़ी-बड़ी झीलों और तालाबों का निर्माण करवाया। चंदेल राजाओं ने कुछ उल्लेखनीय जलाशय जैसे राहिल्य सागर, कारित सागर बनवाए थे। परमारों द्वारा बनाए गए जलाशयों में भुंज सागर तथा भोज सागर प्रसिद्ध हैं।

गर्मियों मे जब नदी सूख जाती थी तब झील और जलाशय का उपयोग अर्ध-शुष्क और वर्षा वाले क्षेत्रों और नदी तटों पर किया जाता था। तमिलनाडु में जलाशय का निर्माण शासक परिवारों द्वारा किया जाता था और उसकी देखरेख स्थानीय संस्थान जैसे-सभा (ब्राह्मण सभा) और उर (गैर-ब्राह्मण सभा) द्वारा किया जाता था। तालाबों और झीलों का रख-रखाव स्थानीय सभाओं की विशेष समितियाँ करती थीं और इसके लिए कर लगाए जाते थे। बहुत से पल्लव शासकों को इस प्रकार

की सिंचाई सुविधाओं का निर्माण करने के लिए कीर्ति प्रदान की गई।

जब ब्राह्मणों को और मंदिरों को उपहार दिये जाते थे तब तालाब और कुओं को खोदने के लिए राजसी इजाजत दी जाती थी। नहर और झीलों के निर्माण और रख-रखाव के लिए जमीन का निर्धारण किया जाता था। तालाब खुदवाना, जमीन पाने वालों के लिए एक सुविधा और धार्मिक महत्त्व का काम समझा जाता था इसलिए धनी लोग भी तालाब बनवाते थे।

7. कृषि यन्त्रों में सुधार

कृषि यंत्रों में सुधार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। उदाहरण के तौर पर अजमेर से मिले दसवीं सदी के अभिलेख में बड़े हल का उल्लेख मिलता है। लोहे के फाल वाले हल का प्रचलन था। इसके अतिरिक्त फावड़ा, दरांती आदि कृषि उपकरणों का उल्लेख मिलता है। उसी तरह हानिकारक घास आदि की निराई के लिए विशेष पत्रों का उल्लेख मिलता है। व क्षार्थवेद में पौधों की बीमारियों को दूर करने का तरीका मिलता है। अभिलेखों और सहित्यिक ग्रथों में जल निकासी यंत्रों जैसे अरघट्टा और घाटियंत्र का उल्लेख मिलता है। अरघट्टा का उपयोग कुओं में नौवीं और दसवीं सदी में राजस्थान में किया जाता था। कश्यप की कृषिसूक्ति बताती है कि बैलों द्वारा चलाया गया घाटियंत्र सबसे अच्छा होता था और मानव शक्ति द्वारा चलनेवाला सबसे खराब, जबकि हाथियों द्वारा चलाया गया मध्यम कोटि का होता था। गुरूसंहिता और कृषिनरेश्वर जैसे ग्रंथों में मौसम संबंधी जानकारी, जिसका खेती में उपयोग होता था, मिलती है। कृषि पाराशर, उपवन विनोद और अग्नि पुराण के अध्ययन से पता चलता है कि फसल के लिए गोबर का ऊर्जा के रूप में प्रयोग किया जाता था। खेतों को नाप लिया जाता था तथा सीमा निर्धारण की जाती थी। उत्पादकता के अनुसार भूमि का विभाजन किया जाता था जैसे वाटीत, जो बोया गया हो, अकृष्ट जिसमें खेती न की गई हो। ऊसर, जहाँ बीज न उगता हो। ह्यूनत्साँग और 9 वीं 10 वीं शताब्दी के अरब लेखकों ने भूमि की उर्वरता तथा अनेक प्रकार के अन्नों के बहुतायत से पैदा होने का उल्लेख किया है। इसी प्रकार हर्षचरित में कई प्रकार से खेतों की जुताई का वर्णन है जैसे हल से जुताई करना, कुदाल से खुदाई करना तथा जंगलों को तेज हथियार से एवम् जलाकर साफकर जुताई करने योग्य बनाना। इसी प्रकार कृषि के बारे में व हत् संहिता, अग्नि पुराण, विष्णुधर्मेत्तर पुराण तथा कृषि पाराशर में जो कृषि सम्बन्धी दिशा निर्देश दिए हैं उनसे कृषि के बढते हुए महत्त्व की संपुष्टि होती है। पूर्व मध्यकालीन कृषक को साल में तीन फसल उपजाने और फसल चक्र के बारे में भी जानकारी थी इस तरह विकसित कृषि तकनीक का प्रयोग देश के सभी भागों में किया जा रहा था जिससे कृषि उत्पादन काफी बढ़ गया था ।

8. फसलों की किस्में एवम् पौधे

कृषि सम्बन्धी समसामयिक लेखों में 100 से ज्यादा अनाज जिसमें गेहूँ, जई, दालें भी हैं, विवरण मिलता है। सून्यापुराण के अनुसार बंगाल में 50 से भी ज्यादा किस्म की धान उगाई जाती थी, अमरकोष में, जिसकी रचना की तिथि गुप्त काल मानी गई है, अन्न से संबंधित बहुत सी किस्मों जैसे कि चावल, गेहूँ तथा मसूर, फलियों वाले अनाज, सब्जियों और फलों के नामों का उल्लेख है। ब हत्संहिता से स्पष्ट है कि लोगों को फलों के पौधों की कलम बाँधने के कार्य का ज्ञान था। ह्वेन्साँग ने चावल की किस्मों, सरसों, अदरक, बहुत से फलों तथा सब्जियों को उद्धत किया है। हर्षचरित में भी फसलों तथा पौधों के विषय में अच्छा-खासा विवरण है। विभिन्न प्रकार के चावल, गन्ना, सरसों, तिल, कपास, गेहूँ, जौ एवम् दालों का विवरण भी हमें हर्षचरित में मिलता है। विभिन्न प्रकार के मसालों जैसे कि हल्दी, लौंग, काली मिर्च और अदरक का भी उत्पादन होता था। सब्जियों में लौकी, खीरा, सेम, लहसुन, कद्दू आदि का उत्पादन होता था फलों में नारियल, सुपारी, कटहल, सन्तरा, महुआ और आम को उद्धत किया जा सकता है। पान की पत्तियों का भी उत्पादन होता था। इनमें से कुछ पौधों तथा

फलों को कुछ इस काल के अभिलेखों में उद्धत किया गया है। बाण की रचना हर्षचरित में व्यापक भौगोलिक क्षेत्र का विवरण है जिसके अंतर्गत गंगा के ऊपरी तथा मध्य मैदानों सहित असम, बंगाल एवं मध्य भारत को भी सम्मिलित किया गया है। इसलिए मध्य भारत के संदर्भ में बांसों, कपास के पौधों, सन व पटसन के गट्ठरों का उल्लेख किया गया है और बेंत, बास तथा रेशम का पूर्वी भारत के विषय में। पल्लवों तथा चालुक्यों के क्षेत्रों में, जो सामान्यतः तमिलनाडु, पश्चिमी दक्कन तथा कर्नाटक के हिस्सों में फैला हुआ था, चावल, ज्वार-वाज़रा, अदरक तथा गन्ने आदि की खेती होती थी। बस्तियों में राजशेखर हमें उत्तर बंगाल में बढ़िया गन्ने के बारे में बताता है। मार्कोपोलो मसालों के बढ़ते उत्पादन को इंगित करते हुए बताता है कि चीन के एक शहर में किस प्रकार हर दिन दस हजार पौंड काली मिर्च की खपत होती थी यूरोपीय बाजार में भारत की अदरक भी मांग का भी उल्लेख है। फलों में केले सहित कटहल, आम तथा नारियल का उत्पादन होता था। यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि अनाजों, फलों तथा सब्जियों की किस्में एवं संख्या बहुत ही प्रभावित करनेवाली है। ग्रामीण बस्तियों में ब्राह्मणों तथा कारीगरों की उपस्थिति, भूमि की पुनः तकनीकी में कुछ निश्चित परिवर्तनों और सिंचाई सुविधाओं के प्रसार ने अनाजों तथा पौधों के उत्पादन में व द्धि की। इन सब विकास कार्यो का परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में आश्चर्यजनक व द्धि हुई।

9. ग्रामीण बस्तियाँ

उपरोक्त वर्णित विकासों के प्रारंभिक मध्यकालीन भारत की ग्रामीण बस्तियों में स्थान किया। गाँवों के लिए सामान्यतः ग्राम शब्द का प्रयोग किया गया। परन्तु सभी ग्रामीण बस्तियाँ एक समान नहीं थी। हमें ऐसे दूसरे शब्दों के विषय में भी जानकारी है जो भिन्न प्रकार की ग्रामीण बस्तियों का प्रतिनिधित्व करते है। पालि को सामान्यतः आदिवासी गाँव के लिए प्रयोग किया जाता था। पटका से गाँव के एक भाग का बोध होता है। यह एक छोटे गाँव या पुरवा को इंगित करता है परन्तु वास्तव में यह एक बड़े गाँव का ही एक भाग था। एक ही गाँव की सीमाओं के अंतर्गत कई पटकों या पुरवों के पैदा हो जाने से स्पष्ट है कि कृषि का प्रसार हुआ। चरवाहों की बस्तियों को घोष कहा जाता था। परन्तु यह याद रखा जाना चाहिए कि ये शब्द जो विभिन्न प्रकार की बस्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे सदैव परिवर्तित होते रहते थे। कृषि एवं ब्राह्मणिक संस्कृति के प्रसार के कारण आदिवासियों की बस्तियों के चरित्र में भी परिवर्तित हो गया था।

बहुत से कारणों के एक साथ मिश्रित हो जाने के कारण कुछ गाँव ऐसी जगहों पर बस गए जहाँ एक बिन्दु पर ग्रामीण बस्तियों का एक समूह मिलता था और ये बड़ी बस्तियों में तबदील हो गए। वास्तव में, 9 वीं सदी ई. से कुछ इस प्रकार की बड़ी बस्तियाँ नगरीय केन्द्रों में परिवर्तित होनी प्रारंभ हो गई। यहाँ पर यह याद रखना होगा कि बस्तियों के नामों से इस प्रकार के परिवर्तन सदैव प्रकट नहीं होते थे। यहाँ तक कि अगर कोई ग्रामीण बस्ती अपने आकार तथा चरित्र में बदल जाती थी परन्तु उसके प्रारंभिक ग्रामीण नामों का प्रयोग जारी रहता था। गाँवों के अपने संस्कृत तथा गैर-संस्कृत नामों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये आदिवासी छोटे गाँव थे जिनका क्रमिक रूप से संक्रमण कृषि ग्रामों में तथा संस्कृत नामवाले गाँवों में ब्राह्मणिक संस्कृति एवं विचारधारा का प्रसार हुआ। गाँव का निर्माण कैसे होता था? ''सामान्यतः'' एक गाँव के अंतर्गत एक निवास स्थल (वस्तु), खेती-बाड़ी वाली भूमि (क्षेत्र) और बिना जुताई वाली भूमि आती थी। भूमि की इस अंतिम श्रेणी के अंतर्गत चारागाह मैदान (गोचर) और जंगल सम्मिलित थे। गाँवों की सीमाओं का निर्धारण करना एक समस्या थी क्योंकि इनको कभी भी स्पष्ट रूप से पारिभाषित नहीं किया जाता था। बस्तियाँ सदैव बढ़ती तथा फैलती रहती थीं। उस समय में प्राकृतिक सीमाओं जैसे कि पर्वतों या नदियों को ही गावों की सीमाएं मान लिया जाता। परन्तु जहाँ बस्तियाँ एक गाँव की स्थलीय सीमाओं से जुड़ती थी वहाँ पर सीमाओं को पड़ोसी गाँवों का उल्लेख करके निश्चित किया जाता था। उत्तर-गुप्त काल की बहुत सी ताँबे की प्रज्ञाओं में, जिनको

भूमि-अनुदान करते हुए जारी किया गया, भूमि की विभिन्न किस्मों का उल्लेख किया गया है जिनके अंतर्गत खेती योग्य, बिना जुताई वाली, ऊँची, नीची, पानी ग्रहण करनेवाली, दलदली, हरी और जंगल वाली भूमि शामिल थी। जमीन की उत्पादकता तथा भूमि के गुण को संभवतः इस प्रकार की उल्लिखित किस्मों के आधार पर ही निश्चित किया गया। भूमि की किस्मों के इस भाँति के विस्तारपूर्वक विवरणों से स्पष्ट है कि कृषि एवं पशुपालन का महत्त्व बढ़ने लगा था।

जिन ग्रामों को ब्राह्मणों को अनुदान में दिया गया उनको ''ब्रह्मदेव'' और ''अग्रसर'' के नाम से जाना जाता था। गाँवों को ब्राह्णों ने दान स्वरूप प्राप्त किया था उन गाँवों में ब्राह्मणों के साथ-साथ गैर-ब्राह्मण लोग भी रहते थे। परन्तु इस प्रकार के गाँवों में सम्पति के अधिकार केवल ब्राह्मणों को प्राप्त थे। दक्षिण भारत में भी इस प्रकार के गाँवों को मंगल के नाम से जाना जाता था, दक्षिण भारत में दोनों प्रकार की ब्राह्मणिक बस्तियाँ प्रशासनिक तथा सामाजिक संगठन के स्तर पर गैर-ब्राह्मणिक साधारण ग्रामों से मिन्न थीं। सभाएँ ब्राह्मणों की बस्तियों का प्रतिनिधित्व करती थीं। जबकि इन साधारण ग्रामीण बस्तियों का प्रतिनिधित्व करती। देश के किसी भी भाग की इन दोनों प्रकार की बस्तियों के बीच आनुपातिक विभाजन करना एक कठिन कार्य है। जैसा कि अब हम जानते हैं कि साधारण ग्रामों का खूब अनुदान ब्राह्मणों को दिया जाता था। इन सबके बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि दान किए गए गाँव ग्रामीण बस्तियों का केवल एक भाग ही बनाते थे।

10. कृषि संबंधों की नवीन विशेषताएँ

अब हम कृषि संबंधों की उन मुख्य-मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण करेंगें, जिनका विकास प्रारंभिक मध्य काल में हुआ।

किसानों पर आर्थिक बोझः भूमि अनुदान प्रज्ञाओं के द्वारा अनुदान प्राप्तकर्त्ताओं को दान किए गए ग्राम या ग्रामों के निवासियों के ऊपर उच्चतर अधिकार प्रदान कर दिए गए। दान प्राप्तकर्ता सभी प्रकार के करों को एकत्रित करने के हकदार थे। वे स्थायी तथा अस्थायी करों को एकत्रित कर सकते थे और उनकी अदायगियों को भी निश्चित एवं अनिश्चित कर सकते थे। अभिलेखों में करों की जो सूची दी गई है उनमें आदि शब्द का उल्लेख हुआ है और जिसका उपयोग जब भी आवश्यक होता तो जमींदार अपने लाभ के लिए करता था। इन अतिरिक्त अपयादीय लाभों के साथ-साथ दान प्राप्तकर्त्ता अन्य स्थायी करों जैसे कि भाग, भोग, कर, उपारिकर, हिरण्य, उदरेंग, हलिकाकर इत्यादि को वसूल करते थे। यह वास्तविकता है कि प्रारंभिक मध्य काल में किसानों पर लगातार करों का बोझ बढ़ रहा था। वाकाटक अनुदान प्रज्ञाओं में चौदह प्रकार के करों का उल्लेख किया गया है। पल्लव शासकों के साक्ष्यों में इनकी संख्या अठारह से बीस बताई गई है। दसवीं सदी ई. के अंत तक विभिन्न प्रकार के करों की संख्या में अत्यधिक व द्धि हुई।

गुप्त और उत्तर-गुप्तकाल में उत्तरी महाराष्ट्र, कोंकण, मध्यप्रदेश तथा गुजरात से संबंधित भूमि-अनुदान प्रज्ञाओं में भूमि पर दान प्राप्तकर्त्ताओं के उच्च अधिकार स्पष्ट हैं। दान प्राप्तकर्त्ताओं को यह अधिकार था कि ये किसानों को अपनी इच्छानुसार बेदखल कर सकते थे और उनके स्थान पर नए किसानों को रख सकते थे। सातवीं सदी से अनुदानों के कारण जल साधनों, व क्षों, झाडियों और चारागाहों पर भी दान प्राप्तकर्ताओं का अधिकार होना शुरू हो गया था। दसवीं सदी के बाद से इस परम्परा की गति और तेज हो गई। इन साधनों के दान प्राप्तकर्ताओं के हाथ में चले जाने से न केवल अनुदानित ग्रामों के किसानों पर विपरीत प्रभाव पड़ा बल्कि इससे दान प्राप्तकर्ताओं की स्थिति और मजबूत हो गई। बंधुआ मजदूरी का उल्लेख स्कन्द पुराण में आया है। अभिलेखों में भी यह उल्लेख आया है कि पाँचवीं-छठी सदियों से पश्चिमी मध्य और दक्षिणी भारत में विष्ति का भली भाँति प्रकार से प्रयोग होने लगा था। इसी के साथ-साथ भूमि-अनुदान प्रज्ञाओं में यह धारा भी दी गई कि किसानों को

दान प्राप्तकर्त्ताओं (ग्रहीतों) के आदेशों का पालन करना चाहिए। चम्बा, राजस्थान, मध्य प्रदेश और पूर्वी भारत जैसे क्षेत्रों में निश्चित रूप से किसानों की स्थिति में गिरावट आई। ऐसी परिस्थितियाँ भी आती थीं कि किसानों को हल बैल तथा अन्य कृषि उपकरण बेचने पडते थे। कभी-कभी वे संतान बेचने पर भी बाध्य हो जाते थे। सुभाषित रत्न मे उद्ध त वराहमिहिर के एक परिच्छेद में कहा गया है कि भोगपति के अत्याचार से पीड़ित होकर किसानों ने गाँव ही छोड़ दिया।

इस काल की स्म तियों में कृषि से आजीविका कमाने की अनुमति सभी को दी गई थी कितुं ह्वेनसाँग, खुर्दादव और अलइद्रिसी के उल्लेखों से स्पष्ट है कि खेती करना शूद्रों का ही व्यवसाय था। इनकी तुलना यूरोप के कृषिदासों से की गई है।

सामंतीय भू-व्यवस्थाः स्म ति ग्रंथों के लेखकों याज्ञवल्क्य और ब हस्पति में भूमि के एक ही टुकड़े पर चार क्रम में भूमि अधिकारों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अधिकारों का उपभोग करनेवालों के विभिन्न क्रम इस प्रकार थे- महीपति (राजा), क्षेत्रस्वामी (खेत का मालिक), कृषक (खेती करनेवाला) और अर्थ-कृषक। भूमि-अनुदानों में भूमि पर वर्गीय अधिकारों तथा अर्ध-काश्तकारी का मार्ग प्रशस्त किया और इस परम्परा के कारण जमीदारों की उत्पति हुई जो किसानों के द्वारा पैदा किए गए अतिरिक्त उत्पादन के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। पूर्वी तथा दक्षिण भारत में आर्थिक संगठनों का व्यापक भूमि-अनुदानों, धन व काफी बड़ी संख्या में पशुओं आदि के साथ उड़ीसा के रत्नागिरी और बिहार में नालन्दा पर विशाल भू-भागीयों के रूप मे उदय हुआ क्योकि इन्होनें अनुदानों के फलस्वरूप विशाल भूमि को प्राप्त किया था। नालन्दा बौद्ध 200 गाँवो का उपयोग करता था। दक्षिण भारत में शासकों के आगज काल के दौरान मंदिरों को भूमि तथा गाँवों का अनुदान किया गया। आगामी दौर के शासकों के वंशजों ने इस प्रकार के भूमि-अनुदानों के लिए देयदान (साहित्यिक रूप में देवताओं को दिया जानेवाला) शब्द का उल्लेख हुआ। पल्लवों के समय से ही मंदिर के सेवकों को वेतन के लिए भूमि को दिया जानेवाला इसके परिणाम स्पष्ट हैं। अब धार्मिक मठों की भूमि से लाभ प्राप्त करनेवाले हो गए और वे अपने जैसे कि अधिकारी, कारीगरों, संगीतज्ञों, सेवकों आदि को जमीन के खंडों को देते। इस प्रकार की जमीनों को लगान पर द देते थे। इसी प्रकार से, मंदिरों की भूमि को खेती करने के लिए किसान को किराये या लगान पर दे दिया जाता। पल्लव शासकों के शासन काल से मंदिरों को जो भूमि अनुदान में दी जाने लगी उससे चेखीड़ा, भू-व्यवस्था का विकास हुआ। इस प्रक्रिया की गति विभेदश्त आठवीं सदी से और तीव्र हो गई तथा इसने किसानों के एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जो करों के अत्यधिक बोझ से दब गया एवं जो भूमि में उच्चतर अधिकारो से देय जमीदार वर्ग के लिए जीविकोपार्जन करनेवाले बन गए।

बंद अर्थव्यवस्था का विकासः प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय अर्थव्यवस्था ने बहुत सी ऐसी ग्रामीण बस्तियों के उदय तथा विकास को अनुभव किया जिनका विनिमय कार्य प्रणाली और दूर दराज के व्यापार से संपर्क रहा।

यद्यपि विनिमय व्यवस्था पूर्णतः नष्ट नहीं हुई, परन्तु विभिन्न प्रकार के दान प्राप्तकर्ताओं की बस्तियों को परिवर्तित कर देने के कारण मूलतः ऐसा धनात्मक बन गया जिसके कारण आत्मनिर्भर, उत्पादन और उपभोग की बंद इकाइयों का जन्म हुआ। स्थानीय जरूरतों को स्थानीय स्तर पर ही पूरा किया जाने लगा। युद्धों के लिए सेनाओं और धार्मिक केन्द्रों के लिए तीर्थयात्रियों का आवागमन तथा ब्राह्मणों के द्वारा भूमि अनुदानों को पाना एवं उल्लास मनाना ही संभवत स्थानीय गतिशीलता के तरीके थे। धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणों द्वारा यात्रा करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अपने वैदिक एवं घरेलू कार्यो के लिए, अग्नि सदैव प्रज्ज्वलित रखने के कारण वे दूर दराज के, स्थानों की यात्रा नहीं कर सकते थे। समुद्र यात्राओं को भी प्रतिबन्धित कर दिया गया। आस पड़ोस में विवाह करने को प्राथमिकता दी जाने लगी। इन सबके कारण स्थानीय पहचान बनाए रखने की भावना को और बल मिला। ग्रामों

की स्थानीयता और आत्मनिर्भरता की बढ़ती भावना को ग्राम धर्म, ग्रामकर और स्थानकर जैसे शब्दों को व्यक्त किया गया और इन सभी शब्दों का प्रयोग समकालीन पौराणिक साहित्य में गाँव या स्थानीयता का उल्लेख करने के लिए हुआ।

11. सिक्कों की कमी

उत्तर-गुप्त काल में वाणिज्य के पतन की अभिव्यक्ति सिक्कों की कमी के रूप में भी होती है। कुषाण एवं गुप्त काल में सोने के सिक्कों की जो बहुतायत थी उनका छठी सदी ई. के बाद जारी होना बंद हो गया। चाँदी और ताँबे के सिक्कों की अनुपस्थिति भी हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करती है। यह उल्लेखनीय है कि गुप्त काल के सोने के सिक्को में सोने की मात्रा का अनुपात घट रहा था और बाद के गुप्त सोने के सिक्कों में सोने की मात्रा कुषाण सोने के सिक्कों की तुलना में आधी रह गई। गुप्त काल के सिक्कों की संख्या के रूप में तुलना भी ईसा की प्रारंभिक सदियों के साथ अच्छी प्रकार से नहीं होती है। इस काल के सिक्कों के विषय में शिलालेख संबंधी प्रमाण भी, सिक्कों की वास्तविक उपलब्धि की कमी के बारे में कोई विशेष प्रकाश नहीं डालते। हर्षवर्धन के द्वारा जारी किए गए सिक्के भी बहुत कम हैं तथा राष्ट्रकुल एवं पाल जो आठवीं सदी ई. में क्रमशः दक्कन एवं बंगाल में सत्ता में आए थे, ने अपने कोई सिक्के जारी नहीं किए। उत्तरी भारत के अधिकतर भागों, बंगाल, उड़ीसा, मध्य भारत तथा दक्कन में धातु वाली मुद्रा का पूर्ण अभाव था। जो इन क्षेत्रों के लिए सत्य था यह पूर्णतः दक्षिण भारत के लिए भी। बहुत से अध्ययनों से भी स्पष्ट है कि इस काल में ढले हुए सिक्कों तथा वाणिज्य मोहरों का पूर्ण अभाव था। परन्तु देश के अन्य भागों की तुलना में पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी भागों में 1000 ई. तक के प्रचुर मात्रा में सिक्के प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त, इस काल के कश्मीर से भी काफी मात्रा में सिक्के मिलते हैं।

इस संदर्भ में कुछ इतिहासकार यह तर्क देते हैं कि परवर्ती सदियों में जारी किए गए सिक्कों ने बाद के समय की मुद्रा आपूर्ति की माँग को पूरा किया, इसलिए नए सिक्कों को जारी करना अनावश्यक था। परन्तु यहाँ पर हम जिसका विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं उस समय में कृषि का व्यापक स्तर पर प्रसार हुआ केवल इसकी पुष्टि के लिए काफी मात्रा में धातु मुद्रा धन की आवश्यकता होगी। दूसरे, सिक्के सत्ता की भी अभिव्यक्ति थे। जब तक गंभीर मजबूरियाँ न हों तब तक कोई भी शासक सिक्कों के नाम से जारी करने के विशेष अधिकार से स्वयं को वंचित नहीं करेगा। व्यापार के ह्रास तथा उच्च अधिकारियों को नकद धन का भुगतान करने के स्थान पर भूमि-अनुदान की परम्परा ने सिक्कों की आवश्यकता को खत्म कर दिया। इन सबके साथ-साथ इस बात के भी प्रमाण हैं कि नित्य-प्रतिदिन के लेन-देन के लिए अब मुद्रा का स्थान वस्तु विनिमय (Barter system) एवं कौड़ियों ने ले लिया था।

12. नगरों का ह्रास

व्यापार का ह्रास, सिक्कों की कमी, सिक्के के साँचो तथा वाणिज्य मोहरों की अनुपस्थिति आर्थिक ह्रास एवं निर्मित उत्पादों की माँग में कमी की ओर इशारा करते हैं। जो नगर उत्तर-मौर्य काल में दस्तकारी उत्पादन के सक्रिय केन्द्र थे इस काल में निष्क्रिय एवं निर्जन्य हो गए। उत्तर भारत में जो नगर परवर्ती-कुषाण एवं कुषाण काल से तथा दक्कन में जो सात्त्वाहन शासन काल से जुड़े हुए थे उनका ह्रास तीसरी सदी ई. के मध्य या चौथी सदी ई. से प्रारंभ हुआ। जो उत्तरी भारत, मालवा और दक्कन के लिए सत्य था वहीं दक्षिणी भारत के लिए भी समान सत्य था। वास्त्व में नगरीय जीवन का ह्रास दो चरणों में हुआ। प्रथम का संबंध गुप्त शक्ति के उदय के दूसरे पहलू के साथ जुड़ा था। इस काल के नगरों जैसे कि संधों, हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा, मथुरा, सौंख, श्रावस्ती, कौशाम्बी,

खैरादिह, चिरंद, तमलुक आदि के उल्लेख से स्पष्ट है कि गंगा के ऊपरी तथा मध्य मैदानों के नगरों का ह्रास होना प्रारंभ हो गया था। राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र के प्रारंभिक सम्पन्न केन्द्रों जैसे कि नाद, उज्जैन, नागर, पौणी, तेर, भौकरदन, नासिक, पैंठन आदि नगरों में भी इसी प्रकार का झुकाव देखने को मिलता है। तमिलनाडु में अरिकामेदू, आन्ध्र प्रदेश तथा कर्नाटक के सातवाहन काल के नगरीय केन्द्र भी इस विशेषता के अपवाद नहीं थे। चौथी सदी से छठीं सदी तक के इस प्रकार के प्राचीन केन्द्रों के निवास स्थलों की दीवारें प्रारंभिक शताब्दियों की तुलना में काफी पतली, खस्ता हालत एवं कम माल प्रयोग किए गए अवशेष हैं। बहुत से गुप्त कालीन प्राचीन स्थलों के निर्माण में प्रारंभिक दीवारों की ईटों तथा कच्चे माल का पुनः प्रयोग किया गया है। नगरीय केन्द्रों के स्थलीय प्रसार तथा नगरीय सुविधाओं के द ष्टिकोण से ये नगर अपने परवर्ती कृषाण युग की तुलना में नगण्य है। अपने ह्रास के प्रथम चरण में संख्या के आधार पर कुछ ही नगर जैसे कि पाटलिपुत्र, वैशाली, वाराणसी तथा भीटा बच पाए। ये नगर गुप्त साम्राज्य के मुख्य क्षेत्रों में स्थित थे और इनके बच पाने का मुख्यतः यही कारण रहा होगा। नगरीय ह्रास का दूसरा चरण छठी सदी ई० के बाद शुरू हुआ और इसके पश्चात् ये केन्द्र नगर रह ही नहीं सके।

दस्तकारी तथा उपभोग निर्माण के सामान्य पतन की स्थिति में, पत्थर के गोलियों की मालाएँ बनाने, खोल वाली व हाथी दाँत की वस्तुओं तथा शीशे के सामानों का निर्माण प्रायः समाप्त-सा हो गया। उत्तर-पाँचवीं सदी ई० के निवासीय अवशेष स्थलों से ये वस्तुएँ बहुत ही कम संख्या में प्राप्त हुई हैं। उत्तर-गुप्त काल के म दभांडों से किसी भी प्रकार की कलात्मक बनावट प्रतीत नहीं होती और वे मुख्यतः साधारण प्रकार की हैं।

समकालीन साहित्य एवं अभिलेखों से भी भली-भाँति नगरों एवं शहरों का पतन प्रकट होता है। छठीं सदी ई. तक के अभिलेखों एवं मोहरों में नगरीय जीवन में कारीगरों, दस्तकारों तथा व्यापारियों के महत्त्व का उल्लेख किया गया है। बंगाल से प्राप्त अभिलेखों में कहा गया है कि उन्होनें नगरों के प्रशासन में विशेष योगदान किया। परन्तु छठीं सदी के बाद इस प्रकार के स्त्रोतों से हमें ऐसी कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। उत्तर-गुप्त काल में कुछ निश्चित शब्दों के भावार्थ में आए परिवर्तन उस समय की परिस्थितियों में हुए परिवर्तन की ओर स्पष्ट इशारा करते हैं। जैसे कि ''श्रेणी'' शब्द का कारीगरों तथा व्यापारियों के संगठन के लिए प्रयोग होता था परन्तु अब इसका उपयोग जाति के लिए होने लगा तथा निगम का अर्थ गाँव से हो गया। छठीं सदी ई. के पूर्वार्द्ध की वराहमिहिर की रचना व हत् संहिता मे दस्तकारी, नगरों एवं व्यापार के ह्रास का उल्लेख हुआ है। उत्तरी भारत में बौद्ध नगरों के पतन का उल्लेख चीनी यात्री ह्वेन-त्साँग ने अपने यात्रा विवरणों मे किया है तथा वह हर्षवर्धन के शासनकाल में भारत आया था। वात्सयायन के कामसूत्र में जिस नगरीय जीवन का सजीव एवं रोमाँचक चित्रण हुआ है, उत्तर-गुप्त काल के साहित्य जैसे कि दामोदरगुप्त की रचना कुत्तानिमतम (सातवीं सदी ई०) में इतना सजीव वर्णन नहीं है तथा वह मुख्यतः ग्रामीण जीवन का ही उल्लेख करती है।

परन्तु सभी बस्तियाँ ग्रामीण नहीं थी। उत्तर-गुप्त काल में गैर-कृषि बस्तियों की अभिव्यक्ति, प्रशासनिक स्थलों, सैन्य दुर्गों तथा धार्मिक या तीर्थस्थल केन्द्रों के रूप मे हुई। छठी सदी से आठवीं सदी ई. तक के अभिलेखों में सेना के कैम्पों का स्कन्धवरा के नाम से उल्लेख किया गया है। इसके प्रमाण उपलब्ध है कि कुछ नगर इसलिए बचे रह सके क्योकिं उनका परिवर्तन तीर्थस्थल केन्द्रों के रूप में हो गया। इन सभी गैर-कृषि बस्तियों को पुरा, पट्टन, नगर तथा राजधानी के नाम से जाना जाता था और ये उत्पादन के केन्द्र न होकर खपत के केन्द्र थे।

13. व्यापार का ह्रास

गुप्त और उत्तर-गुप्त काल में हुए आर्थिक परिवर्तनों का प्रत्यक्ष परिणाम भारत के आंतरिक एवं बाह्य व्यापार में ह्रास था। उत्तर-मौर्य काल में भारतीय विदेश व्यापार अपने चरमोत्कर्ष पर था क्योंकि तब भारत रोमन साम्राज्य, सेन्ट्रल एशिया और दक्षिण-पूर्वी के साथ व्यापार करता था। परन्तु व्यापारिक ह्रास का प्रारंभ गुप्त काल में हुआ और छठीं सदी ई० के मध्य में अधिक गहरा हो गया। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के बाद रोमन सिक्कों का बहाव भारत के अंदर आना बंद हो गया। अन्य दूसरे स्त्रोतों से भी यह पता चलता है कि पश्चिम विश्व के साथ सम्पर्क का अभाव था। आगे की सदियों में रोमन साम्राज्य भी बिखर गया। व्यापार में, अरब एवं ईरानियों का प्रतियोगी के रूप में पैदा हो जाना, भारतीय सौदागरों के लिए अच्छा शकुनकारी सिद्ध नहीं हुआ। छठी शताब्दी ई. के आसपास के बिजन्टाईन साम्राज्य के कुछ सिक्के आन्ध्र प्रदेश एवं कर्नाटक में प्राप्त हुए है। परन्तु संख्या की द ष्टि से इन सिक्कों की तुलना इससे परवर्ती काल के रोमन सिक्कों की भारी संख्या से नहीं की जा सकती। भारतीय विजन्टाईन व्यापार में मुख्य वस्तुएँ रेशम एवं मसाले थे। छठीं सदी ई० के मध्य बिजन्टाईन लोगों ने कीड़ो से पैदा होनेवाली रेशम की कला को सीख लिया। परिणामस्वरूप, रेशम का व्यापार भयंकर रूप से प्रभावित हुआ। रेशम का कपड़ा बनानेवाले जुलाहों का गुजरात से, विस्थापित होना और दूसरे व्यवसायों को अंगीकार करना भी इसकी पुष्टि करता है। सेन्ट्रल एशिया के साथ गुप्त शासकों के संबंध कमजोर थे। इस समय में सेन्ट्रल एशिया और पश्चिम एशिया के साथ जो कुछ भी सम्बन्ध थे हूण आक्रमणों के बाद वे पूर्णतः समाप्त हो गए।

ऐसा कहा जाता है कि भारत के समुद्र तट के नगरों का कुछ व्यापार दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों एवं चीन के साथ चलता रहा। परन्तु इस आपसी व्यापार का कोई विशेष प्रभाव नजर नहीं आता। इसका प्रमाण तो है कि भारत से दक्षिण-पूर्वी एशिया में सांस्कृतिक प्रभावों का प्रसार प्रारंभिक ऐतिहासिक तथा प्रारंभिक मध्यकालीन कालों में हुआ परन्तु इस काल के बर्तनों, सिक्कों या दूसरी वस्तुओं से संबंधित एक भी ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नही हैं जिसके आधार पर यह कहा जाए कि इनके मध्य कोई विशेष वाणिज्य होता था। प्रारंभ में भारत दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ अन्य देशों के साथ मोतियों एवं अन्य वस्तुओं का व्यापार करता था परन्तु चौथी शताब्दी ई. के बाद इस प्रकार के व्यापार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जो भारतीय प्रतिनिधिमंडल चीन गए उनसे भी कुछ अधिक न हो सका। छठीं सदी ई० से इस प्रकार के प्रतिनिधि मंडलों को विदेश भेजने की परम्परा में कमी आने लगी। तमिलनाडु से जो चीनी सिक्के एवं पीले-हरे रंग के म द्भांड पाए गए तथा जिनको नौवीं सदी ई. या इसके बाद के काल का बताया गया है, के अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य प्रमाण नहीं मिलता है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इस काल में भारत चीन के मध्य व्यापार होता था।

व्यापार में ह्रास केवल विदेशी व्यापार तक ही सीमित न था। समुद्र तटीय नगरों तथा दूर-दराज के नगरों के बीच सम्पर्क कमजोर पड़ जाने के कारण आंतरिक व्यापार का भी पतन हुआ और इसका प्रभाव ग्रामों एवं नगरों के बीच होनेवाले व्यापार पर भी पड़ा। शहरों का पतन, शहरी उपभोग उत्पादन मे कमी आना तथा व्यापार का ह्रास, ये सब एक दूसरे से संबंधित समस्याएँ थी। इस काल के दौरान समाज में व्यापारियों एवं सौदागरों की स्थिति का पतन भी व्यापार एवं वाणिज्य के पतित होते भाग्य की ओर इशारा करता है। भूमि से लाभ प्राप्तकर्ताओं के अधीनस्थ आत्म-निर्भर असंख्य इकाइयों के उदय ने भी व्यापार पर नकारात्मक प्रभाव डाला। बाद के काल के एक ग्रंथ, कथासरित्सागर में उल्लेख हुआ है कि कई प्रकार के करों को अदा कर पाने में असमर्थ व्यापारी जंगलों की ओर चले गए। समुद्र-अभियानों और दूर-स्थलों की यात्राओं को धार्मिक रूप से प्रतिबंधित किया गया। इस प्रकार के द ष्टिकोणों के कारण निश्चित रूप से व्यापार को बढ़ावा नहीं मिला।

परन्तु इन सबका तात्पर्य यह नहीं है कि आवश्यक वस्तुओं जैसे कि नमक, लोहे और शिल्प वस्तुओं आदि का व्यापार नहीं होता था।

ये आवश्यक उपभोग की वस्तुएँ भी प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नहीं थी। इसके साथ-साथ लम्बी दूरी का व्यापार सम्माननीय, मँहगी विलासिता के सामानों जैसे कि बहुमूल्य पत्थरों, हाथीदाँत की चीजों और घोड़ों के लिए लगातार चलता रहा। इस प्रकार की वस्तुओं के लिए कुलिनों, सरदारों और राजाओं के बीच माँग बनी रहती थी। इसलिए कुछ शताब्दियों के लिए विशाल तथा संगठित व्यापार का स्थान घुमक्कड़ छोटे सौदागरों, असंगठित और धीमी गति के व्यापार ने ले लिया।

14. विनिमय व्यवस्था में कृषकों की भूमिका

कभी-कभी ऐसा माना जाता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन आर्थिक संगठन में, जो कि मुख्य तौर पर कृषि पर आधारित और आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी उत्पादन का मुख्य उद्देश्य जीविकोपार्जन था और यह बाजार के नियमों पर आधारित या जुड़ी हुई नहीं थी। इसलिए आर्थिक विकास की बहुत कम सम्भावनाएँ थी। कारीगर और दस्तकार गाँवों से, अनुदान भूमि से या धार्मिक प्रतिष्ठानों से जुड़े रहते थे। व्यापारियों और बिचौलियों की विशेष भूमिका नहीं थी। वे सिर्फ गाँव के लोगों के औजार, तेल, मसाले, कपड़ा आदि की आपूर्ति करते थे। दूसरे शब्दों में बाजार व्यवस्था का बहुत सीमित कार्य था।

उपर्युक्त तस्वीर 300 से 800 ई. के लिए काफी सही है। हालाँकि बाद के 500 सालों में कृषि बस्तियों में काफी तेजी से व द्धि हुई और स्थानीय वितरण के लिए स्थानीय बाजार का विकास हुआ। बाद में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में नियमित वितरण के कारण संगठित वाणिज्य का उदय हुआ। इससे व्यापारी संघों के भ्रमणशील व्यापार और नौवीं सदी से आँशिक मुद्राकरण का विकास हुआ। यद्यपि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में इन विशेषताओं मे सापेक्ष अंतर था लेकिन नई अर्थव्यवस्था में कृषि की बढ़ती भूमिका आसानी से नजर आती थी।

कृषि उत्पादों में विनिमय जैसी चीजों से होने लगा जिसको भ्रमणशील व्यापारी काफी दूर से लेकर आते थे। प्रारंभिक काल के अंत में भू-स्वामित्त्व के प्रतिरूप में परिवर्तन आया। व्यापारी और आर्थिक रूप से धनी कारीगर जैसे बुनकर जमीन मे पैसे लगाने लगे अर्थात् जमीन खरीदने लगे और जमीन दान देने लगे। उदाहरण के तौर पर दक्षिण कर्नाटक में जगति-कोटली वर्ग (बुनकरों का समुदाय) और तेलीना (तेलियों का समुदाय) खेती में सक्रिय भागीदार थे। जगति-कोटली की चर्चा बारबार तालाब खुदवाने या बाग लगवाने में की जाती है।

15. प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था का स्वरूप

प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि आधारित अर्थव्यवस्था के बारे में कई मत सामने आए हैं। एक तरफ इसे सामंती अर्थव्यवस्था की उपज बताया जाता है तो दूसरी ओर इसे किसान-राज्य और समाज बताया जाता है।

भारतीय सामन्तवाद की मुख्य विशेषताएँ हैं:

1. पदानुक्रम पर आधारित भू-पति बिचौलियो का उदय। सामन्तो, राजकीय अधिकारियों और गैर आर्थिक आधार पर भूमि प्राप्त करनेवालों को सैनिक कार्य करने पड़ते थे और उन्हें सामंती पदवी मिलती थी। अनुदान पानेवालों को अपनी भूमि पर खेती करवाने के लिए अपनी भूमि कई प्रकार के लोगों को देनी पड़ी (विभिन्न क्षेत्रों में यह प्रक्रिया भिन्न थी) जिससे विभिन्न वर्ग के बिचौलियों का उदय हुआ। इसमें कुलीन भूमिपति, पट्टेदार, जोतदार और

कृषक थे। यह पदानुक्रम प्रशासनिक ढाँचे में नजर आता था, जहाँ जमींदार-जागीरदार संबंधों का उदय हुआ। दूसरे शब्दों में भारतीय सामन्तवाद में जमीन का और उसकी उपज का असमान वितरण था।

2. दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू जबरन मजदूरी का प्रचलन था। ब्राह्मण और जमीन को दान पाने वाले अन्य लोग जबरन मजदूरी (विस्ती) लेने के अधिकार का दावा करते थे। मूलतः जबरन मजदूरी राजा या राज्य का विशेषाधिकार था। इसे जमीन पानेवाले छोटे अधिकाारियों, गाँव-अधिकारी और दूसरों को हस्तांतरित किया गया। सिर्फ चोल अभिलेखों में जबरन मजदूरी के 100 से ज्यादा संदर्भ मिलते हैं। यहाँ तक कि किसान और कारीगर भी विस्ती के अतंर्गत आते थे। इसके परिणामस्वरूप कृषि दास प्रथा का उदय हुआ जिसमें खेत मजदूर अर्द्ध दास हो गए।

3. शासकों और बिचौलियों के द्वारा जमीन पर अधिकार की बढ़ती माँग के कारण किसान का भूमि पर अधिकार कम हो गया। कईयों की स्थिति पट्टेदारों की सी हो गई जिन्हें हटाए जाने का खतरा बना रहता था। कई किसान आर्थिक (जोतदार) को गए। करों के बोझ, जबरन दबाव और कर्ज के कारण किसानों पर दबाव बढ़ता गया।

4. कई तरीके से अधिशेष (उत्पादन का अतिरिक्त भाग) लिया जाता था। आर्थिक माँगों के अतिरिक्त दमन एक प्रमुख तरीका था। नए संपत्ति संबंधों के उदय से नए आर्थिक दमन की शुरुआत हुई। राजराजा चोल के अभिलेख में लगभग 500 प्रकार के करों और राज्य की माँगों से बढ़ते हुए दबाव का पता चलता है।

5. यह एक अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था थी। भूमि अनुदान पानेवाले को जमीन के साथ मानव संसाधनों का हस्तांतरण यह दर्शाता है कि ऐसे गाँव में किसान, हस्तकार और कारीगर गाँव से जुड़े थे और एक दूसरे पर निर्भर थे। जमीन से उनका जुड़ाव अनुदान पानेवालों का उन पर नियंत्रण बनाए रखता था। संक्षेप में 500 सालों के सर्वेक्षण में अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर गाँव में वर्ण व्यवस्था के अन्दर काम करनेवाले किसान उस समय के कृषि आधारित अर्थव्यवस्था की खास विशेषता है। भारतीय सामंतवाद के सिद्धांत के विरोध में स्वायत्त किसान समाज का सिद्धान्त दिया जाता है। यह सिद्धांत दक्षिण भारत में मिल प्रमाणों पर आधारित है।

इस सिद्धांत के अनुसार प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में दक्षिण भारत में स्वायत्त किसान क्षेत्र 'नाडू' कहलाते थे। वे परिवार और परिवार समूहों के संबंधो पर संगठित थे। कृषि उत्पादन और इसका नियंत्रण नाडू के लोगों अर्थात् नत्तार द्वारा संचालित होता था। नत्तार नाडू की जनता को कहा जाता था। इस संगठन के सदस्य वल्लाल या गैर-ब्राह्मण किसान थे। उनकी स्वायत्तता का प्रमाण इस बात से मिलता है कि जब राजा या प्रधान भूमि अनुदान देते थे तो आदेश नत्तार की सलाह पर जारी किए जाते थे। आदेश पहले उन्हें दिए जाते थे। वे दान में मिली जमीन का निर्धारण और देखरेख करते थे क्योंकि वे उत्पादन के संगठन थे। ब्राह्मण और दूसरे प्रभावी किसान-उत्पादन में उनका साथ देते थे। ऐसा लगता है कि इस सिद्धांत के प्रवर्तक ग्रामीण आत्मनिर्भर पर विश्वास रखते थे जो भारतीय सामंतवाद का महत्त्वपूर्ण घटक है। भारतीय सामन्तवाद के सिद्धांत और स्वायत्त किसान समाज के सिद्धांत को माननेवाले उनके लिए ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन कृषि अर्थव्यवस्था काफी जटिल थी। इसके चरित्र को समझने के लिए और एक सामान्य विश्लेषण करने के लिए इसके क्षेत्रीय प्रतिरूपों पर काम करना होगा।

(क) भू-अनुदान
Land Grants

भू अनुदान का स्वरूप (Nature of Land Grants)

भारतीय सामन्तवाद के उदय और विकास में ब्राह्मणों को भूमिदान की प्रथा को एक घटक के रूप में वर्णित किया जाता है। गुप्तोत्तर कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक ढाँचे को स्वरूप देने तथा निर्माण में भू अनुदान प्रथा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं केन्द्रीय योगदान रहा है। इस प्रथा ने न केवल भारतीय सामन्तवाद का रास्ता प्रशस्त किया वरन् एक नवीन कुलीन जमींदार (Landed Aristocracy) वर्ग अर्थात् भूस्वामी मध्यम वर्ग का भी जन्म दिया जिसने किसान वर्ग को कृषि अर्द्धदास (Serfs) की स्थिति में पहुँचा दिया।

भूमि अनुदान प्रथा, ओमप्रकाश के अनुसार, एमल ही इतना महत्त्वपूर्ण तथा शाक्तिशाली कारक था जिसने कि सामन्तवाद, क्षेत्रियता, ग्राम्यीकरण तथा पिछड़ी सामाजिक आर्थिक राज्य व्यवस्था को जन्म दिया। वैसे तो दान ऋगवैदिक काल से ब्राह्मणीकरण व्यवस्था/प्रणाली का अटूट अंग रहा है। परन्तु ब्राह्मणों को भूमि अनुदान देने की प्रथा मौर्य युग से पूर्व पालीसाहित्य और प्रारम्भिक सातवाहन अभिलेखों में मिलती है। इस प्रकार भू-अनुदान का सिलसिला धार्मिक अनुदानों (ब्रह्म दया) से प्रारम्भ होता है इसकी पुष्टि आर०एस० शर्मा के इस वक्तव्य से भी हो जाती है उसके अनुसार, यूरोप के विपप्ति भारत में सांमतवाद की शुरुआत ब्राह्मणों, मंदिरों और मठों को दिए जानेवाले भूमिदानों से हुई जिनके अगले त्वगत साक्ष्य प्रथम सदी ई० पू० से सामने आने लगती है। और गुप्त काल तक ऐसे साक्ष्यों की संख्या अच्छी खासी हो जाती है। इस काल से धार्मिक अनुयोगियों को खेत खलिहानों, आबादी और राजस्विक तथा न्यायिक अधिकारों (जुर्माने के तौर पर वसूल की गई रकम को अपने पास रखने के अधिकार) के साथ गाँव के गाँव दान में दिए जाने लगे जिनमें राज्यधिकारियों का प्रवेश भी वर्जित था। जिन स्वामित्त्वों और अधिकारों का क्रमिक हस्तान्तरण पहले पुरोहितों आदि के नाम किया गया, वही स्वामित्त्व तथा अधिकार बाद में योद्धावर्ग को भी दिए जाने लगे। व्यापारिक समागम के अभाव शहरी जीवन के ह्यास तथा मुद्रा की कमी के कारण स्थानीय और आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयों के उदय के साथ धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष लौकिक (सेवा अर्थात् धर्म निरपेक्ष) अनुदान उत्तरोत्तर अधिकाधिक लोकप्रिय होते चले गए। इस प्रकार भू अनुदानों की शुरूआत अनुदानित भूमि के मात्र राजस्व के हस्तान्तरण से हुई परन्तु जैसा कि निम्न स्त्रोतों अभिलेखों के साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाती है कि धीरे-धीरे प्रदत्त भूमि के आय के साधनों के साथ प्रशासकीय अधिकारों का हस्तान्तरण भी राजा दान अनुदानग्राही को कर दिया गया। राजस्व में साथ-साथ कुछ प्रशासकीय अधिकारों के हस्तान्तरण का सर्वप्रथम उल्लेख गौतमी पुत्र शातकर्णा (21 शताब्दी ई०) के एक दान पत्र में प्राप्त होता है। पाँचवी (5) शताब्दी ई० से यह प्रथा आम हो जाती है और दान में दिए गए ग्राम में ग्राम की ना केवल समस्त आय (चारागाहों, खानों, खजाना, विष्टी, सब प्रकार के कर, नमक बनाने का अधिकार आदि सहित) ब्राह्मण को दी जाने लगती है वरन् उन ग्रामों के निवासियों को आदेश दिया जाता है कि वे अपने नए ब्राह्मण स्वामियों के सब प्रकार के आदेश मानें। मध्य और पश्चिमी भारत के दानपत्रों में दाता नरेश अनुदानग्राही ब्राह्मणों को दण्डित करने का अधिकार भी देते हैं। उत्तरी भारतीय दान पत्रों में इसी को 'सदण्डदशापराधः' कहा गया है। पाँचवी सदी के लेखक बुद्धघोष के अनुसार भी ब्रह्मदेय दान में दानग्राहक को भूमि के साथ न्यायिक और प्रशासकीय अधिकार भी मिलते हैं।

गुप्त सम्राटों के उत्कर्ष काल में साम्राज्य के केन्द्रीय भाग में किसी भी अधीन राजा के द्वारा, सम्राट की अनुमति के बिना, भूमि या ग्राम दान का उदाहरण नहीं मिलता। परन्तु साम्राज्य के पतनकाल में कुमारामात्य महाराज नन्दन (छठी सदी ई० का मध्य) द्वारा गया में सम्राट् की अनुमति के बिना दान

दिए जाने का उदाहरण है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' (2.1) में सभी उच्च पदाधिकारियों के लिए वेतन की व्यवस्था की है, केवल पुरोहित आदि कुछ अधिकारियों के लिये वह ब्रह्मदेय का विधान भी करता है। गुप्तकाल में प्रशासकीय अधिकारियों को उनकी सेवा के बदले वेतन दिया जाता था या भूमि, इसका उल्लेख अभिलेखों में नहीं मिलता। परन्तु स्म तियों से लगता है कि वेतन के बजाय भूमि देने की प्रथा ही अधिक प्रचलित थी। इस विषय में फा-शियेन का साक्ष्य वेतनपरक है, परन्तु शुआन-च्वांग ने बताया है कि हर्ष के काल में सभी गर्वनर, मन्त्री, न्यायाधीश आदि को उनके जीवनयापन के लिये राज्य की ओर से भूमि मिली हुई थी। 'हर्षचरित' में भी कहा गया है कि प्रभाकरवर्द्धन ने अपने राज्य (वसुधा) को अपने भ त्यों में विभाजित कर दिया था (भ त्योपयोगाय व्यभजतेववसुधा)। 7वीं-8वीं सदी के एक सोलंकी राजा ने अपने राज्य को अपने 16 सरदारों में बराबर-बराबर बाँट दिया था। 8वीं शताब्दी के बाद पदाधिकारियों और सरदारों को भूमि देने की प्रथा सर्वजनीन-सी हो गयी। इस प्रसंग में उल्लेख्य है कि गुप्तोत्तरयुगीन नरेशों ने उस मात्रा में सिक्के जारी नहीं किये जितने गुप्तकाल तक किए गए थे।

छठी सदी ई० से कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलने लगते हैं जिनमें भूमि का दान किसी लिपिक (दिविर) या व्यापारी को दिया गया है। यद्यपि ऐसे उदाहरणों में भी ग्राम या भूमि की आय देवार्पित की गई है, परन्तु व्यवहार में दान के साथ मिलनेवाले विशेषाधिकारों का उपयोग स्पष्टतः वे व्यापारी आदि ही करते होंगे। 533–34 ई० के एक दानपत्र में तो शर्वनाथ नाम का राजा पुलिन्दभट नामक व्यक्ति को दो ग्राम समस्त विशेषाधिकारों सहित उसी के व्यक्तिगत उपभोग के लिए दान देता है। बंगाल से प्राप्त 7वीं 8वीं सदी के कुछ अन्य दानपत्रों से स्पष्ट है कि उस समय सामान्यजनों को भी सेवा के बदले भूमि दान देने की प्रथा चल पड़ी थी। उस युग में अगर मुद्राओं के अभाव के कारण मन्दिरों और बौद्ध विहारों की भूमि दान दी जा सकती थी तो पदाधिकारियों को उनकी सेवा का प्रतिदान भी इसी प्रकार दिया जा सकता था। बहुत से अभिलेखों में 'भोगी', 'भोगपति' आदि पदनामों का उल्लेख हुआ है और कहीं-कहीं अमात्यों और महापीलुपति आदि पदाधिकारियों को 'भोगी' कहा गया है। यह आग्रह किया गया है कि 'भोगिक' आदि पदनाम उन पदाधिकारियों द्वारा भूमिभोग को इंगित करते हैं। इस प्रसंग में प्रादेशिक-प्रशासनिक इकाइयों के लिए 'भुक्ति' और 'भोग' जैसे नामों का प्रचलन भी महत्त्वपूर्ण है।

सातवीं सदी तक भारत में मन्दिरों, विहारों तथा ब्राह्मणों को दान दी गई भूमि की मात्रा काफी हो गई थी। यद्यपि इस विषय में पूरे आँकड़े उपलब्ध नही हैं परन्तु प्राप्त आभिलेखिक व साहित्यिक सूचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। अफसड़-अभिलेख के अनुसार परवर्ती-गुप्त नरेश दामोदरगुप्त ने भी अग्रहार दान दिए थे। ई-चिंग के अनुार नालन्दा-महाविहार को दो सौ ग्राम मिले हुए थे। लगभग इतने ही ग्राम वलभी-महाविहार के पास रहे होंगे। 'हर्षचरित' के अनुसार जब हर्ष दिग्विजय के लिए निकला, उसने 100 ग्रामों की भूमि, जिसमें प्रत्येक का क्षेत्रफल 1000 हल से नापा गया था, ब्राह्मणों को दान दी थी। कादम्बरी में तारापीड के प्रासाद में सहस्त्रों शासन-पत्र (जिनमें बहुत से दानपत्र होगें) लिखने वाले लिपिकों की चर्चा है। बाण ने अनेक स्थलों पर अग्रहारिकों की चर्चा की है। वह ऐसे अग्रहारिकों का भी उल्लेख करता है जो जाली दस्तावेज बनाकर भूमि पर अधिकार कर लेते थे। शुआन-च्वांग के अनुसार हर्ष ने जयसेन नामक बौद्ध विद्वान् को उड़ीसा के अस्सी बड़े नगरों की आय देने का प्रस्ताव रखा था। अग्रहारों, विहारों और मठों को मिली भूमि को अस्थायी किसान जोतते थे। ई.चिंग के अनुसार वे सब से हल-बैल पाते थे और उन्हें उपज का 1/6 भाग दिया जाता था। ये किसान विष्टि के लिए भी बाध्य थे। 592 ई० के एक दानपत्रानुसार अग्रहारों के दस्तकारों को भी विष्टि के लिए बाध्य किया जा सकता था। मौर्य काल से विष्टि का अधिकार केवल राज्य को प्राप्त था और वह प्रायः श्रमिकों से कर के बदले में ली जाती थी। परन्तु अब विष्टि का रूप विस्त त हो गया (सर्वविष्टि)

और इसे प्राप्त करने का अधिकार राज्य के अतिरिक्त अग्रहारिकों को भी मिल गया।

कभी-कभी धार्मिक सेवाओं के बदले में ब्राह्मणों को सीधे-सीधे जमीन दान कर दी जाती थी। जैसे वामाट का राजा प्रवरसेन द्वितीय का उल्लेख करते हुए आर०एस० शर्मा कहते हैं कि प्रवरसेन ने एक हजार ब्राह्मणों को एक ग्राम इस शर्त पर दान में दिया है कि ये ब्राह्मण गाँव को अपने कब्जे में रख सकते हैं बर्शत है कि "वे राज्य के विरुद्ध राजद्रोह न करे, ब्राह्मणों की हत्या न करे, चोरी और व्यभिचार न करे, राजाओं को विष देकर उनकी हत्याएँ न करे, युद्ध न छेड़ें और दूसरे गाँवों को त्रस्त न करें।" यहाँ स्पष्ट ही इस अनुदान का मकसद पुरोहितों का समर्थन प्राप्त करना न होकर उन्हें विरोध करने से रोकना रहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि राजाओं ने यह जानते हुए भी कि भू अनुदान प्रथा, उनमें आर्थिक हितों का नुकसान हो रहा है के विपरीत है, उन्हें इससे भू लगान का नुकसान हो रहा तथा प्रदत्त भूमि से उनका केन्द्र का नियन्त्रण ढीला पड़ रहा है। राजाओं ने भू अनुदान प्रथा को ना केवल बढ़ावा दिया। अपितु गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल के साक्ष्यों से स्पष्ट है कि अब धार्मिक के साथ लौकिक धर्म निरपेक्ष अनुदान भी आम प्रचलन की बात हो गई। अब ब्राह्मणों, मठों मन्दिरों के अतिरिक्त सैनिकों, राज्यअधिकारियों को भी उनकी तनख्वाह के एवज में भू अनुदान दिए जाने लगे। इसका कारण एक से अधिक है।

1. प्रथमतः जैसा कि आर०एस० शर्मा कहते हैं कि प्रथम सहस्त्राब्दी के आस-पास बाजार में भेजे जानेवाले माल के उत्पादन में कमी आई, और शहरी केन्द्रों और विदेशी व्यापार का त्याग हुआ, जिससे आत्मकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का विकास हुआ जिसमें धातु के सिक्के दुर्लभ हो गए और इसीलिए सारा भुगतान (चाहे पुरोहित हो या सरकारी अधिकारी) या तो भूमिदान के द्वारा करना आवश्यक हो गया।

2. विदेशी बाजारों में भारतीय माल की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिए माल उत्पादन के अलावा खेती की पैदावार और नकदी फसलों की उपज में व द्धि करने की जरूरत थी। अतः भूमिदानों के समकालीन दस्तावेजों में हम व्यापारिक महत्त्व के खास 2 पेड़ लगाने की सिफारिशों का उल्लेख मिलता है। अतः आमतौर पर दो प्रकार की भूमि अधिकारियों तथा ब्राह्मणों को उनकी सेवाओं के बदले में दी जाती थी। परती भूमि ताकि अधिक से अधिक भूमि को जोताधीन लाया जा सके तथा क षि उत्पादन पर विभिन्न कारणों से पड़ रहे दबाब को कम किया जा सके यहाँ तक कि सामूहिक स्वामित्त्व की सम्पत्ति जैसे चारागह, जलाशय आदि का स्वत्त्व भी प्रारम्भिक मध्यकाल में दानग्राही को सौंपा जाने लगा।

दूसरे राज्य में सीमावर्त्ती इलाकों में स्थित भूमिखंड तथा गाँव ही अधिकतर अनुदानित किए जाते थे। ताकि उन दूर दराज के इलाकों में भी केन्द्रीय नियन्त्रण बना रह सके। अतः भूअनुदान के पीछे राज्य का मकसद पुण्य कमाने के साथ-साथ बंजर व अजोत भूमि को जोताधीन लाना भी रहा।

अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार की भूमि अनुदानित की जाती रही होगी। भूमि को अक्सर निम्न वर्गों (किस्म) में बाँटा जाता है ऊर्वरा अर्थात् जोत भूमि, बंजर, नीची, ऊँची, पहाड़ी (पथरीली) दलदल, तटीय तथा वास भूमि आदि। परन्तु स्म तियों के आधार पर राज्यभूमि को निम्न भागों में बाँट सकते है- (1) राजकीय भूमि (2) बँटाईदार या पट्टेदार के अधिकृत भूमि (3) अनिवासीय तथा अजोत परती भूमि। इन मुख्य तीन प्रकार की भूमि को आगे फिर वर्गीकृत किया है। डी. सी. सरकार के अनुसार राजकीय भूमि को ही पाँच किस्तों में बाँटा जा सकता है (1) राजा की व्यक्तिगत भूमि (2) वह भूमि जिसकी उपज के कुछ निश्चित भाग पर पर शाही परिवार, सरकारी अधिकारी, अफसरों का अधिकार हो (3) वह भूमि जिसकी जुताई बुवाई आदि राजकीय अधिकारियों की देख-रेख में होती हो (4) वह भूमि जिस पर जुताई का काम अस्थायी पट्टेदार अधबटाई पर कतरे हो (5) (6) परती

(अजोत व बेकार पड़ी) भूमि भू अनुदान पत्रों से ऐसा लगता है कि सभी प्रकार की भूमि अनुदान प्रदत्त थी।

भारत में लगभग सभी भागों से प्राप्त अधिकतर भूमि अनुदानों में अप्रहृत, खिल, भूमिच्छिद्र न्याय और अवनिरन्ध्रन्याय (जो परती भूमि के सूचक हैं) शब्दों का (भले ही परम्परागत अर्थ में हो) प्रयोग किया गया है। सैद्धान्तिक इन शब्दों का प्रयोग भू अनुदानों के मकसद को स्पष्ट करता है। परती भूमि का दान केवल सिद्धान्त मात्र ही नहीं था अपितु बंगाल, मध्यप्रदेश तथा भारत के अन्य भागों में भूमि अनुदान की प्रथा केवल खेती वाली भूमि और ग्रामीण बस्तियों तक ही सीमित नहीं थी। ऐसे अनेकों उदाहरण मौजूद हैं जहाँ काफी मात्रा में परती भूमि अनुदानित की गई जैसे जंगली जमीन को आबाद करने का पहला स्पष्ट उल्लेख छठी सदी के एक अभिलेख में मिलता है जो गोवा के कदंब राजवंश से सम्बन्धित है (इस अभिलेख के अनुसार एक ब्राह्मण को जंगल के एक टुकड़े को साफ करके उसमें खेती करने के लिए श्रमिकों के चार झुंडों को लगाने के लिए अधिकृत किया गया इसी प्रकार गौरी बिदनूर तालूके के 762 के अभिलेख में एक-एक कश्यप ब्राह्मण का उल्लेख है जिसे विभिन्न प्रकार की नई जमीनें दान में दी गई और साथ ही जंगल की भूमि का भी स्वामित्त्व दिया जो उन चारों गाँवों की सामान्य सीमा थी जिनमें से ये जमीने दी। सातवीं शताब्दी से अभिलेखों से ब्राह्मणों तथा लोकनायकों (सैन्य व अन्य अधिकारी) को बंजर जमीन हस्तांतरित करने से सम्बन्धित आर०एन० नंदी के अनुसार, अभिलेखों की भरमार है कोलार जिले के सिदलाघट्ट तालुके में प्राप्त 9वीं सदी एक वीरगल में एक गाँव का उल्लेख मिलता है। जिसके 74 श्रेष्ठ जनों ने गाँव की रक्षा में प्रदर्शित व हाडरी के लिए एक लोकनायक को पाँच हल चावल का खेत और पाँच हल बंजर भूमि प्रदान की। एक अन्य प्रसंग में एक सरदार के भतीजे को उसकी बहादुरी के लिए एक कंडुक चावल का खेत और एक कंडुग बंजर जमीन प्रदान की गई। इस प्रकार बंजर जमीन को कृषि योग्य बनाने और अबाद करने का फर्ज शासक, ब्राह्मण मालिकों, सामन्तों उनके मातहत सामन्तों सभी का था किन्तु भूमि अनुदानों में बार-बार अप्रहत खिल तथा भूमिच्छिद्रन्याय आदि शब्दों के गुजरात एवम् महाराष्ट्र के भूअनुदानों में अवतरित होने के बावजूद गंगा द्रोणी, गुजरात और महाराष्ट्र में सामान्यतः बसे हुए गाँव और कृषि वाली भूमि ही दान में दी जाती थी।

अतः स्पष्ट है कि भूमि दोनों ही प्रकार की भूमि अर्थात् जोत, अजोत, उर्वरा तथा बंजर अनुदान दोनों ही प्रकार की भूमि अनुदानित की जाती थी। यद्यपि प्रारम्भ में भूमिदान देने का चलन मुख्यतः राजाओं और उनके परिजनों तक ही सीमित था परन्तु कालांतर में जमीन के मालिक व्यापारिक श्री मंत भी पुण्य तथा प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए भूअनुदानित करने लगे।

भूमि अनुदानों का आर्थिक इतिहास निर्माण के स्रोत के रूप में महत्त्व

भूमि अधिकार पत्रों में निहित सामग्री

किसी ठेठ प्रतिनिधि भूमि-अनुदान में क्या-क्या बातें होती हैं, जब तक हम इसका विश्लेषण नहीं कर लेते तब तक यह समझना भी मुश्किल होगा कि सामाजिक और आर्थिक विकास के अध्ययन के सिलसिले में भूमि-अधिकारपत्रों या चार्टरों का महत्त्व होता है। सामान्यतः अधिकार पत्र (चार्टर) का जिन विषयों से सम्बन्ध है वे हैं—दाता, दानग्राही, दान की गई भूमि, अधिकारी वर्ग, राजवित्तीय कर, अनुदान का अवसर और अनुदान का उद्देश्य। अंतिम भाग में, अधिकांश अनुदानों में विरोधियों को श्राप दिए जाते हैं और अनेक में प्रबंधकर्त्ता (वसीयत को कार्यान्वित करनेवाले अधिकारी) और कातिब का नाम भी रहता है। दाता के विवरण के अंतर्गत एक तो अनेक (आमतौर पर पाँच या छह) पीढ़ियों तक उसकी परंपरा का विवरण दिया जाता है और कई बार उसकी वंशपरंपरा का संबंध अतीत में सूर्य तथा चंद्र वंश से स्थापित किया जाता है। अनुदान में उसकी विजयों का वर्णन रहता है, पराजय

का उल्लेख कभी नहीं होता। उसके नाम के साथ कई विशेषण लगे रहते हैं जो उसकी राजनीतिक स्थिति, धार्मिक संबंध और उसकी कुछ उपलब्धियों को व्यक्त करते हैं, हालाँकि वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण होता है। वह गुणों का मूर्तिमान आदर्श प्रतीत होता है, और कभी-कभी कला एवं साहित्य में उसकी उपलब्धियों का गुणगान किया जाता है। धर्म के निमित्त उसके दान-दक्षिणा को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जाता है। अनुदान में दाता की राजधानी या उस विजय-शिविर (विजयस्कन्धावर) का भी उल्लेख होता है जहाँ से उसे जारी किया जाता है।

दानग्राहियों का परिचय

दानग्राहियों या लाभभोगियों के पूर्वव त्त का भी कुछ विस्तार से विवरण दिया जाता है। चूँकि आम तौर पर वे ब्राह्मण होते हैं, अतः वे अपने गोत्र और प्रवर से पहचाने जाते हैं, और सामान्यतः उनके मूल निवास का उल्लेख किया जाता है—उस स्थान का जहाँ से उनके पूर्वजों ने किसी समय स्थानांतरण किया था। किंतु उनके वंशव क्ष में उतनी पीढ़ियों का उल्लेख नहीं रहता जितनी कि दाताओं के विवरण में रहता है, हालाँकि उनके कुछ पूर्वजों का, जो विद्या-बुद्धि में बढ़े-चढ़े हों, बाकायदा उल्लेख किया जाता है। जिस वैदिक शाखा के अध्ययन से वे जुड़े हुए हों उसका जिक्र भी रहता है, और उनकी साहित्यिक उपलब्धियों तथा गुणों को महिमामंडित किया जाता है। उन्हें दी गई भूमि या गाँव के वर्णन के साथ-साथ ये सभी विवरण ब्राह्मणों के स्थानांतरण और उनकी बस्तियों के बारे में अच्छी-खासी सामग्री प्रदान करते हैं। हमारे पास कुछ थोड़े-से अनुदान-पत्र हैं जिनमें सैकड़ों-हजारों ब्राह्मण दानग्राहियों के नाम आते हैं।

विभिन्न अधिकारियों की जानकारी में भूमिदान अभिलेख का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंश है अधिकारियों की सूची, जिन्हें भूमिदान अनुदान की जानकारी दी जाती है तो उनके नाम और पदनाम दोनों का उल्लेख रहता है या फिर केवल पदनाम का। यह सूची पूर्ण नही हैं, किन्तु इसमें एक हद तक ही श्रेणीक्रम का अनुपालन किया जाता है और अधिकतर पदाधिकारियों की परिगणना उनके पद का कोई ख्याल रखे बिना की जाती है। ये राज्य कर्मचारी विभिन्न राजवित्तीय, लेखकीय, सैन्य और प्रशासनिक कार्य संपादित करते हैं, फिर भी, पदनामों से राज्य संगठन के स्वरूप की जानकारी मिलती है और व्यक्ति नामों से जाति की भूमिका की।

भु-अनुदानों जिन करों से दानग्राही या दान की गई जमीन अथवा गाँव की छूट दी जाती है वे भी भूमि अनुदान की विषय-वस्तु का अभिन्न अंग होते हैं। करों की सूची एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एक काल से दूसरे में बदलती रहती है। कुछ अनुदानों में सभी राजस्वगत करों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाता है, किंतु दूसरों में उनकी सूची में "इत्यादि" "निश्चित (और) अनिश्चित", "उचित (और) अनुचित" जैसे शब्द जुड़े रहते हैं। नकद, जिन्स या श्रम के रूप में दिए जानेवाले विभिन्न करों का, छूट के लिए, अलग-अलग निर्देश का आशय यह है कि वे लाभग्राही को हस्तांतरित किए जा सकें—उस लाभग्राही को जिसे और भी अनेक राजनीतिक एवं प्रशासनिक छूटें प्रदान की गई हैं। अन्य भूमि अनुदानों में कर एवं प्रशासनिक शक्तियाँ स्पष्ट और विधिवत रूप से सौंप दी गई हैं। कुछ अधि ाकारपत्रों में गाँव में रहनेवाले किसानों और शिल्पियों के साथ-साथ भूमिखंड़ों पर काबिज काश्तकारों को सीधे स्थानांतरित कर देने की व्यवस्था है, अन्य में अनुदानभोगी को यह अधिकार दे दिया है कि वह मौजूदा किसानों को बेदखल कर सकता है और उनके स्थान पर नए किसान बसा सकता है।

आमतौर पर करों और छूटों की सूची दिए जानेवाली भूखंड या गाँव के विवरण के साथ जुड़ी हुई है। इस भूमि या गाँव की स्थिति एवं पहचान भूमि अनुदान का एक जरूरी भाग है। गाँव के नाम और उसकी भौतिक स्थिति के वर्णन से भी यह संकेत मिल सकता है कि वह अकृष्ट क्षेत्र अजोत में स्थित है या अर्धकृष्ट क्षेत्र में अथवा बसे हुए क्षेत्र में। इसकी सीमाओं से (जिनका कई बार स्पष्ट उल्लेख

किया गया है) उसकी भौगोलिक एवं पारिस्थितिक स्थिति की जानकारी मिल सकती है। यदि इसमें कृषि-संसाधनों जैसे फसलों, पेड़-पौधों, तालाबों, चारागाह आदि का उल्लेख भी हो तो वह जानकारी और आगे बढ़ सकती है। इसके अतिरिक्त, अनेक भूमि-अनुदानों में उन राजस्वगत एवं प्रशासनिक इकाइयों के नाम भी दिए जाते हैं जिनमें वह भूमि/गाँव स्थित है। कभी-कभी तो यह नाम श्रेणीक्रम के अनुसार रहते हैं। अनेक उल्लेखित भूमि अनुदानों में गाँव के वयोव द्ध जनों और विभिन्न प्रकार के निवासियों की जाति के अनुसार पहचान की गई है। उनके उस गाँव के सामाजिक परिवेश के बारे में कुछ जानकारी मिल सकती है। जब काफी संख्या में दानग्राही आ जाते हैं तो उनमें से प्रत्येक को बाँटे गए भूक्षेत्र के अनुसार उल्लेख किया जाता है। किंतु इस तरह के सामूहिक भूमि अनुदानों में, जो प्रायः ब्राह्मण-समुदायों को किए गए हैं, असमान भूमि वितरण के ज्यादा उदाहरण नहीं मिलते।

संबद्ध भूमि या ग्राम अनुदान किस अवसर पर दिया गया है, इसका भी अधिकार पत्रों में यथास्थान उल्लेख है। कई अनुदान श्रौतसूत्रों में बताए गए विभिन्न प्रकार के वैदिक यज्ञों के अवसर पर दिए गए थे (श्रौतसूत्रों पर मध्यकाल में अनेक टीकाएँ लिखी गई थीं।) इस तरह के अनेक यज्ञ नए बने क्षत्रियों ने अपनी स्थिति को वैधता प्रदान करने के लिए किए थे। पुराने क्षत्रियों ने अपनी स्थिति मज़बूत करने और ज्यादा प्रतिष्ठित दिखाई देने के लिए ये यज्ञ संपादित किए थे। पारिवारिक यज्ञ एवं संस्कारों का संपादन भूमि अनुदान के लिए उपयुक्त अवसर होता था। राजा तब तीर्थस्थानों की यात्रा पर जाते थे—और आरंभिक मध्यकाल में यह एक आम प्रथा थी—तो वे इसका शुभारंभ भूमि अनुदान से करते थे। कई बार यज्ञ और तीर्थयात्राएँ युद्ध में विजय प्राप्त करने के साथ जुड़ी होती थीं। इस विजय के अवसर पर उपहार बाँटने का एक अन्य उपयुक्त मौका मिलता था, जिससे धन्यवाद-ज्ञापन भी हो सकता था और विजय को सुद ढ़ करने का माध्यम भी।

अनुदान के उद्देश्य का विवरण

अनेक अधिकारपत्रों में अनुदान के उद्देश्य और प्रयोजन को साफ़-साफ़ व्यक्त कर दिया गया है। प्रेरक कारणों और उद्देश्यों के बीच विभाजक रेखा खींचना बहुत मुश्किल है। दाता स्वयं अपने और साथ ही अपने पूर्वजों व पारिवारिक सदस्यों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए भूमिदान करता है। धर्म के लाभ एवं व द्धि और पूर्वजों की प्रतिष्ठा को बार-बार अनुदान के मूल अभिप्राय के रूप में पेश किया गया है। किंतु भूमि या गाँव इसलिए दिए जाते हैं ताकि उन्हें पानेवाले कुछ धार्मिक कृत्य पूरे कर सकें (मंदिरों के संदर्भ में ख़ासतौर से यही बात है) और वैदिक अध्ययन की किसी की व द्धि में योग दे सकें या फिर अग्रहार नाम से विख्यात धार्मिक-शैक्षिक संस्थाएँ चला सकें। अग्रहार और ब्रह्मदेय ब्राह्मण को जीविका प्रदान करते थे, यह तो एक प्रकार से स्पष्ट ही है। मंदिरों, मठों, बौद्ध विहारों तथा जैन बस्तियों को ये अनुदान इसलिए दिए जाते थे ताकि वे धार्मिक, शैक्षिक और दीन-दुखियों की सहायता जैसे मानव-प्रेम के कामों को संपन्न कर सकें। हालाँकि इनके उल्लंघन के उदाहरण भी मिलते हैं, किंतु अनुदानों में यह निर्देश नहीं है कि लाभग्राही या तो अमुक-अमुक कर्त्तव्यों का पालन करें या फिर अनुदान की पुनर्वापसी के लिए तैयार रहें। दूसरी ओर उत्तराधिकारी राजकुमारों को यह कहकर डराया-धमकाया गया है कि यदि उन्होंने अनुदानों को दोबारा छीन लिया तो उन पर सभी तरह की विपत्तियाँ टूट पड़ेंगी। दाताओं के प्रति लाभभोगियों के जो राजनीतिक-सामाजिक दायित्त्व हैं उनका उल्लेख प्रायः नहीं है। कर-शासन कहलानेवाले कुछ अधिकारपत्रों के अनुसार दानग्राहियों से कुछ-एक कर अदा करने को कहा गया हैं और कुछ अन्य उदाहरणों में उनसे राजा के ख़िलाफ देशद्रोह करने से दूर रहने का निर्देश दिया गया है। किंतु जैसा कि आर०एस० शर्मा मानते हैं कि राजद्रोह से दूर रहनेवाली शर्त को मान लिया गया है कि वह स्वतः स्पष्ट है, अतः अधिकारपत्र (चार्टर) में उसका उल्लेख कभी-कभार ही किया गया है।

अधिकतर भूमि-अनुदानों में क़ातिब और अनुदान निष्पादन का नाम भी शमिल रहता है। इनमें अनुदान निष्पादन करनेवाले बिना अपवाद के युद्ध और शांति से संबद्ध अधिकारी होते हैं जो स्त्रांधिविग्रहिक कहलाते हैं। जो साक्षर शिल्पी अनुदान को उत्कीर्ण करता है उसका नाम अनेक अधिकार पत्रों (सनदों) में आया है।

यह मानी हुई बात है कि भूमि अनुदान विशेष रूप से ऐसे आलेख हैं जो पत्थर या ताँबे की पट्टिका पर उत्कीर्ण होते हैं। यद्यपि गुप्तकाल की स्म तियों में यह संकेत किया गया है कि अनुदान नाशवान सामग्री, जैसे कपड़ा और भूर्जपत्र आदि पर लिखे जाते थे, वे हमारे समय तक बचे नहीं रह सके हैं। जो पुराने-से-पुराने अभिलेख अभी तक पढ़े जा सके हैं वे अशोक द्वारा जारी किए गए थे। इनमें से एक अभिलेख में धार्मिक आधार पर ल़गान-माफ़ी का उल्लेख किया गया है, किंतु भूमि-अनुदान की चर्चा किसी में नहीं है—हालाँकि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रथा को मान्यता दी गई है। अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर पहले-पहल भूमि अनुदान प्रथम शताब्दी ई० पू० दक्कन में सातवाहनों ने जारी किए थे, उनके समसामयिक कुषाणों ने नहीं—हालाँकि विदेशी शासक होने के नाते कुषाणों के लिए यह अच्छा मौका था कि वे अपने अनुयायियों तथा बौद्ध धर्म के समर्थकों को विजित प्रदेश के कुछ हिस्से बतौर इनाम में बाँट देते। ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी के दौरान उत्तर भारत में अभिलेखीय भूमि-अनुदान एकदम अनुपस्थित नहीं है किंतु सातवाहनों तथा इक्ष्वाकुओं ने ज्यादा अनुदान जारी किए। दक्कन अनुदानों के बाद मध्य भारत में चौथी-पाँचवी शताब्दियों के दौरान गुप्त सामंतों ने बड़े पैमाने पर ये अनुदान जारी किए हालाँकि गुप्त सम्राटों द्वारा जारी कुछ थोड़े-से अनुदान ही उपलब्ध हैं। हर्ष और उनके बाद आरंभिक मध्यकालीन राजवंशों के अनेक शासकों ने व्यापक स्तर पर भूमि अनुदान किया।

कालक्रम निर्धारण

साहित्यिक स्रोतों की तुलना में इन अधिकार पत्रों की मूल्यवत्ता कहीं ज्यादा है। धर्मशास्त्रों पर पाण्डुरंग वामन काणे के अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य के बावजूद, उनका काल-निर्धारण एक-दो शताब्दी की गुंजाइश से ही किया जा सकता है। किंतु गुप्तकाल से भूमि अनुदानों में आमतौर पर तिथि दी गई है। जहाँ तिथि का उल्लेख नहीं है वहाँ आमतौर पर पुरा लिपिशास्त्र के आधार पर उसका काल-निर्धारण किया जा सकता है जिसमें अंतर का फैलाव उतना ज्यादा नहीं होगा जितना उस समय के स्म ति-साहित्य में होगा। पुनः भूमि अनुदान किस क्षेत्र से संबद्ध है यह भी निर्धारित किया जा सकता है किंतु स्म ति-ग्रंथों के बारे में निश्चय के साथ ऐसा कर पाना संभव नहीं है। यही नहीं, स्म तिकार और कालक्रम के अंतर के बाजवूद स्म ति-ग्रंथ संपत्ति-विभाजन और सीमा-विवाद के बारे में परंपरागत प्रावधानों को दुहराते हैं जिससे भू-व्यवस्था में आए परिवर्तनों की जाँच-पड़ताल करना मुश्किल हो जाता है। आधुनिक इतिहास के विद्यार्थियों को कदाचित यह सब भूमि अनुदान का गुण न प्रतीत हो क्योंकि उनके स्रोत वस्तुतः देश-काल की द ष्टि से सुनिश्चित होते हैं। किंतु इससे निश्चय ही उन विद्वानों को कुछ मदद मिलेगी जो प्रारंभिक भारत के आर्थिक जीवन के सुनिश्चित विकास को विशिष्ट रूप से समझना चाहते हैं।

भू-अनुदान पत्रों की स्रोत के रूप में खामियाँ

जाली अनुदान तथा गुमराह करने का प्रयास

फिर भी, ऐतिहासिक स्रोत के रूप में भूमि अनुदान की कुछ अपनी ख़मियाँ हैं। असली अनुदानों को जाली अनुदानों से अलग करना होगा क्योंकि चालाक ब्राह्मण (जिन्हें कभी-कभी लम्पट की संज्ञा दी गई है) भूसंपत्ति को हस्तगत करने और उसमें व द्धि करने के लिए कई बात गढ़ लेते थे। प्रामाणिकता

का रंग देने के लिए इन अनुदानों में परंपरागत पद्धति का पालन किया गया है और जो वंशावली दी गई है, वह भी सही है। किंतु, नाम क्षेत्र और भूमि से संबद्ध अन्य विवरणों के बारे में गलत सूचना दी गई है। ऐसे अनुदानों को कूटशासन कहा गया है। पुनः भूमि अनुदानों में सार को थोथे से अलग करने की प्रव त्ति एकदम अनुपस्थित भी नहीं है। अधिकतर अनुदानों में एक आदर्श प्रारूप अपनाया गया है और जिसकी शब्दावली से हमेशा वास्तविक स्थिति का पता नहीं चलता। इस प्रकार ये अनुदान सनातन काल के लिए दिए गए हैं और उनके बारे में यह दावा किया गया है कि जब तक सूरज और चाँद रहेगा तब तक वे बने रहेंगे। किंतु गुर्जर-प्रतिहारों के शासनकाल में हमें इनके प्रतिग्रहण और नवीनकरण के उदाहरण मिलते हैं।[2] इसी प्रकार चंबा अभिलेखों में कुछ अधिकारियों तथा अन्य लोगों को अनुदान दिए जाने की सूचना है। किंतु लगता है कि ये ही वे लोग हैं जिनका इसी क्रम में उल्लेख पाल अभिलेखों में भी है। कुछ नेपाली अनुदान राज्यों तथा पूर्वी भारत के बीच संबंध का स्वरूप क्या था। प्रारूपों में जो समानता दिखाई देती है, हो सकता है उसका स्रोत एक ही हो। हिमालयी क्षेत्रों की भाषाओं और मिथिला, बंगाल, असम और उड़ीसा की भाषाओं में कुछ सामान्य अभिलक्षण दिखाई देते हैं—विशेष रूप से क्रिया-रचना की द ष्टि से वे परस्पर काफ़ी मिलती-जुलती हैं। चाहे अधि ाकारियों की सूची हो या देवताओं की, जब सुदूरवर्ती क्षेत्रों के अनुदानों में समानताएँ दिखाई दें तो इस बात की जाँच करना उचित होगा कि उन प्रारूपों की बनावट कहाँ तक क्षेत्रीय थी और कहाँ तक वे अपने-अपने क्षेत्रों में प्रामाणिक माने गए। भूमि अनुदानों में राजा का जो प्रशस्ति-गान दिखाई देता है उससे आर्थिक जीवन पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, किंतु असम के एक भूमि अनुदान में, रघुवंश के श्लोकों को शब्दशः पुनः प्रस्तुत कर दिया है अभिलेखों में साहित्य से लिए गए ऐसे उद्धरणों से हमें सावधान रहना चाहिए। चूँकि आरंभ में बहुत बड़े पैमाने पर अनुदान ब्राह्मणों को दिए गए थे, अतः इन अनुदानों में आमतौर पर जिस उद्देश्य का विशेष उल्लेख किया गया है वह धार्मिक तथा पारमार्थिक है। किंतु कायस्थों तथा अन्य ब्राह्मणेतर मातहतों तथा अधिकारियों के संदर्भ में जब इसी उद्देश्य को अनुदान के कारण के रूप में पेश किया जाता है तो इसमें कोई तुक-ताल दिखाई नहीं देती। इस प्रकार अनुदानों के जो उद्देश्य घोषित किए गए हैं वे अपने वास्तविक उद्देश्य, परिणाम और निहितार्थों के बारे में हमें गुमराह कर सकते हैं।

आर्थिक इतिहास की जानकारी के रूप में अनुदान पत्रों का उपयोग

आर्थिक इतिहास के एक स्रोत के रूप में, भूमि अनुदानों के अध्ययन के दो तरीके हो सकते हैं। एक तो कृषि के विस्तार, आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था, भू-स्वामित्त्व, उत्पादकता-दर, कृषि तथा विभिन्न शिल्पों के बीच संबंध, जोत-क्षेत्रों का विखंडीकरण या चकबंदी, मुद्रा-अर्थव्यवस्था के इस्तेमाल आदि के बारे में हमें कुछ आधारभूत प्रश्न पूछ सकते हैं। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि हम भूमि अनुदानों के बारे में उपलब्ध आर्थिक सामग्री का जाने-पहचाने शीर्षकों के अंतर्गत सम्यक विश्लेषण करें। आर०एस० शर्मा के अनुसार दूसरी प्रक्रिया पहले आनी चाहिए और उसे पहली प्रक्रिया की बुनियाद का काम करना चाहिए। विस्त त अध्ययन का अर्थ यह होगा कि आवंटित ग्रामों के साथ-साथ हम उन राजस्वगत इकाइयों को पहचानें जिनमें वे गाँव स्थित थे। उन ग्रामों का विवरण नई बस्तियों की स्थापना पर या फिर मौजूदा बस्तियों में सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया पर कुछ प्रकाश डाल सकता है। हम राजपूतों द्वारा चलाए हुए बहुग्राम राजस्व इकाइयों की (multiple-village fiscal units) जाँच-पड़ताल कर सकते हैं। अकबर के युग में या फिर आधुनिक काल में, कुछ क्षेत्रों में ग्रामों की संख्या के आधार पर ब्राह्मणों द्वारा अनुदान के रूप में अधिकृत गाँवों के अनुपात का मोटा अंदाजा लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए गाहड़वाल राज्य जो 60 पत्तलों में विभाजित था, के मुख्य पुजारी जागु शर्मा और उसके पुत्र को 18 पत्तलों में गाँव अनुदान के रूप में दिए गए। अनुदानों से यह भी पता चल सकता है कि आवंटित जमीन कृष्ट थी या परती-हालाँकि उनमें उन तरीकों का

जिक्र नहीं है जिनसे परती जमीन को खेती के लायक बनाया जा सके।

कर व्यवस्था की जानकारी सभी अनुदानों में दानपाने वालों को सौंपे जानेवाले सारे राजस्व देयों की चर्चा की गई है। किंतु जहाँ गुप्तकाल के उद्रंग तथा उपरिकर जैसे शब्दों के अर्थ विवाद से परे नहीं है, वहाँ गाहड़वाल अनुदानों के प्रवणिकर, बिसंतिअठुप्रस्थ, यमलिकम्बलि, कुमरगदिआणक, बरबझे जैसे शब्दों का अर्थ अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है। कदाचित तत्कालीन अपभ्रंश साहित्य की सहायता से उन्हें समझने में मदद मिल सकती है। करों में क्षेत्रीय अंतर के बावजूद, यह भी देखना जरूरी है कि एक ही क्षेत्र में, विशेष रूप से उड़ीसा और असम जैसे क्षेत्रों में, सुसंस्कृत और पिछड़े हुए क्षेत्रों के बीच जो अंतर पाए जाते हैं उनके लिए कौन से कारक उत्तरदायी हैं। इससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि गाँवों द्वारा राज्य को देय करों का यदि कालानुसार आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जाए तो कर-व्यवस्था के विकास के प्रमुख चरणों की पहचान हो सकती है। गाहड़वाल अनुदानों में शायद लगभग दस करों का उल्लेख है, किंतु अन्य अनुदानों के अध्ययन से यह पता चलता है कि करों के बोझ में व द्धि हुई या उसमें कमी आई, उत्पीड़न व्यक्तिगत था या उसे संस्था का रूप दे दिया गया था, अथवा क्या लोगों की अदायगी-क्षमता में व द्धि हुई थी।

लाभभोगियों के भू अनुदानों में कृषि अधिकार

आरंभिक मध्यकालीन अनुदानों में लाभभोगियों को कुछ कृषि-अधिकार जैसे चारागाह, सिंचाई-सुविधाएँ, नदी, पेड़-पौधे, पहाड़ आदि के इस्तेमाल के अधिकार भी हस्तांतरित किए गए हैं, किन्तु हमें नहीं मालूम कि क्या इन अधिकारों का राजकीय संरक्षण में गाँव द्वारा सामूहिक रूप से उपभोग किया जाता था या फिर ये केवल दानग्राहियों को दिए गए पूर्णतः राजकीय विशेषाधिकार थे। इससे हमें भू-स्वामित्त्व की समस्या हल करने की दिशा में कुछ सहायता मिल सकती है। अब तक इस समस्या पर जितनी चर्चा हुई है वह सैद्धांतिक ही रही है और उसका आधार मूलतः साहित्यिक कृतियों का अध्ययन रहा है। भूमि अनुदानों का अध्ययन बहुत ही सावधानी से करने के बाद ही यह पता चल सकता है कि भूमि का कहाँ तक सामूहिक, राजकीय और व्यक्तिगत स्वामित्त्व था, कहाँ तक एक स्वामित्त्व का दूसरे से टकराव था। साथ ही क्या यह प्रथा समय बीतने के साथ परिवर्तित होती गई। जहाँ तक ब्राह्मणों का संबंध है, उन्हें क्रमशः जो और अनुदान दिए गए उनसे निजी स्वामित्त्व की प्रक्रिया आगे बढ़ी। उनका भूधारण अधिकार राजकीय अधिकारपत्र (सनद) पर आश्रित था जिसके द्वारा उन्हें फलोपभोग का अधिकार हस्तांतरित किया जाता था। किंतु चूँकि यह अनुदान वंशानुगत था और साथ ही राज्य कर से मुक्त भी, अतः व्यवहार में यह भूमि की मिलकियत जैसा ही था। यदि जैसा कि आर०एस० शर्मा कहते हैं कालक्रमिक रूप में दानभोगियों के क्षेत्रानुसार चार्ट (सारणियाँ) तैयार किए जाएँ तो हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि संख्या तथा आर्थिक द ष्टि से ब्राह्मणों (व्यक्ति के स्तर पर और सामूहिक स्तर पर), मठों, मंदिरों, जागीरदारों और नागरिक तथा सैनिक अधिकारियों की—जिन्हें अनुदान के रूप में भूमि दी गई थी—उनकी सापेक्षिक ताकत क्या थी। यदि उपसामंतीकरण के उदाहरणों से अलग चार्ट संकलित किए जाएँ तो वे भूमि व्यवस्था में बिलौचियों के विभिन्न स्तरों पर प्रकाश डाल सकते हैं।

भूमि अनुदानों में कृषि-उत्पादन के गठन के बारे में सूचना प्राप्त की जा सकती है। पूरे गाँव के हस्तांतरण का आशय था उसके साथ किसानों का भी हस्तांतरण जो अपनी उपज का एक अंश बिचौलियों को भी देते थे—हालाँकि अनुदानों में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किंतु चंदेल तथा उड़िया राजाओं द्वारा जारी कुछ अनुदानों में दानग्राहियों को किसान, शिल्पी, व्यापारी आदि हस्तांतरित किए जाने का स्पष्ट उल्लेख है। यह प्रथा इसलिए अपनाई गई थी ताकि किसानों तथा दस्तकारों को गाँव की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था चलाने के लिए विवश किया जा सके, और यह तत्त्व हमारे मन में कृषिदास-प्रथा की याद ताज़ा कर देता है। छठी शताब्दी ई० से पश्चिम तथा मध्य भारत के अनेक

अनुदान भूमि को जोतने-बोने और उसका उपभोग करने का अधिकार देने के साथ-साथ अनुदानभोगियों को यह अधिकार भी देते हैं कि वे चाहें तो अन्य लोगों से खेती कराएँ या उन्हें उसका उपभोग करने दें। इससे यह संकेत मिलता है कि आवंटित इलाकों में उत्पादन-स्त्रोत पर किसानों का नियंत्रण नहीं था। किंतु भूमि-अनुदानों के आधार पर यह पता लगाया जाना अभी शेष है कि कृषिदास-प्रथा, बटाईदारी और अल्पकालिक किसानों की प्रथा कितनी व्यापक और मज़बूत थी।

कृषि उत्पादन

अनेक अनुदानों में ऐसे संसाधनों और उत्पादकों के नाम दिए गए हैं जो विभिन्न क्षेत्रों की खास विशेषताएँ हैं। चंदेल अनुदानों में यह दर्शाया गया है कि ईख, कपास और सन पूर्वी मध्य भारत की महत्त्वपूर्ण नकदी फसलें थीं। असमी अनुदानों में अनेक लाभदायक व क्षों, जैसे जामुन, बेल, आम, सेमल आदि का उल्लेख है। चंदेल, गाहड़वाल तथा अन्य अनुदानों में हस्तांतरित भूमि के प्रमुख उत्पादों में नमक तथा लोहे का नाम लिया गया है। बहुत से अनुदानों में भूमिगत तथा भूमि की सतह पर उपलब्ध अनेक खदानों तथा खज़ानों का ज़िक्र है। यदि साहित्यिक स्रोतों के साथ पढ़ा जाए तो अनुदानों के इन अभिलेखीय आलेखों के आधार पर पुराने उत्पादों के क्षेत्रीय विस्तार, नए उत्पादों के आरंभ तथा खदानों, नदियों आदि के निकट स्थित होने के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों के महत्त्व का पता लगाया जा सकता है।

भूमि प्रबन्ध की जानकारी सातवाहन अनुदानों के समय से ही, जिनमें निवर्तन का भूमि मापने का इकाई के रूप से उल्लेख है, गुप्तकालीन तथा आरंभिक मध्यकाल के अनुदानों में संबद्ध भूमि की माप भी दी गई है। आधुनिक शब्दावली में विभिन्न मापों का क्या अर्थ है, माप की ये इकाइयाँ राज्य द्वारा प्रसारित थी या पूरी तरह स्थानीय थीं—यह अभी नहीं माना गया है। बंगाल और असम के कुछ अधि ाकारपत्रों में कीमत के साथ-साथ भूमि की पैमाइश और उपज की मात्रा भी दी गई है। यदि हम उनके आधुनिक समानक ज्ञान कर सकें तो उनके आधार पर उत्पादकता की सापेक्षिक दर के साथ-साथ ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के दौरान लोगों की क्रय-शक्ति का भी पता लगाया जा सकता है। विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन के मोटे अनुमान से यह दर्शाया जा सकता है कि आरंभिक मध्यकाल में क्या उपज में आम व द्धि हुई थी। इस संदर्भ में इस बड़े प्रश्न पर भी विचार किया जा सकता है कि क्या सामंती अर्थव्यवस्था ने उत्पादन की नई शक्तियों को जन्म दिया था। इसके अतिरिक्त प्रौद्योगिकीय विकास में संबंधित जाँच पड़ताल की जानकारी के साथ जोड़ा जा सकता है। भूमि अनुदानों में अरहटों (फारसी पहिए) का उल्लेख है जिसका राजस्थान तथा गुजरात में सिंचाई के लिए इस्तेमाल शुरू किया गया। भूमि अधिकार पत्रों से सिंचाई-सुविधाओं के प्रसार के बारे में कुछ जानकारी मिल सकती है। इन सुविधाओं में पश्चिमी भारत तथा देश के अन्य भागों में कुओं से पानी निकालने के साथ-साथ कुएँ एवं तालाब बनवाने की विविध पद्धतियाँ शामिल हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वापी शब्द, जिसका अभिलेखों में बार-बार प्रयोग किया गया है, 'वप्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है बोना। वापी को बाउली या सीढ़ीदार कुआँ कह सकते हैं। इसका एक अर्थ छोटा तालाब भी है। भूमि-अनुदानों में यह दर्शाया गया है कि लगभग 1000–1300 ई० के बीच दक्षिणी राजस्थान और उत्तरी गुजरात में भारी संख्या में वापियों का निर्माण कराया गया था।[12]

मुद्रा व्यवस्था की जानकारी—परवर्ती अनुदानों में यह पता चल सकता है कि सिक्कों का प्रयोग कहाँ-कहाँ होता था। उड़ीसा राजाओं तथा सेन शासकों के कुछ अनुदानों में मुद्रा-मूल्य में लगान आँकने के कुछ अनुमान दिए गए हैं, किंतु यह कह पाना मुश्किल है कि वसूल नकदी में होती थी या नहीं। पालों के भूमि-अनुदानों में शौल्किक और तरिक का ज़िक्र है जिससे यह आशय निकलता है कि व्यापार पूरी तरह लुप्त नहीं हुआ था। परमार, चालुक्य और चाहमान अभिलेखों में दुकानों तथा पण्य वस्तुओं की बिक्री से द्रम्मों के रूप में आय का उल्लेख है। गुजरात और राजस्थान के अनुदानों

से यह प्रकट होता है कि ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दियों में ऐसी व्यापारिक गतिविधियाँ उभरनी शुरू हो गई थीं जिनके लिए उन्हें परवर्ती काल में प्रसिद्धि मिली।

शहरों के स्वरूप की जानकारी भूमि-अनुदान आरंभिक मध्यकाल में शहरों के इतिहास और स्वरूप की जानकारी के लिए भी उपयोगी हैं। उनमें अनेक विजय-शिवरों या अल्पकालिक राजधानियों का (जिन्हें स्कंधावार कहते थे) उल्लेख है जहाँ से ये अनुदान जारी किए जाते थे। पाल अनुदानों में तो नौ जयस्कंधावारों की चर्चा है जो अपने आप में अनुत्पादक होते हुए भी विभिन्न किसानों और हस्तशिल्पियों की उत्पादक गतिविधियों के बिना जारी नहीं रह सकते थे। समय बीतने के साथ इनमें से कुछ, नियमित अंतराल पर लगनेवाले बाज़ारों की (जिन्हें अनुदानों में हट्ट कहा गया है) तरह, शहरों के रूप में विकसित हो गए। अनुदानों के आधार पर कुछ शहरों (जैसे ग्वालियर के निकट सीयडोणि पट्टन) की आर्थिक गतिविधियों की पुनर्रचना में मदद मिल सकती है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों के भूमि-अधिकारपत्रों में उल्लिखित शहरों के स्वरूप के अध्ययन से हम इस धारणा की जाँच पड़ताल कर सकते हैं कि भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया तुर्क-अफ़गानों ने शुरू की थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भूमि-व्यवस्था ही नहीं वरन् फसलों, हस्तशिल्पों, व्यापार, मुद्रा-अर्थव्यवस्था, कर-व्यवस्था, सिंचाई-साधनों, स्थानांतरण और बस्तियों के इतिहास के लिए भी भूमि अनुदानों का बहुत महत्त्व है।

(ग) किसानों की दशा
(Condition of Peasantry)

किसानों को परिभाषित करने की दशा में बहुत से प्रयास हुए हैं परन्तु इनमें तकरीबन सारे के सारे पश्चिम के सामाजिक वास्तविकता के प्रतिफल हैं तथा अन्तर्द्वन्द्वों से ग्रसित है। परन्तु फिर कुछ परिभाषाएँ है जिनके भारतीय किसान को परिभाषित करने का सफल प्रयत्न किया गया है। इरफान हबीब ने भारतीय किसानों को चिद्धित करने के क्रम में इस समूह में वैसे ही लोगों को रखा है जो अपने मन से और अपने औजारों तथा पारिवारिक श्रम की मदद से खेती करते हैं। इससे ऐसा लगता है 'कृषकों की श्रेणी में भू स्वामी, काश्तकार तथा भूमिहीन किसानों को तो रखा जा सकता है परन्तु भूमिहीनों को इस शर्त पर कि कृषि कर्म के लिए उनके पास आवश्यक पूँजी हो यह परिभाषा, विजय कुमार ठाकुर के अनुसार पूँजीवादी परिभाषा से तो भिन्न है। परन्तु अवधारणागत अस्पष्टताएँ इसमें भी निहित हो इसी अस्पष्टता के फलस्वरूप कभी-कभी कृषक समुदाय और ग्राम्य समुदाय को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है। इरफान हबीब की यह परिभाषा च्यानोम की अवधारणा से मेल खाती है। कृषक को ऐसे 'छोटे कृषि उत्पादकों', के रूप में देखते हैं जो साधारण औजारों और पारिवारिक श्रम की मदद से मुख्यतः अपने इस्तेमाल तथा राजनीतिक और आर्थिक सत्ताधारियों के आचारपूर्ति के लिए उत्पादन करते हैं। वी०के० ठाकुर के अनुसार कृषक को परिभाषित करने के लिए दो तथ्यों पर जोर देना होगा। (1) भू-स्वामित्व, (2) श्रम। जहाँ एक ओर ऐसे भू-स्वामियों को जो किसी भी रूप में अपना श्रम कृषि-उत्पादन में नहीं लगाते, कृषक श्रेणी से अलग रखना होगा वहीं दूसरी ओर उन सभी भूमिहीन श्रमिकों को इस श्रेणी में रखना होगा जिनका श्रम ही युगों-युगों से कृषि-उत्पादन का आधार रहा है।

यद्यपि आधुनिक विद्वानों के बीच कृषक किसे कहें मतभेद है परन्तु प्राचीन परम्परा में इस पर स्पष्टता है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में किसान के लिए जिन शब्दों का उपयोग किया है वे भले ही आज की मान्यताओं के अनुरूप उनमें परिभाषागत बाध्यता नहीं हो, पर वे वास्तविकता को पूर्णतः अनुरुपित करती है। गहपति एवम् कुटुम्बिन/कुटुम्बिक का सदभर्गत विश्लेषण हो तो इनमें एवम् किनाश (किसान) कृषिबल, क्षेत्रजीवी, कृषिक, कर्षक आदि शब्दों के बीच निहित क्रियागत अलगाव स्पष्ट हो

जाता है। इससे अतिरिक्त पामर, हलवाहक, दास कुम्भकार आदि शब्द इस समस्या का एक अन्य आयाम है जो भूमिहीन तो थे परन्तु कृषक उत्पादन की प्रक्रिया में इनके श्रम की भूमिका महत्वपूर्ण थी। अतः जैसा कि वी०के० ठाकुर कहते हैं इन्हे कृषक श्रेणी से अलग करना अवांछनीय होगा और इस वास्तविकता को स्वीकार न करने पर गाँव में व्याप्त उत्पादन संबन्धों को सही से समझ पाना असंभव हो जाएगा। ये भिन्न-भिन्न कृषक समूह एक व हत कृषक समुदाय के अंग थे। इन समूहवाची शब्दों में अन्तर्निहित एक समानता का तत्त्व है और वी०के० ठाकुर के अनुसार वह है इनमें निर्माण में वर्ण/जाति का आधार न होना। अतः जैसा कि ठाकुर कहते हैं, प्राचीन काल में कृषि एक वर्ण/जाति मुक्त व्यवसाय था हालाँकि इनमें से अधिमत शब्दों का अर्थ समय के साथ-साथ परिवर्तित होता चला जाता है परन्तु फिर भी भूमि नियन्त्रण, जो समाज में किसी की हैसियत की जानकारी का प्रमुख मापदंड है, के मापदंड के साथ भूमिहीन कृषि कृषक भी कृषक समुदाय के महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक अंग है।

पूर्वमध्यकाल/सामन्तकाल में किसानों की स्थिति

हमने देखा कि यद्यपि कृषकों के विभिन्न घटक थे स्वतंत्र किसानों का जिक्र न करके उन्हीं किसानों का जिक्र करेंगे जो स्तरित कृषक वर्ग (stratified peasantry) रहे हैं। कृषकों के ऊपरी वर्ग (upper stratum) के प्रमाण भी मिलते हैं जो अन्य किसानों पर अपनी धाक जमाए हुए थे। मनुस्म ति में एक कृषक (क्षेत्रीकस्य) का वर्णन मिलता है। जिसने कि भाड़े के सेवादार तथा मजदूरों को अपनी नौकरी में रखा हुआ था। इसी प्रकार मिलिन्दपान्हों में भी ऐसे किसान का जिक्र है जिसने कि अपने खेत पर मेहनत करके बहुत अन्न उत्पन्न किया तथा वह गरीब व जरूरतमन्दों का मालिक बन बैठा। इसी प्रकार कामसूत्र में एक कृषक के बेटे का वर्णन आता है कि किस प्रकार ग्राम मुखिया (ग्रामधिपति) तथा ग्राम अधिकारी (ayukta) की भाँति ग्राम स्त्रियों से अपने खेतों व घर में बेगार लेता था वे उसके लिए सूत कातकर लाती थी। यह किसान द्वारा किसान के शोषण का स्पष्ट उदाहरण है हालाँकि प्राचीन काल में इस प्रकार का उदाहरण बहुत ही rare उदाहरण है। परन्तु यहाँ हम किसानों में विभिन्न वर्गों की बात न करके केवल उन्हीं आम किसानों की दशा का वर्णन करेंगे सामन्तीय व्यवस्था में बटाईदार काश्तकार के रूप में काश्तकारी कर रहा था तथा विभिन्न प्रकार की यातनाओं का शिकार हो रहा था व अर्धदासत्व (sent) का जीवन जी रहा था।

एक व्यापक अवधारणा के रूप में सामंतवाद अपने जिन विशेषताओं के द्वारा जाना जाता है, उनमें मुख्य हैः किसानों तथा अन्य सामान्य जन की गतिशीलता पर प्रतिबंध सीमित कारोबार वाली अर्थव्यवस्था तथा बिचौलिए जमींदारों और शासक भूस्वामियों के कुलीन तंत्रीय सोपानात्मक (हाइरार्किकल) संगठन का प्रादुर्भाव। इस विषय पर प्रो. रामशरण शर्मा ने कुछ समय पूर्व चीनी विवरणों के साथ-साथ अनेक प्रकार के पुरालेखीय प्रमाणों और भारतीय संदर्भों में कुछ समकालीन आलेखों का परीक्षण किया है। उन्होंने इस बात का पता लगाया है कि ईसा की छठी शताब्दी से मध्य भारत के आस-पास के और उड़ीसा के पिछड़े इलाकों में एक गाँव के सभी किसानों में हस्तांतरण की प्रथा प्रचलित थी। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त असम, बंगाल (सेन अनुदान), बिहार, बुंदेलखंड (चंदेल अनुदान), राजस्थान, महाराष्ट्र और खंभात के पहाड़ी राज्य से प्राप्त 11वीं और 12वीं शताब्दियों के कुछ अभिलेख भी शासकों द्वारा धार्मिक संस्थाओं और ब्राह्मणों को अनुदान में दी गई भूमि और गाँवों के हस्तान्तरण के साथ-साथ व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से, किसानों, और कुछ जगह दस्तकारों और व्यापारियों तथा ग्राम परिचरों का भी हस्तान्तरण करते हैं। इस प्रकार के कुछ धर्मनिरपेक्ष अनुदान भी देखने को मिलते हैं।

किसानों, दस्तकारों आदि के स्थानांतरण पर लगाई गई रोक, उनके परावलंबन और अधीनता के विषय में अभिलेख स्पष्ट रूप से कुछ नहीं बताते। इससे कुछ विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला कि गाँव

का दान वास्तव में गाँववासियों सहित गाँव का दान है जिसका अर्थ है कि गाँव में राजा की करदाता प्रजा अब से अनुदानग्रही कर देगी। यह तर्क दिया गया है कि गाँव के अनुदान के संदर्भ में किसानों, दस्तकारों आदि का उल्लेख न तो उनके स्थानांतरण पर किसी तरह की रोक और न उनकी पराधीनता की ओर इंगित करता है। यह केवल इतना बताता है कि उनमें से कुछ दास थे और ग्राम परिचरों के रूप में राजकीय भूमि या सामूहिक ग्राम भूमि का उपयोग करते थे या अन्य व्यवसायों में थे जिनके करों पर राज्य का एकाधिकार था।

पुराण, धर्मशास्त्र और अन्य किस्म के समकालीन साहित्य अभिलेखों से प्राप्त सूचना के पूरक हैं और उसका स्पष्टीकरण करते हैं। 'स्कंद पुराण', जो लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के बीच के काल का माना जा सकता है, दिलचस्प जानकारी प्रदान करता है। इसमें प्राचीन काल में राजा राम द्वारा कतिपय धार्मिक अनुष्ठानों को पूरा करने के बाद 18,000 ब्राह्मणों को 36,000 वैश्यों और उनसे चार गुने शूद्रों के साथ अनेक गाँवों के पौराणिक अनुदान का एक लंबा वर्णन किया गया है। वैश्य और शूद्र स्पष्टतः आदाताओं की सेवा के लिए थे, जिन्होंने बाद में अपने बीच गाँवों का बँटवारा कर लिया। राम ने इस प्रकार हस्तांतरित लोगों को आदाताओं के आज्ञापालन और निष्ठापूर्वक सेवा का आदेश दिया। उन्होंने यह भी घोषित किया कि नम्रतापूर्वक उनकी सेवा करनेवाला शूद्र सम द्ध होगा और उसे स्वर्ग प्राप्त होगा; इससे मुँह मोड़ने वाला निर्धनता का शिकार होगा। आदाताओं के कार्य में विघ्न डालने वाले यवनों, म्लेच्छों, दैत्यों या राक्षसों को जलाकर राख कर डालने की धमकी दी गई। कथा इस प्रकार आगे बढ़ती है कि कलियुग में जैन मत के अनुयायी राजा कुमारपाल द्वारा, जिसे ब्रह्ममणों ने कुमारपाल (जो कान्यकुब्ज में रहता था) के ससुर तथा अधिपति राजा अमा से कुमारपाल की शिकायत की लेकिन वे उसकी सहायता से अपने गाँव वापस पाने में सफल न हो सके। अंत में उनमें से कुछ हनुमत की सहायता लेने रामेश्वर सेतुबंध गए। इस भगवान को अपनी विपत्ति की कथा कहते हुए उन्होंने केवल राम द्वारा अपने पुरखों को अनुदत्त गाँवों पर ही नहीं बल्कि उन वैश्यों और शूद्रों पर भी अपने अधिकार का दावा किया जिनके पुरखे अनुदत्त गाँवों के साथ हस्तांतरित किए गए थे। हनुमत की सहायता से वे राजा को उनकी सेवा के लिए 'अधबिज' के नाम से जानेजाने वाले शूद्रों के साथ उन्हें कुछ गाँवों का अनुदान देने के लिए राजी कराने में सफल हो गए। यहाँ 'द्विजों' की निष्ठापूर्वक सेवा करनेवाले और जैन मत से दूर रहनेवाले शूद्र 'उत्तम' माने गए हैं। इसके विपरीत निर्देशों का उल्लंघन करनेवाले शूद्र और 'विप्र' भी ग्राम अनुदान के परिणामस्वरूप उभरे ढाँचे में बाँध दिए जाते थे जैसा कि 'प्रतिबंधेन योजित' की व्यंजना से प्रकट है। शूद्रों और वैश्यों के लिए निर्धारित आदर्श आचरण था : आदाताओं की सेवा करना, उन्हें कर देना और निष्ठापूर्वक उनके साथ बने रहना।

सामाजिक चेतना को सामाजिक अस्तित्त्व से एकदम प थक नहीं माना जा सकता और इस प्रकार यह कथा याजकीय व त्तिभोगियों के स्वामित्व की जागीरों में मौजूद वास्तविक स्थितियों पर प्रकाश डाल सकती है। यह एकदम स्पष्ट है आदाताओं से संबद्ध, हस्तांतरित शूद्र और वैश्य दास नहीं थे। न ही उनमें से सभी ग्राम-परिचर थे। आदाताओं की आजन्म सेवा और कर देयता को लेकर अधीनता का संबंध पीढ़ी दर पीढ़ी जारी रहता सोचा गया प्रतीत होता है। स्थानांतरण पर रोक लगाने के लिए धार्मिक अनुमोदन आवश्यक था। स्त्रोतों से स्पष्ट है कि इस संदर्भ में कई बार जबरदस्ती भी की गई।

इस निष्कर्ष के प्रचुर प्रमाण मौजूद हैं। 600-1200 ई. के मध्य शूद्र मुख्य रूप से किसान थे, यद्यपि उनके कुछ हिस्से औद्योगिक कलाओं और शिल्पों के साथ-साथ अन्य धंधों में भी लगे थे। यह माना जाता है कि शूद्र प्रारंभिक काल में मुख्यतः दास और मजदूर थे, उनका किसानों में रूपांतरण भारत में सामंतवाद के विलय के द ष्टिकोण से एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। वैश्यों को शूद्रों के स्तर तक नीचे ले आने की प्रव ति के चिह्न प्रारंभिक काल में देखे जा सकते हैं वह इस काल में काफी जोर पकड़

चुकी थी।

मेधातिथि (नवीं शताब्दी) ने उच्च वर्णो के सदस्यों पर शूद्रों के सामान्य परावलंबन के सिद्धांत को दोहराया है और एक उपप्रमेय के रूप में शूद्रों के, अपने स्वामियों के इलाके में परिसीमन पर बल दिया है। यह स्वभावतः उनके स्थानांतरण पर रोक की बात कहता है- जिससे किसानों और अन्य कामगारों को अधीन बनाए रखने के लिए मध्यस्थ भूस्वामियों और शासक सरदारों के हाथ ही मजबूत हुए। इस प्रकार 'मनुस्म ति' के एक श्लोक पर टिप्पणी करते हुए वह कहते हैंः

> चूँकि शूद्रों का कर्तव्य द्विजों की सेवा करना है, अतः इसके चलते शूद्रों को उन्हीं के इलाके में रहना चाहिए और अपनी जीविका अपने आश्रय, द्विज की सेवा से प्राप्त करनी चाहिए। उस दशा में जबकि शूद्र का परिवार बहुत बड़ा है या वह सेवा के अयोग्य हो जाता है तो धन अर्जित करने के लिए वह किसी भी अन्य ऐसे देश में जाकर रह सकता है जहाँ म्लेच्छ अधिक संख्या में न हों।

फिर भी एक अन्य स्थान पर मेधातिथि धनी शूद्र के उच्च वर्ण के लोगों की अधीनता से मुक्ति के अधिकार को मान्यता देते हैं।

शूद्रों की दासता एक धार्मिक विचारधारा में देखी जा सकती है जिसने प्रारंभिक मध्यकाल में बहुत जोर पकड़ा। इस तथ्य के बावजूद कि उन्हें तालाब, कुएँ, भोजनग ह, उद्यान इत्यादि का दान करके (पूर्तधर्म) पुण्य अर्जित करने का अधिकार था, मेधातिथि ने इस आधार पर उन्हें चौथे आश्रम के फल यानी मोक्ष का अधिकार नहीं दिया कि वे केवल ग हस्थ की ही भाँति रह सकते हैं और द्विजों की सेवा तथा संतानोत्पत्ति करके ही पुण्यार्जित कर सकते हैं। 11वीं शताब्दी में अलबरूनी ने केवल शूद्रों की ओर ही नहीं, वैश्यों की ओर भी इसी प्रकार का रूख पाया, यद्यपि उसने इस द ष्टिकोण से असहमत अन्यों का भी उल्लेख किया है।

जाति प्रथा पर जैन आक्षेप लगाते थे, लेकिन सोमदेव सूरि की 'यशतिलक' (10वीं शताब्दी) के अनुसार उनके रूढ़िवादी हिस्से ने यह धारणा बना ली थी कि शूद्र धार्मिक दीक्षा के लिए अधिकृत नहीं है। शूद्र को आध्यात्मिक मुक्ति के अधिकार की मनाही को उसकी सांसारिक दासता का प्रतिबिंब माना जा सकता है तो भी 11वीं और 12वीं शताब्दी तक तांत्रिक और अन्य अनेक धार्मिक संघ उभरकर आ चुके थे जिन्होनें शूद्रों के मुक्ति के अधिकार को मान्यता दी।

हमें सरदारों और शासकों की जागीरों और रियासतों के माध्यम से किसानों और अन्य कामगारों की स्थिति के विषय में थोड़ा बहुत पता लगता है। लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) के 'राजधर्मकांड' में उद्ध त 'नारद-स्म ति' के एक पद्य में अपनी जीविका के साधनों के लिए शासन पर आश्रित लोगों को, उसकी 'तपस' या तप की शक्ति द्वारा उसको क्रीत माना गया है और उन्हें उसका आज्ञाकारी रहने का आदेश दिया गया है। यहाँ राजनीतिक इकाई को प्रतिबंधों के अंदर काम करते अधीनों के समुदाय के रूप में लिया गया है। इस संदर्भ में लक्ष्मीधर द्वारा 'वर्त' शब्द की व्याख्या कृषि, पशुपालन इत्यादि के रूप में की गई है। इसका व्यापार वाला अर्थ छोड़ ही दिया गया है जो प्राचीन आलेखों में इसका आवश्यक अवयव रहा है। यह कृषि प्रधान सामाजिक ढाँचे की प्रधानता की ओर इंगित करता है।

'बौद्धदोहा' (चरियापद 12) से अज्ञान में डूबा 'चित्त' बंधन का मूल कारण माना गया है, यह ठक्कुर कहलाता है, और 10वीं शताब्दी के बाद से शासक भूस्वामी अभिजात वर्ग की एक प्रसिद्ध उपाधि है। 'उपमितिभाव प्रपंच कथा' (10वीं शताब्दी का प्रारंभ) में भी , जिसमें सामंती वर्ग स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है, 'संसार' के बंधन को सरदार या शासक की जागीर के समतुल्य रखा गया है। इस आलेख के कुछ पद्य बताते हैं कि शासक के राज्य में रहनेवाले दयनीय लोग जीवननिर्वाह के साधनों के लिए

उस पर आश्रित थे और केवल म त्यु ही उन्हें उस परिसीमित ढाँचे से बाहर लाकर उस दासता से मुक्ति दिला सकती थी। इस द ष्टांत में अतिशयोक्ति के तत्त्व होने के बावजूद, इसकी वास्तविकता से इंकार नहीं किया जा सकता।

'ब हन्नारदीय पुराण' (9वीं शताब्दी) के एक पद्य में किसानों की दासता ध्वनित होती है जो खेती करने के लिए हल से बंधे व्यक्तियों (बद्धहलैः) का उल्लेख करता है और कलियुग में कृषि के ह्रास की बात कहता है। इस संदर्भ में 'लेखापद्धति' में 'भूमिसंस्था' के लिए एक मानक दस्तावेज भी महत्त्वपूर्ण है। एक क्षेत्र के गाँवो के निवासियों को किसी राजा द्वारा अधिकारपत्र (गुण पत्र) दिया गया है। उसमें झोपड़ियों में रहते किसानों (कुटुंबको) से सूची में उनके नामों के सामने दर्ज भूमि (निवंध भूमि) में खेती करने और उसके किसी भी हिस्से को अनुपजा छोडने पर दंड पाने तथा स्थानीय रीतियों के अनुसार कर और सेवाएँ देने के लिए कहा गया है। जिसमें स्थानीय अधिकारियों, ग्राम दस्तकारों आदि को उपज का एक भाग अदा करना भी शामिल है। इसमें खलिहान से धान, गेहूँ, जौ, सन और लता के बीज उपलब्ध कराने की व्यवस्था है। बाकी बीजों का प्रबंध किसानों की जिम्मेवारी है। किसानों को अनाज का दो तिहाई सरदार के हिस्से के रूप में उसके कोठार में डालने के लिए कहा गया है। बाकी बचा एक तिहाई उनके खुद के लिए है। यह भी कहा गया है कि अनाज की चोरी पकड़े जाने पर किसान को एक बार चेतावनी दी जाएगी लेकिन यदि वह इसे जारी रखता है तो उसे उपज के अपने हिस्से से हाथ धोना पड़ेगा और अंततोगत्वा उसे गाँव से निकाल दिया जाएगा। किसानों की शिकायतें व्यक्तिगत तौर पर न सुनी जाकर तभी सुनी जाएंगी जब चार किसान इकट्ठे होकर गुणपत्र के साथ जाएँगे। गाँव छोड़कर कहीं और चले जानेवाले किसान के खेत, अनाज, पशु और अन्य संपत्ति सरदार या शासक द्वारा हस्तगत कर ली जाएँगी।

यहाँ शोषित और परावलंबी किसान वर्ग बटाईदारों के एक प्रकार को दर्शाता है जो उपज के केवल एक तिहाई के अधिकारी थे। इन सबको पश्चिमी भारत और राजस्थान में एक स्थानीय प्रथा के रूप में लिया जा सकता है क्योंकि आलेख इन्हीं क्षेत्रों की स्थितियों का चित्रण करता है। लेकिन बहुत से प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि बटाईदारी की प्रथा ह्रास काल में व्यापक रूप से प्रचलित हो रही थी-सबसे अधिक इस तथ्य से कि पारसस्म ति (200–900ई.) में पहली बार अर्धिका (बटाईदार) का उल्लेख एक प थक मिश्र जाति के रूप में हुआ है।

इस दस्तावेज को आलेख में बाद की तारीख (संवत 1407) का बताया गया है, लेकिन यह उससे पहले की परंपरा का चित्रण करता है। 'लेखापद्धति' के प्रमाण के साथ जिनसेन (9वीं शताब्दी) के 'आदि पुराण' का प्रमाण रखा जा सकता है। यह भी उसी क्षेत्र की स्थिति को चित्रित करता है। 'आदि पुराण' शासक को एक गोपालक की भाँति अपनी प्रजा की रक्षा करने और उसे आजीविका देने का निर्देश करता है। यह भी कहा गया है कि एक पशुपालक जैसे अपनी गायों को हरे-भरे चारागाह में चराने के बाद अपने हित के लिए उनका दूध दुहता है, वैसे ही राजा को भी कर्मांतिकों के लिए बीज उपलब्ध कराके तथा अन्य प्रयास करके उनसे भक्त ग्रामों मे उपज करवानी चाहिए। भूमि का समनुदेशन भी इसी में सन्निहित है। उसे अपने शासन के अन्य क्षेत्रों में किसानों से यही करवाना चाहिए और उन सबसे उपज का उचित भाग वसूल करना चाहिए। अतः शासक मुख्य रूप से एक भूस्वामी कृषक के रूप में चित्रित होता है। किसान, विशेष रूप से भक्त ग्रामों के किसान, शासक और भूमि पर अवलंबन की दशा में बटाईदार या अस्थायी श्रमिक प्रतीत होते हैं। जाहिर है कि सारा विवरण किसान दासता की संस्था को वैधता देने का प्रयास दीखता है। इसी प्रकार की भाड़े के अवलंबन की प्रथा बौद्ध मठों की भूमि मे पाई जाती है जो किसानों को खेत और बैल उपलब्ध कराते थे और साधारणतया उपज का छठा हिस्सा वसूल किया करते थे। फिर भी दर्शाने के लिए प्रमाण नहीं है कि किसान घोर दासता की स्थिति में थे।

दक्षिण भारत के एक अभिलेख (1173 ई.) का भी उल्लेख किया जा सकता है जो दिखाता है कि कमोबेश परिसीमित अर्थव्यवस्था की स्थानीय इकाइयों के छोटे लोगों के आंदोलनों पर किस प्रकार प्रतिबंध लगाने के प्रयास किए जाते थे। अभिलेख इस प्रकार है:

> जो गाँव से बाहर इन क्रियाकलापों में भाग लेंगे; माना जाएगा की उन्होनें कानून का उल्लंघन किया है, जन समुदाय के प्रति अपराध किया है और गाँव को बरबाद कर दिया है।

गाँवों का आपेक्षिक अलगाव सदा से भारतीय सामाजिक आर्थिक ढाँचे की विशेषता रही है, लेकिन इस काल में सामंतवादी प्रव त्तियों के कारण, किसी हद तक परिसीमित अर्थव्यवस्था से पोषित स्थानीयवाद इतना अधिक बढ़ गया कि प्रत्येक गाँव में अपनी अलग ही प्रकार की प्रथाएँ और मान्यताएँ विकसित हो गई। 'ब्रह्मनारदीय', 'देवी भागवत' और 'स्कंद' पुराणों के बाद के परिच्छेदों में देशधर्म और जातिधर्म के साथ ग्रामचर, ग्रामधर्म और स्थानचर की प्रथाओं के बारे में बताया है। स्थानीयवाद और क्षेत्रीयवाद को बढ़ाने में सामंतवादी का सक्रिय हाथ रहा। फिर भी गाँव पूर्णतः अलग-थलग इकाई नहीं कहे जा सकते। धर्म में और शादी-ब्याह जैसे अन्य कई मामलों में बाहर की दुनिया से संपर्क और संबंध स्थापित होते थे।

भोज (11 वी शताब्दी) के 'युक्तिकल्पतरू' में एक स्थान पर किसानों के प्रति राजकुमारों और सरदारों के रूख और स्थानीय कृषि अर्थव्यवस्था को बनाए रखने की उनकी उत्सुकता भी व्यक्त होती है। आलेख में प्रत्येक गाँव में किसानों को इस आधार पर संरक्षित, या सही-सही कहें तो सुरक्षित, रखने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है क्योंकि सारी सम द्धि का मूल कृषि उनकी ही मेहनत पर निर्भर करता है। इस प्रकार के रूख ने किसानों के स्थानांतरण पर पुनः रोक लगाई होगी और उनकी दक्षता को और अधिक मजबूत किया होगा। गाँवों के अनुदान में उस काल के शासकों ने मंदिरों, मठों, ब्राह्मणों और अधिकारियों के अधीनस्थों को ग्राम निवासियों पर नामपात्र के अधिकार वाली मालगुजारी का अनुदान नहीं दिया बल्कि किसानों, दस्तकारों आदि पर सुस्पष्ट अधिकरणयुक्त जागीरें प्रदान की। पहले प्रकार के अनुदानों में भी लोगों पर व त्तिभोगियों के अधिकार बहुत बढ़ सकते थे, विशेषतः केंद्रीय शासन के शक्तिहीन हो जाने की स्थिति में। पर आवश्यक नहीं है कि यह हर समय लोगों को दासता की ओर ही ले गया हो। पिछड़ी अर्थव्यवस्था वाले क्षेत्रों में इसकी संभावना अधिक बनी रही।

उत्तर गुप्त काल में श्रेणीबद्ध रूप से संगठित अभिजात शासक वर्ग के प्रादुर्भाव और विशेष रूप से, स्थानीयवाद के लक्षणों से युक्त कृषि ढाँचे में मुद्रा विनिमय वाली अर्थव्यवस्था की अक्षम कार्यप्रणाली के साथ स्वाभाविक रूप से बेगार का परिमाण और प्रसार बढ़ता चला गया। सरदारों और ग्रामधिपतियों की जागीर वाले क्षेत्रों में तथा राजाओं के राज्यों में भारी कर वसूली और दमन के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। कुछ क्षेत्रों में कानून से इतर और मनमाने आहरण कानून करार दे दिए गए।

सरदारों, अधिकारियों, सेनापतियों और ब्राह्मणों तथा धार्मिक संस्थाओं की भी जागीरें, मेनर के नाम से विख्यात यूरोपीय सामंतवाद के जागीरदारों को जागीरों के साथ केवल मौटे तौर पर ही समानता रखती है जो मार्क ब्लाक के अनुसार अपने मालिकों द्वारा, जिनसे वे पुश्तैनी रूप से जुड़े थे, कभी संरक्षित, कभी आदिष्ट और कभी पीड़ित होते अधीनों का सबसे पहला समुदाय था लेकिन 'कृषि पर आधारित आर्थिक, सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था' के रूप में आर्थिक विकेंद्रीकरण तथा वस्तुविनिमय की अर्थव्यवस्था के युग से भली प्रकार अनुकूलित प्राचीन मेनर (जमीदारों) व्यवस्था अपने भारतीय प्रतिरूप से कई मानों में भिन्न थी। भारतीय स्थिति में किसानों की दासता और परावलंबन की गहराई और फैलाव पश्चिमी सामंतवाद में किसान वर्ग की दासता से बहुत कम था जिसने किसानों को अपने स्वामी के खेत में काम और विभिन्न करों के भुगतान के बोझ तले पीसकर उन्हें स्वामी और

भूमि पर आश्रित बना दिया।

'ब हन्नारदीय पुराण' बताता है कि अकालों और करों के बोझ से उत्पन्न घोर संकट में लोग बड़ी संख्या में गेहूँ और जौ की पैदावार वाले सम द्ध क्षेत्रों में जाकर बस गए। विद्याकर (12 वीं शताब्दी1) के 'सुभाषितरत्न कोष' के एक पद्य में कहा गया है कि भोगपति (भूस्वामी या सामंत सरदार) द्वारा संत्रस्त लोगों ने गाँव छोड़ दिया। फिर भारत में मजदूरी की सामाजिक भूमिका इतनी महत्त्वहीन नहीं हो पाई थी जितनी पश्चिम की मेनरी व्यवस्था में। बी०एन०एस० यादव के अनुसार इस काल में धर्मशास्त्रीय साहित्य के व्यापक प्रसार से उसमें विद्यमान धर्म के नियंत्रक सिद्धांतों ने, कमोबेश इंग्लैंड के जन कानून की भाँति, सामंतवाद के मुख्य लक्षण स्थानीयवाद के विरुद्ध काफी महत्त्वपूर्ण एकीकारक शक्ति का काम किया होगा, ऐसी संभावना है। परिणामस्वरूप न्याय और सामाजिक प्रथाएँ, जिनमें संपत्ति नियम भी आते हैं, बहुत अधिक सामंतीकृत नहीं हो पाई। इस तथ्य के बावजूद कि यहाँ उस प्रकार की कुछ प्रथाएँ मौजूद थी, सामंती नियमों का संश्लिष्ट तंत्र भारत में मध्यकालीन यूरोप के कुछ भागों की भाँति व्यवस्थित और द ढ़ नही हो पाया।

भारतीय अर्थव्यवस्था में इतना परिवर्तन नहीं आया था कि वे सभी प्रव त्तियाँ यहाँ पैदा हो सकतीं जो क्लासिकी पश्चिमी सामंतवाद में नजर आती हैं। पश्चिमी सामंतवाद में इसकी सामान्य समरूपता के लिए शायद प्रथम सामंती युग अर्थात् क्लासिकी सांमत काल की मेनरी व्यवस्था को देखने की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी परवर्ती सामंतवाद को, जो 12वीं शताब्दी में प्रादुर्भूत हुआ और जिसके प्रमुख लक्षण हैः भूसंपत्ति के परिणाम में दास, बेगार में कमी, भूस्वामी द्वारा जागीर के व्यक्तिगत शोषण का त्याग, किसानों का उत्पादकों के रूप में परिवर्तन और भारी कर देने की उनकी विवशता लेकिन आर्थिक रूप से उनका स्वतंत्र होना और सबसे अधिक, मानव प्रभुत्व के बंधन में सापेक्षित शिथिलता।

इस ओर इंगित किया गया है कि संभव है कि यदाकदा दासता में शूद्रों ने हिंसा का आश्रय लिया हो। इस संबंध में महिपाल और रामपाल के समय बंगाल मे हुए कैवर्तों के सशस्त्र विद्रोह की ओर ध्यान खींचा गया है। लेकिन इस प्रकार के उदाहरण बहुत अधिक नहीं है और उस समय की भारत की स्थिति मध्यकालीन यूरोप की तरह की नहीं जान पड़ती। परंपरावाद को जकड़, तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में लोगों को संतुष्ट बनाए रखनेवाली एक विशेष प्रकार की धार्मिक और सामाजिक विचारधारा, समाज का विभाजन, विशेषतः अनेक जाति समूहों के रूप में शूद्रों का भारी संख्या में उद्‌भव, आदि बातों ने संगठित सशस्त्र विद्रोह की संभावना को बहुत कम कर दिया। फिर भी कुछ प्रमाण शूद्रों की दुर्दम्यता को दर्शाते हैं। 'स्कंदपुराण' इस पर हल्की-सी टिप्पणी देते हुए उन आदेशपत्र के उल्लंघन की बात करता है जिनके अंतर्गत, ये गाँव व त्तिभोगियों के अधिकार में थे। 'कथासरित्सागर' की एक कहानी भी इस ओर इंगित करती है कि अत्याचार और कुशासन के कारण जागीरदार अपने अधिकार क्षेत्र से हटाकर बाहर फेंके जा सकते थे। लेकिन यह नहीं ज्ञात है कि यह इस प्रकार की परिस्थितियों के अंतर्गत ग्राम अनुदानों के पुनर्ग्रहण के फलस्वरूप हो सकता था या जनविद्रोह से।

साहित्यिक, जनसांख्यिकीय और मुद्राविषयक आँकड़े 11वीं और 12वीं शताब्दियों में, विशेषकर पश्चिमी भारत में, व्यापार की प्रगति और मुद्रा के ज्यादा व्यापक प्रयोग की ओर इंगित करते हैं। उस काल के साहित्य और अभिलेखों में उल्लिखित कृषि के ढंग और फसलें कृषि अर्थव्यवस्था के विकसित स्तर को सूचित करते हैं। स्वाभाविकरूप से इन आर्थिक विकासों ने किसानों और दस्तकारों के स्थानांतरण पर रोक को कम करने में योगदान किया होगा। लेकिन दूसरी और जातिव्यवस्था में प्रतिफलित होते परंपरावाद और आत्मनिर्भर ग्राम अर्थव्यवस्था ने स्थानीयवाद के साथ सामाजिक और भौगोलिक अगतिशीलता को बल प्रदान किया। अतः किसी भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की संभावना ही समाप्त हो गई। फिर भी इन दो घटकों में एक ही प्रमुखता पर आधारित क्षेत्रीय परिवर्तन द ष्टिगोचर

हो जाते हैं।

12वीं शताब्दी में गाहड़वालों के राज्य की स्थितियों का चित्रण करती 'लतकमेलका' में ऐसा दिखाया गया है कि गाँव का सरदार संग्रामवीसर सभी संभव साधनों से धन कमाने के लिए बहुत सचेत है। प्रकटतः इस प्रकार का रूख मजदूरी के कुप्रयोग और छोटे ग्रामीणों के स्थानांतरण पर रोक को हटाने में सहायक था। 'राजतरंगिणी' इस बात की साक्षी है कि कश्मीर में मुद्रा प्रचलन था जहाँ कई बार बेगार के लिए भी भुगतान धन (पैसों) से किया जाता था। मजे की बात है कि बहमनों, चालुक्यों, परमारों, गाहड़वालों और चंदेलों के 11वीं और 12वीं शताब्दियों के कुछ अभिलेखों मे 'विष्टि' (बेगार) शब्द स्पष्टरूप से अनुपस्थित है। फिर भी यह आवश्यकरूप से बेगार की पूर्ण समाप्ति को लक्षित नहीं करता; विशेषरूप से इस तथ्य को द ष्टि में रखते हुए कि कुछ समकालीन साहित्यिक कृतियों में इस शब्द का उल्लेख हुआ है।

सामंतीय ढाँचे ने विकसित होती हुई अर्थव्यवस्था के अनुरूप अपने को बदला, इस बात के कुछ प्रमाण मौजूद हैं। कुछ चाहमान अनुदानों (12वीं शताब्दी) में इस बात का विशेष उल्लेख मिलता है कि भूमिहीन किसानों का ईश्वर के पास हस्तांतरण किया गया था। यह बात राजस्थान में मुद्रा प्रचलन के बावजूद किसानों के निरंतर जारी परावलंबन और उनके स्थानांतरण पर रोक को रेखांकित करती है। वास्तव में कुछ क्षेत्रों में इस प्रकार की स्थितियाँ ब्रिटिश काल तक जारी रहीं।

अतः यह सच है कि भारतीय सामन्तीय व्यवस्था मे कृषक की इतनी दयनीय स्थिति नहीं थी जितनी कि यूरोपीय सामन्तवाद में सर्फो की। परन्तु यह भी सच है कि भारतीय सामन्तीय व्यवस्था में कभी किसानों की दशा कम दयनीय नहीं थी। दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के एक ग्रंथ उपनिति-भवप्रपंच कथा में कृषक के बारे में लिखा है कि केवल म त्यु ही उन्हें इस गुलामी से छुटकारा दिला सकती थी। सामन्तवादी संरचना में वाणिज्य एवम् शिल्प का ह्रास होने के कारण कृषि का महत्त्व बढ़ा तथा सामन्तवादी व्यवस्था का सम्पूर्ण अर्थतन्त्र कृषि पर निर्भर हो जाने के कारण शासक वर्ग अब कृषि उत्पादन पर पहले की तुलना में अधिक आश्रित हो गया। यही कारण है कि गुप्तोत्तर काल में सामन्तवादी शोषण का जो स्वरूप उभरकर सामने आया उसमें गैर वैधानिक उगाहियों की संख्या बढ़ती चली गई। उन्हें विभिन्न प्रकार के करों के बोझ के तले दबा दिया गया तथा कर उगाहते समय विभिन्न प्रकार की यातनाएँ दी जाती थी जैसा कि वराहमिहिर के एक वर्णन से स्पष्ट है कि किस प्रकार भोगपति (tax collector) के अत्याचारों के कारण किसान गाँव छोड़कर भाग गए। गैर धार्मिक दान-ग्रामों में किसानों से हर प्रकार का बेगार (सर्वपीड़ा) लिए जाने के कारण उनकी स्थिति अर्द्ध-कृषिदास जैसी हो गई। उन्हें बंधुआ मजदूरों की भाँति जमीन से बाँधा हुआ था। 17वीं शताब्दी के गया तथा नालन्दा अभिलेखों में आदाता का यह कर्त्तव्य बताया है कि वह दानग्रामों में किसी दूसरे गाँव के करदाता कृषक अथवा कारीगर को न बसाए। यह कृषकों की क्षेत्रगत गतिशीलता पर आरोपित प्रतिबन्ध का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। दूसरी ओर तरफ भू-स्वामी को यह अधिकार था कि वह उस भूमि के टूकड़े से उस कृषक को कभी अलग कर सकता है याज्ञवल्य के अनुसार क्षेत्रस्वामी को यह अधिकार था कि वह कुल भूमि को किसी भी अपने पसन्द के कृषक को जोतने के लिए दे सकता था।

इस प्रकार इन शोषण/कष्टों से निजात पाने का कृषक के पास दो ही रास्ते थे सीधा विद्रोह या फिर गाँव छोड़कर भाग जाना। हालाँकि किसानों के विद्रोहों के यदा-कदा प्रमाण तत्कालीन साहित्यिक तथा अभिलेखीय प्रमाणों में मिल जाते हैं। (For details see problems of Peasant Protest in Early medieval India by R. S. Sharma, an article in Social Scientist) परन्तु यह उन परिस्थितियों में काफी कठिन कार्य था इसलिए अधिकतर (हालाँकि इसका भी अन्जाम काफी भयावह हो सकते थे) कृषक दूसरे रास्ते को ही अपनाता था जैसा कि कृषकों के सामूहिक पलायन के अनेकों उदाहरण

हमें तत्कालीन स्रोतों में उपलब्ध हैं।

अन्त में कथाकोष (11 – 12 शताब्दी) में वर्णित एक कहानी से सामन्तीय व्यवस्था में कृषक की स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। इस कहानी में जैन मन्दिर का खेत जोत रहे एक हलवाहे के समक्ष देवता के प्रकट होने पर हलवाहा एक ही वरदान माँगता है - व्यवस्था से मुक्ति। इरफान हबीव के अनुसार "our evidence tends to show the peasant as no more than a pliant victim.'

(घ) शहरीकरण सम्बन्धी बहस
(Urban Debate)

प्रारम्भिक मध्यकाल में शहरीकरण अभी एक विवादित प्रश्न है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस विषय पर अभी कोई शोध अर्थात् कार्य नहीं हुआ है परन्तु यदि ऐतिहासिक काल में शहरीकरण के चरणों पर हुए शोधकार्यों की तुलना में इस काल में शहरीकरण पर बहुत कम अर्थात् नगण्य ही शोधकार्य हुआ है और जो भी शोधकार्य हुए है उनमें भी कोई तथ्यात्मक (Empirical) शोध नहीं हुआ है। अतः यद्यपि निःसंदेह प्रारम्भिक मध्यकाल के शहरीकरण के मुद्दे पर पड़ी हुई कुछ धूल तो अवश्य साफ हुई है परन्तु इनके आधार पर इस काल के न तो शहरी केन्द्रों के फैलाव तथा बिखराव पर कोई जानकारी हासिल की जा सकती है और न ही इस काल में शहरी केन्द्रों के विकास के स्वरूप (Pattern) को समझा जा सकता है अर्थात् ये अध्ययन। शोधकार्य इतने कम हैं कि प्रारम्भिक मध्यकाल के शहरीकरण पर कुछ अर्थपूर्ण उत्तर देने में असमर्थ हैं दूसरे इस काल पर कुछ अन्य सामान्य किस्म के शोध भी उपलब्ध है जिनमें शहरीकरण के मुद्दे को छुआ मात्र है तथा शहरीकरण के प्रश्न का सही परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण नहीं किया गया। अर्थात् इन शोधकार्यों में शहरों का होना स्वतः ही मान तो लिया गया है परन्तु किस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नगर उदय हुए और क्यों हुए उसका कोई वर्णन नहीं मिलता। अतः इस प्रकार के ये अध्ययन केवल मात्र साहित्यिक तथा अभिलेखों में वर्णित नगरों के नामों की सूचीमात्र बनकर रह गए हैं।

शिल्पशास्त्र में शिल्प तथा नगर योजना के आधार पर नगरों को कई प्रकार के नगरों में वर्गीकृत किया है। परन्तु इनमें भी कहीं भी इस बात का जिक्र नहीं है कि किस बस्ती को किस आधार पर नगर कहा जाए। इन सब कारणों की वजह से पूर्व मध्यकाल में शहरीकरण की क्या प्रक्रिया तथा स्वरूप रहा होगा विद्वानों के बीच बहस का मुद्दा बना हुआ है। हालांकि क्षेत्रीय संदर्भ में इस प्रव ति को समझने के लिए प्रयत्न हुए हैं परन्तु एक निश्चित सम्पूर्ण नजरिए के अभाव में इस काल के नगरीकरण को सम्पूर्णता (holistic) के सम्बन्ध में समझने की बजाय क्षेत्रीय परिस्थितियों में ही समझा और रखा गया है। इसलिए जरूरत है क्षेत्रीय द ष्टिकोण के साथ-साथ नगरीकरण को एक विस्त त प्रक्रिया के रूप में देखने की तभी पूर्वमध्यकालीन नगर केन्द्रों के उदय तथा ढाँचे को सही परिप्रेक्ष्य में तथा पूर्णरूप से समझा जा सकता है।

पूर्वमध्यकालीन नगरीकरण को तीसरा नगरीकरण भी कहा जाता है। हड़प्पन नगरीकरण जहाँ प्रथम नगरीकरण के रूप में जाना जाता है, प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल अर्थात् 6ठी शताब्दी ई०पू० का नगरीकरण द्वितीय नगरीकरण के रूप में जाना जाता है वहाँ पूर्वमध्यकाल का नगरीकरण त तीय नगरीकरण के रूप मे जाना जाता है। द्वितीय शहरीकरण के पश्चात् अर्थात् कुषाणकाल पश्चात् शहरों का पतन होना प्रारम्भ हो जाता है। यह पतन भौगोलिक द ष्टि से काफी विस्त त रहा। इसकी पुष्टि द्वितीय शहरीकरण के शहरों के पुरातात्त्विक अध्ययन से हो जाती है उदाहरणस्वरूप संघोल, हस्तिनापुर, अतरंजिखेड़ा, मथुरा, श्रावस्ती, राजग ह, कौशाम्बी, वैशाली, पाटलीपुत्र, ताक्षेला, नाह, उज्जैन, नागर, पैंठन, अरिकामेडू आदि जो कभी बहुत ही वैभवपूर्ण व सम्पन्न नगर केन्द्र रहे थे। इस काल में अर्थात् 6ठी, 7वीं शताब्दी तक प्रायलुप्त से हो गए। इन पुरातात्त्विक साक्ष्यों की संपुष्टि ह्वेनसांग

के विवरण से भी हो जाती है। किस प्रकार वह भारतीय यात्रा के दौरान कभी सम द्ध रहे परन्तु अब खंडहर बने शहरों को देखता है। परन्तु कई कारणों से प्रारम्भिक मध्यकाल के द्वितीय चरण (900–1300 ईसवी) में कई शताब्दियों के पश्चात् फिर से शहर उदय होते हैं। अतः इसे त तीय शहरीकरण कहना अनुचित न होगा। इसके साथ ही दो प्रश्न उभरते हैं। पहला तो यह कि इतने लम्बे समय (Gap) के पश्चात् फिर से शहरों के उदय होने के क्या कारण रहे होंगे। दूसरा त तीय शहरीकरण किस अर्थो में प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के शहरीकरण से भिन्न था। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में शहरी केन्द्रों की तुलना में पूर्वमध्यकालीन शहरीकरण को परिभाषित करना अधिक कठिन है, कारण इस काल के शहरीकरण से सम्बन्धित तत्कालीन स्रोतों का अभाव। द्वितीय शहरीकरण से सम्बन्धित अभिलेखीय, पुरातात्त्विक तथा साहित्यिक तीनों प्रकार के स्रोत प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। परन्तु जहाँ तक त तीय नगरीकरण का प्रश्न है पुरातात्त्विक स्रोतों का लगभग पूर्णतः अभाव है त तीय शहरीकरण को सही ढंग से समझने के लिए जरूरी है कि पूर्व मध्यकालीन पुरातात्त्विक प्रमाणों को प्रकाश में लाया जाए। यदि तक्षशिला और कौशाम्बी द्वितीय नगरीकरण के नगरों का मूर्तरूप (Visul Idea) प्रस्तुत करते हैं या फिर हाम्पी और चम्पारन मध्यकालीन नगरों का तो एक भी जैसे स्थल का उत्खनन क्यों नहीं हुआ जो कि दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी के शहर की मूर्तरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत कर सकता हो। चूँकि इस काल की पुरातात्त्विक स्रोतों का पूर्ण अभाव है अतः इस काल के विद्वानों के लिए आवश्यक है कि वे अभिलेखीय प्रमाणों (epigraphic record) में वर्णित नगरों के द ष्टान्त के आधार पर तीसरे शहरीकरण की विशेषताओं की संरचना करे। पूर्वमध्यकालीन नगरीकरण के अध्ययन में दो प्रमुख समस्याएँ हैं। प्रथम अभिलेखों में वर्णित नगरों के नाम व स्थान का स्थानीकरण (locate) करना द्वितीय इनके आधार पर इन नगरों के विकास को वर्णित करना। इसलिए जरूरी है कि अभिलेखीय सामग्री को बड़ी सावधानी से प्रयोग किया जाए।

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल की बस्तियों का प्रमुख वर्गीकरण, जिनका वर्णन हमें समकालीन साहित्य में उपलब्ध है। 'ग्राम', 'निगम', 'पुर' 'नगर' तथा 'महानगर' के रूप में मिलता है हालाँकि पूर्व मध्यकाल में 'निगम' शब्द का संदर्भ बहुत ही कम बार आता है परन्तु ग्राम, 'पुर', 'नगर', पूर्वमध्काल में भी उसी प्रकार बिना किसी व्यवधान के मिलते रहे हैं। जिससे स्पष्ट है कि बस्तियों के दो भिन्न प्रकार अर्थात् स्वरूप निरन्तर बने रहे।

किसी भी काल के शहरीकरण को समझने से पूर्व उस काल के राजनैतिक सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे को समझना अत्यन्तावश्यक हो जाता है क्योंकि उसी के संदर्भ में उस काल के नगरीकरण को सही ढंग से समझा जा सकता है शहरीकरण न केवल तकनीकी तथा आर्थिक विकास का ही प्रतिनिधित्व करता है अपितु नई सामाजिक व्यवस्था का भी उद्घाटन करता है अतः शहरीकरण यदि किसी सभ्यता के सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर का मापदंड है तो इन्हीं परिस्थितियों की देन भी। गुप्तकाल के बाद की शताब्दियों से भूमि अनुदानों पर आधारित सामाजिक-आर्थिक संरचना का जन्म हुआ अर्थात् गुप्तोत्तर काल से राज्यव्यवस्था सामन्तीय ढाँचे में ढलने लगी और पूर्व मध्यकाल के आते-आते भारतीय सामन्तीय ढाँचे ने पूर्ण आकार ले लिया। जैसा कि हम जानते हैं सामन्तीय ढाँचा शहरीकेन्द्रो के विपरीत आधार जुटाता है क्योंकि शहर मुख्यतः व्यापार व वाणिज्य अर्थव्यवस्था की उपज होते है और सामन्तवाद व्यापार व वाणिज्य के विपरीत बन्द अर्थव्यवस्था प्रतीक। यही कारण है कि प्रारम्भिक मध्यकाल के प्रारम्भिक चरण में प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के शहरों का द्धास देखते हैं (जैसा कि 140 उत्खन्नित शहरों से स्पष्ट) परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि नगरीकरण इस काल में पूर्णतः विलुप्त हो गया अपितु 8वीं से 12वी शताब्दियों के बीच भूमि अनुदानों तथा कृषि तकनीकी के कारण कृषि अर्थव्यवस्था का शनै-शनै विकास हुआ और जो फिर से शहरों के तीसरे शहरीकरण के रूप में उदय हुए। वह बात दूसरी है कि इन शहरों की संख्या, गुण व स्वरूप

सामन्तीय व्यवस्था के अनुरूप था। ये शहर द्वितीय शहरीकरण के शहरों, जो कि व्यापार व वाणिज्य के केन्द्र थे तथा पूर्णरूप से विकसित थे, की अपेक्षा कम विकसित तथा भिन्न अनुत्पादक संस्थाए थी (Poor in quality limited in number)। इस काल में किलेबन्दी शहरों की संख्या में तथा महत्त्व में अचानक व द्धि का कारण भी सामन्तीय ढाँचे तथा समकालीन राजनीति की ही आवश्यकता थी। ये किले राजकुमारों तथा सामन्तो के हाथ में वे औजार थे जिसकी सहायता से आपातकाल सुरक्षा का आश्वासन देकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर किसानों का शोषण किया जा सके। अतः इस प्रकार की किलेबन्दी की गई बस्तियाँ शिल्प व वाणिज्य का केन्द्र होने की बजाय, सामन्तीय समाज की आवश्यकता की पूर्ति कर रहे थे।

भारतीय उपमहाद्वीप में शहरी केन्द्रों के पुनरुत्थान की हालाँकि सामान्य प्रव ति विकसित हुई पर इसमें प्रादेशिक विभिन्नता भी देखने को मिलती है। यह विभिन्नता इन केन्द्रों के स्वरूप, श्रेणियों तथा पदानुक्रमों मे निहित थी। इनका कारण आर्थिक शक्तियाँ, पारिस्थितिकी और सांस्कृतिक विभिन्नता और राजनीतिक संगठन के स्वरूप थे। अतः घटनाओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए शहरी केन्द्रों का क्षेत्रीय अध्ययन आवश्यक है। अभी तक राजस्थान, मध्य भारत और दक्षिण भारत जैसे क्षेत्रों की क्षेत्रीय विशेषताओं का ही अध्ययन किया जा सका है।

क्षेत्रीय विभिन्नता और प्रकार

भारत जैसे विशाल देश में शहरों के उत्थान और विकास की प्रक्रिया मे विभिन्नता का होना स्वाभाविक है। इस भाग में हम कुछ प्रमुख विभिन्नताओं की चर्चा करने जा रहे है-

1. **ग्रामीण केन्द्रो का शहरी केन्द्रो में रूपांतरणः** ब्रह्मदेय और देवदान आरंभिक मध्यकाल के अध्ययन का प्रमुख स्रोत माने जाते हैं। ये शहरी विकास के प्रमुख केन्द्र के रूप में उभरे। कुछ प्रमुख कृषि उत्पादन वाले इलाकों में ब्राह्मण और मंदिर बस्तियाँ एक साथ मिल गए। ऐसे केन्द्र जो आरम्भ में ग्रामीण थे, कुछ विशेष और खास उत्पादित वस्तुओं के व्यापार के प्रमुख बिन्दु बन गए। आठवीं-नवीं शताब्दी से ऐसे शहरी विकास के क्षेत्र ज्यादातर दक्षिण भारत में पाए गए हैं। नवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी के बीच कुंबकोणम (कुदमुक्कु पलैयरइ) का चोल शहर कृषि बस्तियों से बहु-मंदिर शहर केंद्र के रूप में विकसित हुआ। कांचिपुरम इस प्रकार के शहरी क्षेत्र का दूसरा उदाहरण है। चोलों की राजधानी होने के कारण कुंबकोणम का राजनीतिक महत्त्व था, यह पहलू इसके शहर के रूप में विकसित होने में सहायक सिद्ध हुआ। कांचिपुरम इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि वह दक्षिण भारत का एक बड़ा शिल्प केंद्र (कपड़ा उत्पादन) था।

2. **बाजार केन्द्र, व्यापार तंत्र और चलता-फिरता व्यापारः** आरंभिक मध्यकाल की शताब्दियों में अपेक्षित रूप से कम विस्तार वाले शहरी केन्द्रों का उदय बाजार व्यापार केन्द्रों (मेले आदि) के रूप में हुआ, जो मूलतः विनिमय केन्द्र थे। इन केन्द्रों का ग्रामीण प्रभाव क्षेत्र से लेकर क्षेत्रीय वाणिज्यिक प्रभाव क्षेत्र से संबंध था। इनमें से कुछ केन्द्रो का कार्य उनकी क्षेत्रीय सीमाओं से बाहर भी फैला हुआ था। कुल मिलाकर आरंभिक मध्यकालीन शहरी केन्द्रों को उनके क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य मे देखना उचित होगा। इसे बेहतर ढंग से समझने के लिए दक्षिण भारत का नगरम (तमिलनाडु में इनसें संबंधित पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है) और कुछ हम तक कर्नाटक में नकहारा तथा आंध्र प्रदेश में नगरम भी उल्लेखनीय है। नगरम कृषि या कृषक क्षेत्र नाड या कुर्रम का बाजार था। इनमें से कुछ केन्द्रों का उदय नाडु के व्यापारिक आदान-प्रदान की जरूरत को पूरा करने के लिए हुआ था। इनमें से बहुत से केन्द्र ऐसे थे जिनकी स्थापना शासक वर्ग या शाही मंजूरी के तहत हुई थी। इनमें से कई केन्द्रों का नाम

शासकों के नाम पर रखा गया। यह विशेषता दक्षिण भारत के सभी क्षेत्रों में सामान्य रूप में पायी जाती है। इन केन्द्रों के नामों में पुर या पट्टन जुड़ा रहता था।

नगरम महत्त्वपूर्ण व्यापार मार्गों और व्यापार मार्गों के मिलन बिन्दु पर स्थित थे। इनका विकास विशेष व्यापारिक और वाणिज्यिक केन्द्रों के रूप में हुआ। इन केन्द्रों का बाहर और आंतरिक क्षेत्रों के साथ व्यापर होता था और भ्रमणशील व्यापारी संगठन और शाही बंदरगाहों के माध्यम से विदेशी व्यापार भी संचालित होता था। दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच सम्पूर्ण प्रायद्वीपीय भारत में यह प्रकृति समानरूप से विकसित हुई। इन शताब्दियों में दक्षिण भारत व्यापार के माध्यम से दक्षिण एशिया, दक्षिण पूर्व-एशिया के देशों और चीन तथा अरब देशों के साथ जुड़ा। नगरम बंदरगाह और राजनीतिक तथा प्रशासनिक केन्द्रों तथा भीतरी क्षेत्र में स्थित शिल्प केन्द्रों के बीच कड़ी का काम करते थे।

कर्नाटक में नगरम का उदय व्यापारिक आदान-प्रदान के केन्द्रों के रूप में हुआ, कृषि इलाकों के लिए नियमित बाजार के रूप में इनका महत्त्व कम था। पर सभी नगरों की एक समान विशेषता यह थी कि वे किसी-न-किसी कृषि प्रभाव क्षेत्र से सम्बद्ध थे। इन इलाकों से नगरम में रहने वाले लोगों के लिए खाद्यान्न की आपूर्ति होती थी। इन केन्द्रों में स्थापित बाजार पर नगरम सभा का नियंत्रण होता था, जिसका प्रधान नट्टनस्वामी के नाम से जाना जाता था।

राजस्थान और मध्य प्रदेश के पश्चिमी हिस्सों में ऐसे ही व्यापार केन्द्रो और बाजारों का उदय हुआ। ग्रामीण बस्तियों के इर्द गिर्द ऐसे केन्द्र थे जहाँ विनिमय कृषि उत्पादन के माध्यम से होता था। राजस्थान में ये केन्द्र कई प्रकार के व्यापार के मिलन बिन्दु थे जिसके कारण कुछ हद तक श्रेणीबद्ध संगठन उभरा। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में जाने-माने व्यापारिक परिवारों के विकास से इस तंत्र का और भी विस्तार हुआ। इनका नाम उनके मूल निवास पर आधारित था, जैसे भीमायला (ओमिया), श्रीमालि (मिनगल), पल्लिवल और खंडेलवाल आदि। इन व्यापारिक परिवारों के विकास में संसाधन आधार, संसाधनों के आने के मुख्य रास्ते और आदान-प्रदान के केन्द्र एक-दूसरे से गहरे रूप से जुड़ गए। राजस्थान, गुजरात, मध्य भारत और गंगा की घाटी के बीच, मुख्य व्यापारिक कड़ी के रूप में विकसित हुआ। पालि जैसे शहर कड़ी का काम करते थे, ये समुद्रतटीय शहरों, जैसे द्वारका और भ गुकच्छ (भड़ौंच), को भारत और उत्तर भारत से जोड़ते थे। गुजरात जहाँ जैन व्यापारियों का बोलबाला था, पश्चिमी भारत का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ प्रारंभिक ऐतिहासिक काल के बंदरगाह जैसे-भ गुकच्छ (भड़ौंच) आरंभिक मध्यकाल में भी व्यापारिक केन्द्र के रूप में फले-फूले। राजस्थान का एक महत्त्वपूर्ण शहर बयाना, विभिन्न व्यापारिक मार्गों का संगम स्थल था। व्यापार की वस्तुओं में शुरू में कृषि उत्पादन, प्रमुख थे (दुग्ध उत्पादन जिसमें शामिल था) पर बाद में बहुमूल्य वस्तुएँ जैसे घोड़े, हाथी, सींगवाले जानवर और आभूषण भी व्यापार की वस्तुओं में शामिल हो गए।

कर्नाटक में, विवेच्यकाल के दौरान शहरों की संख्या मे बढोत्तरी की प्रमुख विशेषता यह थी कि बीजापुर, धारवाड़, बेलगाम और शिमोगा में वाणिज्य केन्द्रों का संकेन्द्रण हुआ। आरंभिक ऐतिहासिक काल से ही भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी तट का अरब, फारस की खाड़ी और उसके आगे के देशों के साथ व्यापारिक संबंध रहा था। दसवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच में थाणा, गोआ, भटकल, करबार, होनवर और मंगलोर जैसे बंदरगाहों का लंबी दूरी के व्यापार के पुनर्स्थापित होने के दौरान विकास हुआ। यहाँ पर समुद्री जहाजरानी और तटीय नौ परिवहन के प्रमाण भी उपलब्ध है। आश्चर्य की बात यह है कि नगदी व्यवस्था

का व्यापक विस्तार न होने के बावजूद इस प्रकार की वाणिज्यिक गतिविधियाँ जारी थी। कोंकण तट (शिलहारों के अधीन) पर बाजार और उसके तंत्र के उदय का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

कर्नाटक, आंध्र और तमिलनाडु के बीच व्यापक व्यापार तंत्र फैला हुआ था। बेलगाम (कर्नाटक), नालगोंडा जिले में पेरूरू (आंध्र प्रदेश) और विशाखापट्टनम और घंटशाला जैसे तटीय शहरों में तमिल, तेलुगु और कन्नड़ व्यापारियों की उपस्थिति इसका प्रमाण है। आंध्र तट दक्षिणी पूर्वी व्यापार का मुख्य द्वार बन गया, जिसके प्रमुख बंदरगाह, मोटुपल्ली, विशाखापट्टनम और घंटशाला थे। आंध्र प्रदेश में नेल्लोर, द्रावकशर्मा, त्रिपुरंतकम और अनुमकोंडा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के प्रमुख बाजार थे। कावेरी के उत्तरी और दक्षिणी तट पर कर्नाटक और तमिलनाडु के बीच तलक्कड और मुडिकोंडन जैसे कई आदान-प्रदान के बिन्दु थे।

केरल का पश्चिमी और विदेशी व्यापारियों से संबंध स्थापित हुआ। विशेष शाही फरमानों के द्वारा इन विदेशी व्यापारियों (यहूदियों, इसाइयों और अरबी लोगों) को व्यापारिक शहर प्रदान किए गए। कोलिकुड्डू और कौल्लम आदि तटीय शहर दक्षिण एशियाई व्यापार के केन्द्र बने। अंजुवन जैसे व्यापारिक समुदायों और अरब के घोड़े व्यापारियों के कारण कर्नाटक और केरल के तटीय शहरों का महत्त्व बढ़ गया। कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के बुनकर केन्द्र अंतर्क्षेत्रीय व्यापार के फलस्वरूप उभरे।

नगरीकरण के आरंभिक ऐतिहासिक चरण के कुछ शिल्प और वाणिज्य केन्द्र आरंभिक मध्यकाल तक बने रहे। पुनर्नगरीकरण की इस प्रक्रिया में ये पुराने केन्द्र मंदिर जैसे नये सामाजिक-आर्थिक संस्थानों से जुड़े। उत्तर में काशी (वाराणसी) और दक्षिण में कांचीपुरम (मद्रास के निकट) इस प्रकार की प्रक्रिया के प्रमुख उदाहरण हैं।

3. **पवित्र/तीर्थस्थलः** भक्ति आंदोलन के फैलाव के कारण आरंभिक मध्यकाल के दौरान तीर्थस्थलों (धार्मिक-केन्द्रों) का महत्त्व बढ़ा। ब्राह्मण उपासना पद्धति और लोक विश्वास के बीच संबंध स्थापित हुआ और संकीर्ण विश्वासों से निकालकर इस मिलन से विभिन्न क्षेत्रों में तीर्थस्थलों की स्थापना हुई। लोक-विश्वास के कई प्राचीन केन्द्र, परिणामस्वरूप तीर्थस्थल के रूप में विकसित हुए। इनमें से कुछ स्थलों का ब्राह्मण धर्म से पुराना संबंध था और कुछ स्थलों का गैर-ब्राह्मण धर्मों से संबंध था।

कभी-कभी यह तीर्थस्थल तंत्र किसी सांस्कृतिक क्षेत्र विशेष तक सीमित था जिसके अंतर्गत किसी विश्वास केन्द्र का पवित्र स्वरूप उभरता था। पवित्र तीर्थस्थल के रूप में विकसित इन विश्वास केन्द्रों में विभिन्न क्षेत्रों से लोग पूजा-अर्चना के लिए आया करते थे। उपर्युक्त वर्णित दोनों प्रकार के तीर्थस्थलों की शहरी विशेषताएँ सामने आईं। तीर्थ-यात्रियों के आने-जाने, व्यापार और शाही संरक्षण के कारण यह संभव हुआ। अब इतिहासकार तीर्थस्थलों के विकास मे उभरते हुए बाजार की भूमिका के महत्त्व को स्वीकार करने लगे हैं।

राजस्थान में अजमेर के निकट पुष्कर वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख क्षेत्रीय तीर्थस्थल था। अपनी प्राचीनता और पवित्र ब्राह्मण केन्द्र होने के कारण काशी (बनारस) अखिल भारतीय केन्द्र के रूप में सामने आया। दक्षिण भारत में श्रीरंगम (वैष्णव), चिदंबरम (शैव) और मदुरई (शैव) आदि क्षेत्रीय तीर्थस्थल के रूप में विकसित हुए। कांचीपुरम अखिल भारतीय तीर्थ तंत्र का एक हिस्सा था।

कर्नाटक में मेलकोटे और आंध्र प्रदेश में आलमपुर, द्राकशर्मा और सिमहाचलम क्षेत्रीय पवित्र स्थल थे। आरंभ मे तिरुपति भी तमिल वैष्णवों का एक महत्त्वपूर्ण पवित्र स्थल था पर विजयनगर साम्राज्य के काल में इसने अखिल भारतीय स्वरूप ग्रहण किया।

गुजराज और राजस्थान में जैन धर्म के तीर्थस्थल विकसित हुए। व्यापारियों के और शाही संरक्षण के फलस्वरूप ओसिया, माउंट आबू, पलिटना आदि स्थानों पर प्रचुर मात्रा में जैन मंदिरों का निर्माण हुआ।

- एक ही बड़े मंदिर के चारों ओर हुआ शहरीकरण जैसे श्रीरंगम, मदुरई, विरूवन्नामलई (तमिलनाडु), मेलकोटे (कर्नाटक) क्षेत्रशर्मा और सिमहाचलम (आंध्र प्रदेश)
- विभिन्न धर्मों जैसे शैव, वैष्णव, शक्ति आदि के मन्दिरों के चारों ओर हुआ शहरीकरण।

आरंभिक मध्यकालीन नगरीकरण को (खासकर, दक्षिण भारत के संदर्भ में) मंदिर नगरीकरण की संज्ञा दी जाती है। इन पवित्र केंद्रों ने क्षेत्र विशेष के वाणिज्य को प्रोत्साहित करने के लिए कड़ी के रूप मे काम किया, क्योंकि क्षेत्र विशेष से संबंद्ध मंदिर या मठ ही बहुमूल्य वस्तुओं के सबसे बड़े उपभोक्ता थे।

4. **राजसी केन्द्र या राजधानियाँ:** आरंभिक मध्यकालीन भारत में शाही केन्द्रों और शाही परिवारों के सत्ता केन्द्रों का विकास शहरी केन्द्रों के रूप में हुआ। इनमें से कुछ सत्ता केन्द्र आरंभिक ऐतिहासिक काल से अस्तित्व में थे, मसलन उत्तरी भारत के जनपद और दक्षिण भारत की परम्परागत राजनीतिक व्यवस्थाएँ। शाही परिवार अपने लिए बंदरगाहों का निर्माण करवाते थे, जो उनके राज्य का मुख्य प्रवेश बंदरगाह होता था और यह अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य से भी उन्हें जोड़ता था। इस प्रकार, शाही केन्द्रों की वाणिज्यिक जरूरतों के फलस्वरूप नये व्यापार और संचार संबंध स्थापित हुए और शाही केन्द्र तथा कृषीय प्रभाव क्षेत्र के बीच संबंध प्रगाढ़ हुआ। विंध्य से दक्षिण के क्षेत्रों में, जहाँ आठवीं शताब्दी ई. में ब्राह्मण राज्यों की स्थापना हुई थी, इस प्रकार के शाही केन्द्रों के उदय के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित है-

- उत्तरी कर्नाटक और आंध्र में चालुक्यों के वातापी और वेंगी शहर।
- पल्लवों का कांचीपुरम और उनका बंदरगाह मामल्लपुरम (महाबलिपुरम)
- पांड्यों की मदुरई और उनका बंदरगाह कोरकई
- चोलों का तंजावुर और उनका बंदरगाह नागपट्टिनम
- पश्चिमी चालुक्यों का कल्याण, होयसलो का द्वारसमुद्र और
- काकातियों का वारंगल और उनका बंदरगाह मोटुपल्लि

दक्षिण भारत में वारंगल किलाबंद शाही परिवार था। पर दक्षिण भारत के लिए यह अपवाद था।

उत्तर भारत में शाही केन्द्रों के उदाहरण:

- गुर्जर प्रतिहारों की राजधानी कान्यकुब्ज (कन्नौज)
- चंदेलों का खजुराहो

- परमारों का धार, और
- सोलंकियों की वल्लभी

राजस्थान में शक्तिशाली, गुर्जर प्रतिहारों, चौहानों और परमारों के शासनकाल में कई शहरों का उदय हुआ। इनमें से अधिकांश केन्द्र किलेबंद थे, या पहाड़ी किले (गढ़किला या दुर्ग) थे। राजस्थान के दुर्ग शहर निम्नलिखित थेः

- गुहिलों के अधीन नागरा और नागदा
- गुर्जर-प्रतिहारों के अधीन बनाया, हनुमानगढ़ और चित्तौड़, और
- चौहानों के अधीन मंदोर, रनथमभोर, सकमभरी और अजमेर

विभिन्न स्रोतों के आधार पर, चौहान राज्य के 131 स्थलों का पता चला है, इनमें से अधिकांश शहर प्रतीत होते हैं। परमारों के अधीन मालवा राज्य के करीब दो दर्जन शहरों का पता चला है। गुजरात चालुक्यों के अधीन था। उनके शासनकाल में वहाँ अनेक बंदरगाह-शहर थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी भारत में शहरों की संख्या ज्यादा नहीं थी। पर पालों के नौ विजय स्थल (जयस्कंधवार) (पाटलिपुत्र, मुदगगिरी, रमावती, वट परवटक, विलासपुर, कपिलवस्तु, सहसगंद, कंचनपुर और कन्नौज) शहर हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरी और पूर्वी बंगाल में सेनों की चार राजधानियाँ थीं, लखनौती, नदिया, विजयपुर और विक्रमपुर। चंदेलों के अभिलेखों मे इक्कीस स्कंधवारों की चर्चा है। पालों के बीस और चंदेल शासकों के चौबीस किले थे। कभी-कभी कुछ महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों और बाजारों को सामंती परिवारों को सौंप दिया जाता था। मसलन कर्नाटक, मध्य प्रदेश और राजस्थान में इस प्रकार के गौण राजनीतिक केन्द्रो की बहुलता थी।

अतः पूर्वमध्यकाल के शहरीकरण की विशेषता रही है कि पहले के दो शहरीकरणों के विपरीत विनिमय के अर्थपूर्ण केन्द्र होने की बजाय इन शहरी केन्द्रों ने सामन्तीय शक्ति ढाँचे को ही सींचा व सुद ढ़ बनाया। ये शहर परस्पर निर्भर दो संस्थाएँ अर्थात् शोषण की संस्था तथा अधिशेष खपत भी अनुत्पादक संस्था की सर्वोच्चता का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहाँ तक कि ये केन्द्र विनिमय प्रणाली में भी ऐसी वस्तुओं में deal नहीं करते थे जो कि आम व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करे वरन् घोड़ो तथा पान इत्यादि का व्यापार इन शहरों की समाज के उच्च वर्ग से सम्बन्ध को ही दर्शाता है। इस काल में शहरों के उदय का मुख्य कारण धर्म व राजनीति ही रहा है जैसे B.D. Chattopadhyay चार शहरी केन्द्रों का वर्णन करता है इनमें से तीन-टटनन्दपुरा (अहार), प थुडक (पेहोवा) सत्यादोनी तथा गोपगिरी (मालवा प्लटू) को आर्थिक एवम् व्यापारिक द ष्टि से महत्त्वपूर्ण बताया है तथा बकायदा इन शहरों में रह रहे व्यापारी ग्रुपों की सूची भी दी है परन्तु कुछ विद्वान इन शहरों को व्यापारिक शहर होने पर संदेह प्रकट करते हैं। उनके अनुसार पेहोवा के घोड़ों के व्यापार को छोड़कर अन्य शहरों का अपनी बस्ती की आर्थिक कार्यकलापों में कोई योगदान हो इसकी संपुष्टि स्रोतों से नहीं होती। यहाँ तक कि उनके अनुसार प थक् (पेहोवा) में जो घोड़े के व्यापारियों का वर्णन है यह व्यापार भी कोई नियमित व्यापार नहीं था। वरन् विशेष धार्मिक त्यौहार के समय ही यह घोड़ों का क्रय-विक्रय होता था। उनके अनुसार इन चारों बस्तियों का महत्त्व धार्मिक केन्द्र होने के कारण है न कि व्यापारिक बस्तियों के रूप मे। इन केन्द्रो पर जो भी लेन-देन के अभिलेखीय प्रमाण मिले हैं वह लेन-देन मंदिरों से ही जुड़ा हुआ है। इस प्रकार के केन्द्र अवाणिज्यिक केन्द्र रहे तथा मुख्यतः सामन्तीय, धार्मिक केन्द्र रहे हैं। इस बात की पुष्टि कर्नाटक क्षेत्र के दो नगर केन्द्र कोल्हापुर (उस समय कर्नाटक में) तथा बनावासी से भी हो जाती है। कोल्हापुर सातवाहन काल में महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र रहा है परन्तु तीसरी शताब्दी से इसका व्यापारिक केन्द्र के रूप में पतन प्रारम्भ हुआ और 11 वीं 12 वीं शताब्दी

में आते-आते यह धार्मिक एवम् प्रशासकीय केन्द्र बन गया। इसी प्रकार बनावासी तीसरी शताब्दी तक व्यापारिक केन्द्र बना रहा परन्तु पूर्वमध्यकाल में धार्मिक-प्रशासकीय केन्द्र में परिवर्तित हो गया। कर्नाटक से प्राप्त अभिलेखीय प्रमाणों से भी इसकी संपुष्टि होती है। 17 वीं सदी के एक अभिलेख में 17 शहरों का वर्णन मिलता है जिनमें से 8 शहर धार्मिक केन्द्र थे और 4 प्रशासकीय केन्द्र तथा केवल 3 ही, जिसमें बन्दरगाह शहर भी सम्मलित थे, वाणिज्यिक केन्द्र थे। कर्नाटक से ही प्राप्त 8 वीं शताब्दी के एक अभिलेख में 21 शहरों का उल्लेख है जिनमें 10 प्रशासकीय केन्द्र थे, 5 धार्मिक केन्द्र और केवल 1 वाणिज्यिक केन्द्र।

9 वीं शताब्दी के एक अन्य अभिलेख में 22 शहरों का वर्णन आता है जिनमें 4 धार्मिक केन्द्र, 12 प्रशासकीय तथा 5 वाणिज्यिक शहर थे।

10 वीं शताब्दी के एक अभिलेख में 42 शहरों का उल्लेख मिलता है जिनमे से 24 प्रशासकीय केन्द्र थे, 12 धार्मिक और केवल छः वाणिज्यिक शहर थे।

अतः स्पष्ट है कि कर्नाटक के प्रारम्भिक मध्यकालीन शहर भी सामन्तीय ढाँचे के अनुरूप मुख्यतः अवाणिज्यिक केन्द्र रहे हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'तीसरे शहरीकरण' के दौरान प्रचलित शहरों के स्वरूप में युगीय परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इन शहरों का स्वरूप द्वितीय शहरीकरण से भिन्न रहा है जिन्होंने सामन्तीय ढाँचे को पोषित किया।

पूर्वमध्यकाल में व्यापार व शिल्प

इस काल में व्यापार तथा उद्योगों का भी सामन्तीकरण हो गया था पूर्वमध्यकाल के व्यापार व उद्योग की विशेषताओं को देखते हुए दो भाग/चरणों में बाँटा जा सकता है। प्रथम चरण 700-900 तक और दूसरा चरण ई० 900-1300 तक। प्रथम चरण मे हम व्यापार, मुद्रा तथा शहरी केन्द्रों का ह्रास और आत्मनिर्भर ग्राम अर्थव्यवस्था देखने को मिलती है तो दूसरी ओर दूसरे चरण (900-1300) में इन प्रव त्तियों के विपरीत शहरों का त तीय शहरीकरण के रूप में पुर्नरुत्थान तथा व्यापार व शिल्प का विकास देखने को मिलता है।

मोटे तौर पर व्यापार से अभिप्राय है माल इकट्ठा करना, उसका वितरण करना तथा विनिमय करना। यह एक प्रक्रिया है जो विभिन्न कारकों पर आधारित है जैसे उत्पादन का स्वरूप व मात्रा, यातायात सुविधाएँ, विनिमय का प्रतिरूप और व्यापारियों की सुरक्षा उनके सामान की सुरक्षा इन्तजामात-

प्रथम चरण अर्थात् 700-1000 ई० तक व्यापार की स्थितिः गुप्तोत्तर काल में व्यापार का ह्रास देखने को मिलता है। 700-1000 ई० के काल में यह पाया गया है कि भूमि अनुदान सिर्फ पुजारियों और मंदिरों को ही नहीं बल्कि योद्धाओं और राजकीय अधिकारियों को दिया गया। इससे विभिन्न श्रेणियों के जमींदारों का उदय हुआ। यहाँ तक कि बड़े राजकीय अधिकारियों जैसे माहा-मण्डलेश्वर, मंदालिका, सामंत, महासामंत, ठाकुर आदि भी भूमि से संबंधित गतिविधियों में रुचि लेने लगे हालाँकि वे वास्तविक खेत जोतने वालों से अलग थे क्योंकि वे किसानों से हासिल किए गए अधिशेष पर निर्भर थे और उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा ये जमींदार ले लेते थे। इस प्रकार किसानों के पास व्यापार के लिए कुछ भी नहीं रह जाता था। इससे एक ऐसी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हुआ जिसमें वास्तविक उत्पादकों की गतिशीलता पर प्रतिबंध लगा कर स्थानीय जरूरतों को स्थानीय रूप से पूरा किया जाता था। विनिमय के माध्यम जैसे धातु सिक्कों की सापेक्षिक कमी ने इस प्रव त्ति को और मजबूत बनाया।

विनिमय के माध्यम

700 से 1000 ई. तक भारत में कई महत्त्वपूर्ण राजवंशों ने राज किया। इनमें पश्चिम भारत में गुर्जर-प्रतिहार, पूर्वी भारत में पाल और दक्खन में राष्ट्रकूट थे। उस समय के कुछ शक्तिशाली राजा जिन्होनें लंबे समय तक शासन किया इन राजवंशों के थे। बड़े आश्चर्य की बात है कि उस समय के बहुत कम सिक्के उपलब्ध है और उनकी तुलना पहले की सदियों के सिक्कों से मात्रा या स्तर में नहीं की जा सकती थी। क्योंकि माल की खरीद या बिक्री में मुद्रा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है इसलिए पुरातात्विक खोजों में सिक्के की कमी तथा सिक्कों को ढालने के सांचों की अनुपलब्धता से यह पता चलता है कि उस काल में व्यापार काफी कम हो गया था।

हालाँकि सबसे पहले डी.डी. कोसाम्बी ने इस पहलू की चर्चा की थी लेकिन 1965 में प्रो० आर.एस. शर्मा के ''भारतीय सामंतवाद'' के प्रकाशन के बाद ही गुप्त काल के बाद के कालों में सिक्कों की कमी और व्यापार तथा वाणिज्य से इसके संबंध और इसके परिणामस्वरूप सामंती समाज व्यवस्था के उद्‌भव की बात सामने आई तथा इस मुद्दे को लेकर इतिहासकारों में काफी बहस छिड़ी हुई है और अब तक चार मत सामने आए हैः

i) एक में उपर्युक्त दिए गए पहलू का समर्थन किया गया है।

ii) उड़ीसा पर किया गया एक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि 600 से 1200 ई. तक सिक्के का चलन बिल्कुल नहीं था लेकिन यह अध्ययन दक्षिण पूर्वी एशिया में व्यापार की चर्चा करता है और विदेशी व्यापार में वस्तु विनिमय पर जोर देता है।

iii) कश्मीर में 800 ई. से ही ताँबे के सिक्कों का प्रचलन हो गया था, सिक्कों के निम्न स्तर को कश्मीर घाटी में व्यापार के पतन पर आधारित अर्थव्यवस्था और कृषि पर आधारित गतिविधियों की प ष्ठभूमि में समझा जा सकता है।

iv) अंत में एक मत सिक्कों की कमी और व्यापार के ह्रास के बीच संबंध पर आपत्ति प्रकट करता है। यह 700 से 1200 ई. के बीच मध्यपूर्व भारत जिसमें बिहार, पश्चिमी बंगाल और वर्तमान बंगलादेश आते हैं से मिले प्रमाणों पर आधारित है। यह बात मानी जाती है कि उस समय सिक्के उपयोग में नहीं लाए जाते थे और पाल और जैन राज्यों में सिक्के नहीं ढाले जाते थे। यह भी कहा जाता है कि विनिमय के माध्यमों की कोई कमी नहीं थी। उदाहरण के तौर पर यह बताया जाता है कि चाँदी के सिक्के हरिकेला ही नहीं बल्कि कौड़िया और सबसे महत्त्वपूर्ण चूर्णी (सोने, चाँदी के बूरे) भी विनिमय के माध्यम थे।

कुछ क्षेत्रों में अपवाद हो सकते है लेकिन पूरे भारत के परिप्रेक्ष्य में प्रो० शर्मा की परिकल्पना सही साबित होती है। क्षेत्रीय अपवादों के संदर्भ में निम्नलिखित सवालों पर ध्यान देना जरूरी हैः

- इन वाणिज्यिक गतिविधियों का स्वरूप और सीमा क्या थी?
- क्या वे गतिविधियाँ एक स्थाई वाणिज्यिक वर्ग को जन्म देने में सक्षम थीं?
- इस व्यापार से किसको लाभ पहुँचता था?
- क्या इस तथाकथित बढ़ते व्यापार से मेहनतकश जनता और एक स्थान पर बसे किसानों को कोई फायदा था? इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात हैः
- मध्य पूर्वी भारत से संबंधित स्रोत जिन्हें उस क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य में उद्ध त किया गया है वहाँ के मूल निवासियों की समुद्री व्यापार में भागीदारी के बारे में कुछ नहीं बताते हैं।

- यहां तक कि सीमित व्यापारिक गतिविधियाँ भी विशिष्ट शासक वर्ग के ही हाथ मे थी।
- आम व्यक्ति की दयनीय हालत बंगाली शब्द (बंगाल का निवासी) से प्रकट होती है। यह शब्द गरीबी और दयनीय स्थिति को दर्शाता है।

इस तरह जो लोग भारत के दक्षिण पूर्व एशिया से व्यापार की बात करते हैं उन्हें उस क्षेत्र की धातु मुद्रा की स्थिति को भी ध्यान में रखना चाहिए। उदाहरण के लिए कम्बोडिया पर किए गए एक विस्त त अध्ययन से पता लगता है कि गुप्त काल (600 से 800 ई०) के बाद की दो सदियों में दक्षिण पूर्व एशिया में मुद्रा की कोई व्यवस्था विकसित नहीं हो सकी थी और वस्तुविनिमय (मुख्यतः धान और अंशतः कपड़े पर आधारित) ही अमीर अर्थव्यवस्था का आधार था। प्रारंभिक मध्ययुगीन सिक्कों जैसे इंडो-ससानियन, श्री विग्राहा, श्री अधिवाराहा, बुल और होर्स मैन, गधिया आदि का प्रयोग पश्चिम और उत्तर पश्चिम में और कुछ हद तक गंगा की घाटी में शुरू हो चुका था परन्तु कुल मिलाकर समूची अर्थव्यवस्था पर यह कोई खास प्रभाव नहीं डाल सके। सिक्कों के प्रचलन के काल के बारे में अभी भी संदेह है। उनका अत्यंत निम्न स्तर और उनकी कुछ भी खरीदने की घटती हुई क्षमता उनका वास्तविक भूमिका के ह्रास को इंगित करती है। इसके अलावा बढ़ती हुई आबादी और बस्तियों के विस्तार के संदर्भ में मुद्रा चलन की यात्रा नगण्य थी। इस तरह हम कह सकते हैं कि पहले चरण मे धातु मुद्रा में सापेक्ष कमी आनुभाविक प्रमाणों पर आधारित है। इसका भारत की व्यापारिक गतिविधियों पर प्रभाव पड़ना निश्चित था।

व्यापार का सापेक्ष ह्रास

आंतरिक तौर पर राजनीतिक शक्ति का बिखराव और स्थानीय प्रधानों और धार्मिक अनुदान पाने वाले आदि के हाथ में शक्ति आ जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभिक सदियों में भूमि-अनुदान पर आधारित अर्थव्यवस्था पर विपरीत असर पड़ा। बहुत से बिचौलिए, जमींदार, विशेषकर कम उपजाऊ क्षेत्रों में रहने वाले, लूटपाट करने लगे या अपने क्षेत्र से गुजरने वाले माल पर अत्यधिक कर लगाने लगे। इससे व्यापारियों और सौदागरों के व्यवसाय में बाधा पड़ी। संभावी शासक प्रधानों के बीच आपसी लड़ाई ने भी व्यापारियों को हतोत्साहित किया। हालाँकि आठवीं सदी के दो जैन ग्रंथ (हरिभद्र शूरी का उद्योत्तना शूरी का कुवाल्यमाला बढ़ते हुए व्यापार और चहल पहल वाले शहरों की चर्चा करते है लेकिन यह तर्क सही है कि ये ग्रंथ ज्यादातर सामग्री पहली की सदियों के स्रोतों से लेते हैं इसलिए यह जरूरी नहीं है कि ये आठवीं सदी की सही आर्थिक स्थिति को दर्शाते हैं।

पश्चिम के साथ विदेशी व्यापार के ह्रास के बारे में कई कारण रहे हैं जैसे यह बताया जाता है कि चौथी सदी में महान रोमन साम्राज्य के पतन के बाद इसमें गिरावट आयी। छठी सदी के मध्य में भी इस पर विपरीत प्रभाव पड़ा जब बाइजनटाइन (पूर्वी रोमन साम्राज्य) के लोगों ने रेशम बनाने की कला को सीखा। इस तरह भारत ने एक महत्त्वपूर्ण बाजार खो दिया जिससे ईसवीं की प्रारंभिक सदियों में भारत को बड़ी मात्रा में सोना प्राप्त हुआ था।

विदेशी व्यापार का पतन सातवीं और आठवीं सदी में भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा पर अरबों के विस्तार के कारण भी हुआ। इस क्षेत्र में उनकी मौजूदगी से भारतीय व्यापारियों के लिए स्थल मार्ग असुरक्षित हो गए। कथासरित्सागर में एक कहानी हमें बताती है कि उज्जैन से पेशावर जा रहे सौदागरों के एक समूह को एक अरब ने पकड़कर बेच दिया। बाद में जब वे किसी तरह मुक्त हुए तो उन्होनें सदैव के लिए उत्तरी पश्चिमी इलाके को छोड़ने का फैसला कर लिया और व्यापार के लिए दक्षिण को लौट गये। तिब्बतियों और चीनियों के बीच इन सदियों में हुई लड़ाइयों ने भी मध्य एशिया के मार्गो पर माल लाने-ले जाने की गतिविधियों को प्रभावित किया। भारत के पश्चिमी तटों में भी

समुद्री व्यापार अरबों द्वारा सातवीं सदी में भड़ौच और थाना पर हमलों और बल्लभी के विनाश के कारण (बल्लभी जो आठवीं सदी में सौराष्ट्र तट का एक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह था) अस्त-व्यस्त हुआ। हालाँकि बाद में अरबों ने (दसवीं सदी के बाद) भारतीय समुद्री व्यापार के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रारंभ में उनकी समुद्री हमलों का भारतीय वाणिज्यिक गतिविधियों पर विपरीत प्रभाव पड़ा था। समकालीन साहित्य में भारत के दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के साथ सम्पर्क का उल्लेख है लेकिन यह संदेहास्पद है कि क्या यह पश्चिम के साथ व्यापार के ह्रास की पूर्ति कर पाया।

शहरी बस्तियों का ह्रास

पहला चरण बहुत से शहरों के ह्रास और उजड़ने का चरण है। यह वाणिज्य में ह्रास का लक्षण है क्योंकि शहर मुख्यतः उन लोगों की बस्तियाँ हैं जो शिल्प कला और वाणिज्य में संलग्न है। व्यापार में ह्रास और शिल्प की वस्तुओं की मांग में कमी आई। शहरों में रहने वाले व्यापारियों और दस्तकारों को जीविका के वैकल्पिक साधन ढूँढ़ने के लिए देहाती इलाकों में जाना पड़ा। इस प्रकार कस्बों का पतन हुआ और शहरी लोग ग्रामीण अर्थव्यवस्था का हिस्सा बन गए। ह्वेनसांग के उल्लेखों के अलावा पौराणिक अभिलेख भी काली युग का उल्लेख करते हुए महत्त्वपूर्ण शहरों की बढ़ती आबादी की ओर संकेत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बारामिहिर (पांचवी सदी) द्वारा इंगित प्रव त्ति कायम रही। 140 स्थलों की खुदाई से प्राप्त आँकड़ों से इसकी पुष्टि हो जाती है वैशाली, पाटलीपुत्र, वाराणसी आदि जैसे महत्त्वपूर्ण शहरों का ह्रास पुरातात्त्विक खुदाई से स्पष्ट है। खुदाई ढाँचों और प्राचीन वस्तुओं के निम्न स्तर को प्रकट करती है। तीसरी और आठवीं सदी के बीच का अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य शहरी केन्द्रों से उजड़ने और उनके ह्रास की स्थिति को दर्शाता है। यहाँ तक कि जो बस्तियाँ आठवीं सदी तक भी रहीं वे बाद में उजड़ गई। हम रोपर (पंजाब) अतरंजीखेड़ा और भीटा (उत्तर प्रदेश) की चर्चा कर सकते हैं। मध्य प्रदेश में प्रभास पातन (गुजरात) में महेश्वर, पौनार (महाराष्ट्र) ओर कूडावेली (आंध्र प्रदेश) शहरी बस्तियों की इस श्रेणी में आती है। कन्नौज (उत्तर प्रदेश के फर्रूखाबाद जिले में) की मध्ययुगीन महत्ता का, जिस पर अधिकार पाने के लिए पालों, प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों की बीच कई लड़ाईयाँ लड़ी गयीं, खुदाई के द्वारा प्रमाणित होना बाकी है।

मध्ययुगीन काल के पहले चरण में हालाँकि वाणिज्यिक गतिविधियों का ह्रास हुआ था परन्तु यह पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई। उपलब्ध साहित्यिक तथा अभिलेखों से स्पष्ट है कि देश के विभिन्न राज्यों में व्यापार होता रहता था। दरअसल राजाओं, सामंतों, मंदिर और बौद्ध विहारों के महन्तों के लिए निर्मित कीमती और विलासिता वाली वस्तुओं का व्यापार जारी रहा। बहुमूल्य और अर्ध मूल्यवान पत्थरों, हाथी दाँत, घोड़े इत्यादि जैसी वस्तुएँ लम्बी देरी के व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा थी। इस काल के स्रोतों में दैनिक इस्तेमाल की वस्तुओं के आदान-प्रदान के बहुत कम प्रमाण मिले हैं। अभिलेखों में उल्लेखित महत्त्वपूर्ण वस्तुओं में सिर्फ नमक और तेल, धान, लोहा, मसाले, कपड़े आदि शामिल है जिनका उत्पादन प्रत्येक गाँव में नहीं होता था। इसीलिए इन्हें बाहर से मँगाना पड़ता था। जैसे बंगाल मलमल, पान, सुपारी तथा सन के लिए प्रसिद्ध था। कलिंग में धान की कुछ किस्में होती थी। यह उत्तम चावल राजपरिवारों के लिए मँगाया जाता था। मालवा गन्ने नील के लिए प्रसिद्ध था। शंख व सीपी के लिए द्वारका/गुजरात सूती कपड़े, नील तथा चमड़े की बनी वस्तुओं के लिए तथा दक्षिण मोती, मूल्यवान पत्थरों, चंदन मसाले आदि के लिए। यदि अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर नहीं होती तो अनाज, चीनी, कपड़ा, हस्तकला की वस्तुओं में व्यापार का उल्लेख अधिक मिलता। संक्षेप में 750 से 1000 ईसवीं के बीच की वाणिज्यिक गतिविधियों की प्रकृति ऐसी थी जो बिचौलियों भू-स्वामियों और सामंतों की जरूरतों की पूर्ति करती थी न कि आम जनता की। हालाँकि पटवा (हरियाणा में करनाल के पास) और अहर (उत्तर प्रदेश में बुलन्दशहर के पास) जैसे व्यापार और वाणिज्य के कुछ

केन्द्र थे जहाँ दूर-दूर से व्यापारी व्यापार करने के लिए आते थे। परन्तु वे पूरे देश की आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाल पाए।

दूसरे चरण अर्थात् 900-1300 ई. में व्यापार की स्थिति

इस चरण में विशेषतः व्यापार और वाणिज्य का पुनरुत्थान है। इस काल में कृषि का विस्तार, मुद्रा का बढ़ता प्रचलन और बाजार अर्थव्यवस्था का पुनःउदय हुआ जिसमें माल का उत्पादन स्थानीय खपत की बजाय विनिमय के लिए हुआ। इन सदियों में महाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में शहरी बस्तियों का पर्याप्त विकास हुआ।

जैसा कि हम जानते है भूमि अनुदान ने कृषि के विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। हालाँकि यह बात साबित हो चुकी है कि इस विकास को मापना आसान नहीं है क्योंकि क्षेत्रीय विविधताओं और असमानताओं को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। बावजूद इसके कि दसवीं से तेरहवीं सदियों के बीच दालों, अनाज के साथ-साथ नगदी फसलों का उत्पादन भी बढ़ा। स्वाभाविक रूप से आंतरिक और बाहरी व्यापार को इससे बढ़ावा मिला।

1. **शिल्प और उद्योग**: शिल्प उत्पादन ने कृषि उत्पादन के विकास में योगदान दिया। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल के पहले चरण मे आंतरिक और बाहरी व्यापार के हास से औद्योगिक उत्पादों के लिए बाजार की कमी हो गयी। उत्पादन सिर्फ क्षेत्रीय और स्थानीय जरुरतों के लिए सीमित रह गया। दूसरे चरण में हम पाते हैं कि शिल्प उत्पादन में व द्धि हुई जिसने क्षेत्रीय और अन्तर्क्षेत्रीय विनिमय को बढ़ावा दिया।

2. **वस्त्र उद्योगः** कपड़ा उद्योग जो प्राचीन काल से ही स्थापित था अब एक प्रमुख आर्थिक गतिविधि के रूप में विकसित होने लगा। मोटे और महीन दोनों तरह के कपड़े का उत्पादन हो रहा था। मार्कोपोलो (ई० 1293) और अरब के लेखको ने बंगाल और गुजरात के सूत की बहुत प्रशंसा की है। बंगाल में मददर और गुजरात में इंडिगों की उपलब्धता ने भी शायद इन क्षेत्रों में कपड़ा उद्योग के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। बारहवीं सदी के ग्रंथ मानासोमास में पैठान, नागपट्टिनम, कलिंग और मुलतान को महत्त्वपूर्ण कपड़ा उद्योग केन्द्र बताया गया है। कर्नाटक और तमिलनाडु में रेशम के बुनकर समाज का एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली तबका थे। उत्कृष्ट अवस्था में था। ह्यूनत्सांग ने अनेक प्रकार के रेशमी तथा सूती वस्त्रों का उल्लेख किया है, जैसे कौशेय तथा क्षौम/क्षौम शण के रेशों से बना हुआ कपड़ा होता था। पौधों रेशों से बना हुआ कपड़ा दुकूल कहलाता था। बाण ने हर्षचरित में रेशम के बने हुए अनेक प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया है-जैसे लालांतुज, अंशुक, चीनांशुक। रेशम के वस्त्र इतने महीन होते थे कि आँख से नहीं दिखाई देते थे, केवल स्पर्श से ही मालूम किए जा सकते थे। अल इद्रिसी ने मुलतान को वस्त्रोद्योग का केंद्र बताया है। काशी, वत्स, मगध, बंगाल, कामरूप, कलिंग, गुजरात, अपरांत, मदुरा पहले से ही वस्त्र उद्योग के केंद्र थे। मानसोल्लास के अनुसार 12वीं सदी मे मुलस्थन (मुलतान), अन्हिलवाड़ (गुजरात) कलिंग और मुलतान वस्त्रोद्योग के केंद्र थे किंतु अन्य स्रोतों से पता चलता है कि अपरांत (कोंकण प्रदेश), मालवा तथा मदुरा भी वस्त्रोद्योग के केंद्र थे। भड़ौंच के बने हुए वस्त्र इतने प्रसिद्ध थे कि वे 'वरोज' नाम से विख्यात थे। खंभात में बुने हुए वस्त्र 'खंबायात' के नाम से जाने जाते थे। यहाँ के वस्त्र 'वुकरम' विदेशों को निर्यात होते थे। मध्य देश, चुनारी के लिए प्रसिद्ध था। कश्मीर में वस्त्रोद्योग विशेषकर सफेद लिनन का उल्लेख ह्यूनत्सांग ने किया है। मजमलउत्तवारीख के अनुसार इस देश में उत्तम किस्म का कपड़ा तैयार होता था। जिसका निर्यात किया जाता था।

3. **तेल उद्योगः** तेल उद्योग इस काल मे काफी महत्त्वपूर्ण हो गया था। दसवीं सदी के उपरांत तेलहन बोने और तेल के मिल या धनाका के प्रमाण मिलते है। कर्नाटक में पाए गए एक अभिलेख में विभिन्न प्रकार के तेल मिलों जो कि आदमी और बैलों द्वारा चलाए जाते थे, की चर्चा की गई है। धनी तेलिकों के बारे में भी हमें जानकारी मिलती है जिनमें से कुछ ने मंदिर बनवाए और अन्य सार्वजनिक निर्माण कार्य करवाएँ। यह जानकारी भी मिलती है कि तेल उद्योग से इसके सदस्यों को मुनाफा भी हुआ।

4. **गुड़ चीनी उद्योगः** इसी प्रकार इस काल में गन्ना उत्पादन और गन्ने की पिराई का उल्लेख किया गया है। यह गुड़ और चीनी के दूसरे रूपों के बड़े पैमाने पर उत्पादन की ओर इशारा करता है। कृषि आधारित उद्योगों के अलावा, धातु और चमड़े की वस्तुओं में शिल्पकारी उच्च कोटि की थी।

5. **धातु उद्योगः** साहित्यिक ग्रंथों में उन दस्तकारों की चर्चा पाई गई है जो विभिन्न प्रकार के धातुओं जैसे ताँबा, पीतल, लोहा, सोना, चाँदी आदि के काम से जुड़े हुए थे। इस काल मे लोहकार के अतिरिक्त कांसार (कांस्यकार) तथा सीतलकार का कटव आया है। उड़ीसा के पुरी एवं कोणार्क मंदिरों में बड़ी संख्या में पाई गई छड़ों से बारहवीं सदी के लोहारों की दक्षता का पता चलता है। लोहे का उपयोग तलवार, भाला, और दूसरे उच्च कोटि के शस्त्र बनाने में किया जाता था। मगध, बनारस, कलिंग और सौराष्ट्र अच्छी कोटि के तलवार निर्माण के लिए जाने जाते थे। गुजरात सोने और चाँदी की कढ़ाई के लिए जाना जाता था। बारहवीं सदी के यहूदी सौदागरों के गिंजा रिकार्डो से भारतीय पीतल उद्योग की प्रसिद्धि का पता चलता है। एडेन से ग्राहक टूटे बर्तनों को भारत भेजते थे जिससे कि उनकी जरूरत के हिसाब से मरम्मत की जा सके। नालंदा, नेपाल, कश्मीर और चोल राज्य की बनी वस्तुओं से उस समय के भारतीय धातु कारीगरों की कुशलता का पता चलता है। मुस्लिम लेखकों के अनुसार ताँबा पाना तथा देवल में फारस से आता था परन्तु खेतजी, छोटा नागपुर तथा ढाकां में ताबे की खाने थी इसलिए यहाँ से भी ताँबा लिया जाता रहा होगा। सोना और चाँदी मंदिरों की मूतिर्यो, पूजा के बर्तन तथा आभूषणों के लिए उपयोग में लाया जाता था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि हर्ष ने कन्नौज सभा में पूजा के लिए विशाल सोने की मूर्ति बनवाई थी। सोमनाथ के मंदिर से महमूद गजनवी सोने-चाँदी की मूतिर्यो और मंदिर का विशाल खजाना ले गया था।

6. **चमड़ा उद्योगः** चमड़ा उद्योग के क्षेत्र मे गुजरात की स्थिति बहुत अच्छी थी। मार्कोपोलो बताता है कि उस समय गुजरात के लोग चमड़े की लाल और नीले रंग की खूबसूरत चटाई बनाते थे जिन पर पक्षियों और जानवरों की कढ़ाई होती थी। अरब में इनकी बहुत अधिक माँग थी

7. **हर्षचरितः** हर्षचरित में हाथीदाँत की बनी हुई शालभंजिकाओं का उल्लेख है। केशवसेन के भटेरा अभिलेख में हाथीदाँत का काम करनेवालों का उल्लेख है। केशव सेन के ही दूसरे अभिलेख से ज्ञात होता है कि पालकी के डंडे हाथीदाँत के बने हुए होते थे। अल इश्तकरी ने मुलतान में सूर्य मंदिर के पास हाथीदाँत के काम करने वालों की बस्ती का उल्लेख किया है। अलमसूदी के अनुसार हाथीदाँत का आयात जंजीबार से होता था। यह देवल तथा पश्चिमी भारत के लिए उचित जान पड़ता है किंतु बंगाल में हाथीदाँत वहीं की उपज थी। कुछ चीनी व त्तांतों में बंगाल से चीन जाने वाली निर्यात वस्तुओं में हाथीदाँत का भी उल्लेख है।

सिक्के और विनिमय के दूसरे माध्यम

धातु मुद्रा के पुनः प्रचलन ने इन सदियों में व्यापार को काफी मदद पहुँचाई। इसलिए मुद्राकरण के स्तर पर काफी बहस हुई है। प्रायः बाजार में मुद्रा के प्रचलन का समर्थन करने वाले इतिहासकार साहित्य और अभिलेखों की चर्चा प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में विभिन्न तरह के सिक्कों का वर्णन करने के लिए करते है। इस तरह ग्रंथों जैसे 'प्रबंधचिन्तामणि', 'लीलावती', 'द्रव्यपरीक्षा', 'लेखाधिपति' आदि में भागका, रूपका, विमशतिका, कर्शपाना, दीनार, द्रमः, निशका, गधिया-मुद्रा, गडयंका, टंका और कई सिक्कों की चर्चा पाई गई है। अभिलेखों में भी सिक्कों की चर्चा पाई गई है। उदाहरण के लिए सियादोनी अभिलेख में दसवीं सदी के मध्य के विभिन्न द्रमों (सिक्कों) की चर्चा पाई गई है। परमारों, चालुक्यों, चहमानों, प्रतिहारों, पालों, चंदेलों और चोलों के अभिलेख उस समय के साहित्य मे मिल सिक्कों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों की पुष्टि करते हैं। इन मुद्राओं के मूल्य के बारे में, इनकी धातु की मात्रा और इनके एक दूसरे से संबंधों के बारे में बहुत से अनुमान लगाए गए है। अभिलेखों और साहित्य के आधार पर सिक्कों के अध्ययन से मुद्रा के बाजार में भारी प्रचलन के मत को संपुष्ट करना है इसलिए हमें इन सभी पक्षों की जाँच निम्न आय पर कहने के पश्चात् ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।

i) मुद्रा (सिक्कों) की चर्चा शहरी क्षेत्रों या ग्रामीण क्षेत्रों में विनिमय के संदर्भ में है,

ii) विनिमय केन्द्रों के प्रकार और बाजार का स्वरूप जहाँ आदान-प्रदान होता था,

iii) आदान-प्रदान में लगे लोग।

iv) किस हद तक मुद्रा (सिक्कों) के संबंध में अभिलेखीय संदर्भ सिर्फ वैचारिक है।

जहाँ तक सिक्कों के नमूनों का सवाल है सोने के सिक्के ढालने का पुनः प्रचलन गांगेयद्रा, (ई. 1019 से 1040) मध्यप्रदेश में त्रिपुरी के कलचुरी राजा, चार सदियों के बाद (उत्तर प्रदेश में वाराणसी के निकट) गहादवाला के राजा गोविन्दचंद्र, मध्य भारत में चंदेला राजा, कीर्तिवर्मन और मदनवर्मन के समय में हुआ। कश्मीर के राजा हर्ष और तमिलनाडु के सोमजे चोल राजाओं ने भी सोने के सिक्के जारी किए। पश्चिम और उत्तर-पश्चिम भारत के प्रारंभिक मध्ययुगीन सिक्कों की चर्चा पहले भी की गई थी। एक अनुमान के अनुसार कर्नाटक में बारहवीं तेरहवी सदी के दौरान नौ टकसालों की स्थापना की गई। राजस्थान में जोधपुर के निकट श्रीमोल में एक महत्त्वपूर्ण टकसाल था। जहाँ तक धातु मुद्रा की वास्तविक भूमिका का सवाल है क्षेत्रीय आधार पर बहुत सीमित अध्ययन किया गया है, जिसके आधार पर हम मुद्रा के भारी प्रचलन को सिद्ध नहीं कर सकते।

सिक्कों के संदर्भ में पाए गए अनेक प्रमाणों के बावजूद मुद्रा के कुल-मिलाकर प्रचलन के प्रमाण लगभग नगण्य है। प्रारंभिक मध्यकाल के सिक्कों की निम्न क्रय शक्ति को, चाहे वह किसी भी धातु के बने हो, अनदेखा नहीं किया जा सकता है। इस काल के सभी सिक्के बहुत ही निम्न स्तर के थे तथा इनका वजन भी बहुत कम था। बढ़ती आबादी और बस्तियों के विस्तार के साथ-साथ ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रा का इस्तेमाल बहुत कम हो गया था। मध्यकालीन राजस्थान पर किया गया अध्ययन यह दर्शाता है कि व्यापार का पुनरुत्थान, विनिमय केन्द्रों और बाजारों का विस्तर और सौदागरों के परिवारों की खुशहाली, ''आँशिक मुद्राकरण'' के साथ ही संभव हुआ। इसी प्रकार सिलहारों (ई. 850 से 1250) के समय में (पश्चिमी तट में कोंकण क्षेत्र इनके अधीन था) मौद्रिक अन्तरसंबंध की विशेषता मुद्रा का सीमित प्रयोग था। मुद्रा के प्रकार और स्तर न सिर्फ स्थानीय थे बल्कि आर्थिक स्वरूप पर इनका कोई प्रभाव नहीं था। आम जनता सिक्कों का अधिक प्रयोग नहीं करती थी। दक्षिण भारत में ई 950 से 1300 की मुद्रा व्यवस्था यह दर्शाती है कि समाज के सभी स्तरों में आदान-प्रदान पर धातु

मुद्रा (सिक्कों) का समान प्रभाव नहीं था। उदाहरण के तौर पर पांडयों द्वारा विदेशी घोड़ो की खरीद पर किये गये खर्च के बारे में पांडयों की निम्न स्तर की मुद्रा से अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। वस्तु विनिमय का स्थानीय अन्तर्क्षेत्रीय और शायद अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस बात का पता चलता है कि सौदागरों के कारवाँ वस्तुओं का विनिमय दूसरे सत्रों से किया करते थे। एक कथन के अनुसार विदेशों से खरीदे गए घोड़ों की कीमत नगद में नहीं बल्कि भारतीय माल जैसे रेशम, मसाले और हाथी दाँत के रूप में अदा की जाती थी। इन भारतीय मालों की पूरी दुनिया में माँग रहती थी। हालाँकि आँशिक मुद्राकरण का पुनः प्रचलन आर्थिक विकास में मदद कर रहा था लेकिन ऋण व्यवस्था के समानांतर विकास से जिसमें लेन देन बिना नगद मुद्रा के संभव था, का भी महत्त्व नहीं था। उस समय के ग्रंथों में हुड़िका या विनिमय पत्र के बारे में पता चलता है जो कि शायद सौदागरों द्वारा वाणिज्यिक आदान-प्रदान के उपयोग में लाया जाता था। इस पद्धति के द्वारा एक सौदागर से दूसरे को ऋण दिया जा सकता था जिससे व्यापार में सिक्के रूपी मुद्रा की कमी के कारण उत्पन्न बाधा को दूर किया जा सकता था। लेखाधिपति नामक ग्रंथ जो कि बारहवीं-तेरहवीं सदी में गुजरात के लोगों के जीवन पर प्रकाश डालता है, उस समय जमीन, मकान और पशुधन को गिरवी रखकर ऋण लेने के बारे में जानकारी देता है। यह ग्रंथ इन तरीकों से वाणिज्यिक गतिविधियों के साथ-साथ उपभोक्ता वस्तुओं के लिए ऋण लेने के उपायों का उल्लेख करता है।

व्यापार के पहलू

कृषि उत्पादन में विस्तार और तेजी से बढ़ता हुआ औद्योगिक तथा शिल्प उत्पादन के दो कारण थे जिन्होनें श्रेणीबद्ध विनिमय केन्द्रों के उद्‌भव में योगदान दिया। ये केन्द्र अपने इलाकों के बाहर भी कार्य करते थे। इस प्रकार अन्तर्क्षेत्रीय और क्षेत्र के अंदर के विनिमय तंत्र ने अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को पहले चरण (ई. 750 से 900) में हानि पहुँचाई।

अन्तर्देशीय व्यापारः विभिन्न किस्म की वस्तुओं को व्यापार मार्ग के तंत्र द्वारा व्यापार के लिए ले जाया जाता था। आइए पहले व्यापार की वस्तुओं की चर्चा की जाए।

(अ) व्यापार की वस्तुएँ और उसके उपभोक्ताः अनेक अभिलेखों में उन व्यापारियों का उल्लेख पाया गया है जो अनाज, तेल, मक्खन, नमक, नारियल, सुपारी, पान के पत्ते, नील, मिश्री, गुड़, सूती कपड़े, कपास, कम्बल, धातु, मसाले इत्यादि एक जगह से दूसरी जगह ले जाते थे और उन पर कर तथा चुंगी देते थे। स्पेन के (1200 सदी) एक जिसुइट पादरी बैंजामिन तुदेला से यह जानकारी मिलती है कि भारत से वापस लौटते समय, किस द्वीप में जो फारस की खाड़ी में है, व्यापारी अपने साथ जौ, गेहूँ और दालों के अलावा तेलहन और सूती कपड़े भी लाते थे। अलइदरीसी ने भी मालाबार से श्रीलंका को जहाजों द्वारा बारहवीं सदी में चावल पहुँचाने का उल्लेख किया है। खजूर की चीनी और रस्सीयों के लिए नारियल के रेशों के निर्यात के बारे में फ्रेयर जोरडॉनस ने लगभग ई. 1330 में लिखा है। मार्कोपोलो ने क्विलोन (जो मालाबार तट पर है) और गुजराज से नील के निर्यात का उल्लेख किया है। इसके अलावा बहुत सारे दूसरे स्रोतों में सूती कपड़ों, दरियों, चमड़े की चटाइयों, तलवारों और भालों का उल्लेख विनिमय की महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के रूप में हुआ है। घोड़ों, हाथियों और गहनों जैसे कीमती सामान भी विभिन्न विनिमय केन्द्रों पर आते थे।

भारतीय वस्तुओं के मुख्य खरीददार निश्चित तौर पर चीन, अरब और मिश्र के धनी लोग थे। अनेक भारतीय वस्तुएँ भूमध्य सागर के माध्यम से यूरोप तक पहुँच गई होंगी। हालाँकि विदेशी व्यापार के विभिन्न पहलुओं पर बाद में बहस की जाएगी इस तथ्य पर प्रकाश डालने की जरूरत है कि आंतरिक माँग कम नहीं थी। आठवीं सदी के बाद बड़े पैमाने पर भूमि

अनुदान की वजह से उपभोक्ताओं का एक नया वर्ग पनपा। दो पुजारी पहले घरेलू और दूसरे कर्मकांडों के बदले मिली छोटी-मोटी आमदनी पर निर्भर थे अब उन्हें पुश्तैनी तौर पर बड़ी जमींदारियाँ तथा अन्य लाभ और अधिकार मिल गए। यह भूपति वर्ग शासकों और उभरते हुए व्यापारिक वर्ग के साथ विलासिता के सामान का महत्त्वपूर्ण खरीददार हो गया क्योंकि इस वर्ग की क्रय शक्ति ज्यादा थी। ब्राह्मणवादी और गैर ब्राह्मणवादी धार्मिक प्रतिष्ठान जो भू-सम्पति और स्थानीय करों के रूप मे विस्त त संसाधनों के मालिक थे, अधिकांश बेचे जाने योग्य वस्तुओं के महत्त्वपूर्ण उपभोक्ता के रूप में उभरे। उन्हें न सिर्फ नारियल, पान के पत्ते और सुपारी जैसी वस्तुएँ जिनको धार्मिक पवित्रता मिली थी की जरूरत पड़ी परन्तु इसके साथ ही भगवान के भोग के लिए, भोज्य पदार्थो या प्रसादों की मात्रा की आवश्यकता भी बढ़ गई। धार्मिक प्रतिष्ठानों के कर्मचारी जिनकी संख्या बढ़े और महत्त्वपूर्ण मंदिरों में सैकड़ों में थी किसानों, शिल्पकारों और व्यापारियों द्वारा उत्पादित तथा वितरिक की गई वस्तुओं के महत्त्वपूर्ण उपभोक्ता वर्ग के रूप में सामने आए। इस तरह विस्त त संसाधनों और विभिन्न जरूरतों वाले बड़े मंदिरों ने भी वाणिज्यिक गतिविधियों को बढ़ाने में मदद दी। दक्षिण भारत के मंदिरों की यह विशेष पहचान थी कि वे महत्त्वपूर्ण वाणिज्यिक केन्द्रों के रूप में उभरे।

(ब) व्यापार मार्ग और संचार के साधनः सड़कों का विस्त त तंत्र बंदरगाहों को एक दूसरे से जोड़े हुए था। इनके द्वारा बाजारों और नगरों के बीच व्यापार और वाणिज्य होता था। चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा व त्तांत में पता चलता है कि विभिन्न भू-क्षेत्र आपस में जुड़े हुए थे। ह्वेनसांग ने 'सातवीं' सदी में हिन्दुकुश पार करते हुए उत्तर में कश्मीर से होते हुए दक्षिण में कांची और पूर्व में असम से लेकर पश्चिम सिंधु तक भ्रमण किया। ई. 903 के एक अभिलेख में सौदागरों का उल्लेख मिलता है जो कर्नाटक, मध्य प्रदेश, दक्षिणी म दगुन और सिंधु से होते हुए राजस्थान में अहदा में व्यापार के लिए आए। ग्यारहवीं सदी में कश्मीर में आया एक कवि, मिलहाना, कश्मीर से मथुरा तक अपनी यात्रा के बारे में बताता है कि वह किस तरह कन्नौज और प्रयाग से बनारस पहुँचा। बनारस से यह सोमनाथ (सौराष्ट्र तट पर) धर (उज्जैन के निकट) और अनाहिलावाड़ा (उत्तरी गुजरात) से होते हुए पहुँचा। सोमनाथ से होनावार (गोवा के निकट) वह समुद्री मार्ग से गया और उसके बाद पूर्वी तट पर रामेश्वरम् भू-मार्ग से पहुँचा। अंत में वह पश्चिमी भारत में स्थित कल्याणी पहुँचा और पश्चिमी चालुक्यों के दरबार में पहुँचा।

अरबी और फारसी विवरण हमें समकालीन व्यापारिक मार्गो पर अधिक गहन जानकारी देते हैं। अलबरूनी (ई. 1030) ने 15 मार्गो का उल्लेख किया है जो कन्नौज, मथुरा, बयाना आदि से शुरू होते थे। कन्नौज का मार्ग प्रयाग से गुजरते हुए पूर्व की ओर ताम्रलिप्ति (पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले में तामलुक में) के बंदरगाह तक जाता था। जहाँ से वह पूर्वी तट होते हुए दक्षिण मे कांची तक जाता था। उत्तर पूर्व से यह मार्ग आसाम, नेपाल और तिब्बत तक जाता था जहां से भू-मार्ग से चीन तक जाया जा सकता था। उत्तर-पश्चिम में बल्ख जाते समय कन्नौज तथा मथुरा से गुजरना पड़ता था। यह मार्ग पेशावर और काबुल को जोड़ता था और अन्त में ग्रेट सिल्करूट में मिलता था जो चीन को यूरोप से जोड़ता था। यह उत्तर पश्चिमी मार्ग गुप्त काल से पहले की सदियों में भारत और मध्य एशिया के बीच वाणिज्यिक अंतरसंबध का मुख्य मार्ग था। परन्तु प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में यह मुख्यतः अरब और तुर्की व्यापारियों के नियंत्रण में था जो इसका इस्तेमाल फारस, बल्ख और दूसरे इलाकों से घोड़े लाने के लिए करते थे। राजस्थान में बयाना का मार्ग मारवाड़ के रेगिस्तान

से गुजरते हुए सिन्ध के आधुनिक बंदरगाह कराची तक जाता था। इस मार्ग की एक शाखा अरावली पहाड़ियों की पश्चिमी तलहटी में स्थित आबू से गुजरती थी और गुजरात के बंदरगाहों और शहरों को उत्तर और उत्तर-पश्चिमी भारत में स्थित बयाना, मथुरा और दूसरे स्थानों से जोड़ती थी। मथुरा और प्रयाग से एक दूसरा मार्ग पश्चिमी तट पर स्थित भड़ौच के बंदरगाह की ओर उज्जैन होते हुए जाता था। इन मार्गो ने भारत के भीतरी हिस्सों को अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री व्यापार के लिए खोलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसने दसवीं सदी के बाद एक नया आयाम हासिल किया। सड़कों के अलावा उत्तर भारत की नदियों, और दक्षिण भारत के पूर्वी और पश्चिमी तटों के साथ लगे समुद्री मार्गो ने भी अंतर्क्षेत्रीय सम्पर्को को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्राचीन काल में यात्रा, आनन्द और कष्ट व्यापारिक मार्गो की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करती थी। रेगिस्तानी और पहाड़ी मार्गों वाले इलाकों से गुजरने वाले मार्ग निश्चित तौर पर ज्यादा दुष्कर और कठिन थे। मैदानी इलाकों में यात्रा का मुख्य साधन बैल गाड़िया थीं लेकिन जहाँ ये नहीं चल पाती थीं वहाँ एक जगह से दूसरी जगह वस्तुओं को लाने ले जाने के काम के लिए जानवरों और आदमियों का इस्तेमाल होता था। समकालीन साहित्य में विभिन्न प्रकार की नौकाओं का उल्लेख मिलता है जिनका इस्तेमाल संभवतः जल मार्गों पर होता था जबकि बड़े जहाज समुद्रो में चलते थे।

दसवीं सदी के बाद के काल में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। शासकों ने अपने राज्यो ंके राजमार्गों को सुरक्षित रखने में गहरी दिलचस्पी दिखाई। चोरों और लुटेरों को सजा देने के लिए कदम उठाए गए और गाँव वालों को उनके इलाकों से गुजरने वाले व्यापारियों और यात्रियों की सुरक्षा के लिए सैन्य और आर्थिक मदद दी। गुजरात के चालुक्य राजाओं के शासन काल में अलग विभाग जियाला-पथकरण था जो राजमार्ग की देखभाल करता था। उन्होनें नई सड़कों का निर्माण भी करवाया जो उनके राज्य के महत्त्वपूर्ण बंदरगाहों और बाजारों को जोड़ती थी और यात्रियों की सुविधा के लिए हौज और कुओं की खुदाई करवाई। चूँकि व्यापार राजस्व का महत्त्वपूर्ण स्रोत था इसलिए व्यापारियों और सौदागरों की सुरक्षा और खुशहाली के लिए राजनीतिक अधिकारियों का चिंतित होना स्वाभाविक था। मार्कोपोलो ने कैम्बे का उल्लेख करते हुए कहा है कि वह समुद्री डाकुओं के आतंक से मुक्त था, इससे यह पता चलता है कि भारतीय राजाओं ने अपने बंदरगाहों को डकैती से सुरक्षा प्रदान की थी। समुद्री डाकुओं का आतंक पश्चिमी चीन से फारस की खाड़ी तक के समुद्री मार्ग पर मुख्य खतरा था।

समुद्री व्यापार

इस काल में बड़े पैमाने पर व्यापारिक गतिविधियाँ समुद्र के जरिए हुई। वहाँ हम उन देशों का उल्लेख करेंगे जो समुद्री व्यापार में भाग लेते थे और साथ ही व्यापार की वस्तुओं, मुख्य बंदरगाहों और समुद्री मार्गों की सुरक्षा की चर्चा करेंगे। हम पहले समुद्री व्यापार के मुख्य भागीदारों की चर्चा करेंगे।

इस काल की विशेषता एशिया के दो छोरों, फारस की खाड़ी और दक्षिण चीन के बीच समुद्री व्यापार का विस्तार था। हिन्दुस्तान, जो इन दो छोरों के बीच में पड़ता था, को इस व्यापार से बहुत फायदा हुआ। लम्बी समुद्री यात्रा की कठिनाइयों को भारतीय तटों पर लंगर डालकर कम करने की कोशिश की जाती थी।

(अ) **मुख्य भागीदारः** इन सदियों में एशिया पर अरबों का प्रभुत्व रहा। आठवीं सदी में सौराष्ट्र तट पर स्थित बल्लभी के बाजार और महत्त्वपूर्ण बंदरगाह को नष्ट करने के बाद उन्होंने

अरब सागर में अपने को मुख्य समुद्री ताकत के रूप में स्थापित किया। बाद में बारहवीं सदी में चीन भी इस व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण भागीदार बना और उसने दक्षिण पूर्वी एशिया और भारत में अपने जहाज भेजने शुरू किए किन्तु इससे अरबों की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा जिन्होनें एशियाई व्यापार पर अपनी सर्वोच्च पकड़ को कायम रखा।

स्वदेशी स्रोतों और विदेशी विवरणों में उल्लेखित छिटपुट जानकारियाँ इंगित करती हैं कि अरबों की प्रबल प्रतिस्पर्धा के बावजूद भारतीय दसवीं सदी के बाद समुद्रों से आगे दूसरे प्रदेशों में जा रहे थे। दसवीं सदी के एक अरब लेखक अब्बू जैद ने लिखा है कि भारतीय व्यापारी फारस की खाड़ी में स्थित सिराफ जाते थे। जब कि इब्नबतूता (1400 ई.) लाल सागर के एडन में भारतीय व्यापारियों के एक उपनिवेश के विषय में बताता है। चौदहवीं सदी के एक गुजराती ग्रंथ में कच्छ के एक व्यापारी जगदु का उल्लेख है जो होरमूज में अवस्थित भारतीय एजेंटों की मदद से फारस से व्यापार करता था। दक्षिण भारत में चोल समुद्री व्यापार में गहरी रूचि लेते थे। मलाया और सुमात्रा में प्राप्त तमिल अभिलेखों से इन इलाकों मे तमिल व्यापारिक समुदाय की वाणिज्यिक गतिविधियों का पता चलता है। चोलों ने चीन से संबंध सुधारने के लिए भी कई दूत भेजे। उन्होनें ग्यारहवीं सदी में चीन को जाने वाले समुद्री मार्ग को अपने व्यापार के लिए सुरक्षित रखने के लिए श्रीविजय साम्राज्य के खिलाफ भी समुद्री अभियान भेजे। किन्तु कुल मिलाकर भारतीय व्यापारियों की व्यक्तिगत भागीदारी का उल्लेख बहुत सीमित है। इससे भारतीय वस्तुओं की माँग पर प्रभाव नहीं पड़ा जो बाहर की दुनिया को अरबों और चीनियों द्वारा मिलती थी।

(ब) विनिमय होने वाली वस्तुएँ: जहाँ तक एशियाई व्यापार में शामिल वस्तुओं की बात है, चीनी ग्रंथों में उल्लेख मिलता है कि मालाबार तट को चीन और दक्षिण पूर्वी एशिया से रेशम, चीनी, मिट्टी के बर्तन, कपूर, लौंग, मोम, चंदन की लकड़ी, इलायची इत्यादि मिलते थे। इनमें से बहुत सी वस्तुएँ शायद अरब देशों को पुनः निर्यात होती थी लेकिन कुछ हिन्दुस्तान के लिए भी थी, खास तौर पर रेशम जिसकी स्थानीय बाजारों में काफी मांग थी।

मार्कोपोलो बताते हैं कि गुजरात में कैम्बे के बंदरगाहों में दूर से आने वाले जहाज अन्य वस्तुओं के अलावा सोना, चाँदी और तांबा लाते थे। टिन पूर्वी एशिया से हिन्दुस्तान आने वाला अन्य धातु था।

पूर्वी उत्पादों के बदले भारत अपनी सुगन्धित वस्तुएँ और मसाले खास तौर पर काली मिर्च भेजता था। मार्कोपोलो के अनुसार किन्से शहर (हैंग-चाऊ) में ही रोजाना 10 हजार पौण्ड काली मिर्च की खपत होती थी। तेरहवीं सदी का चीनी बंदरगाह अधिकारी चाऊ-जू कुआ बताता है कि गुजरात, मालवा, मालाबार और कोरोमण्डल चीन को सूती कपड़े भेजते थे। इब्नबतूता (ई. 1333) ने इंगित किया है कि चीन के शहरों मे सूती कपड़े रेशम से ज्यादा दुर्लभ और कीमती थे। भारत चीन को हाथी दाँत, गैंडों के सींग और कुछ बहुमूल्य और अर्ध-बहूमूल्य पत्थर भी निर्यात करता था। बहुत से अरबी अभिलेख जो कैम्बे, समारथ और जूनागढ़ में मिले हैं, प्रकट करते हैं कि फारस की खाड़ी के व्यापारी, सौदागर और जहाज के मालिक बारहवीं-तेरहवीं सदी में पश्चिमी भारत आए थे। फारस की खाड़ी में होरमूज से गुजरात के तटों पर आए हुए जहाजों का उल्लेख लेखापद्धति में मिलता है।

जहाँ तक अरब और पश्चिमी देशों के व्यापार की वस्तुओं का सवाल है, यहूदी सौदागर भारत के पश्चिमी तटों से बहुत सारा माल मिश्र के बाजारों में ले जाते थे। इनमे मसाले, सुगन्धित वस्तुएँ, रंग, जड़ी बूटियाँ, कांस्य और पीतल के बर्तन, कपड़े, मोती, मनके नारियल इत्यादि

थे। भारत सागौन की लकड़ी का निर्यात भी करता था। इसका इस्तेमाल फारस की खाड़ी और दक्षिण अरब के लगभग व क्षहीन इलाकों मे जहाज बनाने और घरों के निर्माण में होता था। भारतीय बंदरगाहों से अतिरिक्त अनाज मुख्यतः चावल दूसरे तटवर्ती इलाकों के समुदायों को भेजा जाता था जहाँ उनकी जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त खाद्य पदार्थ नहीं होते थे। मार्कोपोलो के अनुसार अरब में गुजरात के महीन और नक्काशीदार चमड़े की चटाइयों की काफी माँग थी। भारत अपने लोहे और इस्पात उत्पादों खासतौर से तलवार और भालों के लिए भी प्रसिद्ध था जिनकी पश्चिमी देशों में बहुत माँग थी।

जहाँ तक पश्चिम से आयात का सवाल है सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु कपड़ा था। प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में जैसे-जैसे सामंती सरदारों और मुखियों की संख्या बढ़ी, घोडों की माँग कई गुना बढ़ गयी। घोड़े भू-मार्गो तथा समुद्री-मार्गो से लाए जाते थे। इब्नबतूता हमें बताता है कि उत्तर पश्चिमी भू-मार्गो से आने वाले घोड़ों के व्यापारी काफी मुनाफा कमाते थे। एक अरब लेखक वस्साफ (ई. 1328) के अनुसार तेरहवीं सदी में कोरोमण्डल तट, कैम्बे और दूसरे बंदरगाहों में प्रति वर्ष 10 हजार घोड़े लाए जाते थे। घोड़े बेहरीन, मसकत, अदेन, फारस आदि जैसी जगहों से लाए जाते थे। घोड़ों के अलावा छुहारे, हाथी दाँत, मूंगा, पन्ना इत्यादि भी पश्चिम से भारत लाए जाते थे।

(स) **बंदरगाहः** भारतीय तटों पर बहुत सारे बंदरगाह थे जो न सिर्फ अन्तर्देशीय व्यापारिक तंत्र के हिस्से थे बल्कि वह पूर्वी और पश्चिमी व्यापार के बीच कड़ी का काम भी करते थे। दरअसल कोई भी संकरी खाड़ी जो जहाजों के सुरक्षित लंगर डालने की सुविधा देती थी, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व के बंदरगाह में विकसित हुई। अलइदरीसी (बारहवीं सदी) के अनुसार सिन्धु के मुहाने पर देवाल एक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह था जहाँ अरब और चीन तथा अन्य भारतीय बंदरगाहों से पोत आते थे। गुजरात तट के मुख्य बंदरगाह सोमनाथ भड़ौच और कैम्बे थे। सोमनाथ के पूरब में चीन और पश्चिम में जांजीबार (अफ्रीका में) के साथ संपर्क थे। भडौच या प्राचीन ब गुकच्छ का बहुत लम्बा इतिहास रहा है। अरबी स्रोतों में कैम्बे का उल्लेख खम्बायत और संस्कृत स्रोतों में इसका उल्लेख स्तम्भ तीर्थ के रूप में हुआ है।

इसका प्रारंभिक उल्लेख नौवीं सदी मे मिलता है। भारत के पश्चिमी तट पर सोपरा और थाना दूसरे महत्त्वपूर्ण बंदरगाह थे।

मालाबार तट पर क्वीलोन एक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह के रूप मे उभरा था। अरब लेखक हमें बताते हैं कि दक्षिण पूर्वी एशिया में केडा की ओर रवाना होने से पहले पश्चिम से आने वाले जहाज क्वीलोन के बंदरगाह पर स्वच्छ पानी लेने के लिए आते थे। इसी प्रकार तेरहवीं सदी के चीनी स्रोत बताते हैं कि अरबों के देश की ओर जाने से पहले चीनी व्यापारियों को क्वीलोन में अपने जहाज बदलने पड़ते थे।

दसवीं और तेरहवीं सदियों के बीच पूरब और पश्चिम से आने वाले जहाजों के लिए कोरोमंडल तट का विकास सामान उतारने या चढ़ाने के स्थान में हो गया। अरब लेखक वस्साफ हमें बताते हैं कि फारस की खाड़ी के द्वीपों का धन और यूरोप तक के दूसरे देशों की सुन्दरता कोरोमंडल तट की देन है। इस इलाके का सबसे महत्त्वपूर्ण बंदरगाह नागापट्टनम था। पुरी और कलिंगपट्टम उड़ीसा तट के महत्त्वपूर्ण बंदरगाह थे। बंगाल में ताम्रलिप्ती का फिर से उत्कर्ष हुआ। हालांकि कुछ विद्वानों के अनुसार इसका स्थान धीर-धीरे सप्तग्राम ले रहा था।

(द) **व्यापारियों की सुरक्षाः** भारी मुनाफों को ध्यान में रखते हुए समकालीन राजसी अधिकारियों ने विदेशी व्यापार में संलग्न सौदागरों को सुविधाएँ देने में गहरी रुचि दिखाई। गुजरात के

चालुक्यों (दसवीं से तेरहवीं सदी) ने राजसी नियंत्रण मे बंदरगाहों की स्थानीय व्यापारी संगठनों की मदद से तथा राजसी अधिकारियों के माध्यम से व्यवस्था करते थे जो विदेशी व्यापारियों की देखभाल करते थे और बंदरगाह से चुंगी इकट्ठा करते थे। अरब लेखक एक मत होकर राष्ट्रकूट राजाओं की अरबों के प्रति उनकी शांति, सहिष्णुता की नीति की प्रशंसा करते हैं। गुजरात के चालुक्य भी अपने राज्य में मुस्लिम व्यापारियों के धार्मिक और आर्थिक आजादी देते थे। इब्न बताते हैं कि जब भी कोई विदेशी व्यापारी मर जाता था उसकी सम्पति जब्त नहीं होती थी बल्कि उसे सुरक्षित रख दिया जाता था जिससे कि उसके उत्तराधिकारी को वह सौंपी जा सके। आंध्र प्रदेश के गुन्टूर जिला के मोटूपल्ली के ई. 1244 के अभिलेखों से मालूम होता है कि राजा तूफान में भटके जहाजो को सुरक्षा देता था और विदेशी व्यापारियों का विश्वास जीतने के लिए राज्य के कानून के अनुसार कर एकत्र करने का वचन देता था।

नगरों का पुनरुत्थान

प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत (ई. 900 से 1300) का दूसर चरण दो पूर्ववर्ती सदियों से विलग था, क्योंकि इस काल में शहरी केन्द्रों का स्पष्ट पुनरुत्थान देखा जा सकता है। यह पुनरुत्थान लगभग अखिल भारतीय विशेषता बन गई। प्रायः इसे भारतीय उपमहाद्वीप का ''तीसरा शहरीकरण'' कहा जा सकता है।

व्यापारिक समुदाय एवम् संगठन

व्यापारी उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच एक कड़ी है विभिन्न क्षेत्र से कृषि उत्पादन और दस्तकारी और कारीगरी द्वारा बनायी गयी चीजों को एकत्रित करते हैं और एक बड़े क्षेत्र में उसका विवरण करते हैं। वे सिर्फ माल का ही व्यापार नहीं करते, बल्कि कच्चे माल का भी व्यापार करते है। इस तरह अर्थव्यवस्था को सुद ढ़ करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

मध्ययुगीन काल के प्रारंभिक दौर से बड़ी तादाद में छोटे और बड़े व्यापारी माल जमा करने और वितरण में लगे रहते थे। ये स्थानीय के अलावा अंतर्क्षेत्रीय होते थे, एक तरफ फेरी वाले खुदरा विक्रेता और छोटे व्यापारी थे तो दूसरी तरफ बड़े सौदागर और बड़े-बड़े कारवाँ बनाकर चलने वाले व्यापारी थे। व्यापारियों और सौदागरों की समाज में सापेक्ष स्थिति उन दोनों कालों की व्यापारिक गतिविधियों से जुड़ी है। उनकी भूमिका पर पहले दौर में (ईसवी 700 से 900) सीमित विनिमय के कारण विपरीत प्रभाव पड़ा था जबकि दूसरे काल (ईसवी 900 से 1300) में व्यापार के पुनरुत्थान से व्यापारिक समुदायों की शक्ति, प्रभाव और प्रतिष्ठा में काफी व द्धि हुई। प्राचीन भारतीय ग्रंथ वैश्यों के लिए कृषि और पशुपालन के साथ-साथ व्यापार को रोजी-रोटी कमाने का वैधानिक तरीका बताते हैं। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने वैश्यों को व्यापारी और शूद्रों को कृषक के रूप में बताया गया है। हालांकि दोनों वर्गो के करीब आने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी और शूद्र शराब, मधु, नमक और जौ इत्यादि का व्यापार करने लगे थे गुप्त काल के बाद ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था बिखरने लगी थी और लोग वर्ण व्यवस्था से अलग हटकर दूसरा व्यवसाय अपनाने लगे थे। सभी वर्ग और जाति के लाग व्यापार करने लगे थे। कुछ लोगों को यह मजबूरी में अपनाना पड़ रहा था, जबकि दूसरे लोग इसे अन्य आर्थिक गतिविधियों से ज्यादा लाभप्रद पाते थे।

पहले चरण (ईसवी 700–900) में व्यापारियों की स्थिति

इन सदियों में व्यापार के सापेक्षिक पतन के कारण समाज में व्यापारियों की भूमिका काफी घट गयी थी। व्यापार के पतन और बाजार की कमी हो जाने के कारण व्यापारियों को मंदिरों और दूसरे उभरते

जमींदारों की शरण में जाना पड़ा। इससे उनकी स्वतंत्र व्यापारिक गतिविधियाँ छिन गयीं और उन्हें अपने शरण देनेवालों की जरूरतो और माँगो को पूरा करना पड़ा। उड़ीसा और मध्य भारत के कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि व्यापारियों, कारीगरों और सौदागरों को स्थानीय भूमिपतियों का संरक्षण मिलने लगता था। इससे उनकी स्वतंत्र गतिविधियों में काफी कमी आई होगी। आठवीं व दसवी सदी के दौरान ऐसे कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रमाण नहीं मिलते हैं जिससे कि यह पता लगे कि व्यापारियों का प्रशासन में कोई हाथ था। जबकि बिहार और उत्तर प्रदेश में मिली गुहारों से पता चलता है कि गुप्त काल में उनकी महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक भूमिका थी। हालांकि व्यापार बिल्कुल लुप्त नहीं हो गया था कुछ सौदागर विशेषकर खाड़ी तट पर सक्रिय थे लेकिन उनकी संख्या बहुत कम थी और वे अधिकतर राजाओं, सामंतो और मंदिरों के लिए विलासिता की जरूरतों को पूरा करते थे। उस समय के आलेखों में व्यापारियों के बहुत कम विवरण से पता चलता है कि दक्षिण भारत में भी इन सदियों में व्यापार एक महत्त्वपूर्ण गतिविधि नहीं थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत के पहले दौर में धनी और स्वतंत्र सौदागर वर्ग पूरी तरह से लुप्त तो नहीं हुआ था लेकिन कम जरूर हो गया था।

दूसरे चरण (ईसवी 900–1300) में व्यापारियों की स्थिति

प्रारंभिक मध्ययुगीन भारत में दूसरे दौर मे व्यापारी वर्ग एक बार फिर प्रमुख हो गया और हम पाते है कि बड़ी तादाद मे सौदागर विलास और जरूरत का सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे। वे व्यापारिक विनिमय से काफी धन इकट्ठा कर चुके थे और मंदिरों और पुजारियों को उपहार देकर उन्होनें समाज में ख्याति अर्जित कर ली थी। उनमें से कईयों ने प्रशासन में सक्रिय भूमिका निभाई और कुछ राजदरबार में मंत्री भी बने।

उस काल के साहित्य और अभिलेखों में बड़ी संख्या में सौदागरों का विवरण है जो अपने विशेष व्यापार में संलग्न थे। इस तरह हम पाते हैं कि व्यापारी सोना, इत्र, शराब, अनाज, घोड़े, कपड़े, दही, पान इत्यादि के व्यापार में लगे हुए थे। कुछ व्यापारियों ने अपनी व्यापारिक गतिविधियों से सहायता के लिए सहायक या खुदरा व्यापारी नियुक्त किए। जैसे-जैसे अंतर्क्षेत्रीय व्यापार बढ़ता गया व्यापारियों का एक विशिष्ट वर्ग सिक्कों के परीक्षण और विनिमय में लग गया।

उधार देना भी सौदागरों का एक प्रमुख काम हो गया। हालाँकि लोग धार्मिक उद्देश्य जैसे कि फूल चढ़ाने, दिया जलाने आदि के लिए मंदिर के खजानों में पैसा जमा करते थे लेकिन कुछ ऐसे संदर्भ मिलते है जिनमें श्रेणी पैसे जमा करके उस पर सूद देती थी। पश्चिमी भारत में निक्षेप वाणिक नामक सौदागरों का एक समूह उभरा जो बैंकिंग और उधार देने में पारंगत था। गुजरात के एक समकालीन ग्रंथ लेखापद्धति में एक ऐसे सौदागर के लड़के का वर्णन है जिसने अपनी पैत क जायदाद से अपने हिस्से का दावा किया जिसमें वह उधार देने का धंधा शुरू कर सके। मेधातिथि जो कि एक वैधानिक टीकाकार था, उधार देनेवालों के निगम की बात बताता है। लेकिन समकालीन साहित्य उधार देनेवालों का एक चित्र प्रस्तुत करता है और उन्हें अविश्वसनीय बताता है जो कि आम आदमी को पैसों की हेरा फेरा कर ठगते है।

इस काल में बहुत से क्षेत्रीय सौदागर समूहों का उदय हुआ जो अपने क्षेत्र के नाम से जाने जाते थे। ये मुख्यतः पश्चिम भारत से थे चूँकि इस क्षेत्र में बहुत से भू-मार्ग थे जो पश्चिमी तटों को पूर्वी भारत के बाजारों और शहरों से जोड़ते थे। इसलिए इस क्षेत्र के कुछ स्थान के सौदागरों के ओसवाल नाम के समूह की उत्पति ओसिया से हुई, पालीवाल की पतली से, श्रीमाली की श्रीमाला से और मोधा की मोधेंरा से हुई। उनमें से ज्यादातर लोग मारवाड़ी कहे जाते है। मारवाड़ी अर्थात् मारवाड़ के सौदागर। अपने क्षेत्रीय नाम के अलावा सौदागर लोग कई दूसरे नामों से जाने जाते थे उनमें से दो हैं श्रेष्ठी और

सर्थवाह। ये दोनों नाम काफी पहले ही प्रचलित है। श्रेष्ठी एक धनी थोक व्यापारी था जो शहर में रहता था और अपना धंधा खुदरा व्यापारियों और एजेंटों के सहारे से करता था। समय-समय पर वह छोटे व्यापारियों को सामान और पैसा उधार देता था और इस तरह वह एक बैंकर का काम भी करता था। हालाँकि जैसा हम पहले बता चुके हैं उधार देना एक अलग और विशेष धंधा बन गया था।

कारवां के नेता को सर्थवाह कहा जाता था जिसकी देखरेख में सौदागर सुदूर जगहों पर माल बेचने व खरीदने जाते थे। वह अत्यंत योग्य माना जाता था जिसे सिर्फ मार्ग का ही नहीं बल्कि भाषा और विभिन्न क्षेत्रों के विनिमय के नियमों का पता होता था। कृषि के विस्तार से आठवीं और नवीं सदी के उपरांत उत्पादों की उपलब्धता से दक्षिण भारत में भी व्यापारिक विनिमय में व द्धि हुई। इससे एक व्यापारिक समुदाय का उदय हुआ जो अपना पूरा समय स्थानीय विनिमय में लगाता था। यह वर्ग अंतर्क्षेत्रीय और अंतर्देशीय व्यापार में भी हिस्सा लेते थे। पूर्वी भारत के समान दक्षिण भारत में भी व्यापारियों ने कुछ खास वस्तुओं जैसे कपड़ों, तेल या घी, पान के पत्ते, घोडें आदि के व्यापार में भी दक्षता हासिल कर ली। स्थानीय स्तर पर जिन्हें नगरम कहा जाता था, विनिमय के केन्द्र थे। यह कृषि बस्तियों के पास थे जो न केवल आस-पास के क्षेत्रों से माल एकत्र करते थे बल्कि दूसरे क्षेत्रों से आने जाने वाले व्यापरियों से माल विनिमय भी करते थे। ग्यारहवीं व बारहवीं सदी में चोल काल के दौरान नगरम की संख्या में काफी व द्धि हुई थी। यहाँ तक कि सभी तमिल व्यापारी नगरतार (जो कि नगरम् सभा का सदस्य होता था) के नाम से पहचाने जाने लगे।

व्यापारियों का संगठन (श्रेणियाँ)

सौदागरों की शक्ति व सम्मान का स्रोत सिर्फ धन नहीं था बल्कि उनके द्वारा बनाई गई श्रेणियों से था जो उनके हितों की रक्षा करती थी। पहले दौर में व्यापार के पतन से व्यापारियों की गतिवधियाँ कमजोर हो गयी थी और कई श्रेणियाँ मात्र क्षेत्रीय या पेशेगत उप-जाति के रूप में रह गई थी। लेकिन जैसे ही दूसरे दौर मे व्यापार पुनर्जीवित हुआ व्यापारिक श्रेणियाँ उस समय के आर्थिक जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग बनकर उभर आई।

श्रेणियां, परिभाषाएं और कार्य: व्यापारिक श्रेणियाँ क्या थी? इनकी कार्य पद्धति क्या थी? इनके सदस्यों को इससे फायदा मिलता था? ये ऐसे महत्त्वपूर्ण सवाल है हम जिनके जवाब प्राप्त करने के प्रयास करेंगें ये श्रेणियाँ समान प्रकार के माल जैसे अनाज, कपड़े, पान के पत्ते, घोड़े, इत्र आदि का व्यापार करने वाले व्यापारियों की स्वैच्छिक श्रेणियाँ थी। इसकी स्थापना स्थानीय व भ्रमणशील सौदागर करते थे। स्थानीय सौदागरों द्वारा बनाई गई श्रेणियाँ स्थायी होती थीं जबकि भ्रमणशील सौदागरों की श्रेणियाँ एक खास यात्रा के लिए बनाई जाती थी और यात्रा के अंत में उन्हें भंग किया जाता था। श्रेणियाँ अपनी सदस्यता और कार्यपद्धति के लिए खुद नियम और कानून बनाती थी। वे माल का दाम तय करती थी और यह भी तय करती थी कि किसी खास दिन इसके सदस्य किसी खास माल को नहीं बेचेंगे। अगर श्रेणियाँ पाती थी कि स्थानीय अधिकारी का रवैया द्वेषपूर्ण और असहयोगपूर्ण है तो कभी-कभी एक खास क्षेत्र में व्यापार करने से मना कर देती थी। व्यापारी श्रेणियाँ धार्मिक हितों के संरक्षण का काम भी करती थी। अभिलेखों मे कई ऐसे उद्धरण मिलते हैं जब श्रेणियों ने सामूहिक रूप से अपने माल की खरीद बिक्री पर मंदिर के रख-रखाव या अनुष्ठान के लिए अतिरिक्त कर देने के लिए निर्णय लिये। श्रेणियाँ आमतौर पर एक प्रमुख के अधीन काम करती थी जिसका चुनाव श्रेणियों के सदस्य करते थे। श्रेणियों के आर्थिक मामलों को तय करने में यह प्रमुख प्रधान न्याय अधिकारी की भूमिका निभाता था। यदि सदस्य श्रेणियों के नियमों को तोड़ते थे तो वह श्रेणियों के सदस्यों को सजा दे सकता था, निंदा कर सकता था या उनको निकाल सकता था। उसका

एक मुख्य कार्य था राजा से सीधा संबंध बनाए रखना और अपने साथी सौदागरों की ओर से बाजार की चुंगी और कर को तय करना। व्यापारिक गतिविधियों के विकास से श्रेणियों के प्रमुख को समाज में अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायता मिली और उनमे से कई स्थानीय प्रशासनिक परिषदों में अपने सदस्यों के प्रतिनिधियों का काम भी करते थे।

श्रेणियों के सदस्यों को एक कठोर नियम के तहत काम करना पड़ता था। वे अपनी तरफ से कार्य में कोई पहल नहीं कर सकते थे। लेकिन इससे उन्हें कई तरह के लाभ मिलते थे। उन्हें अपनी आर्थिक गतिविधियों में श्रेणियों का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस तरह वह स्थानीय अधिकारियों द्वारा परेशान नहीं किये जाते थे, जबकि एक फेरी वाले की तुलना में श्रेणी की सदस्यता के कारण बाजार में उनकी ज्यादा साख रहती थी। इसके बावजूद श्रेणियों के प्रमुख का रवैया रूखा और कठोर होता था। सौदागरों के लिए श्रेणियाँ आर्थिक व शारीरिक संरक्षण का साधन थी। उस समय के लेख व टीकाओं में व्यापारियों की श्रेणियों के भिन्न-भिन्न नाम हैं जैसे नाइगमा, अहेवनी, समूहा, सार्थ, संघ आदि। नाइगमा ऐसे कारवां सौदागरों का संघ था जो कई जाति के थे और दूसरे देशों से व्यापार करने के लिए साथ-साथ चलते थे। मेधातिथि के अनुसार श्रेणी व्यापारियो, उधार देने वालों और कारीगरों का एक समूह था। जबकि कुछ लेखकों का मानना थे कि यह सिर्फ कारीगरों का समूह था। लेखापद्धति के अनुसार पश्चिम भारत के राजाओं ने अपने क्षेत्र में इन श्रेणियों की कार्य पद्धति की देखरेख के लिए श्रेणी-कर्ण नामक विशेष विभाग की व्यवस्था की थी। एक अन्य ग्रंथ मानासोलासा बताता है कि कई व्यापारी अपनी सुरक्षा के लिए सेना (श्रेणी वाला) रखती थीं। अभिलेखों में सौदागरों की व्यापारिक गतिविधियों की भी चर्चा है। पश्चिम भारत के अभिलेखों में वणिक-मंडल की चर्चा की गयी है जो शायद स्थानीय सौदागरों की श्रेणी थी।

दक्षिणी भारत में व्यापारिक श्रेणियों के संगठन

दक्षिण भारत में कृषि के विस्तार से और व्यापार की व द्धि से दसवें दशक में कई व्यापारिक श्रेणियों का उदय हुआ। अभिलेखों में इन संगठनों को समाया कहा गया है जिसका मतलब सदस्यों के बीच सहमति या अनुबंध से पैदा हुआ संगठन जिसमें उसके सदस्यों को कुछ नियम व कानून मानने होते हैं। दक्षिण भारत की दो महत्त्वपूर्ण श्रेणियाँ हैं, आयावोले और मणिग्रमण। भौगोलिक रूप से उनका कार्य क्षेत्र वर्तमान महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, और दक्षिण आंध्र प्रदेश था। दसवीं सदी के उपरांत चोल राजाओं ने व्यापारिक मिशन, समुद्री यात्रा और चुंगी समाप्त करके व्यापार और वाणिज्य बढ़ाने की कोशिश की। इससे इन श्रेणियों की गतिविधियां काफी बढ़ गयी क्योकि वे अंतर्क्षेत्रीय के अलावा बंगाल की खाड़ी के पार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार भी करने लगे।

आयावोले श्रेणी ऐहोले के पाँच सौ स्वामियों की ''नाना देशी'' श्रेणी भी मानी जाती थी। जबकि कुछ का तर्क है ऐसे संगठन मुख्यतः विभिन्न तरह के मालों के व्यापारी थे ना कि सौदागरों का एक नियम। कन्नड़ आयावाले के विस्त त अध्ययन करने से पता चलता है कि ये निगम एक या दो जिलों तक फैले हुए, छोटे व काम चलाऊ संघ थे। संगठन में शुरूआत में हो सकता है कि पाँच सौ सदस्य रहे हों। लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि व्यापार और वाणिज्य के विकास के साथ बीरा अनंनजाज (आयावोले की व्यापारिक श्रेणी) के काम का दायरा, अंतरर्क्षेत्रीय था और 900 के 1500 ई. के बीच उनके गहन सामाजिक-आर्थिक हितों का विकास हुआ था। वे उत्तर में भलवानी (महाराष्ट्र के संगली जिले में) से दक्षिण में कायमपट्टीनम (तमिलनाडु में) तक फैल गये। पाँच सौ की संख्या एक तरह से पारपरिक हो गई थी जब कि श्रेणी काफी बड़ी हो चुकी थी और इसके सदस्य सभी क्षेत्र, धर्म और जाति से थे। इसी संदर्भ में नानादेवी शब्द इस संगठन के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा।

अपने विस्तार के दौरान आर्यलोग श्रेणी के सदस्य स्थानीय बाजार नगरम के संपर्क में आए और आस-पास के क्षेत्रों से कृषि उत्पादों को इकट्ठा करके और दूसरी जगह से लाए गए माल का वितरण करके इस तरह की व्यापारिक गतिविधियों को बढाया। आयावोले का व्यापारिक प्रभाव दक्षिण भारत के बाहर तक फैल गया। बर्मा, जावा, सुमात्रा और श्रीलंका से मिले अभिलेखों से इस बात का पता चलता है। जैसे-जैसे आयाबोले की व्यापारिक गतिविधियाँ बढ़ती गयी। इसके कुछ सदस्य बहुत धनी और शक्तिशाली हो गये और उन्होंने समाया चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त कर ली जिसका मतलब है व्यापारिक संगठन का सम्राट। इससे यह भी इंगित होता है कि उत्तर के समान दक्षिण में भी कुछ व्यापारी श्रेणियों को अपने नियंत्रण में करने की कोशिश करते थे।

दक्षिण भारत का दूसरा महत्त्वपूर्ण व्यापारिक संघ था मणिग्रमण। इसका उदय नौवीं सदी में केरल के तट पर हुआ था। जैसे-जैसे यह आयाबोले के संपर्क में आया इसकी अंतर्क्षेत्रीय गतिविधियाँ बहुत बढ़ गयी और यह प्रायद्वीप के बहुत बड़े भाग तक फैल गया। मलाया में तकआपा से नौवीं सदी का एक तमिल अभिलेख यह दर्शाता है कि यह लम्बी दूरी के समुद्री व्यापार से शुरू से ही लगा था।

अजुबन, दक्षिण भारत का एक अन्य व्यापारिक समूह था। यह शायद विदेशी व्यापारियों का संगठन था न कि पाँच समुदायों या जातियों का समूह, जैसा कि कुछ विद्वान मानते हैं। मणिग्रमण के समान इन्होंने भी अपनी व्यापारिक गतिविधियाँ केरल तट पर आठवीं या नवीं सदी से शुरू की थी और ग्यारहवीं सदी तक दूसरे तटीय क्षेत्रों में फैल गयी। इन्होनें स्थानीय सौदागरों के साथ-साथ आयाबोले और मणिग्रहण के साथ सम्पर्क बनाए रखा।

श्रेणियाँ काफी महत्त्वपूर्ण हो गई थी। इसका संकेत इस बात से मिलता लगता है कि ऐसी कोशिशें की जाती थी कि विभिन्न निगम के विभिन्न व्यापारियों की उच्च वंशावली का पता लगाया जाए। आयाबोले के बीराबंननजाज को वसुदेव की जाति का बताते हैं। उनकी तुलना महाकाव्यों के नायकों से की जाती थी। सीलाहर राजा गन्दरादित्य के ईसवी 1130 के कोल्हापुर के शिलालेख में बीराबंननजाज की प्रशस्ति का एक उदाहरण देखा जा सकता है।

''उनकी जय हो। जो पाँच सौ विश्व प्रसिद्ध महान नायकों के पदचिन्हों पर चले, जो कि बंननजाज के द्वारा बनाए गए नियमों पर चलें, जिनमें सच्चाई, शूद्र आचरण, अच्छा व्यवहार, राजनैतिक सूझ-बूझ, भद्रता और व्यापारिक ज्ञान हो। जो कि अपने शौर्य से भरे थे, जिनका जन्म वासुदेव, खण्डाली और मूलभद्र की जाति में हुआ था। जो लड़ाई में अपराजेय थे, जो ब्रह्मा के समान चौसठ कलाओं में पारंगत हैं, नारायण के समान वे चक्रधारी हैं और रूद्र के समान जिनमें दुनिया को नष्ट करने की शक्ति है। जो कि द ढता में राम की तरह हैं, अर्जुन के समान पराक्रमी हैं, भीष्म की तरह सदाचारी हैं, भीम के समान साहसी हैं। युधिष्ठर की तरह धर्मात्मा हैं, कर्ण के समान दानवीर हैं तथा सूर्य के समान तेजस्वी हैं। संक्षेप में दक्षिण भारत का विशाल व्यापारिक तंत्र अनेक व्यापारियों संगठनों द्वारा नियत्रित था जो कि आपस में सहयोग और सामंजस्य के साथ करते थे। संघों के मुखियाओं ने व्यापार तथा व्यापारिक संगठनों पर नियंत्रण के द्वारा राजसी घरानों से घनिष्ठता के संबंध बना लिए तथा समाज में यश एवं नाम कमाया।''

व्यापारियों तथा शिल्पकारों के बीच संबंद्ध

समकालीन स्रोतों में व्यापारियों तथा शिल्पकारों जो कि वाणिज्य में एक दूसरे पर परस्पर निर्भर वर्ग थे के संबंधों के सही स्वरूप का प्रमाण नहीं मिलता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि शिल्पकार जैसे बुनकर, धातुकर्मी आदि स्वतंत्र रूप से कार्य करते थे या व्यापारियों, जो कि उन्हें धन तथा कच्चा माल या दोनों उपलबध कराते थे के आदेशानुसार कार्य करते थे। परन्तु इस बात के प्रमाण हैं कि व्यापारियों द्वारा कच्चे माल तथा तैयार माल के संग्रहण/संगठन पर अधिक नियंत्रण कायम

करने से शिल्पकारों की गतिविधियों पर उनका प्रभाव काफी बढ़ गया।

अलबरूनी जो ग्यारहवीं शताब्दी में भारत आया, तथा लक्ष्मी-धारा जो कि बारहवीं शताब्दी का एक विधि शास्त्री था हमें बताता है कि शिल्पकार व्यापारियों के बीच रहते थे। इससे पता चलता है कि व्यापारी शिल्पकारों को कच्चा माल तथा पूँजी उपलब्ध कराते थे जो कि व्यापारियों के विदेशी तथा माल के अनुसार माल तैयार करते थे, तमिलनाडु मे इरोडे में पाया गया ग्यारहवीं शताब्दी का एक अभिलेख व्यापारियों द्वारा शिल्पकार की शरण दिए जाने की चर्चा करता है तथा इस बात से शिल्पकारों की व्यापारियों पर निर्भरता प्रदर्शित होती है। जैसे-जैसे व्यापार तथा वाणिज्य का विस्तार हुआ व्यापारियों ने खरीद-फरोख्त के वाणिज्यिक तंत्र पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश की। इसके कारण शिल्पकारों द्वारा स्वयं अपने माल को बेचने की क्षमता को हानि पहुंची। परन्तु कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनके अनुसार तेली तथा बुनकर अपने माल को स्वयं बेचते थे जिसके कारण वे मंदिरों तथा पुजारियों को अनुदान देने की क्षमता तथा धन पा सकें। यह कहा जा सकता है कि प्रारंभिक मध्ययुगीन काल में शिल्पकार बड़े व्यापारियों पर आर्थिक रूप से निर्भर थे।

इकाई - III

अध्याय-1
भू-व्यवस्था
(Land System)

(क) भू-लगान व्यवस्था
(Land Revenue System)

किसी भी राज्य की सम द्धि तथा स्थिरता उसके कोष की वित्तीय स्थिति पर निर्भर करती है। यदि शाही खजाना भरा है तो राजा राज्य को बाहरी तथा आन्तरिक खतरों से बचा सकता, अच्छा प्रशासन दे सकता है तथा राज्य का विकास हो सकता है। मौर्य सम्राटों ने राज्य की सुरक्षा, सुद ढ़ता तथा विकास के लिए वित्त के महत्त्व को जान लिया इसीलिए कौटिल्य राज्य के सात आवश्यक अंगों/तत्त्वों में कोष को भी एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते है। मौर्यपूर्वोत्तर काल में ही ऋग्वैदिक कालीन पशुचारण अर्थ-व्यवस्था कृषि आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन हो चुकी थी। चूँकि भू लगान (कृषि उत्पादन) राज्य की आय का मुख्य स्रोत थी अतः लगान को नियमित करने तथा लगान की व द्धि के लिए मौर्य सम्राटों ने महत्त्वपूर्ण कदम उठाए। ज्यादा से ज्यादा अजोत भूमि को जोताधीन लाने के लिए जंगलों को साफ कर नई-नई बस्तियाँ बसाई गई तथा शूद्रों को भी बीज, पशु आदि की सहायता प्रदान कर उन्हें भी कृषक बनने के लिए प्रोत्साहित किया। जिस प्रकार शिल्प तथा व्यापार को राज नियन्त्रित किया ठीक उसी प्रकार कृषि प्रबन्ध को भी नियन्त्रित किया। लगान व्यवस्था को भी सुव्यवस्थित तथा नियमित करने के लिए जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से स्पष्ट है, विस्त त नियम तथा सिद्धान्त बनाए गए।

ऋग्वैदिक काल में राजा और मुखिया की आय का मुख्य स्रोत युद्ध की लूट खसोट तथा बलि होती थी। शत्रु कबीलों से वह लूट का माल हथिया लेता था तथा विजित कबीलों और अपने कबीले के लोगों से नजराना ले लिया करता था। इस तरह से जो नजराने मिलते थे उन्हें बलि कहा जाता था। यह भेंट या कर लगता है कबीले के साथी ऐच्छिक तौर पर देते थे यह कोई नियमित कर नहीं था हालाँकि कुछ इसे ऐच्छिक भेंट न मानकर नियमित कर मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार कोई भी राज्य कितनी ही अर्द्धराज्य या कबीलाई अवस्था में हो लोगों को सुरक्षा देने के लिए वित्त की आवश्यकता पड़ती ही थी। भले ही यह बलि ऋग्वेदकाल में ऐच्छिक हो परन्तु कृषि प्रधान व्यवस्था होते ही अर्थात् उत्तर वैदिक काल में नियमित कर हो गया होगा। बुद्ध काल में भी कृषि उत्पादन, शिल्प तथा व्यापारिक वस्तुओं पर राज्य विभिन्न प्रकार के कर लगाकर राज्य की वित्तीय स्थिति को मजबूत किया गया होगा। परन्तु मौर्यकाल में पहली और लगभग सम्पूर्ण भारत एक वंश के अधीन आया। इतने बड़े साम्राज्य को संगठित रखने और प्रशासित करने के लिए एक विशाल स्थायी सेना तथा लम्बी-चौड़ी नौकरशाही की आवश्यकता पड़ी और ताम-झाम को बनाए रखने के लिए वित्त भी। अतः पहली बार हमें विभिन्न प्रकार के वसूल किए जाने वाले करों, उनकी दर, वसूल करने की विस्त त प्रणाली तथा इसके प्रबन्धात्मक पहलू के बारे में सुव्यवस्थित विवरण मिलता है।

प्रबन्धात्मक पहलू (भू लगान से सम्बन्धित अधिकारी)

कौटिल्य अपनी इस पुस्तक अर्थशास्त्र में करों का जो कि विभिन्न क्षेत्रों जैसे कि किसानों, व्यापारियों इत्यादि से एकत्रित किये जाते थे उनका उल्लेख करता है। लेकिन भू-राजस्व जो कि किसानों से संबंधित था और राज्य की आय का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत तथा मौर्यकाल में विशेष महत्त्व रखता है। उन करों को निर्धारित और एकत्रित करने के लिए एक सुसंगठित संस्था की आवश्यकता पड़ी और ऐसी संस्था बना दी गई जिसके मुख्य कर्मचारी गोप और समाहर्ता थे। अर्थशास्त्र समाहर्ता और उसके कर्मचारीगण के कर्त्तव्यों के सिलसिले में भू-राजस्व के निर्धारण में सम्बन्धित पर्याप्त आँकड़े प्रदान करता है। इस तरह गोप का एक विभिन्न कार्यों में कार्य सीमाओं, ग्राम-क्षेत्रों, अकृत्य (अजोत) भूमि, भू-हस्तांतरण आदि के विभिन्न रजिस्टर तैयार करने को कहा गया गया है। वह आवासग हों की गणना-सूची तैयार करता था, जिसमें यह बतलाता था कि ये घर कर योग्य हैं या करमुक्त होने योग्य और साथ ही, यह भी दर्शाता था कि उन पर लगे कर अलग-अलग कितने तरह के हैं जैसे नकद, चुंगी तथा दण्ड। समाहर्ता के अधीन दूसरा अधिकारी स्थानीक होता था उसका कार्य राज्य के चौथे भाग की देख-रेख करना था तथा अपने कार्यक्षेत्र अधीन क्षेत्र से भू लगान एकत्रित करना।

अर्थशास्त्र यह भी बताता है कि समाहर्ता कुछ चुने हुए ग्रामों में निरीक्षक भेजे तथा आवासग हों, भूमिखण्डों, राजस्व की जाँच करे तथा रिपार्ट करे, कि परिवारों पर लगाये गये विभिन्न प्रकार के कर तथा उनके परिहार (माफी) की जाँच लगान सही है या नहीं साथ ही परिहार (माफ किए गए लगान) के औचित्य की भी जाँच करे। इससे पता चलता है कि मौर्यकाल में भू-राजस्व तथा तत्सम्बन्धित अन्य शुल्क सम्भवतः ग्रामीणों के निजी जोत-क्षेत्र पर लगाये जाते थे। तथा इस बात की पुष्टि भी होती है कि समाहर्ता का अपना एक तरीका था गोप (5 या 10 गाँवों का अधिकारी) के रिकॉर्ड की छान-बीन करने का।

कौटिल्य बताता है कि संकटकाल में समाहर्ता किसानों को फसलों का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरित करता था जिससे कि राज्य को इस बढ़े उत्पादन के फलस्वरूप राजस्व ज्यादा मिल सके। इसका मतलब ये हुआ कि सामान्य स्थितियों में किसानों को मनचाही फसलें उगाने का अधिकार प्राप्त था। आगे हमें पता चलता है कि समाहर्ता किसानों की जो सम्पत्ति होती थी उससे सम्बन्धित राजस्व का कार्य-भार लेता था। लेकिन जो भूमि राज्य से सम्बन्धित थी उसका कार्य-भार सीताअध्यक्ष (सीताध्यास) को सौपा जाता था। इस प्रकार खेती करने योग्य भूमि को दो भागों में बाँट दिया गया - राजसी भूमि (सीता क्षेत्र) और निजी भूमि। राजसी भूमि पर कार्य उस कृषि सम्बन्धी अधिकारी की देख-रेख में किया जाता था, जबकि निजी भूमि पर खेती समाहर्ता की देखरेख के अन्तर्गत निजी भूमि-मालिकों द्वारा की जाती थी।

कर मूल्यांकन

मौर्य काल में लगान अधिकारी जोत-भूमि की सीधे अन्दाजा जायजा मूल्यांकन (assessment) करते थे। यह मूल्यांकन पूरे गाँव की भूमि पर आधारित होता था परन्तु कर व्यक्तिगत रूप से लगाया जाता था। सबसे पहले गाँव की भूमि को उच्च, मध्यम तथा निम्न वर्गों में वर्गीकृत किया जाता था फिर गाँव को इनमें से किसी एक के अधीन रखा जाता था, वे गाँव जो कर मुक्त हैं, वे जो सैनिक देते थे, वे जो अपने अन्न, पशु, सोना (हिरण्य) या कच्चे माल (कुपय) के रूप में कर देते थे और वो जो शारीरिक श्रम या घी, दूध आदि टैक्स के रूप में देते थे। इससे स्पष्ट है कि राज्य सभी स्थानीय विशेषताओं का ध्यान कर लगाते समय रखते थे।

पैमाईश के मानक

मौयोत्तर स्रोत-ग्रन्थों में रेखिक पैमाईश के कुछ मानकों का उल्लेख है। यद्यपि भूमि के क्षेत्रफल के अनुसार कर-निर्धारण का कोई भी सीधा उल्लेख उनमें नहीं है। अर्थशास्त्र में रेखिक मानको के मानदंडों का काफी वर्णन है इनमें से अधिकांश का हमारे काल के स्रोत ग्रन्थों में भी उल्लेख हैं पतं जति अरत्नी तथा वितस्ति के साथ-साथ दूसरी इकाइयों में जैसे अक्स पाद, प्रादश और दिष्टि आदि का उल्लेख करते हैं। जहाँ तक पुरालेखीय साक्ष्यों का प्रश्न है, सातवाहन काल के अनेक भूमि-दानपात्रों में दत्त भूमि का रक्बा निवर्तन माप के अनुसार बतलाया गया है। इस माप का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी मिलता है।

लगान की दरें

हमारे स्रोतग्रन्थों में निर्धारित भूमिकर (मालगुजारी) की दर के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि प्रायः भूमि की किस्म भी भू-राजस्व निर्धारण में महत्त्वपूर्ण तथ्य रहा है। गौतम जो सम्भवतः प्राक मौर्यकाल के हैं तीन स्पष्ट दरें निश्चित करते हैं, षष्ठाश, अष्ठांश, दशांश। टीकाकार हरदत्त इन दरों को विभिन्न किस्म की भूमियों पर लागू मानते हैं कौटिल्य षैहंभाग नामक एक आय का उल्लेख करते हैं जो संभवतः भू-राजस्व का संकेत देता है। दूसरी जगह अर्थशास्त्र में 'धान्यषडभाग' लिखा हुआ है। अर्थात् राजा द्वारा लिखा जाने वाला भू-राजस्व का षष्ठांश। लेकिन इसका मतलब यह नहीं हुआ कि कौटिल्य हर मामले में षष्ठांश की समदर ही स्वीकार करते हैं। दूसरी जगह वह स्वयं कहता है कि ऊँची व नीची जमीन का उल्लेख गोप अलग-अलग करें। असामान्य राजस्व के नियम लिखते हुए आगे उनका विचार है कि सिंचित क्षेत्र की उपजाऊ भूमि की उपज का कर निर्धारण छिलका निकाले अन्न का तीसरा या चौथा भाग होना चाहिए। लेकिन मध्यम या निम्न श्रेणी की भूमि के लिये कर निर्धारण निम्नतर है। हमारे इस काल के विधि निर्माताओं में मनु आदेश करते हैं कि राजा उपज का षष्ठांश, अष्ठांश या द्वादशांस ले सकता है। यह अवतरण वीर मित्रोदय में उद्ध त है। वहाँ यह कहा गया है कि उपर्युक्त विकल्प भूमि उपज में न्यूनाधिकता तथा अर्थात् अपेक्षाकृत कम या अधिक श्रम पर निर्भर है।

ब हस्पति खिल भूमि (उसर) पर दशांश, बरसाती पानी लगने वाली भूमि पर अष्ठांश तथा बसन्त में काटी जाने वाली फसल पर षष्टांश की दर निर्धारित करते हैं। खिल भूमि, खेती लायक या ऐसी बंजर भूमि हो सकती है जिसे उपजाने में सामान्य से अधिक खर्च होता है। उसी प्रकार बरसाती पानी खतरे वाली भूमि में अधिक उपज अनिश्चितता तथा बसन्त में काटी जाने वाली फसल पर सबसे कम जोखिम रहता है। शायद इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर गौतम की तरह ही व हस्पति भी भूमि-कर की तीन दरें निश्चित करते हैं।

भूमि-कर की दर भूमि की उपजाऊपन को ध्यान में रखकर ही निर्धारित की होगी। किन्तु अधिकांश श्रोत-ग्रन्थों में षष्ठांश दर का उल्लेख है। मनु, जिन्हें तीन प्रकार की दरों का समर्थन करते हुए पहले ही उद्ध त किया गया है एक स्थान पर कहते हैं जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता तथा फिर भी फसल का छठा भाग लेता है वह अपनी प्रजा के सभी पापों को अपने ऊपर लेता है। इसी प्रकार विष्णु तथा नारद भी दोनों छठे हिस्से को ही भू-राजस्व की वास्तविक दर मानते हैं। शान्तिपर्व में बार-बार कहा गया है कि राजा उपज के छठे हिस्से का अधिकारी है। छठे हिस्से की दर जनभावना के साथ इतने गहरे ढंग से जुड़ी दिखलाई पड़ती है कि राजा अकसर 'षडभागी' जातिवादी उपाधि से जाना जाता था। इसी प्रकार कालीदास ने भी कहा है कि राजा अपनी प्रजा से फसलों के छठे भाग पर दावा कर सकता है। वह कहते हैं कि बनवासी, तपस्वी अपनी तपस्या का षष्ठांश देते हैं और दिखलाते हैं कि किस प्रकार वह षष्ठांश चावल राज्याधिकारियों द्वारा लिये जाने के लिए नदीतट पर रख देते हैं। इस तरह यह प्रतीत होता है

कि शायद षष्ठांश की दर सामान्यतः प्रचलित थी। हालाँकि इसमें न्यूनाधिकता भी अवश्य ही स्वीकार्य रही होगी।

यद्यपि षष्ठांश की दर सिद्धान्ततः स्वीकृत दर दिखती है फिर भी मेगस्थनीज, के व त्तांत से संकेत मिलता है कि कौटिल्य के आदेश के बावजूद मौर्यकालीन भूमि-कर काफी अधिक था। घोषाल ने हीयोहोरस के द्वारा उद्ध त मेगस्थनीज के इस कथन का यह अर्थ लगाया है कि खेतीहर सामान्यतः चतुर्थांश मौर्य राजा को प्रदान करते थे। दूसरे शब्दों में यूनानी राजदूत के इस प्रमाण का यह अर्थ हो सकता है कि उसके काल में सामान्य भू-राजस्व की दर उस दर के बराबर थी जिसे भारतीय विधिनिर्माताओं ने राजा के संकट काल के लिये विदित किया था।

मौर्यकालीन भू-राजस्व की ऊँची दर अपेक्षाकृत अशोक के रूमिन देई स्तम्भ लेख से भी संपुष्ट होती है। जिसमें राजाज्ञा है कि लुम्बिनी ग्राम को बुद्ध का जन्म स्थान होने के कारण केवल आठवाँ हिस्सा ही देना है और उसे बलि से मुक्त कर दिया गया है। घोषाल ने ठीक ही कहा है कि अशोक, ने अपने धर्म के पवित्र स्थान के लिये यह छूट दी थी जिससे संकेत मिलता है कि मौर्यकाल के भू-राजस्व से पूर्ण छूट कल्पना में भी नहीं की जा सकती थी उसकी मुख्य कर इतनी ऊँची दर पर तय कर दी गई थी कि उसे घटाकर षष्ठांश पर लाया जाना बहुत बड़ा अनुग्रह माना जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि कौटिल्य ने उपज के षष्ठांश की भूमि-कर सामान्य दर निर्धारित किया था। परन्तु व्यवहार में यह अनुपात बहुत ऊँचा था और यदि यूनानी साक्ष्य को स्वीकारा जाए तो यह दस चतुर्थांस (चौथा हिस्सा) से कम नहीं था।

समान रूप से प्रासंगिक और विवादास्पद एक प्रश्न यह भी है कि भूमि-कर सकल (सम्पूर्ण) आय पर लगाया जाता था या कृषकों के लाभ पर?

जहाँ तक व्यापारियों पर कर लगाने का सम्बन्ध है। हमारे स्रोत ग्रन्थों से अप्रत्यक्ष रूप से ही यह लक्षित होता है कि कर का भाग शुद्ध लाभ पर ही तय किया जाए। लेकिन कहीं भी विधिनिर्माताओं ने साफ-साफ नहीं कहा है कि भूमि-कर कृषकों के लाभ पर ही निर्धारित किया जाए। कुलुक ने मनु के एक श्लोक की व्याख्या इस अर्थ में की है। राज्य का अंश लागत पूँजी में व द्धि पर ही आँका जाना चाहिए। मेघातीथि और गोविन्द इससे सहमत हैं तथा नन्दन ने तो और भी स्पष्ट ढंग से कहा है। हर उत्पादन पर खर्च काटने पर लाभ पर ही राजा का हिस्सा होता है। लेकिन चूँकि टीकाकार परवर्ती काल के हैं अतः सम ति के श्लोकों का उनका निर्वचन (व्याख्या) हमारे पूर्वोत्तर काल के लिए निशिचितता के साथ किया जा सकता। समकालीन श्रोत में शान्तिपर्व ही राज्यांश निश्चित करने में आय व्यय का मापदण्ड मोटे तौर पर स्वीकार करते हैं। यद्यपि आश्चर्य है कि मौर्य का मौर्योत्तर काल के श्रोत-ग्रन्थों में कहीं भी यह संकेत नहीं दिखता कि भूमि-कर कृषकों के लाभ पर निर्धारित किये जाते थे या फिर लाभ पर लेकिन मोटे तौर पर यह तथ्य स्वीकार किये जाने की संभावना होगी कि कर पूँजी पर नहीं लाभ पर लगना चाहिए। हालांकि किस हद तक यह सिद्धांत विशेषकर भूमिकर संबंध में अनुसरित होता था यह मुख्यतः अनुमान का ही विषय है। परन्तु भू लगान तथा अन्य प्रकार के करों की दर को देखते हुए यही सम्भावना अधिक लगती है कि लगान कर खर्च निकालकर लाभ पर ही वसूल किया जाता था। उदाहरण स्वरूप यदि किसी कृषक खेत में 150 मन अनाज हुआ और 100 मन अनाज के लिए 20 मन की लागत (बीज, सिंचाई, कटाई आदि) आई है तो उस सूरत में भू लगान तय 100 मन पर न करके 80 मन शुद्ध लाभ पर लगाया जाएगा।

कुल उपज	100
कुल लागत	20
शुद्ध लाभ	80

भू-लगान की किस्में

1. **पिण्डकर:** कौटिल्य बताते हैं कि मौर्यकाल में भू-राजस्व सामान्यतः निजी जोत-क्षेत्र पर ही लगता था, किन्तु सम्पूर्ण ग्राम पर सामूहिक कर-निर्धारण अज्ञात नहीं था। कौटिल्य पिण्डकर का उल्लेख राष्ट्र शीर्षक के अन्तर्गत करता है। टीकाकार भट्टस्वामी इस शब्द का अर्थ सम्पूर्ण ग्राम से वसूला गया कर लगाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह समूचे गाँव पर एक मुश्त कर-निर्धारण था जो भूमि के निजी जोत-क्षेत्र पर लगाये गये प्रधान भूमि कर से अलग था।

   मौर्योत्तर काल में 'पिण्ड-कर' या इसी प्रकार का अर्थ रखनेवाला कोई अन्य शब्द हमारे स्रोत-ग्रन्थों में नहीं मिलता जिसका अर्थ है कि पूरे ग्राम पर किसी भी तरह का सामूहिक कर-निर्धारण नहीं था। किन्तु निजी जोत-क्षेत्रों पर राजस्व लेने की पुरानी प्रथा गुप्तोत्तर काल में भी प्रचलित प्रतीत होती है। ऐसा अनुमान सातवाहन शासन पत्रों से निकलता है जिसमें खास-खास गाँवों में खेत दान के प्रमाण उपलब्ध हैं। यह तथ्य कि इन उदाहरणों में दान में दी गई भूमि का उपभोग व्यक्ति करता था, यह साबित करता है कि कुछ हद तक भू-राजस्व का निर्धारण निजी जोत-क्षेत्रों पर ही होता था।

2. **भाग:** ऐसा प्रतीत होता है कि भू-राजस्व की मुख्य आय का स्रोत उपज का रिवाजी राजांश ही था जिसे कभी-कभी भाग कहा जाता था। भूमि पर लगाये जाने वाले विशेष प्रकार के कर के नाम के रूप में भाग शब्द का प्रथम उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है। राष्ट्र शीर्षक के अन्तर्गत एक स्थान पर बलि, कर आदि शब्दों के साथ यह कर स्वतंत्र रूप से उल्लिखित है, दूसरी जगह पर यह भाग शब्द का एक खण्ड है जो उसी सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत बलि, कर आदि के साथ उल्लिखित है। अतएव भाग शब्द से निसन्देह उपज में राजा का रिवाजी भाग अभिप्रेत था जो सामान्यतः उपज का षष्ठांश था। अमरकोष में बारहवीं शताब्दी के टीकाकार क्षीरस्वामी भी भाग की परिभाषा में अर्थशास्त्र का मत ही उद्ध त करता है जो उपज में राजा का षष्टांश है।

3. **बलि:** दूसरा वित्तीय शब्द 'बलि' है जो पूर्व भारतीय श्रोतों में मिलता है। यह राजकीय राजस्व के लिये प्राचीनतम शब्द हैं। ऋग्वेद में यह प्रजा तथा विजित राजा दोनों ओर से राजा का पावना है लेकिन मैक्डानैल तथा कीथ का संकेत है बलि प्रारम्भ से ही कर के रूप में विद्यमान था जो प्रजा की स्वेच्छा पर पूर्णतः निर्भर नहीं था क्योंकि इसकी सम्भावना बहुत कम है कि पूर्व वैदिक युग के आदिम जनजातीय किस्म के राज्य भी सिर्फ स्वैच्छिक अंशदान पर ही टिके रहे होंगे। जो भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण काल में बलि प्रजा द्वारा देय अनिवार्य अंशदान के रूप में जाना जाने वाला कर था और यदि यह कभी स्वैच्छिक भी था तो परवर्ती काल में नाममात्र के लिए ही स्वैच्छिक रहा होगा। हम यहाँ कह सकते हैं कि प्राचीन असीरिया में भी बहुत दिनों तक, इस तथ्य के बावजूद कि प्रजा को नियंत्रित कर भुगतान के लिये बाध्य किया जाता था। ऐसे भुगतान के लिए 'दान' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। अर्थात् कहने को दान था परन्तु नियमित रूप से देने के लिए प्रजा बाध्य थी अतः कुछ इसी प्रकार का वैदिक काल में 'बलि' कर रहा होगा।

   यह संभव नहीं कि प्राचीन भारत में कुछ दिनों तक राजस्व शब्दावली और उसके वास्तविक विषय में कुछ अन्तर्विरोध चला हो।

   राजस्व नामावली के क्रमिक विकास तथा करारोपण की कुछ नई पद्धतियों के साथ ही

बलि शब्द का अर्थ भी बदलता प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र में बलि का प्रयोग उपज में राजा के सामान्य अंश के अलावा मूलतः छोटे उपज कर के रूप में हुआ है। जबकि जातकों ये इस शब्द में प्रायः अतिरिक्त तथा उत्पीडक उपकारों का बोध होता है।

जातकों के विपरीत मिलिन्दपंहों से बलि का उल्लेख एक संकटकालीन कर में कर के रूप में हुआ है जिससे चार मुख्यमंत्री मुक्त घोषित हैं। इसका अर्थ यह हो सकता है कि मौर्योतर काल में इस शब्द के अर्थ में कुछ परिवर्तन हुए। लेकिन रूद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख, से जो बलि को कर के रूप में प्रयोग करता है जैसा यह इस काल का एक मात्र अभिलेख है। इससे मिलिन्दपंहों में व्यक्त मत की पुष्टि नहीं होती। मिलिन्दपंहों में संकटकालीन उद्ग्रहण के अर्थ में बलि का प्रयोग स्थानीय परिवर्तन माना नहीं जा सकता। क्योंकि उस ग्रंथ का रचना क्षेत्र और जूनागढ़ जहाँ रुद्रदामन का उल्लेख मिलता है। दोनों एक दूसरे के बिलकुल समीप है। साथ ही किसी अन्य किसी भी श्रोत ग्रन्थ में बलि से संकट कालीन कर संपुष्टि नही होती। अतश्व यह संभव है कि मिलिन्दपंहों में संकटकालीन कर के अर्थ में बलि का प्रयोग मिथ्या निरुपण है।

अभिलेखों में आए 'बलि' शब्द का अर्थ प्रायः धार्मिक कर किया गया है। टामस ने अशोक के रूमिनदेई स्तम्भ लेख में वर्णित इस शब्द का उल्लेख एक प्रकार का धार्मिक कर किया है।

कर के रूप में बलि की चर्चा अधिकांश विधिक तथा साहित्यिक रचनाओं में हुई है जिससे तकनीकी अर्थ में भाग पर प्राय ध्यान नहीं दिया गया है। भूमि-कर की जिससे तकनीकी अर्थ में भाग पर प्राय ध्यान नहीं दिया गया है। भूमि-कर की दर के सम्बन्ध में विष्णु तथा मनु ने भाग का नहीं अपितु बलि का उल्लेख किया है। यही बात महाभारत के राजधर्म प्रकरण के संबंध में भी हैं। अश्वघोष भी बलि का प्रयोग नियमित भूमि कर के अर्थ में करते हैं।

4. **करः** 'कर' हमारे स्रोत ग्रंथों से प्राप्त राजस्व का दूसरा प्रकार है। राजवित्तीय शब्द के रूप में कर मौर्य पूर्व के साहित्य में अज्ञात प्रतीत होता है। किन्तु अर्थशास्त्र व विधिग्रन्थों में यह बार-बार मिलता है। मनु के एक श्रोत श्लोक में अनेक टीकाकारों ने इसका अर्थ विभिन्न तरह से किया है। मेधातिथि के अनुसार कर का अर्थ द्रव्य का दान है। सर्वज्ञानारायण के अनुसार भूमि पर एक निश्चित स्वर्ण भुगतान है। रामचन्द्र ने इसका अर्थ घास, काष्ठ आदि के रूप में अंशदान से लिया है। कुल्लुक इसका अर्थ ग्रामीणों तथा पुरवासियों द्वारा मासिक या भाद्रपद तथा पौष में अंशदान मानते हैं। राघवानंद के अनुसार कर ग्रामवासियों द्वारा देय मासिक भुगतान है। ये अन्तिम दो व्याख्यायें कौटिल्य पर भट्टस्वामी की टीका में वर्णित व्याख्या से बहुत कम मिलती-जुलती है। भट्टस्वामी कर से अभिप्रायः तथा बसन्त आदि मासों में चुकाया जाने वाला वार्षिक कर ही समझते हैं। इसके साथ ही क्षीरस्वामी द्वारा उद्ध त अर्थशास्त्र के मूल पाठ में कर की दी गई परिभाषा जोड़ी जा सकती है उसके अनुसार कर का अर्थ सभी चल अचल सम्पति पर एक भाग है। इस प्रकार कर का सम्बन्ध ग्रामीणों से लगभग सर्वत्र उद्ग्रहीत आवधिक कर रहा होगा। और इसकी वसूली भी राजा के सामान्य अंश के अतिरिक्त ही होती रही होगी। इसकी पुष्टि रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से भी होता है। जिसमें कहा गया है कि राजकोष बलि, शुल्क तथा भाग से भरा गया है और सुदर्शन बाँध का निर्माण कर, बेगार तथा प्रण्य द्वारा लोगों का उत्पीडन किए बिना ही हुआ है। एक जगह बलि तथा दूसरी जगह कर का प्रयोग यह बतलाता है कि दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त

नहीं हो सकते क्योंकि दोनों ही वसूले वाले जाने भिन्न कर हैं। कर अर्थात् के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकते। दूसरे शब्दों में कर एक उत्पीड़क शुल्क प्रतीत होता है और इसलिए यह सामान्य भूमि-कर से भिन्न तथा इसके अतिरिक्त था।

5. **हिरण्य करः** भू-राजस्व के विभिन्न किस्मों में एक अन्य किस्म का राजस्व हिरण्य भी था जो अधिकांशतः पूर्व भारतीय श्रोतों में पाया जाता है। अर्थशास्त्र इसकी चर्चा राजा के राजस्व की एक शाखा के रूप में करता है। कौटिल्य कहते हैं कि समाहर्ता एक निबन्ध रजिस्टर पुस्तक तैयार करें जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ अन्न, पालतू, मवेशी, हिरण्य, बेगार आदि शीर्षकों में ग्रामीणों द्वारा अलग-अलग या सामूहिक रूप से देय अभिदाय दर्शाया जाए। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि अर्थशास्त्र से आय श्रोतों की नियमित सूची में हिरण्य को सम्मिलित नहीं किया गया है। जिससे यह संकेत मिलता है कि मौर्यकाल में यह एक अनियमित उदग्रहण था किन्तु अर्थशास्त्र में इसकी वसूली के लिये निश्चित रूप से एक दर निर्धारित है। इस तरह से कौटिल्य ने राजा की उत्पत्ति की जो परम्परागत कहानी उल्लिखित की है उसमें मनु को अपना राजा चुन लेने के बाद सभी लोग उसके अंश के रूप में उपज का छठा तथा व्यापारिक वस्तुओं का दसवां भाग तथा हिरण्य देने का वचन देते हैं। ऐसे ही एक संदर्भ में महाभारत में दशमांश निश्चित किया गया है। यद्यपि पत जलि कहते हैं कि हिरण्य राजा को धनवान बनाता है परन्तु वह इस शब्द का प्रयोग न तो किसी भूमि-कर के अर्थ में करते हैं और न उसके भुगतान की कोई दर ही निर्धारित करते हैं लेकिन मौर्योतर काल में विधिग्रन्थों में हिरण्य निश्चित रूप से राजा की नियमित राजस्व की एक मद के रूप में सामने आता है। मनु व विष्णु ने दर के रूप में पचासवाँ हिस्सा निर्धारित किया है।

लेकिन उपर्युक्त संदर्भों में हिरण्य शब्द की व्याख्या विभिन्न विद्वानों द्वारा अलग-अलग तरह से की गई है। अर्थशास्त्र में इस शब्द का अनुवाद स्वर्ण किया गया है। विधि ग्रन्थों में प्रयुक्त हिरण्य कभी-कभी स्वर्ण और कभी-कभी संचित धन या वार्षिक आय पर लगाया गया कर माना गया है। लेकिन इसके ऊँचे मूल्य को देखते हुए यह अत्यन्त संभव है कि किसान कर का भुगतान स्वर्ण में करते होंगे। पुनः एक दूसरी व्याख्या के अनुसार हिरण्य से स्वर्ण और सम्भवतः अन्य खानों पर अधिकार का संकेत मिलता है। लेकिन ऊपर की व्याख्याओं में से कोई भी मान्य नहीं प्रतीत होती है। सम ति ग्रन्थों में हिरण्य प्रायः पशु के साथ प्रयुक्त हुआ है और यह उसी संदर्भ में राजस्व के एक मान्य श्रोत के रूप में सामने आता है जिस संदर्भ में फसल, व क्ष, कन्द, फल-फूल पत्ते घास आदि आए हैं। अतएव घोषाल के अनुसार हिरण्य ग्राम के महज कृषिक तथा औद्योगिक उत्पादन से संबंधित कर समूह का एक कर कहा जा सकता है। हम यह कह सकते हैं कि भूमि दान पात्रों में यह प्राय भाग-भोग कर के साथ प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है उपज में राजा का अंश। इसीलिए हिरण्य कृषिक सामग्रियों पर एक कर प्रतीत होता है।

घोषाल ने ठीक ही कहा है कि इस शब्द के उचित उल्लेख का संकेत परवर्ती काल में प्रचलित भू-राजस्व की कुछ शर्तों से प्राप्त होता है। मध्य काल में टोडरमल के सुधार के पूर्व एक भू-राजस्व का भुगतान वस्तु रूप में किया जाता था। किन्तु कुछ खास प्रकार की फसलों का जिन्हें जब्ती कहा जाता था। कर निर्धारण हमेशा नकदी होता था क्योंकि उन्हें विभिन्न भागों में विदित करना बड़ा कठिन था। इसीलिए घोषाल का अनुमान बहुत तर्क संगत प्रतीत होता है कि हिरण्य भी इसी तरह का कर था। यदि और स्पष्ट रूप से कहें तो यह कुछ विशेष प्रकार की फसलों पर लगाया गया नकद कर था जो साधारण फसलों पर लगाए गए किसी भी कर से भिन्न था। सरकार भी इस मत से

सहमत लगते है। हमें कुछेक कृषिक उत्पादनों पर ऐसे करों का प्रमाण मिलता है जिनकी वसूली नकदी में होती थी। 592 ई० के एक अभिलेख में कहा गया है कि एक निश्चित क्षेत्र में 32 रजत ईख की फसल पर कर की रकम बत्तीस रजत मुद्रा थी। लेकिन यदि वह खेती किसी धार्मिक दानग्रहीता की हुई तो वह रकम केवल ढाई-रजत (2½ रजत) थी। उसी प्रलेख में आगे यह कहा गया है कि अल्ल-वाट के लिए कर की रकम ऊपर निर्धारित रकम का आधा थी। अल्ल संस्कृत शब्द उद्रक का प्राकृत रूप है तथा अल्ल-वाट का अर्थ सम्भवतः अदरक की खेती है इस तरह कुछ खास प्रकार के उत्पादनों पर कर नकद ही चुकाई जाती थी और कोई आश्चर्य नहीं कि हिरण्य भी वाणिज्यिक (नकदी) फसल पर लगाया जानेवाला कर रहा हो।

6. **सिंचाई करः** सिंचाई कर मौर्यकालीन राजस्व का एक ऐसा मद था जिससे शाश्वत या दूसरे श्रोतों के जल से पूर्ण जलाश्य निर्मित होते थे। मौर्योतर काल में राज्य द्वारा निर्मित सिंचाई से सम्बन्धित साधन जुटाने के ठोस प्रमाणों का अभाव है तथा जो छिटपुट उल्लेख मिलते भी हैं तो उनमें मौर्योत्तर काल में वसूले जाने वाले सिंचाई कर जैसे किसी कर का संकेत नहीं मिलता। साथ ही यह अनुदान पत्रों में दी गई करों की उस लम्बी सूची में भी नहीं मिलता है जिसमें अनुदानकर्ता ब्राह्मण या दानग्रहीता सभी कर वसूलने के अधिकार के साथ भूमि क्षेत्र अनुदान करता है।

मौर्योतर काल में सिंचाई कर का न मिलना कम-से-कम आंशिक रूप से भी इस तथ्य के कारण हो सकते हैं कि सामान्यतः राज्य ने सिंचाई के कृत्रिम साधन जुटाने का मुख्य उत्तरदायित्त्व अपने ऊपर नहीं लिया था और इसीलिए राज्य इस प्रकार का कोई कर वसूलने का दावा भी नहीं कर सकता था। मकान, तालाब, खेत, उद्यान को दूसरों के द्वारा हस्तगत किए जाने के खिलाफ मनु के निर्देश का मतलब हो सकता है कि तालाब सिंचाई के उद्देश्य से मनुष्यों द्वारा अधिकार में रखे तथा निर्मित किए जाते थे। मनु का आदेश है कि अन्य चीजों में अपने तालाब उद्यान, बच्चे या पत्नी को बेचना भी एक पाप है। जिसका प्रायश्चित्त तपस्या में होना चाहिए। पुनः नारद के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी बाँध की मरम्मत बिना उसके मालिक की अनुमति के के तो वह उसमें लाभ लेने का अधिकारी नहीं होगा। इस तरह विधि-ग्रन्थों से सिंचाई वाले तालाब बाँध आदि पर एक प्रकार से निजी स्वामित्व का संकेत मिलता है और इससे यह अर्थ निकलता है कि सिंचाई कुछ हद तक व्यक्तिगत मामला ही रहा होगा। डियन क्रीसोस्तोम से भी हमें यह जानकारी मिलती है कि भारत में बड़ी व छोटी नदियों से पानी लेने के लिए स्थानीय निवासी अनेक प्रकार के नाले निकालते थे।

शक-कुषाण काल के अनेक अभिलेखों से भी यह बात निकलती है कि सिंचाई के साधन जुटाने में व्यक्तिगत पहल ने शायद भूमिका निभायी थी। वर्ष 102 का माऊण्ट पंज अभिलेख, वर्ष 111 का पंज अभिलेख तथा पेशावर म्यूजियम अभिलेख संख्या 21 से कुओं के व्यक्तिगत दान का प्रमाण मिलता है। आदिनांकित करनाल-अभिलेख तथा वर्ष 113 के कलदन अभिलेख में व्यक्तियों द्वारा तालाबों के दान का उल्लेख है। तुसम शिलालेख से जो पुरालिपि के अनुसार ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी का है से विष्णु भगवान के लिए आचार्य सोमप्रात द्वारा दो जलाशयों को प्रदान करने का प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त हमारे श्रोतों में सिंचाई के क्षेत्र से सहकारी प्रयत्न के प्रमाण भी एकत्र किए जा सकते हैं। नदी के तटबन्ध में दरार की मरम्मत से भरसक प्रयत्न में चुकने वाले एक ग्रामीण के खिलाफ मनु के आदेश से राज्य के तत्वाधान में तटबन्ध निर्माण सिंचाई निर्माण

आदि से लिए ग्रामीणों का सहकारी प्रयत्न ध्वनित होता है। इस बात पर हमारे श्रोतग्रन्थ प्राय मौन हैं। यद्यपि कुछ शक अभिलेखों में शहयण द्वारा कुएँ तथा तालाब के दान का उल्लेख है। शहयण का वास्तविक अर्थ स्टेन के अनुसार एक प्रकार का साहश्चर्य या भ्रात त्व लगाते हैं। हालाँकि वह इसकी प्रकृति के विषय में कोई संकेत देने में असमर्थ रहे हैं।

लेकिन इन सारी बातों का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि राज्य ने सिंचाई का उत्तरदायित्व बिल्कुल छोड़ दिया था अन्य अभिलेखों में जैसे खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख तथा रूद्रदामन के जूनागढ़-अभिलेख और स्कन्दगुप्त के अभिलेखों से इस दिशा में राजकीय पहल का प्रमाण भी मिलता है। ऐसा लगता है कि राज्य केवल बहत्तर परियोजनाओं को कार्यान्वित करने में अपने साधन खर्च करता था जो व्यक्ति के साधनों के बाहर थी। इस प्रकार मौर्य काल के पश्चात् के कालों में सिंचाई क्षेत्र में राज्य की उत्प्रेरणा सीमित रहने में कारण राज्य का नियमित सिंचाई कर वसूलने का सम्भवतः कोई औचित्य नहीं रह जाता था।

मौर्योतर तथा प्रारम्भिक मध्यकाल में मौर्यकालीन उदक भाग तथा पिण्डकर जैसे करों के लोप से यह जरूरी नहीं कि कर भार में बाद के कालों में कोई कमी आ गई थी क्योंकि मौर्यकालीन करों की सूची में उपरिकर तथा उदरंगकर जैसे कुछ राजवित्तीय करों का वर्णन नहीं मिलता। इन करों का उल्लेख गुप्तकाल और उसके बाद के अभिलेखों में ही मिलते हैं।

फ्लीट के अनुसार उपरिकर शब्द उप्रि या उपरि से उत्पन्न हैं जिसका अर्थ है और खेतीहरों से उदग्रहीत कर जिन्हें भूमि पर सम्पत्ति अधिकार नहीं था। अभिलेखों में यह शब्द केल (उद्रंग) के साथ ही लिखा मिलता है और इसी से घोषाल ने यह संकेत किया है कि ये दोनों राजवित्तीय शब्द विरोधात्मक रूप से प्रयुक्त हैं। इस तरह वह उद्रंग की व्याख्या स्थाई काश्तकार से उद्ग हित कर तथा ऊपरी कर की व्याख्या अस्थाई काश्तकार पर लगाये गए कर के रूप में करते हैं। वह उपरिकर का सम्बन्ध मराठी शब्द उप्रि से जोड़ते हैं। जिसका अर्थ है वह कृषक को मूल रूप से जो उस गाँव का नहीं है लेकिन उस गाँव में रह रहा है। तथा एक निश्चित कालविधी परन्तु कुछ विद्वान इस विचार से सहमत नहीं है इसके लिए जो प्रमाण उनके अनुसार दिया गया है वह बहुत कमजोर है क्योंकि मराठी भाषा हमारे अभिलेख काल के 1000 वर्ष बाद विकसित हुई और ऐसे कमजोर भाषा का वैज्ञानिक प्रमाणों से कोई निष्कर्ष निकाल लेना विवेकसम्मत नहीं होगा। फ्लीट के उल्लेख निर्वचन के सम्बन्ध में भी यही बात सच है कि इसके अतिरिक्त अधिकांश भूमिदान पत्रों में ये दोनों शब्द एक ही साथ आए हैं और यदि उपरिकर तथा उद्रंग कर का अर्थ क्रमशः अस्थायी या स्थायी काश्तकारों पर कर माना जाये तो उससे यह ध्वनित होगा कि एक खास भूमि पर एक ही समय साथ-साथ स्थाई या अस्थाई काश्तकार दोनों खेती करते थे जो प्रत्यक्षतः बेतुका प्रतीत होता है। हाँ ग्रामदान के मामलों में दोनों तरह के काश्तकारों की मौजूदगी की संभावना हो सकती है। लेकिन उपरिकर तथा उद्रंग सहित भू-खण्डों के दान संबंधी शासन पत्रों के मामलों में यह संभव नहीं हो सकता था। साथ ही यह दिखलाने के लिए कोई स्वतन्त्र साक्ष्य भी नहीं है कि सरकार स्थायी तथा अस्थायी काश्तकारों पर किसी तरह का अतिरिक्त कर लगाया करती थी। इसके अतिरिक्त इसका भी कोई कारण नहीं दिखता कि राजकीय प्रलेखों में स्थायी तथा अस्थायी काश्तकारों द्वारा दिये गए करों के बीच भेद बरता जाए। बरनैट इसे तामिल

मेलक्रम् (राजा का हिस्सा) के अनुरूप बताता है जबकि अलटेकर इसे भोग पयार्यवाची (परन्तु अभिलखों में उपरिकर तथा उद्रंग व भाग भोगकर इक्कठे मिलते हैं।

अतः अभी निश्चित रूप से इस कर के बारे में कुछ कह पाना कठिन है। उद्रंग शब्द का अर्थ करना भी उतना ही कठिन है जितना कि उपरिकर का। यह शब्द उपरिकर की तरह केवल भूमिदान पत्रों में मिलता है तत्कालीन साहित्य में नहीं। बूलर ने सर्वप्रथम यह बताया है कि शाश्वतकोश में उद्रंग का पर्याय उदार तथा उदग्रन्थ है। उसी स्रोत के आध ाार पर फ्लीट ने उद्रंग का सामान्यतः राजा के लिए एकत्रित उपज का अंश अर्थ किया है। कभी-कभी जैसा कि हम जानते है उद्रंग और भाग जो संभवतः एक नियमित भूमि-कर के अर्थ में है, एक ही दान-पत्र में मिलते हैं और इसीलिए इसकी संभावना नहीं कि प्रथम शब्द 'उद्रंग' का अर्थ राजा का अपना सामान्य अन्नांश माना जाए। दूसरी ओर घोषाल ने उद्रंग का अर्थ स्थायी काश्तकारों पर लगाया गया कर माना है। जिसका समर्थन सरकार ने भी किया है। लेकिन ऊपर दिए गए तर्कों के कारण यह व्याख्या अमान्य लगती है। मैती द्वारा दो वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। प्रथम के अनुसार उद्रंग की अनियमित उत्पत्ति संस्कृत शब्द उद्रंग से हो सकती है और इस तरह इसका अर्थ जल-कर जैसा हो सकता है। किन्तु जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है। हमें मौर्योतर काल में जल-कर जैसे किसी कर को प्रमाणित करने के लिए स्वतन्त्र साक्ष्य नहीं मिले हैं। मैती द्वारा दी गई दूसरी व्याख्या के अनुसार व्रग उद्रंग जैसा ही कुछ हो सकता है। जिसका अर्थ परवर्ती काल की राजतरंगिणी के अनुसार 'निगरानी चौकी है' और यह कर स्थानीय पुलिस चौकी में रख रखाव में लिए वसूला जाता था। यद्यपि उपरिकर की भाँति इसके बारे में भी निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है। संभवतः यह सामान्य कर के ऊपर अन्न का कुछ हिस्सा लिया जाता होगा।

इन करों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के भू कर जैसे हलिकाकर, दित्य, मेय अर्थात् तुलमेय और धान्य का भी गुप्तकाल तथा उसके बाद के अभिलेखों में उल्लखित है। ये लगान किस किस्म में थे निश्चित तौर पर तत्कालीन प्रमाणों के अभाव में कह पाना कठिन है। घोषाल के अनुसार हलिकाकर एक किस्म का हल पर टैक्स था मैती के अनुसार उस क्षेत्र पर जो कि एक हल द्वारा जोता जाता था अतिरिक्त कर था। इसी प्रकार मेय से अभिप्राय जिनस में जिसे नापा व तोला जा सके, इस प्रकार का लगान तथा धान्य, मेय और दित्य अभिलेखों में इकट्ठे उल्लिखित नहीं होते इसलिए संभवतः इन तीनों का अर्थ सामान्यतः एक ही था।

अर्थशास्त्र में वर्णित बहुत से भूराजस्व गुप्तकाल और पूर्व मध्यकाल में भी चलते रहे हालाँकि समय के साथ उनके अर्थ को सही से समझ पाने में भूल हो सकती है। दूसरी तरफ कुछ टैक्स जैसे पिडकर तथा उदकभाग बाद में स्रोतों (मौर्योतर) में नहीं मिलते इनके स्थान पर नए कर जैसे उपरिकर, उदरंगकर, हलिकाकर आदि गुप्त व गुप्तोत्तर काल के स्रोतों में उल्लिखित हुए इनके अतिरिक्त कुछ अन्य किस्म में टैक्स भी रहे होंगे जैसा कि तत्कालीन अभिलेखों में कर सूची में आमतौर से 'आदि' या 'इत्यादि' शब्द आता है। जैसे कुछ पल्लव अनुदानों पत्रों में अनुदान ग हीको 18 परिहार के साथ भूखण्ड अनुदान में दिए। वाकाटक राजा विन्ध्यशक्ति के अभिलेखों में चौदह किस्म के परिहारों का वर्णन मिलता है अतः इनसे स्पष्ट है कि किस प्रकार गुप्त और गुप्तोत्तर काल में कृषक पर टैक्सों का भार बढ़ रहा था।

(ख) भू-स्वामित्व
(Ownership of Land)

प्राचीन भारत में भूमि का वास्तविक स्वामी कौन था? राजा, समुदाय या व्यक्ति? प्रश्न को समझने के लिए जरूरी है कि हम यह जानें कि 'भू-स्वामित्व' से क्या अभिप्राय है।

भू-स्वामित्व को आँकने के निम्न तीन मापदंड कसौटियाँ हैं-

(i) जिसके पास उस भूखण्ड के विक्रय का अधिकार हो (Right to sell)

(ii) जिसे उस भूखण्ड को काश्त पर उठाने तथा अपनी इच्छा से उस काश्तकार (किसान) को उस भूमिखण्ड से बेदखल करने का अधिकार हो (Right to evict)

(iii) जिसे उस भूखण्ड को गिरवी रखने का अधिकार हो (Right to Mortgage)

जिसको ये तीनों अधिकार प्राप्त हैं वही वास्तविक भू-स्वामी होता है। प्राचीन भारत में भू-स्वामी कौन था? इस प्रश्न पर समाजशास्त्रियों में मतभेद है। कारण प्राचीन भारतीय स्रोतों में इस प्रश्न के स्पष्ट प्रमाणों का अभाव। प्राचीन स्रोतों के आधार पर मुख्यतः दो वर्गो के पास भू-स्वामित्व नजर आता है। कुछ स्रोतों से यदि ऐसा लगता है, जैसे प्राचीन भारत में वास्तविक भू-स्वामी राजा होता था, तो कुछ अन्य स्रोतों से, यहाँ तक कि कुछ एक उन्हीं स्रोतों से भी, जैसा लगता है जैसे वास्तविक भू-स्वामी व्यक्ति होता था और कुछ स्त्रोतों से ऐसा भी लगता है जैसे यदा कदा भू-स्वामित्व समुदाय (Community) में निहित होता था।

जहाँ ब्यूलर, हॉपकिन्स, मैकडोनल्ड, कीथ, स्मिथ, रामशास्त्री आदि के अनुसार भू-स्वामित्व राजा में निहित था वहीं दूसरी ओर पी.एन.बैनर्जी, के.पी.जायसवाल तथा आयंगर आदि के अनुसार स्वामित्व व्यक्ति में निहित था।

सामुहिक स्वामित्वः सभ्यता के प्रारम्भ में अर्थात् ऋग्वैदिक काल में ऐसा लगता है कि स्वामित्त्व सामुहिक था, कबीलाई समाज में ऐसा होना स्वाभाविक भी था।

इस काल में यद्यपि भूमि को परिवारों में बाँट दिया गया था ताकि अपने परिवार के श्रम से अन्न उत्पन्न कर अपने परिवार का निर्वाह कर सकें परन्तु भूमिदर व्यक्तिगत स्वामित्व के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि कहीं भी हमें किसी भी भूखण्ड को व्यक्ति विशेष द्वारा बेचे जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः भले ही व्यवहारिक तौर पर भूमिखण्ड का विभाजन कर परिवारों में बाँट दिया गया था परन्तु सैद्धान्तिक तौर पर भूमि पर कबीले अर्थात् समुदाय का सामूहिक स्वामित्व था। तथा किसी भी भूमिखण्ड को बिना कबीले की सहमति से बेचा या हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता था। जैमिनी के मीमांसा सूत्र (C400-300 B.C) के अनुसार विश्वजीत यज्ञ में जजमान (यज्ञकर्ता) को अपनी सभी वस्तुओं का दान करना पड़ता है परन्तु उसमें यहाँ तक कि राजा भी संपूर्ण भूमि जिसका वह स्वामी है का दान नहीं कर सकता था क्योंकि प थ्वी पर सबका कार्यभार है। कुछ पूर्व मध्यकालीन साहित्य में भी बार-बार इस बात पर बल दिया गया है कि भूमि और जल जिस पर कि समुदाय के लोगों का अधिकार है एक हजार पीढ़ियों (Generation) तक भी नहीं बाँटा जा सकता। इससे भी भूमि पर कबीले के स्वामित्व की संपुष्टि होती है। परन्तु बाद में काल अर्थात् गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल में विभाजन सम्बन्धित नियम स्पष्टः उल्लखित मिलते हैं। टीकाकार मीताक्षर ने इस विरोधाभास को सुलझाने का प्रयत्न किया है यह कहकर कि ब्राह्मण के पुत्र भू-सम्पत्ति को बाँट सकते हैं तथा पुराने नियम क्षत्रियों तथा ब्राह्मण के दूसरे प्रकार के पुत्रों पर लागू होते हैं। मीताक्षर ने जहाँ भूमि के बाँटने को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकारा है वहाँ देवनभट्ट इस बँटवारे को स्पष्टतः उद्घोषित करता है। अतः समकालीन वैधानिक पुस्तकें भूसम्पत्ति के बटँवारे का स्पष्ट वर्णन करती है।

परन्तु समुदाय का भूमि के क्रय विक्रय में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप बना हुआ था तथा समुदाय की सहमति के बिना कोई भी खरीद फरोख्त नहीं हो सकती थी। व हस्पति के अनुसार यदि राजा किसी भी क्षेत्र को दान में देना चाहता है तो उसे इसकी खबर भूमि क्षेत्र स्वामी के साथ-साथ ग्राम समुदाय तथा सरकारी अधिकारियों को देनी चाहिए इससे ऐसा लगता है कि उस भूमि के टुकड़े पर ग्राम समुदाय का भी कुछ न कुछ हित (interst) जुड़ा हुआ था। समुदाय के हित में ही भूमि पुजारी तथा मन्दिरों को दी जाती थी। प्राचीन काल में प्रारम्भ लोगों तथा पुजारी वर्ग के बीच वस्तुओं का वितरण बराबर-बराबर किया जाता था परन्तु बाद में पुजारी वर्ग ने बड़ा हिस्सा लेना शुरू कर दिया तथा अनुमानित भूमि के उत्पादन का छोटा सा हिस्सा ही लोगों में वितरित किया जाने लगा परन्तु गुप्तकाल परवर्ती काल के कानूनवेत्ता मनु तथा विष्णु के अनुसार चारागाह तथा जलाशयों को विभाजित नहीं किया जा सकता। हालाँकि बाद के अनुदान पत्रों तथा कानूनवेत्ता इन अधिकारों को भी अनुदानग्रही के हक में उल्लिखित करते हैं। ललनजी गोपाल तथा आर०सी०पी० सिंह भूमि पर सामूहिक स्वामित्व के विषय में भिन्न मत रखते हैं। आर०सी०पी० सिंह के अनुसार सामूहिक भू-स्वामित्व का सिद्धान्त केवल सिद्धान्तमात्र ही था परन्तु व्यवहार में भूमि का स्वामी राजा होता था। ललनजी गोपाल के अनुसार भूमि का स्वामी राजा न होकर व्यक्ति होता था अतः कुछ विद्वानों के अनुसार, आर.एस.शर्मा द्वारा समर्थित सामूहिक स्वामित्व का विचार व्यवहार में विद्यमान नही था। हाँ आज की भाँति संभवतः चारागाहों, तालाब, जंगल और कुओं पर सामूहिक स्वामित्व का विचार व्यवहारिक रहा होगा। जैमिनी द्वारा उल्लिखित भूमि पर सबका अधिकार है ऐसा लगता है कि यह बात किसी विशेष भूखण्ड या क्षेत्र के बारे में नहीं कही गई है अपितु समस्त संसार के बारे में साधारण तौर पर एक बात कही गई है जिसके शब्दार्थ को गंभीरता से नहीं लिया जा सकता।

राजा का स्वामित्वः सामूहिक स्वामित्व पर सबसे पहले चोट राजा ने की विश्वकर्मा के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि चूँकि राजा समुदाय का प्रतिनिधि होता था अतः वह प्रतिनिधि होने के नाते समुदाय के भू अधिकारों को भोगने का अधिकारी भी हो गया। हालाँकि अभी उसका स्वामित्व अप्रश्नीय तथा सम्पूर्ण (Absolute) नहीं था क्योंकि समुदाय का किसी ना किसी रूप में जमीन से जुड़ाव अर्थात् हस्तक्षेप पूर्व मध्यकाल तक बना रहा। परन्तु यह भी सत्य है कि राजतन्त्र की शक्ति में समवर्द्धन के साथ-साथ राजा की शक्तियों में भी व द्धि होती गई और समुदाय की शक्ति क्षीण होती चली गई। आर०एस० शर्मा के अनुसार वे जो राजा के भू-स्वामित्व के समर्थक हैं वे यह भूल जाते हैं कि अधिकतर कानूनी ग्रंथ जो शाही स्वामित्व पर बल देते हैं, पूर्व मध्यकाल में लिखे गए हैं। यहाँ ललनजी गोपाल भी आर.एस.शर्मा से सहमत लगते हैं जैसा कि कौटिल्य भी क षि भूखण्ड पर शाही नियन्त्रण की बात तो करता है परन्तु कहीं भी शाही स्वामित्व की नहीं। मनु पहला ध र्मशास्त्रकार हैं जो भूमि पर राजा के सर्वोच्च शक्ति (अधिकार) की भी बात करता है उसके अनुसार 'प थ्वी में गड़े (विभिन्न धातुओं) धन, का आधा भाग राजा प्राप्त करें क्योकि वह प थ्वी का स्वामी है, इससे यह आवश्यक नहीं कि मनु वास्तविक भूस्वामित्व की बात करता हो।

शाही स्वामित्व का प्रथम स्पष्ट उदाहरण गुप्तोत्तर काल में कानूनवेत्ता कात्यायन करते हैं। उनके अनुसार चूँकि राजा भू-स्वामी है अतः वह उत्पादन का चौथाई भाग (¼) का अधिकारी है। साथ ही वह यह भी स्वीकार करता है कि चूंकि मानव धरती पर रहता है अतः वे भी भू-स्वामित्व पर अधिकार रखते हैं ऐसा करके वह अपने भू-स्वामित्व के सिद्धान्त को अस्पष्ट तथा मिश्रित (Dolyte) कर देता है नरसिंह पुराण स्पष्टतः शाही स्वामित्व की हिमायत करता है जब वह कहता है कि भू का स्वामी राजा है न कि जोतदार (कृषक)। मेद्यातिथि ने भी राजा के भू-स्वामित्व को स्वीकार किया है तथा सोमेश्वर क ति मानसोल्लास में भी राजा में ही भू-स्वामित्व के संप ष्ट करते हैं। भट्टस्वामी जो कि 12 वीं शताब्दी के टीकाकार हैं वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र से एक महत्त्वपूर्ण पैरा

उद्ध त करते हैं और अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि राजा भूमि और जल का स्वामी है इसलिए लोग इन दो को छोड़कर अन्य सब चीजों पर अपना स्वामित्व जमा सकते हैं। इसीलिए ललनजी गोपाल तथा अन्य बहुत से विद्वान तर्क देते हैं कि राजा भूमि पर भोग बंधक (Usufructuray) अधिकार ही भोग रहा था जो कि अनुदानग ही को हस्तान्तरित कर दिए गए। आर.एस.शर्मा के अनुसार यह शुरुआती अनुदानों के बारे में सही हो सकता है जबकि अनुदानग ही को कुछ आर्थिक स्रोत ही हस्तान्तरित किए जाते थे परन्तु गुप्तोत्तर अनुदानों में अनुदानग ही को जलाशयों, उपजाऊ-अनउपजाऊ भूमि, पेड़, घास आदि के साथ पूरा का पूरा गाँव हस्तान्तरित किया जाने लगा जैसा कि पाल सेन, कालाचुरी, चन्देल, परमार तथा प्रतिहार और गहड़वाल राजाओं द्वारा अनुदानित दानपत्रों से स्पष्ट है। केलगा (सोनपुर) गाँव के दानपत्र से स्पष्ट है कि हाथी दाँत शेर की खाल तथा विभिन्न प्रकार के पशुओं (हाथी दंत, व्याघ्र, धर्म-नाना बनचर-समेता) बंजर भूमि, मछली तथा मछुए (सा-मत्स्य-कच्छप) निवास स्थानों तथा पौधें (सा-खेत, विटप) खाइयों, टीलों, घाटियों (सा-गुल्म लताका) आम क पेड़, महुआ आदि के साथ गाँव अनुदानित किया गया। इसी प्रकार परमार लेखों से भी स्पष्ट होता है कि गाँव विभिन्न प्रकार के पेड़ो, निवास स्थान, अन्नभण्डार अन्न साफ करने वाले फर्श, गायों के बाडे, मन्दिर, कुएँ (वापि) आदि समेत अनुदान में दिया गया। आर.एस.शर्मा के अनुसार इनसे ऐसा लगता है कि भू-स्वामित्व भी अनुदान ग्रही को सौंप दिया जाता था और जिन अनुदानों में इसकी पुष्टि नहीं होती उन अनुदानों में लगान के शाही भाग ही स्थानांन्तरित किया जाता होगा। ललनजी गोपाल भी आए.एस. शर्मा से ही सहमत लगते हैं। उसके अनुसार राजा अपने इन अधिकारों की सार्वजनिक उद्घोषणा कर रहा था। यह भूमि पर राजा के बढ़ते अधिकारों का सूचक है।

राजतरंगिणी में भी इस प्रकार का वर्णन आता है कल्हण के अनुसार राजा जयापद लालच में इस हद तक जालिम हो गया कि उसने तीन साल तक किसान (जोतहर) से सारा उत्पादन यहाँ तक कि उसका हिस्सा भी वसूलता रहा। इससे पता लगता है कि सम्पूर्ण जोत जमीन पर राज्य का स्वामित्व होता था जैसा कि आर.एस. शर्मा भी कहते हैं कि राजा ने यह अधिकार समुदाय (Community) का प्रतिनिधि होने के नाते लिया होगा। राजा दो प्रकार के भू अनुदान कर रहा था धार्मिक अनुदान वह राज्य की ओर से नहीं वरन् व्यक्तिगत तौर पर एक प्राईवेट भूस्वामी के रूप में करता था ताकि उसे पुण्य प्राप्त हो। बहुत से धर्मनिरपेक्ष अनुदान के अनेकों उदाहरण हमें अनुदान पत्रों में उपलब्ध है जैसे 890 ई. में भोज प्रथम ने एक कलाचुरी चीफ की गोरखपुर में भू-अनुदान प्रदान किया और 1802 में पालो के एक अधिकारी दास ग्रामिक को एक हल भूमि अनुदान में दी। ये धर्मनिरपेक्ष अनुदान राजा अपने व्यक्तिगत हित के लिए नहीं वरन् राज्य मे शासन प्रबन्ध तथा सेना को सुदढ़ बनाने के उद्देश्य से प्रदान की गई। यहाँ ये अनुदान वह व्यक्तिगत तौर पर ना करके राज्य के सर्वोच्च अधिकारी के रूप में कर रहा था। कौटिल्य के अनुसार उस युग में दो प्रकार की भूमि थी। (i) एक राजकीय, (ii) मालगुजारी (भूमिकर) प्रदान करने वाली। इन दानों से होने वाली आय भी अर्थशास्त्र में अलग-अलग नामों से जानी जाती है। 'सीता' शब्द राजकीय भूमि से प्राप्त विभिन्न प्रकार की आय के लिए प्रयुक्त हुआ है जबकि 'भाग' दूसरी प्रकार की भूमि से प्राप्त आय के लिए। सीताध्यक्ष के कर्तव्यों में एक कर्तव्य राजकीय भूमि का जुताई बुआई देखना था जिन्हें या तो राजकीय अधिकारी जोतते बोते थे या दासों और मजदूरों से करवाया जाता था। लेखक डियोडोरस तथा स्ट्रैबों ने सभी भू-क्षेत्रों पर राजा का स्वामित्व माना है। मनु ने भी भूमि पर राजा के अधिकार को स्वीकार किया है। मिश्र ने अपने ग्रंथ, राजनीति प्रकाश में और लक्ष्मीधर ने अपने महाग्रंथ 'कृत्याकल्पतरू में भी राजा के भू-स्वामित्व को ही संपुष्ट किया है। राजतरंगिणी में भी एक अन्य स्थान पर भी राजा में भूस्वामित्व का अनुमोदन किया है उसके अनुसार समस्त वसुन्धरा को अपनी पैत क सम्पत्ति समझने वाले नरेशों का शासन होते हुए भी अतिशय

सौम्य-प्रकृति-युक्त राजा प्रवरसेन ने पूरे 30 वर्ष तक प थ्वी पर निष्कंटक राज्य किया।

कृषि कार्य के लिए राज्य की ओर से भूमिअनुदान की जाती थी अगर कोई व्यक्ति भूमि को लेने में पश्चात् उस पर ठीक से कृषि नहीं करता था तो उस व्यक्ति से भूमि लेकर किसी दूसरे को दे दी जाती थी। अगर कोई दूसरा किसान उस भूमि को लेने वाला नहीं मिलता था तो वह भूमि गाँव के मुखिया अथवा किसी वैश्य को दे दी जाती थी। जो उस भूमि पर खेती करता था। यह उल्लेख भी इस बात का प्रमाण है कि भूमि पर राजा का स्वामित्व होता था।

इसके अतिरिक्त समय समय पर राजा द्वारा भूमिकर लगाया जाना। भूमि की उपज का षष्ठांश उसे निरन्तर मिलते रहना। समस्त देश एकमात्र स्वामी था तथा इन वस्तुओं के उपभोग करने वालों से अपना भाग वसूल करता था। प्राचीन काल से पूर्व मध्यकाल तक विभिन्न राजाओं ने अनेक भूखण्ड ब्राह्मणों और धार्मिक शैक्षणिक संस्थानों को दान प्रदान किए हैं जो, कुछ विद्वानों के अनुसार उसके भूस्वामित्व की संपुष्टि करते हैं।

व्यक्तिगत स्वामित्वः अतः ऊपर विवरण से ऐसा लगता है कि राजा ही भूस्वामी होता था लेकिन यह भी हमें स्पष्ट रहना चाहिए कि हर हाल में ऐसी स्थिति नहीं थी। ये धीरे-धीरे जैसे राजा शक्तिशाली होता गया। हर क्षेत्र में उसके अधिकार भी बढ़ते गए। यद्यपि ब्राह्मणीकाल साहित्य अर्थात् स्म ति संग्रह राजा में भूस्वामित्व की पक्षधर है लेकिन जब कानूनी पुस्तकों तथा अभिलेखिय प्रमाणों जो कि सबसे विश्वसनीय स्रोत है तथा निर्धारित नियमों तथा कानूनों की व्यवहारिकता की पुष्टि करते हैं, के आधार पर स्म तिसंग्रह का विश्लेषण किया जाता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा केवल सैद्धान्तिक तौर पर ही भूस्वामी होता था तथा वास्तविक भूस्वामित्व व्यक्ति द्वारा ही भोगा जाता था। इस मत की पुष्टि प्राप्त अनेकों तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं तथा अभिलेखीय प्रमाणों से हो जाती है।

भूमि पर व्यक्ति का अधिकार वैदिक युग से स्वीकार किया गया है। उस युग में कृषियोग्य भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व के संदर्भ मिलते हैं। भूमि की माप उस समय की जाती थी, जिन्हें 'खिल्य' के माध्यम से विलग किया जाता था। 'उर्वरासा', 'उर्वरापति', 'उर्वराजित', 'क्षेत्रसा', 'क्षेत्रपति' जैसे शब्द भूमि पर स्वामित्व के भान कराते हैं। ऋग्वेद में अपाला का अपने पिता की भूमि के सम्बन्ध में जो सन्दर्भ है, वह व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व को स्पष्ट करता है। उत्तरवैदिक युग के वेद, संहिता और उपनिषद् ग्रंथों में व्यक्तिगत भूमि के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। जैमिनि ने मीमांसा के आधार पर मत व्यक्त किया है कि ''यह सही है कि भूमि-खण्ड दान करके किसी व्यक्ति को दिया जा सकता है, किन्तु सम्पूर्ण भूमि राजा द्वारा दान नहीं की जा सकती। इसी तरह अधीनस्थ राजकुमार द्वारा कोई प्रदेश किसी को नहीं दिया जा सकता है, केवल उस स्थिति को छोड़कर जब भूमि अथवा ग ह उसके द्वारा क्रय किया गया अथवा प्राप्त किया गया हो। बौद्ध युग में भी व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व था। भूमि के अधिकारी को उस युग में 'खेत्तपत्ति', 'खेत्तसामिक' या 'वत्थुपति' कहा जाता था। जातकों में इस बात का विवरण मिलता है कि तत्कालीन युग में खेत की माप की जाती थी। ऐसे भूमिखण्ड विभिन्न व्यक्तियों के होते थे। अनाथपिंडक, अम्बपालि तथा जीवक द्वारा भूमिखण्ड और उद्यान दान में प्रदान किए गए थे। श्रावस्ती के श्रेष्ठि सुदत्त (अनाथपिंडक) ने राजकुमार जेत का उद्यान 18 कोटि स्वर्णमुद्राओं से खरीदकर युद्ध के निवास के लिए अर्पित किया था। ये स्वर्णमुद्राएँ राजकुमार जेत की माँग के अनुसार उद्यान में बिछा दी गई थी, जो गाड़ियों पर लादकर वहाँ लाई गई थी। व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व के ऐसे अनेक द ष्टांत जातक, महावग्ग, दीघनिकाय, सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन सूत्र जैसे बौद्ध ग्रंथों से मिलते हैं। क्रय-विक्रय और भूमि की सीमा निश्चित करने सम्बन्धी अनेक प्रमाण भी उस काल के प्राप्त होते हैं। कभी-कभी स्त्रियाँ भी भूमिखण्ड भिक्षुओं को दान में दिया करती थी। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत भूक्षेत्र

के पारस्परिक मतभेद का वर्णन किया है तथा व्यक्तिगत भू-स्वामित्व का उल्लेख किया है इससे स्पष्ट होता है कि भूमि पर व्यक्ति का अधिकार था। एक स्थल पर मनु द्वारा व्यक्त किये गए विचार से प्रतीत होता है कि वह भी कुछ अंशों में व्यक्तिगत स्वामित्व का अनुमोदक था। वह लिखता है, ''पुराविद् लोग इस प थ्वी को प थु की भार्या मानते हैं। खुत्थ (ठूठ पेड़) काटकर (भूमि को समतल करके) खेत बनानेवाले का खेत मानते हैं और पहले बाण मारने वाले का म ग। यही नहीं, ब हस्पति, याज्ञवल्क्य आदि अन्य स्म तिकारों ने व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व की चर्चा की है कि भूमि पर व्यक्ति का स्वामित्व था। भूमि आदि की सुरक्षा करने के कारण राजा को उसका भाग प्राप्त होता था। गौतम के अनुसार कोई व्यक्ति किसी वस्तु का स्वामी क्रय करने, दान में प्राप्त करने, बँटवारा करने, अभिग्रहण करने अथवा प्राप्त करने से होता था। मनु ने वित्तागम के सात प्रकार बताए हैं। उसके अनुसर दान में प्राप्त, लाभ में प्राप्त, क्रय करने से प्राप्त, विजय में प्राप्त, प्रयोग (ब्याज) द्वारा प्राप्त कर्मयोग (कृषि, व्यापार आदि उद्योग करने) से प्राप्त तथा सत्प्रतिग्रह (शास्त्रोक्त दान) से प्राप्त सात प्रकार की सम्पति धर्मयुक्त मानी जाती थी। अतः भूमि पर व्यक्ति का स्वामित्व होना स्वाभाविक था। ऐसा प्रतीत होता है कि मनु ने राजा के भूमि-स्वामित्व का अपना पहले-वाला विचार परिवर्तित करके उस व्यक्ति के हित में किया। नार, कात्यायन, गौतम और मनु जैसे शास्त्रकारों ने भूमि-स्वामित्व पर विस्तार से विचार किया है तथा व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व का प्रतिपादन किया है। मेधातिथि ने व्यक्तिगत भूमि-स्वामित्व सम्बन्धी विचार का विकास किया है। यह बात और है कि उसने जैसा कि हमने देखा अपने भाष्य में एक स्थल पर मनु ने साम्राज्यीय विचार का समर्थन किया है। लगता है, मेधातिथि ने राजा का समर्थन इस अर्थ में किया है कि वह भूमि और फसल की रक्षा करता था और उसके बदले उसे उपज का छठा भाग प्राप्त होता था। मनु के एक शलोक पर भाष्य करते हुए मेधातिथि ने व्यक्तिगत भू-स्वामित्व का समर्थन किया है। देशोपदेश में एक कंजूस का वर्णन है जिसके पास पत्नी, द्रव्य, ग ह और भू सम्पत्ति तो है परन्तु उसकी कंजूस प्रव ति के कारण उसका उपयोग दूसरे करते हैं।

सुभाषितरत्नकोशः वंशानुगत भूमि का उल्लेख इसमें भी है। इसके अनुसार एक परिवार ने सामन्त (भोगपति) के जुल्मों के बावजूद भी उसे इसलिए छोड़ने को तैयार नही थे क्योंकि वह उनकी वंशानुगत भू (निज वंश-भूव इति) थी।

मनसोल्लासः में भी घर, कपड़े, अनाज, द्रव्य इत्यादि की चोरी के साथ खेत की चोरी का भी विवरण मिलता है।

इन साहित्यिक उल्लेखों के अतिरिक्त प्राचीनकाल में व्यक्तिगत रूप से दान में दिए गए तथा क्रय-विक्रय किए गए भू क्षेत्रों के अभिलेखिय प्रमाण भी मिलते हैं जो व्यक्तिगत भू-स्वामित्व की संपुष्टि करते हैं जैसे कुमारगुप्त में एक राजकीय कर्मचारी ने एक सामवेदी ब्राह्मण को भूमिदान में दी।

भुवनेश्वर अभिलेखः इसमें उल्लिखित है कि एक स्त्री जिसका नाम मडमदेवी था ने एक वणिम् (साधु-प्रधान) से देवघर ग्राम में एक भूमिखण्ड क्रय किया था और उसे लिंगिराज मंदिर मे शिव में पूजन के निमित्त दान कर दिया था।

भवसदाशिव अभिलेखः भवसदाशिव ने अपनी भीख (begging) से बचत कर एक भूमिखण्ड खरीदकर अनुदानित किया।

एक अन्य अभिलेख में एक कायस्थ समुदाय के व्यक्ति ने दो गाँवों में 65 यूनिट भूमि अनुदान में दी। इसी प्रकार एक अन्य कायस्थ समुदाय के व्यक्ति ने ही पाँच वतिका तथा पाँच (5) मानस भूमि अनुदानित की।

बैजनाथ प्रशस्तिः इसके अनुसार एक व्यक्ति ने तीन भू कांगडा अनुदानित किए।

डबोक (Dabok) अभिलेखः इसके अनुसार एक व्यक्ति ने दो खेत तथा तीन दुकाने अनुदान में दी। अनुदान के समय एक दुकान उसके स्वयं के पास थी, वह एक वैद्य था तथा दूसरी उसके पुत्रों में से एक पुत्र के पास।

सांडेर (जोधपुर) अभिलेखः इसके अनुसार एक हल भूमि जिस पर कि बाजरे की खेती होती थी, एक रथकार ने अनुदान में दी।

ये सब आलेख व्यक्तिगत भू-स्वामित्व की संपुष्टि करते हैं। ऐपिग्रप्पी इंडिका में उद्ध त कुछ अभिलेख उन खेतों में जो व्यक्तिगत स्वामित्व में थे और वे अभिलेख जिन पर व्यक्ति विशेष खेती करता था अन्तर किया गया है जैसे-

मैत्रका अभिलेखः इसमें बह्मदया भू अनुदानों के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के भूमिखण्डों का वर्णन मिलता है। जैसे वे भूमिखण्ड जिन पर व्यक्तिगत स्वामित्व (सतक) था तथा वे भूमिखण्ड जिनको व्यक्ति जोतता था (परक ष्ट या क ष्ट) दोनों प्रकार के भूमिखण्डों के लिए अलग-अलग शब्दावली का प्रयोग व्यक्तिगत को परिष्कृत करता है।

देवखड्ग का अशरफपुर पत्रः इसकें अनुसार एक पाठक भूखण्ड का भोग सर्ववन्तर कर रहा था परन्तु उस पर कृषिकर्म शिखर तथा अन्य व्यक्ति कर रहे थे।

वे व्यक्ति जो भूमि को ऊर्वरा या जोतने योग्य बनाते हैं वे ही उस भू के वास्तविक स्वामी हैं इस प्रकार भू पर व्यक्ति तथा राजा दोनों ही भू पर किसी न किसी प्रकार के अधिकार बनाए हुए थे। जहाँ कहीं भी राजा तथा व्यक्ति का किसी भूखण्ड के साथ नाम मिलता है उसका अर्थ स्पष्ट है। उस भूखण्ड का वास्तविक स्वामी व्यक्ति होता है तथा राजा का लगान वसूलने का अधिकार। इसके अतिरिक्त राजा का कुछ विशेष प्रकार के भूखण्ड पर असली स्वामित्व भी होता था। जैसे नई प्राप्त की हुई भूमि पर (newly acquired teritory) या कोई व्यक्ति बिना उत्तराधिकारी के मर जाता है, तो उसकी सम्पति राजा की हो जाएगी इसके अतिरिक्त कुछ भूमि राजा तथा या राज्य के स्वामित्व में भी होती थी। (सीता भूमि) इसकी संपुष्टि समकालीन अभिलेखिय स्रोतों से भी की जाती है। अनुदानित भूमि की सीमाओं का स्पष्टतः विभाजन (demarcation) होता था अर्थात् अनुदानित भूमि का स्पष्ट विवरण होता था कि फलां-फलां साइड की भूमि फलां-फलां की है। इन अनुदानों में हमें राजकीय भूमि (राजकीयक्षेत्रम्) का वर्णन भी मिलता है जैसे डबोक अभिलेख में अतः स्पष्ट है कि राजा भी कुछ भूमि का वास्तविक रूप से भी स्वामी था।

अतः ऊपर विवरण से स्वभाविक परिणाम निकलता है कि भूमि का वास्तविक स्वामी व्यक्ति होता था। साहित्यिक तथा अभिलेखिय प्रमाणों से स्पष्ट है कि व्यक्ति उन भूखण्ड को जो उसके अधिकार में थी, उसका क्रय विक्रय कर सकता था, अनुदान में दे सकता था, उसे गिरवी रख सकता था या लीज (lease) पर दे सकता था। गुप्तोत्तर काल की कानूनी पुस्तकों में स्वामी तथा क्षेत्रक (कृषक) के सम्बन्धों से सम्बन्धित नियम स्पष्टतः मिलते हैं। लगभग सभी कानूनी पुस्तकें उस भूमिखण्ड को जो उनको लीज (lease) पर या उत्पादन में एक निश्चित हिस्सा तय करके ही दी गई है, कृषि करने के लिए आबद्ध है।

विशेष परिस्थितियों में भू-स्वामित्व खो देने से सम्बन्धित नियम भी हमें समकालीन साहित्य में उपलब्ध है जो व्यक्तिगत स्वामित्व की ओर अधिक संपुष्टि करता है। गौतम तथा मनु के अनुसार यदि किसी अनजान व्यक्ति का दस साल तक किसी सम्पत्ति पर कब्जा रहता है तो उस सूरत में असली स्वामी उस पर से अपना स्वामित्व खो देता है तथा वह व्यक्ति जिसके कब्जे में यह सम्पत्ति रही है कानून स्वामित्व मिल जाता है। याज्ञवज्क्य इस अवधि को दस की बजाय 20 वर्ष

कर देते हैं लेकिन इनमें से कोई भी इस सम्बन्ध में भूमि का वर्णन नहीं करते। बाद के शास्त्रकार, विष्णु, नारद, ब हस्पति तथा कात्यायन इसकी अवधि को बढ़ाकर तीन पीढ़ियों (60 वर्ष) तक कर देते हैं। ये मीताक्षर (11 वीं शताब्दी) इसे 100 वर्ष तथा स्म ति चन्द्रिका 205 वर्ष कर देते हैं। इसके दो परिणाम हैं: (i) यह दर्शाता है कि कोई व्यक्ति यदि गैर-कानूनी ढंग से किसी भी भूमि को शताब्दियों तक अपने कब्जें में रखता है तब भी कानूनी मालिक को उसके इस हक से कोई अलग नहीं कर सकता। (ii) अस्थायी कृषक को हटाया जा सकता है। यदि वह 100 वर्ष तक भी इस भूमि को जोतते हैं तब भी इस पर उनको मलकियत हासिल नहीं हो सकती।

भू-अनुदानों से ऐसा लगता है प्राचीन काल में व्यक्ति भू पर कहीं अधिक अधिकार भोग रहा था परन्तु बाद में (मौर्य व मौर्योत्तर काल से) व्यक्ति से ये अधिकार धीरे-धीरे अस्थायी तौर पर राजा द्वारा छीन लिए गए। ललन जी गोपाल के अनुसार 'पूर्वमध्यकाल में कभी-कभी ऐसा लगता था कि भूमि पर व्यक्ति के अधिकार सीमित थे तथा राजा के अधिकार सर्वोच्च तथा असीमित।' परन्तु बी.पी. मजूमदार के अनुसार, केन्द्र के कमजोर होते ही राजा की राजनैतिक शक्ति भी क्षीण होती चली गई तथा सामन्तवाद के उत्थान से राजा के भू-अधिकार सामन्तों को हस्तान्तरित हो गए और अब राजा, व्यक्ति के बाद सामन्त भू स्वामित्व के तीसरे हकदार हो गए। यद्यपि अनुदानग्राही को आगे अनुदान का अधिकार नहीं था परन्तु शक्तिशाली सामन्तों ने इसकी परवाह न करते हुए आगे कभी राजा के सहायक के रूप में और कभी स्वतन्त्र रूप से भु-अनुदान प्रदान किए। इससे भू से सम्बन्धित उपसामन्तों तथा जमीदारकुलीन वर्ग की ओर जमात खड़ी हो गई जो भूमि पर अपने अधिकार प्रतिस्थापित कर रहे थे।

प्रारम्भिक मध्यकाल में नए-नए विभिन्न जमीन से जुड़े वर्गो की उत्पत्ति ने भू-स्वामित्व के प्रश्न को और पेचीदा कर दिया तथा सभी वर्ग भू पर अपना स्वामित्व जता रहे थे। सामन्तों के भू पर बढ़ते अधिकारों ने किसान की स्थिति को दयनीय बना दिया। सामन्तवाद ने न केवल कृषकों की भूमि पर अधिकार ही सीमित कर दिए अपितु उनको उस भूमि के टुकड़े से जुड़े रहने के लिए बाध्य किया जाता था। जिसने विष्टी (Forced Labour) को जन्म दिया। भूमि को उस पर रहने वाले निवासियों (सतप्रतिवासी जनसमेता) के साथ अनुदान करने की प्रथा ने प्रजन वर्ग को जन्म दिया जो ना ही तो दास थे और ना ही नौकर अपितु वह कृषक थे जो जमीन से जुड़े हुए थे और उनका कर्तव्य अनुदान ग ही की सेवा करना था। अतः कृषक को कृषिदास (कुछ-कुछ यूरोपियन सर्फ) की स्थिति में पहुँचा दिया।

अतः प्राप्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि भूमि पर सम्पूर्ण अधिकार (absolute right) किसी वर्ग का नहीं था सभी वर्ग भूमि पर किसी ना किसी प्रकार का अधिकार बनाए हुए थे तथा भूमि पर सर्वोच्च अधिकार भूमि से सम्बन्धित वर्गो की बदलती हुई स्थिति के साथ-साथ बदल रहा था। सैद्धान्तिक रूप में तथा राजतन्त्र के आगमन के साथ राजा भू-स्वामी रहे होंगे परन्तु व्यवहारिक रूप में भू-स्वामित्व व्यक्तिगत रहा होगा।

(ग) प्राचीन भारत में सिंचाई व्यवस्था
(Irrigation System in Ancient India)

प्राचीन भारत में यद्यपि कृषक मुख्यतः वर्षा पर ही निर्भर था परन्तु सिंचाई के कृत्रिम साधनों से भी अनभिज्ञ नहीं था। हड़प्पा काल से ही भारतीय किसान सिंचाई के कृत्रिम साधनों के महत्त्व से भली-भाँति परिचित था। हड़प्पाकालीन गैबर बांध इसका बात का साक्षी है। इसी प्रकार यद्यपि वैदिक तथा जनपदकाल (बुद्धकाल) में भी कृषक सिंचाई के कृत्रिम साधनों से परिचित था तथा तड़ाग विभिन्न प्रकार के जलसंग्रहों का उपयोग भी कर रहा था। परन्तु पहली बार मौर्यकाल में

कृषि के लिए सिंचाई के कृत्रिम साधनों का राज्य ने महत्त्व समझा तथा राज्य ने किसानों के लाभ के लिए सिंचाई सुविधाओं का प्रबन्ध किया और इससे सम्बन्धित नियम बनाए। जैसे जिन नहरों से पानी कुल्याओं (नालियों) में वितरित किया जाता था उनकी जाँच-पड़ताल मौर्य अधिकारी करते रहते थे जिसमें हर एक को बराबर लाभ मिलता रहे। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में ही सुदर्शन झील का निर्माण कराया गया ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसके पानी से खेतों को सींचा जा सके। राज्य इस बात से भली-भाँति परिचित था कि उन क्षेत्रों में जैसे विशेष रूप से पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में, जहाँ पानी की नियमित आपूर्ति से ही फसल की सामान्य उपज निश्चित की जा सकती है, सिंचाई के साधन जुटाना अत्यन्त आवश्यक है। चूँकि राज्य सिंचाई के साधन जुटाना अपना कर्त्तव्य समझता था। अतः भूमि के उत्पाद का 1/5, 1/4 या 1/3 सिंचाई कर के रूप में लिया जाता था। यद्यपि मौर्योत्तर कालीन के सिंचाई के साधनों के जानने में सबसे बड़ी कठिनाई समकालीन स्रोत सम्बन्धी है। यद्यपि इस काल की सिंचाई सम्बन्धी इतने प्रमाण हमारे समक्ष नहीं हैं जितने की मौर्यकाल के। परन्तु समकालीन स्रोत में इधर-उधर जो प्रमाण मिलते हैं इससे स्पष्ट हो जाता है कि मौर्योत्तर काल में भी सिंचाई के महत्त्व से लोग परिचित थे। आदि पर्व के एक वर्णन में कुएँ, तालाब तथा पुल आदि के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा है कि तालाब एक कुएँ से सौ गुणा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार मनु के अनुसार दो गांवों की सीमाओं का निर्धारण तालाब, टैंक तथा पानी की नालियाँ आदि पानी एकत्रित करने में कृत्रिम साधनों आदि से होना चाहिए। स्पष्टता इसके पीछे विचार न केवल सीमाओं का निर्धारण प्राकृतिक साधनों द्वारा ही करना था अपितु इसके साथ जुड़ी हुई भूमि को भी उपजाऊ बनाना था। सिंचाई के साधनों के महत्त्व की पुष्टि भी इस बात से हो जाती है कि धर्मशास्त्रों में जल संग्रहालयों के नुकसान पहुँचाने पर कठोर दण्ड का विधान किया है। मनु के अनुसार टैंक (Tank) को नष्ट करने पर उस व्यक्ति को म त्युदंड दिया जाना चाहिए। परन्तु यदि दोषी टैंक की मरम्मत करवा देता है तो वह उत्तम बाहस दण्ड का भागी है अर्थात् टिप्पणीकर्त्ता के अनुसार उसे 1000 पण जुर्मानें के तौर पर देना पड़ेगा। इसी प्रकार विष्णु के अनुसार भी राजा को ऐसे व्यक्ति को कठोर दण्ड देना चाहिए। अतः यह पानी के सभी प्रकार के संग्रहालयों अर्थात् तालाब, ताड़, कैनाल, नदी आदि पर लागू होता था ताकि पानी का सदुपयोग हो तथा भूमि को बाढ़ ग्रस्त (flooded) होने से बचाया जा सके।

प्राचीन भारत में सिंचाई के तरीके सभी काल में लगभग एक जैसे रहे होंगे अर्थात् सिंचाई के साधनों के रूप में कुएँ, टैक, तालाब तथा नदियां ही प्रयोग में आती रही होगी। पुरातात्त्विक अवशेषों मे अनेकों मिट्टी के कुएँ (Ring wells) हस्तिनापुर, रोपड़, उज्जैन, मथुरा तथा नासिक से प्राप्त हुए हैं। जोकि 600-200 B.C. के है। इसी प्रकार यू०पी० तथा बिहार से भी ऐतिहासिक स्तर से अनेकों कुएँ (Ring wells) प्राप्त हुए हैं। मौर्य काल से तो इस प्रकार के कुएँ संभवतः आम चलन जैसाकि आर०एस० शर्मा ने कहा है कि इनमें से कुछ को तो गंदा पानी संग्रह (Soakage pits) के रूप में प्रयोग किया जाने लगा और कुछ कुएँ के रूप में प्रयोग किए जाते रहे होंगे और खासतौर से ईंटों के कुएँ (brick wells) उदाहरणस्वरूप जैसा कि एक उज्जैन से प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त अशोक के अभिलेखों से भी इसकी पुष्टि होती है कि अशोक ने सड़कों के साथ-साथ कुछ-कुछ कोस की दूरी पर कुएँ भी खुदवाए। अतः स्पष्ट है कि मौर्य व मौर्योत्तर काल में अनेकों कुएँ बनवाए गए। परन्तु ये कुएँ सिंचाई के साधन के रूप में किस हद तक प्रयोग किए जाते थे स्पष्ट नहीं है। शहरों में ये मुख्यतया पीने के पानी के लिए प्रयोग किए जाते रहे होंगे। जब तक हमें जोत भूमि के मध्य में कुआँ नहीं मिल जाता तब तक निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि कुएँ वास्तव में सिंचाई के साधन के रूप में भी प्रयोग में लाए जाते थे।

परन्तु आर०एस० शर्मा के अनुसार "कुछ अप्रत्यक्ष प्रकार के साहत्यिक व अभिलेखीय प्रमाणों के

अनुसार यह कहा जा सकता है कि ये कुएँ सिंचाई के साधन के रूप में भी प्रयोग किए जाते थे।" पत जलि के अनुसार "कुआं खोदने वाला अपनी कठिनाई व परिश्रम का फल उस समय पा जाता है जबकि उसका पानी उसे सम द्धि देता है।" अतः इससे स्पष्ट है कि संभवतः कुएँ सिंचाई के साधन के रूप में भी प्रयोग किया जाता था।

इसी प्रकार प्रचीनकाल में टैंकों के निर्माण के भी अनेकों उदाहरण मिलते हैं। हमें पुरातात्त्विक प्रमाणों में ईंटों से बने हुए एक बड़े टैंक के अवशेष मिले हैं जोकि वर्षा के पानी से भरा जाता था और 600-200 B.C. का है। इसी प्रकार मौर्यकाल के अनेक टैंकों के अवशेष हमें उत्तर पश्चिमी हिस्से अर्थात् (अब पाकिस्तान) से भी मिले हैं। यद्यपि बहुत से टैंक धार्मिक द ष्टि से जैसे 'सिरकप' के मठ के आँगन वाला टैंक महत्त्वपूर्ण रहे होंगे। परन्तु बहुत से टैंक सिंचाई के साधन के रूप में भी प्रयोग आते रहे होंगे। जैसे आर०एस० शर्मा के अनुसार कांगड़ा से प्राप्त टैंक। पथसार से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार, यह तालाब वायुल के द्वारा बनाया गया था। डॉ० शर्मा के अनुसार यदि राथी (Rathi) आज की कांगड़ी की राथी जाति ही थी तो इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह तालाब वायुल ने कृषि कार्य के लिए ही बनवाया होगा क्योंकि यह कांगड़ा की राथी जाति कृषि कार्य करती है। वायुल उस समय क्षेत्र के कृषकों का प्रधान (राथीतर) होगा। इसी प्रकार मथुरा से प्राप्त अनेकों टैंकों जो कि द्वितीय था इससे पूर्व की शताब्दियों के है। इनके निर्माता का उद्देश्य भी सिंचाई के साधन जुटाना ही रहा होगा।

उत्तर व उत्तर पश्चिम से प्राप्त अप्रत्यक्ष प्रकार के प्रमाणों से भी टैंकों की लोकप्रियता की पुष्टि होती है। पुरातात्त्विक अवशेषों में तक्षशिला हस्तिनापुर, उदयपुर व अहिच्छत्रा आदि स्थानों से कर्मकांड टैंक (Ritual Tanks) प्राप्त हुए हैं। जिनमें से अधिकतर ईसा की प्रथम शताब्दी के है जैसाकि मार्शल की तक्षशिला रिपार्ट से स्पष्ट है अकेले तक्षशिला में ही 15 कर्मकांड टैंक (Ritual Tanks) प्राप्त हुए है। लगभग देश के सभी भागों से प्राप्त भू अनुदान पत्रों में जल संग्रहालयों के प्रयोग में लाए जाते थे। धर्म अनुदान के रूप में बनाए हुए इन टैंकों की उत्पत्ति का कोई भी कारण रहा हो परन्तु यू०पी०, राजस्थान, पंजाब व पाकिस्तान के बड़े हिस्से में अर्थात् दूसरे शब्दों में उन सभी क्षेत्रों में जहाँ आवश्यक रही हो इन टैंकों का महत्त्व रहा होगा। संभवतः लोगों के हित के लिए टैंकों का निर्माण करवाना बहुत बड़ा धार्मिक कृत्य समझा जाता था जोकि मध्यकाल यहाँ तक कि आज तक चला आ रहा है।

अभिलेखीय प्रमाणों से ये स्पष्ट है कि पश्चिम तथा दक्षिण पश्चिम क्षेत्रों में भी द्वितीय शताब्दी के लगभग बहुत से टैंक बनवाए गए। शक शासक रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में सौराष्ट्र की सुदर्शन झील का इतिहास मिलता है। इस अभिलेख के अनुसार यह झील चन्द्रगुप्त मौर्य के अधीन पुष्य गुप्त के द्वारा बनवाई गई रुद्रदामन के समय सुवर्ण रेखा तथा पला रानी आदि नदियों में बाढ़ आने से इस झील का बाँध टूट गया जिसकी मरमम्त शक शासक के गवर्नर रुद्रसिंह ने नागरिकों की सहायता से करवाई। यह काफी बड़ी अर्थात् 420 क्यूबिक लम्बी और 750 क्यूबिक गहरी थी। रुद्रदामन ने यह मरम्मत कार्य बिना प्रजा पर फालतू के कर बेगार आदि लिए बिना करवाया। सुदर्शन झील के वर्णन से स्पष्ट होता है कि पश्चिमी भारत में सिंचाई को कितना महत्त्व दिया जाता था। टैंक निर्माण की परम्परा रुद्रदामन के उत्तराधिकारियों ने भी कामय रखी। उदाहरण के लिए नासिक गुफा अभिलेख में उश्वदत्त को टैंक व जलाशयों का निर्माणकर्त्ता कहा गया है।

कैनाल अथवा नहरें

खोरासन में S.P. वोल्स्तोव की खुदाई में एक कैनाल प्रकाश में आई जो कि कुषाण काल की मानी

जाती है। लेकिन अभी तक की खुदाईयों में भारत में कुषाण काल की ऐसी कोई कैनाल प्रकाश में नहीं आई है। परन्तु मौर्यकाल की कैनाल पुरातात्त्विक अवशेषों से प्राप्त होती है उदाहरण स्वरूप कुमराहार में एक 45 फुट चौड़ी 10 फुट गहरी व 450 फुट कैनाल/नहर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह कहा जाता है कि कैनाल संभवतः **सोन व गंगा नदी** से जुड़ी हुई थी ताकि चुनार से एक स्तंभ बहाकर लाया जा सके। इससे हम बिना अतिशयोक्ति के अन्दाजा लगा सकते हैं कि यह कैनाल सिंचाई के साधन के रूप में भी प्रयोग होती थी। इसी प्रकार खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से हमें कंलिग नगरी में एक पुरानी कैनाल का वर्णन मिलता है। खारवेल ने इस कैनाल पर एक सौ हजार सिक्के खर्च करके इसका विस्तार किया। इससे स्पष्ट है कि खारवेल ने इतना खर्च व्यापारिक आवागमन तथा सिंचाई के महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों को समक्ष रखकर ही किया होगा। इतनी ही पुरानी एक कैनाल के अवशेष मध्य प्रदेश के विदिशा के पास बेस नगर से प्राप्त हुए है अपनी खुदाई के समय डी०आर० भण्डारकर को दिवारों के कुछ अवशेष मिले हैं जो भण्डारकर के अनुसार कैनाल के अवशेष हैं। जोकि सिंचाई के लिए प्रयोग में आती रही होगी कुमराहार की तुलना में यह अपेक्षाकृत आकार में छोटी थी। यहाँ से नहर 7 फुट चौड़ी और दिवारें 5 फुट 6 इंच ऊंची थी। नहर की एक शाखा 185 फुट 4 इंच लम्बी थी। उसके अनुसार यह कैनाल संभवतः बेस नगर तक विस्त त यह नदी ही कैनाल को पानी देती रही होगी। उसके अनुसार बेस नदी भी सिंचाई के साधन रूप में प्रयोग होती रही होगी और यह कैनाल स्टोरिज (जलसंग्रह) कैनाल के रूप में। डॉ० आर०एस० शर्मा के अनुसार बेस नगर कैनाल बाढ़ के नाले के रूप में प्रयोग होती रही होगी क्योंकि मध्य भारत के नदियों में बरसात मे बाढ़ आ जाती है और व ग्रीष्म ऋतु में सूख जाती है। भण्डारकर के अनुसार यह कैनाल 165 बी०सी० पूर्व प्रयोग में आती थी। अतः ये कैनाल मौर्य या मौर्य पूर्वकालीन काल में बनवाई गई होगी जिससे स्पष्ट है कि यद्यपि ये कैनाल मौर्यकाल मे ंया इससे पूर्व के काल में बनवाई गई परन्तु प्रयोग आनेवाले कालों में भी होती रही जैसाकि कलिंग के खारवेल ने इसे और विस्त त किया। उसका अभिलेख बताता है कि उसने 103 वर्ष पूर्व राजा नंद द्वारा निकाली गई कैनाल/नहर का अपने शासन के पाँचवें वर्ष में तनशलि पथ से राजधानी में मँगवाया और एक लाख मुद्राओं की लागत पर उसे खुदवाया स्पष्टतया यातायात और सिंचाई सुविधा के लिए खारवेल ने इस बड़े कार्य को पूरा किया। मौर्योत्तर काल में और नई कैनालों का भी निर्माण हुआ या नहीं यह प्रश्न अभी सन्देहास्पद है।

बहुत से साहत्यिक स्रोतों से मौर्योत्तर काल की पानी की नालियों के प्रमाण मिलते हैं। पत जलि के अनुसार क्षेत्रों की सिंचाई के लिए कैनाल प्रयोग में लाई जाती है। पत जलि के वर्णन से स्पष्ट है कि बरसात के पानी को इकट्ठा करने के लिए छोटी-छोटी नालियां बनाई गई थी। जिससे कि धान के खेतों को पानी दिया जाता था। डी०के० काजीलाल के अनुसार धान के खेतों के चारों ओर नालियों का बांध (Dybe) सा होता था इसने निकला। यद्यपि आमतौर से इस शब्द का अर्थ आमतौर से अन्नभंडार के रूप में किया जाता है परन्तु पाताजंलि के प्रंसग से इसका अभिप्राय मेढ़ (Dybe) से पानी किसी बड़ी कैनाल से आता था या नहीं निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सिंचाई के कृत्रिम साधनों के बहुतायत न होने के कारण प्राचीन काल का किसान बाढ़ आई नदियों पर भी बहुत निर्भर करता था तथा बरसात में बाढ़ आने पर नदियों के बाढ़ के पानी से आसपास के क्षेत्र भर जाते थे जोकि धान बोने के काम में लाए जाते थे। इसकी पुष्टि हमें कुछ व्याकरण सम्बन्धी द ष्टान्त (Grammatical Illustrations) से हो जाती है जिससे स्पष्ट होता है कि देविका नदी के किनारे धान की फसल के लिए बहुत उपयुक्त था। यही बात मध्यवर्ती गंगा के कांठे (किनारे) के बारे में उपयुक्त है जोकि गंगा व उसकी सहायक नदियों के द्वारा सींचा जाता था। इन क्षेत्रों के मैदानों में भी उपयुक्त वर्षा होती थी। इन सबसे इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत द ष्टि से सिंचाई के कृत्रिम साधनों, तालाब तथा कैनाल की कमी को दर्शाया है।

प्रबन्धात्मक पहलू (सिंचाई संघटन)

सिंचाई के प्रबन्धात्मक पहलू के बारे में जहाँ तक मौर्योत्तर भारत का प्रश्न है हमें बहुत कम जानकारी मिलती है परन्तु अर्थशास्त्र में सिंचाई कर सम्बन्धी दी गई विभिन्न दरों से मौर्यकाल में राज्य द्वारा सिंचाई के क्षेत्र में उठाए गए कदमों के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती है जैसाकि आर०एस० शर्मा ने कहा है कि संभवतः कौटिल्या ने सिंचाई विभाग को इतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा कि इसके लिए अलग अधिकारी की नियुक्ति की जाए यह कार्य सीताध्यक्ष अर्थात् कृषि अधिकारी के ही अधीन रखा गया। मौर्योत्तर काल में सिंचाई के सम्बन्ध में राज्य के उत्तरदायित्व का वर्णन कहीं-कहीं मिल जाता है। कुछ स्वतन्त्र क्षेत्रीय शासक जैसे खारवेल तथा रुद्रदामन और उत्तर कनारा जिले के स्कंद स्वाति एवम् सौराष्ट्र के सुविशाखा जैसे मंत्री अपने क्षेत्र में सिंचाई के साधन जुटाने के अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरुक थे। जूनागढ़ अभिलेख के वर्णन से स्पष्ट है कि सिंचाई के साधन आमतौर से राज्य के द्वारा ही जुटाए जाते थे। किसानों पर कर बेगार (विष्टी) तथा आपातकालीन कर इत्यादि लगाकर। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सिंचाई कर जो कि मौर्य काल में कौटिल्य द्वारा एक महत्त्वपूर्ण कर समझा जाता था मौर्योत्तर या गुप्तकाल की कर सूची जिसमें ब्राह्मण वर्ग तथा अनुदत्त को माफ किए जानेवाले करों की सूची में वर्णन नहीं मिलता। आर०एस० शर्मा के अनुसार, "सिंचाई कर का मौर्यकाल के पश्चात् न मिलने के दो कारण हो सकते हैं प्रथमतः अब सिंचाई के साधन जुटाना राज्य का उत्तरदायित्व नहीं रहा होगा, इस कारण राज्य सिंचाई कर का अधिकारी नहीं था फिर राज्य द्वारा जो कुछ सिंचाई के क्षेत्र में किया जाता रहा होगा वह राज्य जरूरत के समय किसानों पर इस प्रकार कर या बेगार लेकर कर लगाकर तथा/या बेगार लेकर पूर्ण करती रही होगी। क्योंकि ऐसे कार्यों के लिए नियमित कर लगाना न्याय संगत नहीं समझा गया होगा।"

टैंक व तालाब बनवाने का कार्य व्यक्तिगत रूप से भी होता था जैसाकि मनु के अनुसार किसी के घर टैंक बगीचा या क्षेत्र पर कब्जा करना अवैधानिक है इस सूची में टैंक का मिलना इस बात की पुष्टि करता है कि इनका निर्माण सिंचाई के लिए भी किया जाता रहा होगा। एक अन्य स्थान पर मनु ने टैंक बाग, पत्नी या बच्चे को बेचने वाले को पापी घोषित किया है। अतः मनु के वर्णन से स्पष्ट होता है कि अब 200 A.D. ईसवी के और उसके पश्चात् टैंक इत्यादि पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो गया था। चौथी-पाँचवी शताब्दी की वैद्यानिक पुस्तकों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि इस समय भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था जिसके साथ तालाबों का स्वामित्व भी जोड़ा जा सकता है। संभवतः अलग-अलग लोगों द्वारा खोदे गए तालाब आकार मे अपेक्षाकृत छोटे होते थे। सिंचाई के साधन सामूहिक तौर पर ग्रामीणों द्वारा जुटाए जाने के प्रमाण भी उपलब्ध है। मनु के अनुसार, "यदि कोई व्यक्ति तटबंध की दरार को बंद करने का भरसक प्रयत्न नहीं करता था वो राजा उसे बोरिया-बिस्तर के साथ गांव से निकाल देता था।" इससे तटबंध को सुरक्षित रखने के लिए राज्य की जिम्मेवारी की जानकारी मिलती है।

नहरों अर्थात् कैनालों पर प्रारम्भिक व्यय किसी व्यक्ति के संसाधनों से परे की बात है अतः जैसाकि आर०एस० शर्मा कहते है कि इनकी खुदाई तो सहकारी या राज्य के प्रयासों द्वारा ही संभव थी हालाँकि इस विषय में प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

आमतौर से सिंचाई करने के लिए कुएँ अथवा जलकुण्ड से एक बार में एक बाल्टी पानी निकालने की तकनीक से ही परिचित थे। लोहे की बाल्टियाँ पानी निकालने के लिए प्रयोग में थी या नहीं कहना कठिन है हालांकि ओद्यान्त्रिक (जलीय इंजन बनाने वाले) का वर्णन नासिक बौद्ध गुहाभिलेख में मिलता है। परन्तु पशुबल से संचालित फारसी चक्र (Persian wheel) या रहट की जानकारी अभी नहीं थी।

अध्याय-2
व्यापार एवं वाणिज्य
(Trade and Commerce)

(क) आन्तरिक व्यापार
(Internal Trade)

प्राचीन स्म तिकार इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि राज्य की सम द्धि, विकास तथा स्थायित्व के लिए आवश्यक है कि कृषि, शिल्प (उद्योग, धन्धे) तथा व्यापार, जो कि राज्य की आय के मुख्य स्त्रोत हैं, का अधिक-से-अधिक विकास किया जाए और इसके लिए आवश्यक है कि राज्य किसी ना किसी रूप में इन आर्थिक कार्यकलापों पर नियन्त्रण रखे तथा उन्हें उचित प्रोत्साहन दे। प्राचीन भारतीय सभी लेखकों ने 'वार्ता' से तीन आधार स्तम्भ-कृषि, शिल्प (उद्योग-धन्धे) तथा व्यापार एवं वाणिज्य बताए हैं। इसीलिए प्राचीन काल में एकछत्र सम्राट बनना प्रत्येक राजा का ध्येय होता था। ज्यादा-से-ज्यादा क्षेत्रों को अपनी सर्वोच्चता के अधीन लाने के पीछे अन्य कारणों के पीछे एक कारण अथवा मकसद व्यापारिक रास्तों तथा विभिन्न राज्यों के कच्चेमाल पर आधिपत्य स्थापित कर देशीय तथा अन्तर्देशीय व्यपार के रास्ते प्रशस्त करना भी रहा है।

प्राप्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि कांस्ययुगीन सभ्यताओं अर्थात् हड़प्पाकाल से ही आन्तरिक तथा बाहरी दोनों ही प्रकार का व्यापार प्रचुर मात्रा में तथा संगठित रूप में प्रारम्भ हो जाता है। जैसे हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों के लोग ताँबा खेतड़ी से, सोना कोलार की खानों से तथा हाथी दाँत काठियावाड़ से लाते थे (विस्त त विवरण के लिए हड़प्पाकालीन अर्थव्यवस्था का पाठ देखिए) के लिए ज्ञान रखना श्रेयस्कर था। समराइच्चकहा से विदित होता है कि धरण नाम व्यापारी, जो माकन्दी का रहने वाला था, क्रय-विक्रय के लिए अचलपुर जाता था और अपने नगर के लिए उपयुक्त वस्तुएँ क्रय करके ले आता था। बाजार में भोजन सामग्री और वस्त्र आदि का विक्रय होता था। कथासरित्सागर में ऐसे व्यापारियों का काफी उल्लेख है जो व्यापार के निमित्त दूर-दूर के नगरों में जाते थे। एक व्यापारी पिता ने अपने पुत्र को व्यापार के लिए दूसरे देश में भेजा था। पाटलिपुत्र का वणिक् वाणिज्य के लिए वलभी गया था। कुवलयमाला से विदित होता है कि उत्तर और दक्षिण के वणिक् एक दूसरे से बहुधा मिल जाया करते थे। सोमदेव सूरि ने स्थानीय व्यापारी और दूर देश में जाकर वाणिज्य करने वाले व्यापारी का उल्लेख किया है। जिस स्थानीय बाजार में केसर, कस्तूरी जैसी सुगन्धित वस्तुएँ बिकती थीं वह सौगन्धियों का बाजार कहा जाता था। यह बड़े बाजार का एक भाग होता था, जो 'विपणि' के नाम से जाना जाता था। यहाँ कश्मीर का केसर, मलय का चन्दन और अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थ बिकते थे। माला, पुष्पहार बेचनेवाले भी अलग से बैठते थे वह स्थान 'आपण' कहलाता था।

यशस्तिलक में बाजार का बहुत सुन्दर चित्रण किया। इसमें अकसर राजमार्ग पर ही बाजार होते थे, जो संध्या होते ही जनसमूह से खचाखच भर जाते थे। उस समय बड़ी-बड़ी व्यापारिक मण्डियाँ

होती थीं, जो 'पैण्ठास्थान' कही जाती थीं। वहाँ विभिन्न वस्तुओं की दुकानें हुआ करती थी, जहाँ दूर-दूर के व्यापारी क्रय-विक्रय के लिए आते थे। सोमदेव ने ऐसे ही एक पैण्ठास्थान का वर्णन किया है, जहाँ बड़ी-बड़ी खोड़ियों (भाण्डागार) में सामान रखे रहते थे। पोखरों के निकट पशुओं की व्यवस्था होती थी। जल, अन्न, ईंधन और यातायात के साधन सुगमतापूर्वक प्राप्य होते थे। सम्पूर्ण पैण्डास्थान चार मील के घेरे में था जिसकी सुरक्षा के लिए चारों ओर खाईं और अहाता था। आवागमन के लिए निश्चित दरवाजे और प्रधान द्वार थे। रक्षा के लिए सैनिकों का भी प्रबन्ध था। प्रत्येक मार्ग में भोजनालय, प्याऊ और सभाभवन थे। चोर, जुआड़ी आदि के लिए प्रवेश निषिद्ध था। शुल्क भी समुचित लगता था। विभिन्न देशों के वणिक् वहाँ व्यापार के लिए आते थे। इस प्रकार की पिण्ठाओं से राजाओं की शुल्क के माध्यम से अधिकाधिक आर्थिक लाभ होता था और उनका राजकोष भरा रहता था। इस सम्बन्ध में नीतिवाक्याम त में सोमदेव का ही कहना है, "न्यायपूर्वक रक्षित पिण्ठा या पैण्ठास्थान राजाओं के लिए कामधेनु के सद श है।" 'पिण्ठा' को 'शुल्कस्थान' भी कहा गया है। इस सन्दर्भ में नीतिवाक्याम त के टीकाकार ने शुक्र का उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार व्यापारियों से अधिक शुल्क नहीं लेना चाहिए तथा पिण्ठा से किसी व्यापारी का माल चोरी चला जाय तो उसकी पूर्ति राजकोश से करनी चाहिए।

हेमचन्द्र ने क्रय-विक्रय के लिए 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग किया है, जो व्यापार का व्यापक अर्थ की पुष्टि करता है। क्रय-विक्रय के लिए 'आपण' में आई हुई वस्तुएँ बारहवीं सदी में भी 'पण्य' कही जाती थीं तथा जो क्रय-विक्रय से अपना जीवन-यापन करता था वह व्यापारी या वणिक् होता था। बहुत सी वस्तुएँ फुटकर रूप में छोटे व्यापारियों द्वारा बाजार में बेची जाती थीं। हेमचन्द्र ने बड़े व्यापारी के लिए 'द्रव्यक' शब्द का उपयोग किया है। जो वणिक् पूँजी लगाकर माल ले आता था तथा उसकी स्वयं व्यवस्था करता था, वह द्रव्यक कहलाता था। उसक समय 'वस्त्रिक' नामक व्यापारी भी होता था। निश्चित समय से क्रय-मूल्य (वस्त्र) देने वाला वणिक् 'वस्त्रिक' के नाम से जाना जाता था। लगता है, ऐसा व्यापारी बाद में मूल्य देने के वाद के आधार पर व्यापार करता था और उसके वचन को ही मूल्य मान लिया जाता था। उस समय तीन प्रकार के व्यापारी थे—एक प्रास्तारिक, जो सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज पदार्थों का व्यापार करते थे; दूसरे सांस्थानिक, जो गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि पशुओं का व्यापार करते थे और तीसरे कठिनान्तिक, जो बाँस, चमड़ा लाख आदि वस्तुएँ बेचते थे। वस्त्रादि वस्तुओं के निर्माण में भोज के अनुसार बनारस, मगध, नेपाल, सौराष्ट्र और कलिंग खड्ग बनाने के लिए ख्यात थे। इस सम्बन्ध में शार्ङ्गधर का भी उल्लेख समान है जिसके अनुसार खटि-खट्टर, ऋषिक, वंग, सूरपारक, विदेह, मध्यमग्राम, चेदिदेश, संहग्राम और कालंजर इनके प्रधान केन्द्र थे। अग्निपुराण में विव त्त है कि खट्टर के खड्ग बहुत ही अच्छी किस्म के होते थे, सूरपारक के खड्ग अत्यन्त शक्तिशाली एवं अंग और वंग के अत्यधिक तीक्ष्ण।

लोहे के साथ-साथ ताँबा भी महत्त्वपूर्ण धातु थी। पहली सदी में पेरिप्लस के समय यह भड़ोंच से बाहर के देशों के लिए भेजा जाता था। वहीं थाना नामक बन्दरगाह भी था, जहाँ से ताँबे का निर्यात् किया जाता था। धातुओं को प्रयोग में लाने के पहले उन्हें स्वच्छ और साफ किया जाता था और तब उनकी अनेकानेक वस्तुएँ बनती थीं। स्वर्ण, रजत, लौह, ताम्र, सीसा, टिन आदि के अतिरिक्त तत्कालीन समाज में पारा भी प्रचलित था।

इस प्रकार प्रकट है कि समाज में धातुओं का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से था। खानों से धातुओं को खोदकर निकालना, रासायनिक क्रियाओं से उन्हें साफ और स्वच्छ करके मनुष्य के उपयोग के योग्य करना, उनसे विभिन्न प्रकार की छोटी-बड़ी वस्तुएँ बनाना और वस्तुओं को देश के विभिन्न स्थानों तक पहुँचाना धातु सम्बन्धी एक बहुत महत्त्वपूर्ण व्यवस्था थी। खानों से सम्बन्धित श्रमिकों

और अधिकारियों की नियुक्ति तथा उनके कार्यों की देखभाल भी प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत थी। विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य रत्न भी खानों से ही निकलते थे, जिनको तराश और धवल करके आकर्षक बनाया जाता था। कौटिल्य के अनुसार खानों की समस्त व्यवस्था देखने वाला अधिकारी 'आकराध्यक्ष' कहा जाता था, जो धातुओं और रत्नों से सम्बन्धित समस्त व्यवस्थाओं का निर्देशन करता था। पूर्व मध्य युग तक धातु और रत्न का उद्योग विकास की चरम सीमा पर पहुँच गया। विनिमय के लिए इनकी मुद्राएँ ही नहीं बनती थीं, बल्कि विभिन्न प्रकार के घरेलू पात्र, अनेक तरह के युद्धक अस्त्र-शस्त्र, भवनों-मन्दिरों में अनेक रूपों में उपयोग, रत्नजटित विभिन्न प्रकार के आभूषणों का निर्माण तथा रथों-वाहनों आदि में इनका संयोग भी होता था। हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि, द्व्याश्रय महाकाव्य आदि ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है।

आन्तरिक व्यापार तथा वाणिज्य
(Internal Trade and Commerce)

भारत के सामाजिक उत्कर्ष में प्रधान आर्थिक तत्त्व वाणिज्य का सर्वाधिक महत्त्व था। 'वार्ता' के अन्तर्गत कृषि और व्यवसाय के साथ वाणिज्य का भी योगदान था, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने आर्थिक जीवन को सबल और सशक्त बनाता था। वैदिक काल के पूर्ववर्ती समाज में व्यापार अथवा वाणिज्य का कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ था। उस समय आर्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थे। वे केवल कृषि और व्यवसाय का विकास करते हुए अपने ग्रामों और समाज की स्थापना में तत्पर थे। अतः वह युग विभिन्न उद्योग-धन्धों और शिल्पों-व्यवसायों के प्रारम्भिक विकास का युग था। कालान्तर में, उत्तरवैदिक काल के अन्तर्गत, जब उनके समाज और कृषि-व्यवसाय का उत्कर्ष हुआ तब फिर से छठी शताब्दी में नगरों की स्थापना हुई। नगरों में कृषि से उत्पन्न अन्नों और व्यवसायों से निर्मित वस्तुओं का आना प्रारम्भ हुआ, जो तत्कालीन समाज के नागरिकों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इस प्रकार वस्तुओं के क्रय-विक्रय से व्यापार का उदय तथा व्यापारिक मार्गों का विकास हुआ। वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए वे रथ, घोड़े, बैलगाड़ी, ऊँट, हाथी आदि का उपयोग करते तथा अभीष्ट स्थानों के लिए प्रयाण करते थे। नाव की सहायता से भी वे अपने मालों और पदार्थों को नदी के रास्ते दूसरे स्थानों पर पहुँचाते थे। वस्तुओं के क्रय-विक्रय में मोल-भाव करते हुए मूल्य आँके जाते थे तथा समुचित मूल्य मिलने पर वस्तुओं को बेचा जाता था। इस प्रकार के कतिपय सन्दर्भ वेदों में मिलते हैं, जो तत्कालीन व्यापारिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

ऋग्वेद में व्यापार करने वाले को 'पणि', 'वणिज', 'वाणिज' और 'वणिक्' कहा गया है। 'पणि' लोग अधिक धन अर्जन के निमित्त सामान से लदे अपने जहाजों को दूर-दूर तक ले जाते थे। उस युग में पदार्थों का आदान-प्रदान भी होता था। एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि दस गायों को देकर इन्द्र की प्रतिमा ली गई थी। उस समय हाट (बाजार) में भाव-ताव के आधार पर सौदा पक्का किया जाता था। एक दूसरे मंत्र से विदित होता है कि एक व्यक्ति ने कम मूल्य (कनीय वस्न) पर अधिक मूल्य की वस्तु बेच दी, परन्तु क्रय करने वाले के पास जाकर वह पुनः कहता है कि वस्तु नहीं बिकी (अविक्रित)। कम मूल्य पर वस्तु बेचने के कारण वह मूल्य नहीं बढ़ा सकता था (भूयसा कनीयो न अरिरेचीत)। मूल्य कम हो या अधिक, एक बार बिक जाने पर उस मूल्य को विक्रेता (बेचने वाला) और क्रेता (खरीदने वाला) दोनों स्वीकार करते थे। उस समय आठवें और सोलहवें भाग के रूप में मूलधन का ब्याज किया जाता था। मूल भी लौटा दिया जाता था। मोल-भाव के आधार पर क्रय-विक्रय का उल्लेख अथर्ववेद में भी हुआ है।

व्यापारियों के प्रकार

व्यापार और वाणिज्य से सम्बन्धित लोगों को 'वणिक्' अथवा 'वणिज' बाद में भी कहा जाता था। विभिन्न स्थानों के अलग-अलग व्यापारी होते थे। मद्रदेश का व्यापारी 'मद्रवाणिज', गांधार देश का व्यापारी 'गांधार वाणिज' कश्मीर का व्यापारी 'काश्मीर वाणिज' के नाम से जाना जाता था। जो व्यापारी प्रधान रूप से थोक में वस्तुओं का क्रय-विक्रय करता था, वह 'क्रय-विक्रयिक' के नाम से अभिहित था। उस युग में ऐसे भी व्यापारी थे, जो व्यापार में अपना धन लगा तो देते थे किन्तु उसकी व्यवस्था और देखभाल में यह कोई आवश्यक नहीं था कि वे स्वयं हिस्सा या निर्देश दे दे। इस प्रकार के व्यापारियों को 'वस्निक' की संज्ञा दी गई थी। 'वस्निक' उसको भी कहा जाता था जो शकटों पर माल लादकर बेचने के लिए जाता था। जाते समय वह 'द्रव्यक' कहा जाता था। जब वह अपने माल को बेचकर लौटता था, तब वह 'वस्निक' कहा जाता था। तत्कालीन समाज में 'सांस्थानिक' नामक व्यापारी भी थे जिनकी परवर्ती कालीन 'सार्थवाह' नामक व्यापरी से तुलना की जा सकती है। अर्थात् 'सार्थवाह' व्यापारी को पूर्वकाल में 'सांस्थानिक' कहा जाता था। इनके अतिरिक्त 'प्रास्तारिक' और 'काठिनिक' नामक व्यापारियों के प्रकार थे। 'प्रास्तारिक' व्यापारी खनिज वस्तुओं का व्यापार करते थे और 'काठिनिक' व्यापारी बाँस, बबई (बल्बज), वाध (वर्ध) आदि का। वस्तुओं के विक्रय के अनुरूप व्यापारियों के भी नामकरण होते थे, जैसे अश्व का व्यापार करने वाला 'अश्ववाणिज' तथा गौ का व्यापार करने वाला 'गोवाणिज'। कभी-कभी स्थान के नाम पर भी व्यापारियों के नाम होते थे, उदाहरणार्थ, काश्मीरवाणिज, मद्रवाणिज, गन्धारवाणिज आदि। 'परमवाणिज' अथवा 'उत्तमवाणिज' कहे जाने वाले अन्य व्यापारियों से श्रेष्ठ होते थे। प्रायः दूरस्थ स्थानों से आकर व्यापारी वाणिज्य-कार्य किया करते थे। विदेह के रहने वाले व्यापारी उज्जैन या श्रावस्ती में जाकर व्यापार करते थे। दूकान अथवा बाजार के लिए 'आपण' शब्द का व्यवहार किया जाता था। बाजार या दूकान के माध्यम से जो वस्तुएँ बेची जाती थीं, वे 'पण्य' या 'पणितव्य' के नाम से जानी जाती थी। 'पण्य' शब्द कालान्तर में भी प्रयोग होता रहा। अपने-अपने मालों और भांडों को लेकर व्यापारी दूर-दूर तक जाते थे, व्यापार करते थे, धन प्राप्त करते थे और अपने घर की ओर लौटते थे।

जातकों से ज्ञात होता है कि व्यवसाय के अनुरूप विभिन्न वीत्थियाँ (गली) बनी थीं। बाजारों में कपड़े, रथ, तेल, अन्न, शाक, रत्न, सोना, चाँदी, आभूषण आदि का क्रय-विक्रय होता था। मांस, शराब, अस्त्र एवं दासों के क्रय-विक्रय भद्र एवं विशिष्ट जनों के सम्मुख नहीं किए जाते थे। सभ्य और भद्र व्यक्ति प्रायः ऐसे व्यापार से विलग रहता था। और ऐसे व्यापारिक स्थलों पर नहीं जाता था। शाक-सब्जियाँ और खाद्य-सामग्री नगर के द्वार पर ही विक्रय हेतु आती थीं, जहाँ से अपने आवश्यकतानुसार लोग खरीदकर ले जाते थे। सूनागार, पानागार, सुरापण आदि नगर के द्वार के निकट ही होते थे। बाजार नगर के भीतर होता था। नगर-वीथियों के दोनों किनारों पर 'आपण' (दूकाने) रहा करते थे, जिनमें नगर-वासियों के आवश्यकतानुसार विक्रय के निमित्त वस्तुएँ सजाकर रखी रहा करती थी। कभी-कभी व्यापारी अपनी वस्तुओं को नगर में घूम-घूमकर फेरी लगाते हुए भी बेचता था और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता था। ऐसा व्यापारी अपनी वस्तुओं को गाड़ियों पर रखकर ले आता और ले जाता था। 'नेगम ग्राम' और नगर जैसे स्थान व्यापार के केन्द्र होते थे, जहाँ छोटे-बड़े सभी व्यापारी खरीद-बिक्री के लिए जाते थे। भाव-ताव और पारस्परिक स्वीकृति के पश्चात् ही वस्तुएँ बेची और खरीदी जाती थीं। घोड़े, हाथी, रत्नादि को खरीदने के लिए ऐसे व्यक्ति राजाओं के यहाँ भी हुआ करते थे, जो वस्तु के मूल्य का निर्धारण करते थे।

उस समय के समाज में छोटे-बड़े सभी प्रकार के व्यापारी थे, जो अपने-अपने व्यापार से सन्तुष्ट थे। थोक और फुटकर दोनों प्रकार के क्रय-विक्रय होते थे। छोटे व्यापारी बहुधा घूम-घूमकर फेरी लगाते हुए अपने सामान फुटकर बेचते थे तथा बड़े व्यापारी एक ही स्थान पर थोक और फुटकर

विक्रय किया करते थे। समाज और राज्य में बड़े और सम द्ध व्यापारियों का विशिष्ट और श्रेष्ठ स्थान था। सर्वत्र उनकी प्रतिष्ठा और महत्ता थी। व्यापारी समुदाय के सम्मानित सदस्य को गहपति, कुटुम्बिक और 'सेट्ठि' का महत्त्व था। व्यापारियों में जो 'श्रेष्ठ' था वही 'सेट्ठि' (आधुनिक सेठ) था समाज और राज्य में 'सेट्ठि' का महत्त्व था। वह अपने वर्ग के साथ-साथ राज्य की सम द्धि में भी संलग्न रहता था। राजदरबार में वह अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए सम्मानित और प्रतिष्ठित सदस्य के रूप में रहता था तथा कतिपय निर्णयों में भागीदार होता था। 'राजपुट्ठान' में वह सम्मिलित होकर विचारणीय विषयों पर अपना मत व्यक्त करता था। आवश्यकता पड़ने पर किन्हीं गम्भीर समस्याओं के कारण वह दिन में अनेक बार राजा के यहाँ जाता और विचार-विमर्श करता था। व्यापारियों की समस्या का समाधान और उनके हितों की रक्षा 'सेट्ठि' ही किया करता था। जब कभी वह संसार-त्याग, यात्रा और धन-दान करने की अभिलाषा व्यक्त करता था तो उसे राजा से अनुमति प्राप्त करने की अपेक्षा होती थी। 'सेट्ठि' का पद उत्तराधिकार के अनुसार वंशानुगत होता था, जो पुत्र को पिता के मरणोपरान्त प्राप्त होता था। इस प्रकार 'सेट्ठि' अपने वर्ग और समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हुए राज्य के व्यापार संबंधी कार्यों में भी सहयोग प्रदान करता था।

बौद्ध-युग में व्यापार और वाणिज्य की यथेष्ट उन्नति हुई थी। फलस्वरूप व्यापारी वर्ग अत्यधिक सम्पत्तिशाली हो गया था। उस युग में आज की तरह कुछ ऐसे व्यापारी थे, जो अधिक लाभ की इच्छा में दो सौ से लेकर चार सौ प्रतिशत तक लाभ कमाना चाहते थे। इस प्रकार के लोगों की संख्या तत्कालीन समाज में बढ़ती गई। कतिपय सेठ 32 से लेकर 80 करोड़ तक के स्वामी होते थे। जातकों से ऐसा भी विवरण मिलता है कि कुछ व्यापारी अधिक लाभ कमाने के मोह में अनैतिक माध्यम को अपनाते हुए राज-कर्मचारियों को घूस देते थे और अधिकाधिक धन कमाते थे। एक जातक में उल्लिखित है कि एक सेठ ने 20,000 प्रतिशत लाभ प्राप्त किया था, जिसमें 1,000 कार्षापण गाड़ी पर रखने, ले जाने, रक्षकों और प्रतिहारों को घूस देने में व्यय किया था। मूल्य निश्चित करने वाले राज्य के अधिकारी भी घूस लिया करते थे।

उस समय देश में चोरों और डाकुओं की भी संख्या अधिक थी, जो व्यापारियों को समय-समय पर लूटते थे। उस युग में कहीं-कहीं पूरा गाँव-का-गाँव ही डाकुओं का होता था जिसमें प्रायः 500 तक डाकू रहा करते थे। जाने वाले व्यापारियों को वे मार्ग में लूट लेते थे। इस प्रकार के डाकू धन के साथ-साथ स्त्रियों को भी उठा ले जाते थे। कभी-कभी वे दूकानों को भी लूट लेते थे। लूट-पाट करने के लिए प्रायः वे रात में घूमा करते थे।

मौर्य-युग में व्यापार और वाणिज्य का अभूतपूर्व विकास हुआ था। कौटिल्य के अनुसार व्यापार के निमित्त बाजार में बेची जाने वाली वस्तु 'पण्य' की जाती थी तथा व्यापार की देख-भाल के लिए राज्य की ओर से जो सबसे बड़ा अधिकारी नियुक्त किया जाता था, उसे 'पण्याध्यक्ष' की संज्ञा दी गई थी। वह वाणिज्य सम्बन्धी नीतियों और व्यवस्थाओं का पूर्ण ज्ञाता होता था। व्यापार की व्यवस्था के सम्बन्ध में उसके अधिकार व्यापक और विस्त त थे। कौटिल्य का कथन है कि पण्याध्यक्ष स्थल और जल में उत्पन्न एवं स्थल-पथ और जल-पथ से आने वाली सभी वस्तुओं के मूल्य में तारतम्य रखता था, साथ ही उन वस्तुओं की लोकप्रियता और अप्रियता के आधार पर न्यूनाधिक परिमाण में उनका संग्रह करवाता था। वह कौशलपूर्वक अपने यहाँ की संग हीत वस्तु को दाम चढ़ाकर बेच देता था और बिक जाने के पश्चात् वह दाम घटा देता था। अपनी भूमि में उत्पन्न राजकीय पण्य वस्तुओं को एक ही स्थान पर बेचता था तथा अन्य देशों के उत्पादित सामानों को विभिन्न स्थानों में बेचने का प्रबन्ध करता था। इन दोनों प्रकार की वस्तुओं के क्रय-विक्रय में राजा अपनी प्रजा के लाभ का सर्वदा ध्यान रखता था। यदि प्रजा को किसी प्रकार की हानि होती थी

और राजा को लाभ होता था तो उस प्रकार लाभ के प्रकार को राजा त्याग देता था। स्वाभाविक रूप से नित्य प्राप्त होने वाली वस्तुओं की बिक्री पर वह अंकुश लगता था और उन वस्तुओं के अधिक एकत्र हो जाने का कोई कारण नहीं आने देता था। कौटिल्य के अनुसार व्यापार पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण था। व्यापारियों के अनुचित लाभ पर राज्य का अंकुश था। स्वदेशी वस्तुओं को आश्रय प्रदान करने का उत्तरदायित्व होता था। पण्य का जब कभी बहुत अधिक बाहुल्य हो जाता था तो पण्याध्यक्ष देश में कृत्रिम कमी का वातावरण बनाकर आस-पास के सभी पुण्य अपने अधिकार में करके मूल्य बढ़ा देता था। उत्पादन का मूल्य आते ही वह पुनः मूल्य गिरा देता था जिससे प्रजा को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था।

शीघ्र ही खराब हो जाने वाले माल को जल्दी बिकवाने का प्रयास किया जाता था तथा ठीके को बार-बार परिवर्तित नहीं किया जाता था। बाजार में राज्य का पण आपसी होड़ के कारण रुका रहता था तो वैदेहकों (व्यापारियों) द्वारा एक ही मूल्य पर उन्हें बेच दिया जाता था।

पण्याध्यक्ष खनिज पदार्थ, राजकीय भूमि और शिल्प-केन्द्रों से उत्पन्न वस्तुएँ तथा नमक आदि पर नियन्त्रण रखता था तथा उत्पादित वस्तुओं के विक्रय का निरीक्षण करता था। राज्य की जनता को कम-से-कम मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें, इसके लिए वह हमेशा प्रयत्नशील रहता था। राजाज्ञा प्राप्त होने पर ही व्यापारी अपना नया व्यापार कर सकता था। इसी प्रकार दूकानदार को भी दूकान खोलने के लिए राज्य से आज्ञापत्र लेना पड़ता था। स्पर्धा के कारण अगर वास्तविक मूल्य से अधिक लिया जाता था तो वह अधिक मूल्य शुल्क के साथ राजकोष में जमा करवा लिया जाता था। अतः व्यापार पर राज्य का पुर्णरूपेण अंकुश था। कोई भी व्यापारी कम या अधिक मूल्य नहीं ले सकता था। जो मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित कर दिया जाता था, वही निश्चित माना जाता था एवं उससे मूल्य ग्रहण करने वाले का माल राज्य द्वारा छीन लिया जाता था। प्रायः सभी वस्तुएँ उत्पादन-स्थान पर ही बेची जाती थीं, उसके बाहर नहीं। कौटिल्य के इस मत का समर्थन मेगस्थनीज के कथन से होता है, जिसके अनुसार बिक्री के लिए आई हुई सभी वस्तुओं का परीक्षण किया जाता था। तत्पश्चात् उन वस्तुओं को मुहर बन्द कर बाजार में बिक्री के लिए भेज दिया जाता था, जहाँ सभी वस्तुओं का मूल्य पहले से निर्धारित रहता था। मौर्य युग में पण्य-सम्बन्धी चुंगी, तौल, माप, विदेशी व्यापार आदि का निरीक्षण क्रमशः शुल्काध्यक्ष, पोताध्यक्ष और अन्तपाल किया करते थे। संस्थाध्यक्ष नामक अधिकारी वस्तुओं को गोदाम में रखने और बेचने की व्यवस्था करता था। जो व्यापारी घटिया और सारहीन वस्तु को अच्छा कहकर बेचता था, कम कीमतवाली दूसरे देश की बनी हुई वस्तु को किसी अन्य देश का बताकर बेचता था, कृत्रिम हीरा, मोती आदि रत्नों में चमक पैदा करके उन्हें बहुमूल्य रत्न के भाव पर बेचता था, घटिया सामग्री को बढ़िया में मिलाकर तथा उत्क ष्ट सामान रखनेवाली पिटारी में निकृष्ट सामग्री रखकर बेचता था, उस व्यापारी को 54 पण का दंड देना पड़ता था। अपनी इन्हीं प्रवंचनाओं और दुष्प्रव त्तियों के कारण व्यापारी चोर न होकर भी चोर कहा जाता था और राजा ऐसे वंचकों से पीड़ित जनता की रक्षा करने के लिए सदा तत्पर रहता था।

अर्थशास्त्र के वर्णन से स्पष्ट होता है कि व्यापारियों को प्रजा से अनुचित लाभ उठाने से रोकने का राज्य का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य रहता था। निश्चित किए गए मूल्य से ज्यादा मूल्य लेना अपराध माना जाता था। प्रायः यह सर्वदा ध्यान रखा जाता था कि वस्तुओं के मूल्य घट-बढ़ न सकें। इसीलिए व्यापारी के स्थान पर एक व्यक्ति बैठकर विक्रय का निरीक्षण किया करता था। कौटिल्य ने ऐसी भी व्यवस्था दी थी कि अगर सभी व्यापारी मिलकर माल को रोक लें और अनुचित मूल्य पर क्रय-विक्रय करें तो उनमें से प्रत्येक पर एक-एक हजार का पण का अर्थ-दण्ड लगा देना चाहिए।

उस समय खाद्य पदार्थों में मिलावट करने पर भी प्रतिबन्ध था तथा स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था। सुगन्धित वस्तुएँ, औषधीय द्रव्यों, तेल, घी, नमक आदि में मिलावट करने पर 12 पण का अर्थदंड दिया जाता था। किसी व्यापारी द्वारा तौल में गड़बड़ी करने पर भी राज्य की ओर से दंड की व्यवस्था थी। अपने हाथ की कला से या बटखरा बदलकर पण का अष्टमांश भी कम तौलने वाले व्यापारी को 200 पण अर्थदंड देना पड़ता था तथा इससे (अष्टमांश से) अधिक कम तौलनेवाले को और अधिक अर्थदंड देना अपेक्षित था।

महाकाव्यों से भी वाणिज्य के विकासक्रम की सूचना मिलती है। रामायण में एक स्थल पर राम ने भरत को कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य की हित-रक्षा करने के लिए सलाह दी है। महाभारत में कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य को लौकिक जीवन का आधार स्वीकार किया गया है। राज्य के निर्देशन में वाणिज्य का महत्त्वपूर्ण उत्कर्ष हुआ था। रामायण-कालीन जनपद के वणिक् व्यापार के हेतु दूर-दूर तक जाते थे। उस समय अनेकानेक वस्तुओं का उत्पादन होता था तथा उनके व्यापार के लिए व्यापारी दूर-दूर के बाजारों में जाते थे। कभी-कभी राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों के समय विभिन्न वस्तुओं के उपहार अधीनस्थ राजाओं द्वारा अपने सम्राट को प्रदान किए जाते थे। उस काल में काम्बोज, वाह्लीक और वनायु देश के अश्व तथा विन्ध्य क्षेत्र के हाथी प्रसिद्ध थे। अनेक प्रकार के रत्न भी समाज में प्रचलित थे। महाभारत के वर्णन के अनुसार पांडवों को मिलनेवाले उपहारों में पूर्वी देशों के हाथी, काम्बोज, गांधार, वाह्लीक और प्राग्ज्योतिषपुर के अश्व, पश्चिमी क्षेत्रों के ऊँट, काम्बोज के ऊनी वस्त्र, वाह्लीक और चीन के रेशमी वस्त्र, अपरान्त और पूर्वी क्षेत्र के सूती वस्त्र, प्राग्ज्योति, अपरान्त और पूर्वी क्षेत्रों के आयुत्र, पाण्ड्य और म्लेच्छ देशों के मोती तथा सिन्धु देश के शालि सम्मिलित थे। विविध खाद्य सामग्री वस्त्र, आभूषण, पशु आदि के अतिरिक्त दैनिक घरेलू वस्तुओं का भी क्रय-विक्रय हुआ करता था।

पत जलि ने भी व्यापारिक वस्तुओं के लिए 'पण्य' शब्द का प्रयोग किया है और बाजार के लिए 'आपण' का। उस समय विक्रय के लिए आई हुई वस्तुओं को 'क्रय' कहा जाता था। पण्य वस्तुओं में सभी प्रकार के खाद्यान्न, शाक, पेय, वस्त्र, सुगन्ध, अलंकार, मूर्तियाँ, माल्य, संगीत-सामग्री, राग (रंग), चर्म, पात्र, पशु, औजार, धातु-निर्मित वस्तुएँ, तुला, वाहन आदि सम्मिलित थे। वस्तु के निर्माण में जो लागत लगती थी, वह 'मूल' कही जाती थी और उसके (मूल के) अतिरिक्त जो प्राप्त होता वह लाभ।

गुप्तयुगीन आंतरिक व्यापार 'श्रेष्ठि' और 'सार्थवाह' के माध्यम से व्यवस्थित होता था। विभिन्न वस्तुएँ क्रय और विक्रय की जाती थीं तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाई जाती थीं। ऐसे व्यापारी जो अपनी वस्तुओं को घोड़ों, बैलों या अन्य पशुओं अथवा रथों पर लादकर समूह में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पैदल जाते-आते थे तथा क्रय-विक्रय करते थे, 'सार्थ' कहलाते थे और उन व्यापारियों के नेता को 'सार्थवाह' के नाम से जाना जाता था, जो व्यापारियों के समूह को नेत त्व प्रदान करता था। 'सार्थ' में सम्मिलित होकर चलने वाले व्यापारियों के बीच पारस्परिक समझौता होता था तथा हानि-लाभ के लिए सभी समान रूप से भागीदार होते थे और नियमों के अनुसार बँधे रहते थे। साथ में पाँच प्रकार के लोग होते थे—(1) मंडी-सार्थ, (व्यापारिक सामान और माल लादकर सम्मिलित होने वाले व्यापारी), (2) 'वह् लिका' (घोड़े, बैल, ऊँट आदि वाहन) (3) भारवाह (माल ढोने वाले लोग), (4) औदारिका (आजीविका के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाले लोग) और (5) कार्पटिक (साधु और भिक्षु)। रघुवंश में बाजार को 'विपणि' की संज्ञा दी गई थी, जहां क्रय-विक्रय के लिए अनेकानेक वस्तुएँ इकट्ठी होती थी। लोहे को तपाकर अनेक वस्तुएँ बनाई जाती थीं, जिनकी मांग समाज में लगातार हुआ करती थी। अनेक प्रकार के अस्त्र भी बिकते थे। इन अस्त्रों को उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति जैसे अनेक अखिलेखों और साहित्यों में हुआ है। पण्यवीथी

(सड़क) के दोनों ओर दुकानें रहा करती थीं, जिनमें समाज के उपयोग की विविध वस्तुएँ रहा करती थीं। अमरकोश में सड़क के दोनों ओर की दूकानों का उल्लेख हुआ है। भीटा के उत्खनन में जो अवशेष मिले हैं, उनमें सड़कें हैं, जिनके दोनों ओर दुकानें हैं। रघुवंश में विवरण है कि अयोध्या के बाजारों के लोग विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे और तत्पश्चात् नावों से सरयू के उस पार जाते थे अथवा नदी के किनारे-किनारे जाते थे।

पूर्वमध्य युग में व्यापार का विस्तार उतना नहीं हुआ जितना कि पूर्ववर्ती काल में हुआ व्यक्ति की आवश्यकताओं की विभिन्न वस्तुएँ उत्पादित की जाती थीं, जिन्हें बाजारों और हाटों में लाकर बेचा जाता था। श्वानच्वांग ने समकालीन भारतीय व्यापार और वाणिज्य का चित्रण किया है। उसके समय में भारतीय व्यापार अत्यन्त विकसित था। दूर-दूर के व्यापारी नगरों में आकर क्रय-विक्रय करते थे तथा वे अपने माल सुदूर प्रदेशों तक भेजते थे। उस समय भी भिन्न-भिन्न व्यापारिक संगठन थे जो व्यापारियों के हित के कार्य किया करते थे। उस समय के लेखों से हट्टपति, शौल्किक, तारिक आदि विभिन्न राज-पदााधिकारियों का संकेत मिलता है। हट्ट (बाजार) में विभिन्न स्थान के व्यापारी आकर इकट्ठे होते थे, जहाँ मार्ग के दोनों ओर दूकानें होती थीं, विभिन्न वस्तुएँ सजाकर रखी रहती थीं और वहाँ क्रय-विक्रय का सिलसिला बना रहता था। अनेक पशु भी विक्रय हेतु नगरों में लाए जाते थे। मछुए मछलियाँ पकड़ते थे, जिनको बाजार में लाकर बेचते थे। कश्मीर और सिन्ध के लोग घोड़ों और गायों का व्यापार करते थे। हाथी कामरूप और कलिंग के जंगलों से पकड़कर लाये जाते थे। दामोदरपुर-ताम्रपत्र में उल्लिखित है कि बाजार के निमित्त भूमि का क्रय किया गया था। 'हट्ट' पर लगने वाला कर 'हट्टिका' कहा जाता था। प्रायः वैश्य वर्ण के लोग ही विभिन्न वस्तुओं के व्यापार के लिए नगरों आदि के बाजार में सम्मिलित होते थे। श्वानच्वांग ने लिखा है कि नगर में सड़कों के दोनों ओर दूकानें रहती थी, जहाँ लोग अपने आवश्यकतानुसार वस्तुओं की खरीद-बिक्री करते थे। थानेश्वर आदि विभिन्न नगरों के व्यापारी दूसरे देशों के सामान एकत्र कर बेचते थे। बसध्स के अनुसार भी थानेश्वर नगरी अपनी विशिष्टता के लिए प्रसिद्ध थी। वह लिखता है कि थानेश्वर नगरी 'अर्थियों के लिए चिन्तामणि भूमि' और 'व्यापारियों के लिए काल की भूमि थी।' थानेश्वर की प्रसिद्धि का प्रधान कारण उसका व्यापारिक केन्द्र होना भी था। उसकी सम द्धि का उल्लेख श्वानच्वांग ने भी किया है। वहाँ के निवासी अधिकतर व्यापारी थे, जो विभिन्न वस्तुओं का व्यापार करते थे। मथुरा के स्निग्ध और घारीयुक्त वस्त्रों की माँग सर्वत्र होती थी। वाराणसी के लोग व्यापार के कारण ही अत्यधिक धनी थे तथा उनके निवास बहुमूल्य पदार्थों से भरे रहते थे। कान्यकुब्ज जनपद तो दुर्लभ वस्तुओं के लिए प्रख्यात था, जो दूरवर्ती प्रदेशों के व्यापारियों से क्रय किए जाते थे। अयोध्या-निवासी विविध शिल्पों में अग्रणी थे।

मेधातिथि के अनुसार वैश्य लोग अन्तर्देशीय व्यापार में लगे हुए थे। उसके अनुसार वैश्य को विभिन्न पदार्थों के लिए प्रसिद्ध प्रदेशों, उनकी संस्कृति तथा भाषा से परिचित होना जरूरी था ताकि उनके साथ व्यपार में कोई दिक्कत न आए। प्रारम्भिक मध्यकालीन आए लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार के लिए दूर-दूर के व्यापारी एक दूसरे स्थान पर आते-जाते थे जैसे पेहोआ अभिलेख के अनुसार देश के विभिन्न स्थानों के अश्व व्यापारी अश्वों के क्रय-विक्रय के लिए वहाँ इकट्ठा होते थे।

अतः स्पष्ट है कि कांस्ययुग से ही लोग अपनी कच्चे तथा तैयार माल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आस-पड़ोस के इलाकों क्षेत्रों पर ही नहीं वरन् दूर-दराज के इलाकों से भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए हुए थे। व्यापार बिना किसी व्यवधान के सुचारू रूप से चले इसके लिए प्राचीन कानून नेताओं ने अनेकों नियम व कानून बनाए जिनमें से अधिकतर आन्तरिक व्यापार को सुचारू रूप से संचालित (regulate) करने से सम्बन्धित थे। कानूनवेत्ताओं ने किस वाणिज्य वस्तु

पर कितना लाभ लिया जाए, कौन-कौन से और किस दर से टैक्स वसूले जाए तथा ब्याज की दर क्या हो आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट नियम बनाए गए। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित वित्तीय प्रशासन प्रणाली ही सम्पूर्ण प्राचीन काल में कम-से-कम सैद्धान्तिक तौर पर, प्रचलित रही और इसमें किए गए प्रावधान व नियमों पर ही प्रारम्भिक मध्यकाल तक व्यापार प्रारम्भिक मध्यकाल तक व्यापार प्रबन्धित होता रहा जैसे-

याज्ञवल्य के अनुसार राजा घरेलू सामान पर 5% का तथा विदेशी सामान पर 10% का (यदि वस्तु उसी दिन बेची जा रही हो) विक्रयकर्ता का लाभ-स्वीकार करते हुए वाणिज्य वस्तु की कीमत तय करेगा। कीमत तय करते समय वह विक्रय तथा क्रयकर्ता दोनों के हितों का ख्याल रखेगा। मनु भी इसी प्रकार की बात करता है और आगे कहता है कि राजा को कम-से-कम पंद्रह दिन में निर्धारित वस्तुओं की निर्धारित कीमत उनका नाप-तौल तथा उन पर लगाया गया निशान (Mark) आदि की जाँच कर लेनी चाहिए तथा मिलावट कम तौल-नाप या ज्यादा कीमत लेने पर ऐसे व्यापारी पर भारी जुर्माना लगाना चाहिए।

इस प्रकार के नियम बनाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार पर राज्य प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखना चाहता था। इस प्रकार के हस्तक्षेप के लिए राज्य को ईमानदार तथा कुशल अधिकारियों की आवश्यकता थी। ये अधिकारी ईमानदारी से काम करते रहे इसके लिए कानूनवेत्ताओं ने उन पर भी नजर रखने का प्रावधान किया है।

ब्याज देने का धन्धा तथा व्यापार आमतौर से वैश्य का ही कार्य स्म तिकारों ने बताया है (Manu) और केवल आपत्तिकाल स्थिति में ही वाणिज्य का धन्धा एक ब्राह्मण अपना सकता था। विभिन्न धन्धे विभिन्न जातियों के साथ जोड़ने के साथ-साथ बड़े आश्चर्य की बात है कि स्म तिकार व्यापार वाणिज्य में धन्धे को अच्छी नजरों से नहीं देखते थे। उनके अनुसार व्यापार व वाणिज्य झूठ तथा सच का मिश्रित खेल है। हॉलाकि चाहे प्राचीन रोम हो या ग्रीस या फिर प्राचीन भारत, ये भली भाँति जानते थे कि साम्राज्य की व द्धि तथा विकास व्यापार के बिना संभव नहीं क्योंकि व्यापार वाणिज्य से ही ज्यादा-से-ज्यादा धन अर्जित किया जा सकता है इसीलिए धीरे-धीरे प्राचीन स्म तिकारों ने अन्य वर्णों के लिए भले ही विशेष परिस्थितियों में, भी व्यापार की अनुमति प्रदान की।

(ख) विदेशी व्यापार
Foreign Trade

भौगोलिक द ष्टि से भारत संसार के अन्य देशों से अलग-थलग होने के बावजूद भी प्रागैतिहासिक काल से ही संसार के विभिन्न देशों के साथ व्यापारिक द ष्टि से जुड़ा रहा है। भौगोलिक बाधाऐं देशीय तथा विदेशी व्यपारियों के आवागमन को रोकने में असमर्थ रही है। भारतीय बन्दरगाहों और दर्रों ने प्राचीन भारत को दूसरे देशों से सैदव जोड़े रखा है।

पुरातात्त्विक अन्वेषण में सिन्धु घाटी के स्थलों से रेखित कार्नोनिलयन मनके, विशेष प्रकार की सोल (मुद्राएं मुहरे), सोल तथा सेलखड़ी के के विभिन्न प्रकार म दभांड आदि का मिलना हड़प्पा सभ्यता के सुमेर, एलम ऐनतेलिय क्रीट तथा मिस्त्र देशों से व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि करता है। हड़प्पा सभ्यता के विभिन्न स्थलों से सूती वस्त्र व कपास का पश्चिमी ऐशियाई देशों के साथ आयात के बहुत से साक्ष्य है। यह व्यापार जल और थल दोनों मार्गों से होता था। मिस्त्र की ममी को भारत से आए मलमल के वस्त्र में लपेट कर भारत से आई नीम और ईमली के लकड़ी के साथ दफनाया जाना, राजा सोलोमन का सोने के लिए ऑफिर (भारत) पर आक्रमण करना, अर के चन्द्रमा मन्दिर में प्रयोग होने वाली लकड़ी का भारत से आना आदि अनेकों कहानियां प्रचलित है जो भारत के

विदेशों से व्यापारिक सम्बन्धों की पुष्टि करते हैं।

इसी प्रकार वैदिक साहित्य के काल से ही हमें विदेशी व्यापार के साहत्यिक प्रमाण भी मिलने आरम्भ हो जाते हैं। जातकों में हमें भारतीय व्यापारियों के बावेस देश में कौओं तथा मोरों का ले जाने सम्बन्धित अनेक कथाएँ मिलती है जो भारत और बेबिलोन के बीच व्यापारिक सम्बन्धों को इंगित करता है। पश्चिमी एशियाई देशों में चावल, मोर तथा चंदन का तमिल नामों से जाने जाना (अरीसि, टोकेय, अघिल) इस बात की पुष्टि करते हैं कि पाँचवी शताब्दी ई०पू० में इन क्षेत्रों का दक्षिण भारत में सात समुद्र द्वारा व्यापार होता था। पंडर जातक के अनुसार जब 500 यात्री समुद्र यात्रा कर रहे थे तब 17 दिन की यात्रा करने के बाद दुर्घटना हो गई जिसमें सभी यात्री डूब कर मर गए। (हड़प्पाकालीन, बुद्धकालीन और मोर्यकालीन व्यापार का विस्त त विवरण पहले दिया जा चुका है।)

रोम के साथ व्यापार

ऐतिहासिक काल तक भारत का पश्चिमी देशों के साथ व्यापार की सघनता नापना तो संभव नहीं है परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यूनानी और अन्य विदेशी आक्रमणकारियों के भारत आने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में काफी व द्धि हुई। मौर्यो ने यातायात के साधनों तथा मार्गों को विकसित कर निःसंदेह व्यापार की व द्धि का मार्ग प्रशस्त किया जिस कारण विदेशी तथा देशीय व्यापार पूर्ण व क्ष का रूप मौर्योत्तर काल में धारण किया। व्यापारिक मार्ग पाटलिपुत्र को तक्षशिला से जोड़ने वाला मार्ग मौर्यों की ही देन था। स्थल मार्ग से पाटलिपुत्र ताम्रलिप्ति से जुड़ा था, जो वर्मा एवं श्रीलंका के जहाजों के लिए प्रमुख बंदरगाह था। दक्षिण भारत के स्थल मार्गों का विकास मौर्या के पश्चात् हुआ। ये मार्ग नदी घाटियों के साथ-साथ या तटीय प्रदेश में या पर्वतीय दर्रों में विकसित किए गए। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भाग अब उन व्यापारिक मार्गों से जुड़ गए थे जिनमें से कुछ मध्य एशिया एवं पश्चिम एशिया को जाते थे। एक स्थल मार्ग द्वारा तक्षशिला काबुल से जुड़ गया था, जहाँ से विभिन्न दिशाओं को मार्ग जाते थे। उत्तरवर्ती मार्ग बैक्ट्रिया से होकर कैस्पियन सागर होता हुआ कृष्ण सागर को जाता था। एक मार्ग कंधार से हेरात होकर ईरान जाता था। यहाँ से व्यापारी स्थल मार्ग से पूर्वी भूमध्य सागर तक जाते थे।

उत्तरपश्चिम भारत की इंडोग्रीक, कुषाण एवं शक विजयों द्वारा पश्चिमी एवं मध्य एशिया में घनिष्ठ संबंध स्थापित हुए। मध्य एशिया से वह व्यापारिक मार्ग गुजरता था जो चीन को रोमन साम्राज्य के पश्चिमी प्रांतों से जोड़ता था। जिसे 'सिल्क मार्ग' कहा जाता था, क्योंकि चीन से होने वाला रेशम का समस्त व्यापार अधिकतर इसी मार्ग से होता था। इस चीनी रेशम-व्यापार में भारतीय व्यापारियों ने बिचौलिए (मध्यस्थ) के रूप में भाग लेना प्रारंभ किया। इन प्रदेशों से होकर जाने वाले व्यापार में अधिकतर उत्तर-पश्चिम के व्यापारी भाग लेते थे। पश्चिमी एवं दक्षिण भारत के व्यापारी दक्षिण अरब, लाल सागर तथा ऐलेक्ज़ेन्ड्रिया के क्षेत्रों से जुड़े हुए थे। रोमन साम्राज्य के एक सर्वशक्तिमान साम्राज्य के रूप में उदय होने से ई०पू० प्रथम शती से भारतीय व्यापार को काफ़ी प्रोत्साहन मिला क्योंकि इस साम्राज्य का पूर्वी भाग भारत में निर्धन विलासिता के बने सामान का शौकीन एक बड़ा ग्राहक बन गया।

भारत से पश्चिमी एशिया जाने वाले समुन्द्री मार्ग काफी जोखिम पूर्ण, लम्बा तथा महंगा था इसलिए शुरू-शुरू में ऐसा लगता है कि व्यापार ज्यादातर स्थल मार्ग से होता था परन्तु पहली शताब्दी ई० पूर्व में शक और पहलवों के संघर्षो के कारण स्थल मार्ग की कठिनाईयाँ काफी बढ़ गई। इनसे बचने के लिए आगस्तस को समुद्री रास्तों की रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ा। फिर 46 ई० के लगभग हिप्पालस नामक ग्रीक नाविक द्वारा की गई मानसून की खोज से भी समुद्री व्यापार को काफी

प्रोत्साहन मिला इसने अरबसागर में चलने वाली मानसून हवाओं की जानकारी दी जिससे अब अरबसागर से यात्रा की जा सकती थी और मिस्त्र और भारत के बीच आने वाले जहाज जो पहले पहुँचने में एक वर्ष लगाते थे अब तीन महीनें में ही पचुँचने लगे। इस प्रकार भारत एवम् पश्चिमी एशिया की बन्दरगाहों के बीच समय में इजाफे के साथ-साथ लागत खर्चे में भी काफी कमी आई।

वाणिज्य वस्तुएं

ईसवी सन् की पहली शताब्दी में एक ग्रीक नाविक ने अपनी पेरीप्लस ऑफ दि एरिथ्रियन सी (Periplus of the Earthean sea) नामक पुस्तक में भारत द्वारा रोमन साम्रान्य को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का विवरण दिया है जिनमें प्रमुख है मोती, हाथी दाँत, सूती वस्त्र, डायमंड, मसाले बहुमूल्य प्रस्तर, कछुए का खोल (Tortoise shell) केसर आदि भारतीय व्यापारी चीन से रेशम खरीदकर रोमन व्यपारियों तक पहुँचाते थे। और यहाँ भारतीय बहुत ही महत्त्वपूर्ण बिचौलिए (Middle man) कार्य कर रहे थे। रोमन साम्राज्य की मसालों की आवश्यकता दक्षिण भारत पूर्ण करता था। मसालों की रोमन साम्राज्य में इतनी माँग थी कि उनकी माँग केवल भारत से पूर्ण नहीं हो पाती अतः इसमें आपूर्ति के लिए भारतीय व्यापारी ने दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर रूख किया और वहाँ से मसाले आयात करने लगे। इस आयात के बदले रोमवासी भारत को सुराहीनुमा मदिरा-पात्रों (emphora) लाल चमकीले ऐरेटाईट म द्भांडों का निर्यात करते थे। इसकी पुष्टि ऐरिकामेडू की खुदाई से प्राप्त हुई वस्तुओं से हो जाती है। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि अपने निर्यात के प्रतिदिन में रोम से भारत में अन्य सामान के अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में सोने चाँदी के सिक्के भरत में आते थे। व्हीलर (Wheeler) खुदाई के दौरान इस प्रायद्वीप में विभिन्न स्थलों की खुदाई के दौरान पहली सदी ईसवी के रोमन सिक्कों के अरसठ (68) संग्रह मिले हैं और इनमें से लगभग सत्तावन (57) संग्रह विध्य पर्वतमाला के दक्षिणी भाग में मिले हैं। अब तक रोमन सिक्कों के एक सौ उनतालीस (139) संग्रह मिल चुके हैं जिनमें से अधिकतर भारत में है। यही कारण है कि प्लिनी ने बार-बार चिन्ता व्यक्त की है कि रोम का सोना बहकर भारत जा रहा है। उसके अनुसार रोम के लोग भारतीय सामान को बहुत चाहते है, वे अपार धन व्यय करके भारतीय वस्तुएँ खरीदते हैं। शायद ही ऐसा कोई वर्ष हो जब भारतीय व्यापारी रोम से कम-से-कम साढ़े पाँच करोड़ (55000000) से स्तर न प्राप्त कर लेते हो। प्रसाधन सम्बन्धी भारतीय सामग्री तथा भारतीय महीन कपड़े पहनकर रोम की उच्चवर्ग की महिलाएँ सार्वजनिक स्थानों पर इठलाती हुई चलती थी। यही कारण है कि रोम के सिनेट को भारतीय वस्तुओं जैसे रेशम, छुरी, काँटा, चाकू तथा ऐसी अनेकों वस्तुओं पर पाबंदी लगानी पड़ी।

प्राचीन भारत में भिन्न-भिन्न प्रदेश भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध थे जैसे काश्मीर, कोसल, विदर्भ और मलिंग हीरों के लिए, मगध व क्षों के रेशों से बने वस्त्रों के लिए, बंगाल मलमल के लिए प्रसिद्ध थे। काश्मीर और उज्जयनी से लाई गई अनेक वस्तुए भड़ौंच के बन्दरगाहों से पश्चिमी देशों को भेजी जाती थी। सोपारा और कल्याण भी पश्चिमी तट पर प्रसिद्ध नगर थे। प्रतिष्ठान नगर भी व्यापार का केन्द्र था। तक्षशिला में पश्चिमी देशों से बहुत सी वस्तुएँ लाई जाती थी।

अतः जैसा कि सेवेल ने कहा है कि दोनों के बीच यह व्यापारिक सम्बन्ध पहली सदी ईसवीं से तीसरी सदी ईसवी तक अपनी चरम पराकाष्ठा पर था। परन्तु इसके पश्चात् कई कारणों से भारत रोम व्यपार का_हास हो गया और अब भारत ने रोम के स्थान पर दक्षिणपूर्वी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों को तवज्जों दी और इस प्रकार दक्षिण पूर्वी देश भारतीय व्यापारियों के व्यापार का केन्द्र बने।

दक्षिण पूर्व देशों से व्यापारिक सम्बन्ध
(Trade relations with South-East Asia)

रोम साम्राज्य की मसालों की माँग ने भारतीय व्यापारियों को भारत के अतिरिक्त मसालों के उत्पादन करने वाले अन्य देशों की खोज करने पर मजबूर कर दिया क्योंकि रोम जो कि भारत के लिए सोने का अंडा देने वाली मुर्गी थी अतः वे किसी भी सूरत में इसे किसी ऐसे अन्य देश के साथ सीधे सम्पर्क में नहीं आने देना चाहते थे इसी खोज के फलस्वरूप भारतीय व्यापारियों ने दक्षिण पूर्वी देशों की ओर रूख किया तथा मलाया, जावा, सुमात्रा तथा बौर्नियों आदि देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए तथा इन देशों और रोम साम्राज्य के बीच बिचौलिये (Middle men) काम करने लगे और धीरे-धीरे भारतीयों के इन देशों में बस जाने से व्यापारी सबसे प्रभावशाली ग्रुप था हालाँकि मगध और कलिंग के व्यापारी भी महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे थे। ऐतिहासिक काल के प्रारम्भिक चरण में भारतीयो ने अपना व्यापार श्री लंका, वर्मा, तथा पूर्वी तटीय प्रदेशों के साथ स्थापित किया फिर दक्षिण पूर्व एशिया के अन्य देशों के साथ। दक्षिण पूर्व एशिया के देश कृषि उत्पादन तथा खनिज पदार्थों में बहुत ही सम द्ध है इसीलिए यह क्षेत्र स्वर्णभूमि (The land of Gold) के नाम से जाना जाता है। मिलिन्दपन्हों के अनुसार भारतीय व्यापारी सुवर्णभूमि में जाते थे और विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे।

दक्षिण-पूर्व एशिया
(South-East Asia)

बर्मा
Burma

समकालीन स्त्रोतों से स्पष्ट है कि बर्मा से व्यापारिक मार्ग गुजरता था जो कि चीन के यूनान (Yunnan) प्रान्त को भारत के उत्तर-पूर्व हिस्से से जोड़ता था। कुछ विद्वानों के अनुसार यह व्यापारिक मार्ग ईसा पूर्व की अन्तिम शताब्दियों से ही प्रयोग में था। परन्तु जैसा कि G.L. Adhey कहते हैं कि यह कहना कठिन है कि उस समय बर्मा व भारत के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान थे या नहीं क्योंकि ईसा की पाँचवी शताब्दी तक भारत बर्मा के सम्बन्धों का ज्ञान केवल किंवदंतियों से ही होता है। वर्मी साहित्य (chronicle) के अनुसार कपिलवस्तु के शाक्य राजकुमार ने वर्मा के ऊपरी हिस्से में Prehistonic काल में एक राज्य स्थापित किया और कई वंशावलियों तक राज्य किया बर्मा पुरातात्त्विक विभाग के अनुसार 5-6 शताब्दी के कुछ अभिलेख मिले है जो कि इंडों-बर्मा सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं। हॉल (Hall) के अनुसार किंवदंतियों के आधार पर कहा जा सकता है कि बर्मा के निचले भाग (Lower Burma) में भारतीय प्रभाव समुद्र के रास्ते आया। अतः इन स्त्रोतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इंडो-बर्मा के बीच, प्राचीन काल में व्यपारिक सम्बन्ध जल व थल दोनों रास्तों से ही स्थापित हुए।

मलाया
Malaya

वायुपुराण (गुप्तकाल) के अनुसार मलायाद्वीप जम्बूद्वीप का अंग ही था। वायुपुराण के अनुसार मलयद्वीप में पहाड़ व नदियाँ हैं तथा यहाँ पर मलेच्छ रहते हैं। यह एक अमीर देश है जहाँ सोने व चाँदी की खाने हैं तथा कीमती पत्थर व चन्दन मलाया में मिलता है अतः पुराणों का यह वर्णन मलाया तथा इंडोनेशिया के कुछ स्थानों का सही चित्रण करता है। कुछ इतिहासकार मलयद्वीप

को सुमात्रा से जोड़ते (denstity) हैं। टालमी का (गोल्डन खरोसनीज) (Golden Khersonese) भी संभवतः मलाया से ही था।

जैसा कि जी. एल. आधेय ने कहा है संभवतः व्यापारी वर्ग हिन्द महासागर, इंडोचीन मुख्य क्षेत्र (Main land) तथा दक्षिणी चीन में समुद्र के बीच मलाया का छोटा मुख्य रास्ता था। ल्यांग-शु (Long shu) के अनुसार भारत व Tun sun (तुन सुन) के बीच व्यापार चल रहा था। (Tun Sun) तुन सुन से अभिप्राय सम्भवतः, मलाया के इंसथमिया (Isthemia) के हिस्से से था। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भारत के मलाया से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित थे।

इंडोनेशिया
Indonesia

रामायण में चन्दन की लकड़ी का वर्णन है जो किस ऋषभ (Rsabha) पर्वत से आती थी। लेवी (Levi) के अनुसार यह पर्वत पूर्वी इंडोनेशिया में स्थित था। कालिदास (500AD) लौंग का वर्णन करते है जो कि दर्वोपान्तर से लाई जाती थी। रामचंद्र दीक्षितर (R.diphshitar) के अनुसार दवीपान्तर से लाई जाती थी। रामचन्द्र दीक्षितर (R. Dikshitar) के अनुसार दवीपान्तर सुमात्रा का क्षेत्र रहा होगा। लौंग जो कि भारत में पैदा नहीं होती थी, की दवा के रूप में महत्त्व था। सन् 200 A.D. के लगभग चरक संहिता में चरक ने वर्णन किया है। अतः इससे स्पष्ट है कि प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी के आस-पास इंडोनेशिया से लौंग का आयात किया जाता रहा होगा। बहुत सी चीनी स्त्रोतों से भी इंडोनेशिया की इस बात की पुष्टि हो जाती है प्राचीन काल में भी इंडोनेशिया pepper producing काली लोंग उत्पाद के देश के रूप में जाना जाता रहा है।

फूनान एवम् चम्पा
Fu-Nan and Champa

फूनान (Fu-nan) तथा चम्पा क्षेत्र से अभिप्राय अन्दाजन दक्षिण वियतनाम के क्षेत्र से है। इन क्षेत्रों में प्रचलित किंवदंतियों में बहुत सी प्राचीन भारतीय परम्पराओं की झलक मिलती है जो भारत व इस क्षेत्र के सम्बन्धों की पुष्टि कर देती है। तीसरी शताब्दी के एक Funan में एक चीनी डिप्लोमेट के अनुसार एक व्यापारिक जहाज से आकस्मिक मलाया का एक ब्राह्मण फूनान (Funan) पहुँच गया। एक अन्य स्त्रोत के अनुसार लगभग तीसरी शताब्दी के प्रथम चरण में एक फूनान (Funan) तथा उत्तरी भरत के मुसंड शासक में आपस में राजदूतों का आदान-प्रदान किया गया। और फूनान के शासक को भारतीय शासकों ने घोड़े उपहार के रूप में भेजे।

पुरातात्त्विक प्रमाणों से और स्पष्ट हो जाता है कि भारत व फूनान Fu-nan में व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल में ही प्रारम्भ हो गए थे। व्यापारिक शहर ओक. ओ (OC-EO) की खुदाई से स्पष्ट हो जाता है कि ईसा कि प्रथम शताब्दी में यह शहर व्यापार व उद्योगों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। बहुत से कीमती पत्थर जो कि भारत से पश्चिमी देशों को निर्यात किए जाते थे यहाँ प्राप्त हुए है। यहाँ से प्राप्त गहनों पर भी भारतीय या रोमन प्रभाव स्पष्ट दिखता है। ओक ओ (OC-EO) का भारत के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है इसकी पुष्टि अभिलेखीय प्रमाणों (Epigraphic evidences) से भी हो जाती है।

श्याम से अमरावती style की बुद्ध की प्रतिमा की प्राप्ति दक्षिण पूर्वी देशों के साथ भारतीय व्यापारिक सम्बन्धों की ओर पुष्टि करती है। चम्पा की प्रारम्भिक कथाओं में रामायण को स्थानीय लोगों द्वारा अपनाना आदि सब भारत के साथ इनके गहरे सम्बन्धों को इंगित करता है।

यद्यपि हमें भारत के दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का प्रत्यक्ष विवरण नहीं

मिलता। परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि बहुत प्राचीन काल, ईसा की प्रथम शताब्दियों से ही भारत इन दोनों क्षेत्रों में गहन सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे जिसके परिणामस्वरूप चीजों का आदान-प्रदान अर्थात् इनके व्यापारिक सम्बन्ध होना भी स्वाभाविक है। जैसा कि G.L. Ahay ने कहा है कि पाँचवी शताब्दी से इन दोनों क्षेत्रों में व्यापार बहुत अधिक मात्रा में होने लगा।

मध्य एशिया, चीन और भारत

जहाँ तक भारत के मध्य एशिया व चीन के साथ सम्बन्धों का प्रश्न है वे पश्चिमी एशिया के देशों के पश्चात् प्रारम्भ हुए। इसका कारण जैसा कि जी.एल.आधेय (G.L. Adhey) का मत है इस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति है यद्यपि द्वितीय शताब्दी ई.पू. (200 B.C) के कुछ कॉसमोलोजी (cosmologies) में मध्य एशिया के कुछ प्रदेशों जैसे गोदान (खोतान), पारद आदि कुछ स्थानों का वर्णन मिलता है जिससे हम अन्दाजा यह लगा सकते हैं कि चीन व मध्य एशिया के कुछ हिस्सों से भारतीय काफी समय पूर्व ही परिचित थे परन्तु जैसा लगता है कि ट्रॉस हिमालयन देशों और भारत में नियमित सम्बन्ध उत्तरी भारत के हिस्सों पर ग्रीको बैथ्क्ट्रयंस के अधिकार होने के पश्चात् ही बढ़े। उत्तर पश्चिमी भारत और पश्चिमी चीन से निकलने वाले व्यापारिक मार्ग बैक्ट्रिया में आकर मिलते थे। इसीलिए यहाँ पर सम्भवतः प्रथम बार भारतीय चीन और मध्य एशिया के लोग आपस में सम्पर्क में आए। क्योंकि भारतीय मध्य एशिया तथा चीनी सभा का पश्चिमी देशों से व्यपारिक सम्बन्ध स्थापित करने में समान दिलचस्पी थी। चांग किन (Chang Xien) की चीनी प्रशासक वू ली (Wu-Li) को पेश की गई रिपोर्ट प्रथम स्त्रोत है जिससे कि भारतीय व बाक्ट्रेया के व्यपारिक सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है भारत एवम् मध्य एशिया के साथ सम्बन्धों की पुष्टि महाकाव्यों से भी हो जाती है। जिसमें कि कच्छ के लोगों का समरकन्द तथा बैक्ट्रिया आदि का वर्णन है।

ई०पू० दूसरी-पहली शताब्दी से पूर्वी देशों के साथ-साथ चीन के साथ भी भारत के व्यापारिक सम्बन्ध बढ़े। बैक्ट्रिया में रहने वाले चीनी राजदूत ने वहाँ के बाजार में चीन के बाँस और वस्त्र बिकते थे। पूछने पर उसे पता लगा कि ये वस्तुएँ भारतीय व्यापारियों ने अफगानिस्तान के रास्ते वहां पहुचाई थी चीन और भारत का राजनीतिक के साथ-साथ व्यपारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना था। चीन की ईसवी पू. दूसरी सदी की मुद्रा मैसूर से मिली है जो भारत और चीन के साथ सम्बन्धों की पुष्टि करती है। भारत में चीन से आने वाला 'चीनांशुक' नामक कौशेय वस्त्र बहुत पहले से ही भारत के विभिन्न नगरों में लाकर बेचा जाता था। कालिदास ने अपने ग्रंथों में इस वस्त्र का वर्णन किया है। इसी प्रकार से चीन से आने वाले टीन को 'चीनपट्ट' और लोहे को 'चीन' कहा जाता था। इनके अतिरिक्त चाँदी तथा सोने जैसे धातु भी चीन से भारत में आयात किए जाते थे। जल्दी ही भारत की मलमल (Muslin) तथा चीन की रेशम ने अन्तर्राष्ट्रीय बाजार पर आधिपत्य जमा किया। चीन सम्पूर्ण विश्व की रेशम की माँग को पूरा करता था जिसमें कभी-कभी भारतीय व्यापारी भी बिचौलिए (दलाल) का काम करते थे। मध्य एशिया की घाटियों में से व्यापारिक मार्गों ने मध्य एशिया को भी व्यपार का केन्द्र बना दिया इनमें से एक मार्ग तो 'रेशम मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भारतीय व्यापारियों ने मध्य एशिया के अनेक शहरों जैसे यारकन्द, मिरान, कूची, कारगर, तुरफान में न केवल व्यापारिक केन्द्र बनाए बल्कि व्यापारिक बस्तियाँ भी बसाई। इससे चीन मध्य एशिया के साथ भी व्यापारिक मार्ग से जुड़ गया।

चीनी यात्री यवानच्चांग के अनुसार पश्चिम में कपिसा एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था, जहाँ भारत के विभिन्न भागों से विभिन्न वस्तुएँ आती थी, जो ईरान से होती हुई यूरोप तक जाती थी। इसी प्रकार पूरब में ताम्रलिप्ति प्रसिद्ध बन्दरगाह था जिसके द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों के लिए विभिन्न वस्तुएँ भेजी जाती थी। उड़ीसा के विषय में यवानच्चांग लिखता है कि भारत की

दक्षिण-पूर्व सीमा पर समुद्र के निकट चरित्र नामक नगर था जहाँ से सुदूर देशों तक भारतीय जाते थे और अन्य देशों से व्यापारी वहाँ आकर ठहरते थे। हर्ष की सेना में एशिया, वन्यकम्बोज और सिन्धु के घोड़े थे। प्राचीन काल में भारतीय वस्तुओं की विदेशों में हमेशा माँग रही है। कागज, मसाले, कपूर, विभिन्न प्रकार के महीन वस्त्र, गोमेद, हीरा, पद्मराग आदि विभिन्न रत्न, प्रसाधन-सामग्री, धातु के कलात्मक बर्तन आदि विदेशों को भेजे जाते थे तथा विदेशों से चीनांशुक जैसे वस्त्र, अश्व, मदिरा, स्वर्ण और रजत मुद्राएँ भारत में प्राप्त की जाती थीं।

हेमचन्द्र ने लिखा है कि अरब (वनायु) के घोड़ों का निर्यात भारत के लिए किया जाता था। अरब लेखक अलमसूदी का कथन है कि हाथी दाँत जन्ज (जन्जीबार) से ओमन लाया जाता था और वहाँ से भारत तथा चीन भेजा जाता था। पर्सिया से भारत के लिए रंग (कृमिराग या किरमदन) लाया जाता था। नवीं सदी के एक अरब यात्री ने लिखा है कि सैराफ के जहाज लालसागर होकर मिस्र नहीं जाते बल्कि वे जद्दा से लौटकर भारत चले जाते हैं, क्योंकि भारत और चीन के समुद्र में मोती और अम्बर होते हैं, पहाड़ों में रत्नों और सोने की खानें हैं, वहाँ हाथी दाँत हैं, पैदावार में आबनूस, वेत, जत, कपूर, लौंग, जायफल, बक्कम, चन्दन, अनेकानेक सुगन्धित द्रव्य होते हैं। तोते और मोर जैसे पक्षी हैं तथा वहाँ की भूमि से मुश्क या कस्तूरी मिलती है। भारत से अरब जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख इब्न खुर्दाज्बा ने किया है, जिसके अनुसार चन्दन, कपूर, लौंग, जायफल, कबाब-चीनी, नारियल, सन के कपड़े, रूई के मखमली कपड़े, हाथी-दाँत, लाल, मोती, बिल्लौर, मालाबार से काली मिर्च, गुजरात से सीसा, दक्खिन से बक्कम और सिन्ध से कुट, बाँस और बेत इराक और अरब जैसे देशों में भेजे जाते थे।

अतः प्राचीन काल में भारतीय विद्यानवेत्ता आन्तरिक और बाहरी दोनों प्रकार के व्यापार के देश के उत्थान में भली-भाँति परिचित थे तथा अधिकतर विद्यानवेत्ता इसके हिमायती रहे है। इसीलिए प्राचीन काल में भारतीय व्यापार दूर-दूर के देशों-पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, दक्षिण पूर्वी एशिया, अफ्रीका तक फैला हुआ था।

(ग) व्यापार के साधन
(Mechanism of Trade)

व्यापारिक मार्ग

भारत में प्राचीनकाल से ही आन्तरिक तथा बाहरी व्यापार दोनों ही - थल और जल मार्गों से होता था। हड़प्पा सभ्यता के लोग सुमेर, बेबीलोन तथा मिस्र के साथ व्यापार में स्थल तथा समुद्र दोनों ही मार्गों का प्रयोग करते थे। एस०आर० राव जैसे कुछ पुरातत्त्वेताओं के अनुसार लोथल एक बन्दरगाह था जहाँ पश्चिम से व्यापारिक जहाज आते थे। हिन्दुकुश को पहाड़ियाँ पार करके, एशिया होते हुए भारतीय व्यापारी मध्य एशिया तक जाते थे। वैदिक काल में भी व्यापारी दोनों मार्गों के महत्त्व से परिचित थे। वैदिक साहित्य में भी व्यापारिक काफिलों का वर्णन आता है जोकि थल मार्ग से व्यापार के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे। इसके अतिरिक्त नदियों का भी उपयोग किया जाता था और छोटी-बड़ी नावों पर माल लादकर दूरवर्ती स्थानों पर पहुँचाया जाता था।

स्थल-मार्ग

पूर्ववैदिक युग के आर्य अपना व्यापार विशेषकर स्थल-मार्ग से ही करते थे। वे बैल, घोड़े, ऊँट, गधे और भैसों पर सामान लादकर गन्तव्य स्थानो तक जाते थे। कभी-कभी वे गाड़ियों और रथों

का भी उपयोग करते थे। मार्गों और पथों से नगर और ग्राम जुड़े हुए थे तथा विभिन्न वस्तुएँ लेकर लोग एक-दूसरे स्थान पर जाते थे। उत्तरवैदिक काल तक भारत में अनेक राज्यों और नगरों का विकास हो चुका था। अलिन (आधुनिक काफिरिस्तान), पक्थ (आधुनिक पख्तून), भलान (बोलन दर्रे के निवासी), शिव (सिन्धु के पास) और विषाणिन् नामक पंचजनों के अतिरिक्त कुरु-पांचाल, कोशल (अवध), काशी, विदेह (उत्तरी बिहार), मगध (दक्षिणी बिहार), अंग (पूर्वी बिहार) आदि का विकास हो चुका था। ये सभी प्रदेश स्थल-पथ द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे। पाणिनि ने अनेक वाणिज्य पथों का उल्लेख किया है, जो एक नगर को दूसरे नगर से मिलाते थे। उस समय वारि-पथ, स्थल-पथ, रथ-पथ, करि-पथ, अज-पथ, शङ्कु-पथ, राज-पथ, सिंह पथ, हंस-पथ, देव-पथ आदि आवागमन के मार्ग विभिन्न नामों से प्रचलित थे। महानिद्देश में भी विभिन्न पथों का उल्लेख है-वण्णु-पथ, अज-पथ, मेण्ढ-पथ, संकु-पथ, छत्त-पथ, वंस-पथ, सकुण-पथ, मूसिक-पथ, दरी-पथ और वेत्तचार-पथ। अज-पथ बहुत संकरा होता था, जिसपर आमने-सामने के व्यक्ति एक साथ नहीं चल सकते थे। एक बकरी ही किसी प्रकार उस मार्ग से चल सकती थी। पहाड़ी और चट्टानी मार्ग को शंकु-पथ कहते थे। मूषिक-पथ वह मार्ग था जिसे पहाड़ों में काटकर सुरंगों की तरह बनाया जाता था। दरी-पथ चौड़ी सुरंगों का मार्ग था। वंश-पथ और वेत्ताचार-पथ वे मार्ग थे जहां नदी के किनारे लगे बांस या बेत को झुकाकर नदी के दूसरे तट पर पहुँचा जाता था। वारि-पथ जल-मार्ग था। रथ-पथ को 'रथ्या' भी कहते थे। करि-पथ खुले मार्ग होते थे। राज-पथ राज्य द्वारा निर्मित पक्के और सुन्दर मार्ग होते थे।

'द्रव्यक' नामक वणिक् सार्थवाह के रूप में विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ लेकर व्यापार के लिए विभिन्न स्थानों पर जाते थे। ऐसे सार्थवाह अपने आवश्यकतानुसार उपयुक्त पथों का अनुगमन करते थे। उस समय कान्तार-पथ के अन्तर्गत कौशाम्बी से अवन्ति होकर दक्षिण में प्रतिष्ठान और पश्चिम में भरुकच्छ को सम्बद्ध करने वाला विंध्य के विशाल वन-क्षेत्र का मार्ग सम्मिलित था। स्थल-पथ में दक्षिण भारत के पाण्ड्यदेश से पूर्वी घाट और दक्षिण कोशल होकर आनेवाला मार्ग था। पाणिनि ने उत्तर-पथ का उल्लेख किया है, जो उत्तर भारत का विख्यात मार्ग था। कांधार से पाटलिपुत्र तक के विस्त त भूभाग को यह मार्ग जोड़ता था। इस मार्ग के पश्चिम का भाग वंक्षु से कैस्पियन सागर तथा काला सागर होता हुआ यूरप तक चला जाता था तथा पूरब का भाग गंधार की राजधानी पुष्कलावती होता हुआ तक्षशिला, सिंधु शुतद्रि और युमना पार कर हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज, प्रयाग, काशी और पाटलिपुत्र को संयुक्त करता हुआ ताम्रलिप्ति तक चला जाता था। यात्रियों और व्यापारियों के लिए एक-एक कोस पर सूचना देनेवाले चिन्ह लगे रहते थे। इस विशाल पथ का एक भाग तक्षशिला और पुष्पकलावती से कापिशी होकर वाह्लीक तक पहुँचता था और वहाँ पूरब में कम्बोज तक चला जाता था जहाँ चीन की अनेक वस्तुएँ आती थीं। अतः यह मार्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक था। पश्चिम और मध्य एशिया के अनेक देश इस मार्ग से सम्बद्ध थे। इस प्रकार देश में विभिन्न मार्गों का विकास हुआ, जिनका उपयोग व्यापार के लिए किया जाता था। श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक का मार्ग अधिक चलता था, जिसके अन्तर्गत साकेत, कोशाम्बी, ऐरिकिण, विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी, माहिष्मति जैसे नगर आते थे। श्रावस्ती से राजग ह तक का भी व्यापारिक मार्ग बन गया था इस मार्ग के बीच मे भी अनेक नगर बसे थे, जहाँ व्यापारी रुक कर क्रय-विक्रय करते थे। सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, हस्तिग्राम, भंडग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा नामक नगर इस मार्ग में पड़ते थे। मथुरा से विदिशा तक भी व्यापारिक पथ का विकास हो चुका था। इस पथ पर देवगढ़, कांतिपुरी, पद्मावती और तुम्बवन नगर बसे थे।

स्थल-मार्ग का प्रसार, बौद्ध-युग में भी हुआ तथा विभिन्न भागों के वणिक् अनेकानेक मार्गों से व्यापार के लिए यात्रा किया करते थे। सुदूर पश्चिम से लेकर पूर्व तक एक विशाल लम्बा मार्ग था। मगध से मिथिला, वाराणसी, सहजाति और कौशाम्बी तक इसका उपयोग होता था। विदेह

से काश्मीर और गांधार तक व्यापारी जाया-आया करते थे जो सिंध के अश्व देश के विभिन्न भागों में विक्रय के लिए जाते थे। सौवीर में अन्य स्थानों के अतिरिक्त मगध के भी व्यापारी आते थे। रात्रि में राजस्थान जैसे मरुस्थल की यात्रा तारों के आधार पर की जाती थी।

महाकाव्यों में भी स्थल-मार्ग की विस्त त चर्चा की गई है। रामायण में विव त है कि अयोध्या से विभिन्न देशों के व्यापारी निवास करते थे। उस समय अनेकानेक वस्तुएँ लेकर दूर-दूर तक व्यापारी जाया करते थे। रामायण में उपलब्ध विभिन्न राज्यों और स्थानों के वर्णन से विदित होता है कि उस समय नगरों और राजधानियों को संयुक्त करनेवाले अनेक मार्ग थे, जो व्यापारियों के लिए अत्यन्त उपुयक्त और उपयोगी थे। महाभारत से भी विदित होता है कि जब दमयन्ती अपने पति नल से बिछुड़ गई थी तब वह सार्थवाह के साथ गन्तव्य तक जाना चाहती थी। वह व्यापारी अपने सार्थ के साथ सागर तक जाता था। महाभारत-काल में भारत के सम्पूर्ण भूभाग और विख्यात नगर राजपथों से जुड़े हुए थे। भरत के वर्णन में अयोध्या सहित अनेक स्थानों का उल्लेख है। इसी प्रकार महाभारत में जब भीष्म की यात्रा का वर्णन किया गया है तब हस्तिनापुर के साथ अनेक नगरों का संकेत मिलता है। महाभारत में काम्बोज, गान्धार, बाह्लीक, प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम), अपरान्त, पाण्ड्य, सिन्धु आदि अनेक प्रदेशों का उल्लेख हुआ है, जो निश्चय ही तत्कालीन सम्पर्क-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। इन स्थानों से विभिन्न वस्तुओं का परस्पर आदान-प्रदान हुआ करता था।

मौर्य-युग में व्यापारिक मार्गों का अत्यधिक विकास हो गया था। लम्बे और प्रशस्त मार्गों का निर्माण हुआ था, जिनसे होकर व्यापारी और सैनिक जाया करते थे। सर्वाधिक लम्बा और चौड़ा मार्ग पाटलिपुत्र से पुरुषपुर तक का था, जो प्राय 18,050 मील लम्बा था। इस मार्ग के निकट राजग ह, पाटलिपुत्र, काशी, कौशांबी, मथुरा तथा तक्षशिला जैसे नगर स्थित थे। मेगस्थनीज लिखता है कि मार्ग के आध-आध कोस पर पत्थर लगे थे। उस युग में राजपथ सर्वदा स्वच्छ और साफ रखा जाता था। अगर कोई उसे गन्दा अथवा अस्वच्छ करता था उसे राज्य की ओर से दण्ड मिलता था। इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने लिखा है कि मार्ग पर यदि कोई कूड़ा फेंकता था तो उसे अष्टमांश पण का दण्ड मिलता था। यदि उस पर कीचड़ और जल फेंकता तो उसे चौथाई पण का दण्ड दिया जाता था। यदि राजमार्ग पर ये दोनों चीजें फेंकी जाती थीं तो उसे दूना दण्ड देना पड़ता था। अशोक के समय देश के मार्गों और पथों का यथेष्ट विकास हुआ। अशोक के पदाधिकारी वर्षा-काल को छोड़कर प्रत्येक मौसम में लोकहित के लिए साम्राज्य का भ्रमण किया करते थे। अशोक का कलिंग पर आक्रमण पाटलिपुत्र और कलिंग के बीच के पथ का दिग्दर्शन कराता है। अशोक द्वारा देश के विभिन्न भागों में खुदवाए गए विभिन्न अभिलेख उसके समय के विकसित मार्गों का परिचय कराते हैं। लुम्बिनी, बौद्ध गया आदि विभिन्न स्थानों की स्वयं अशोक ने ही यात्रा की थी। अशोक के स्तम्भ मिर्जापुर की चुनार की पहाड़ियों से पत्थर काटकर बनाए गये थे तथा विशाल गाड़ियों पर रखकर दुरवर्ती स्थानों तक ले जाए और खड़े किए गए थे। अतः उस समय पथ अत्यधिक प्रशस्त भी होते थे।

सार्थवाह लम्बी-लम्बी यात्राएँ किया करते थे, जिनमे वे रथ, सार्थ, बैलगाड़ी, घोड़े, ऊँट आदि का उपयोग करते थे। मार्गों में स्थान-स्थान पर कुएँ बने होते थे, जहाँ थके-हारे वणिक् बैठकर जल पीते थे। पाटलिपुत्र जानेवाले मार्ग में अनेकानेक कुएँ पड़ते थे। व्यापारी खाद्य सामग्री अपने साथ ले जाते थे, जिसका वे मार्ग में उपयोग करते थे। पाटलिपुत्र जाने वाले मार्ग के बीच में मथुरा, अयोध्या, कौशाम्बी आदि कई नगर पड़ते थे। उत्तरपथ का यह मार्ग अत्यन्त प्रचलित और ख्यात मार्ग था, जो पश्चिमी सीमा प्रान्त से होते हुए पाटलिपुत्र तक जाता था और पाटलिपुत्र से ताम्रलिप्ति तक। प्रायः सभी वणिक् इसी पथ का उपयोग करते थे। यह पथ अत्यन्त सुव्यवस्थित और सुद ढ़ बना हुआ था। मौर्य-युग में पथों और मार्गों की सुनियोजित व्यवस्था होती थी, जिसकी

ऊपर चर्चा की जा चुकी है। मेगस्थनीज का कथन है कि सड़कों पर हर दस विरामों के बाद दूरी-दर्शक और मार्ग-निर्देशक लगे होते थे। निश्चय ही यह क्रम बाद तक चलता रहा था। इससे मार्ग के व्यापारियों को स्थान की दूरी के बारे में निश्चित जानकारी मिल जाती थी। कालान्तर में शुंगो और सातवाहनों के युग में भी वणिक-पथों का विस्तार हुआ तथा दक्षिण के विभिन्न नगर दक्षिण ही नहीं बल्कि उत्तर के नगरों से भी जोड़ दिए गएँ गुप्तों के काल में आकर ये पथ और भी विकसित हुएँ समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय अहिच्छत्र और बुन्देलखण्ड से प्रारम्भ करके कोशल, महाकान्तार, कौशल (आधुनिक गंजाम), पिष्टपुर (गोदावारी के निकट का प्रदेश), कोट्टूर (विशाखापत्तनम् के निकट), एरण्डयल्ल (उड़ीसा का समुद्रतटीय भाग), कांची (आधुनिक कांजीवरम्), अवमुक्त (गोदावरी के तट पर स्थित), वेंगि (कृष्णा और गोदावरी के बीच भू-भाग), पालक्क (कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित), देवराष्ट्र (विशाखपत्तनम्) और कुश्थलपुर (उत्तरी आर्काट) प्रदेश तक किया था। इस अभिलेखीय विवरण से यह स्पष्ट होता है कि उस समय उत्तर से दक्षिण तक का ऐसा मार्ग अवश्य रहा होगा, जिससे एक विशाल सेना जा सकी होगी। कालिदास ने महाराज रघु की दिग्विजय, समुद्रगुप्त की दिग्विजय के आधार पर ही चित्रित की है। अजभोजो के राज्य भोजपुर में भी एक मार्ग जाकर मिला था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि-गुहा-अभिलेख से विदित होता है कि उसने मालवा के शकों को पराजित किया था। उसने मालवा पर यह अभियान पाटलिपुत्र से आकर किया था, जो उत्तर से दक्षिण की ओर जाने-वाले मार्ग की ओर भी इंगित करता है। 'पेरिप्लस' में लिखा है, "बेरिगाजा (भड़ौंच) से पूर्व की ओर ओजेन (उज्जैन) नामक नगर है, जो पहले राजधानी था। वहाँ राजा रहता था। उस स्थान से बेरिगाजा तक स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार अथवा भारत के अन्य भागों में भेजे जाने के लिए प्रत्येक वस्तु लाई जाती है।" गुप्त-युग में उज्जयिनी एक प्रसिद्ध नगरी थी तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय वह द्वितीय राजधानी के रूप में ख्यात थी। केन्द्र-स्थल में होने के कारण वह भारत के अन्य वणिक्पथों से जुड़ी हुई थी।

उस युग में यात्रा के मार्ग अत्यन्त सुरक्षित होते थे तब लोग निर्भय होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक आया-जाया करते थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के युग में आनेवाले चीनी यात्री फाश्येन ने पश्चिमी भारत में पूर्वी भारत तक के विभिन्न नगरों और स्थानों का भ्रमण किया था, किन्तु मार्ग में वह कहीं भी असुरक्षित नहीं था। गप्तों के शासन के उपरान्त स्थिति पूर्णतः परिवर्तित हो चुकी थी। देश से सुरक्षा और अभय का वातावरण समाप्त हो चुका था। सातवीं सदी में हर्ष के काल में आने वाले चीनी यात्री श्वानच्वांग को भारत-भ्रमण में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मार्ग में वह चोरों द्वारा लूटा भी गया। एक स्थल पर तो डाकुओं ने उसे देवी के सम्मुख बलि चढ़ाने तक का निश्चय कर लिया था, किन्तु किसी तरह उसके प्राण बच गएँ

किन्तु हर्ष के युग तक आकर सभी नगर और तीर्थ-स्थल अनेक पथों और मार्गों से सम्बद्ध हो गए थे। गुप्तयुगीन स्थल-मार्ग इस युग में और विकसित हुएँ पाटलिपुत्र से भड़ौंच तक राजकीय मार्ग बना हुआ था। भड़ौंच जैसे बन्दरगाहों पर विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। उत्तर भारत के प्रायः सभी नगर पथों से जुड़े हुए थे। पश्चिम में तक्षशिला से लेकर थानेश्वर, मथुरा, कौशाम्बी, काशी, पाटलिपुत्र आदि नगरों से होता हुआ राजपथ पूरब में ताम्रलिप्ति तक जाता था। इस सम्बन्ध में श्वानच्वांग ने अत्यन्त विस्त त विवरण दिया है, जो समकालीन वणिक्-पथ के प्रसार का विस्त त चित्र प्रस्तुत करता है।

गाँव के मार्ग भी नगरों से सम्बद्ध होते थे, जहाँ नगर के माध्यम से अनेकानेक अपेक्षित वस्तुएँ प्राप्त कर ली जाती थीं। देश के प्रत्येक नगर विभिन्न मार्गों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए थे। व्यापारी समूहों में यात्रा करते थे तथा अभीष्ट स्थान तक पहुंचाने में उन्हें महीनों लग जाते थे। वे अपने सामान प्रायः घोड़ों, गधों और बैलगाड़ियों पर लादकर चलते थे। सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही

वणिक् बड़े-बड़े समूहों में चलते थे और एकजुट होकर कठिनाइयों का सामना करते थे। समूह में चलनेवाले ऐसे व्यापारियों को सार्थवाह कहा जाता था। ऐसे सार्थवाहों का आना-जाना भारत में प्राचीन काल में रहा है। पूर्वमध्य युग में ऐसे सार्थवाह लम्बी-लम्बी यात्राएँ करते तथा विपुल धन अर्जित करते थे। वे अपने साथ भोजन-पानी और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करके चलते थे। मगध से तिब्बत जाने का भी मार्ग था। विशेषकर बौद्ध भिक्षु ही इसका उपयोग करते थे। भारत में नेपाल जाने के लिए भी मार्ग था। वह मार्ग आसाम को भी स्पर्श करता था। सम्भवतः वह मार्ग चीन की ओर भी जाता था।

भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त की ओर का वणिक्-पथ अत्यधिक लोकप्रिय था। भारतीय व्यापारी तक्षशिला से हिन्दूकुश लाँघकर ईरान जाते थे, जहाँ से वे पर्सिया होते हुए आक्सस की रमणीक घाटी में पहुँचते थे। वह मार्ग यूरोप की ओर जाता था। बगदाद और पंजाब के बीच का पथ मुसलमान व्यापारियों के लिए अधिक सुविधाजनक था, जो देबल (आधुनिक कराची) को भी सम्बद्ध करता था। इब्न खुर्दाज्बा ने पर्सिया और सिन्ध को जोड़नेवाले मार्ग का उल्लेख किया है। अलबीरूनी ने भारत के विभिन्न प्रदेशों और नगरों को जोड़नेवाले मार्गों की विस्तार से चर्चा की है। उसके अनुसार एक मार्ग कन्नौज से प्रयाग और तत्पश्चात् पूर्वी तट तक जाकर दक्षिण में कांजीवरम् तक जाता था। दूसरा मार्ग कन्नौज या बारी से वाराणसी और तत्पश्चात् गंगा के मुहाने तक जाता था। तीसरा मार्ग कन्नौज से लेकर पूर्व में कामरूप और उत्तर के सीमावर्ती देश नेपाल और तिब्बत तक पहुँचता था। चौथा मार्ग कन्नौज से दक्षिण की ओर जाकर दक्षिण तट पर स्थित वनवासी (दक्षिण के कदम्ब-राजवश की राजधानी) को जोड़ता था। पाँचवाँ मार्ग कन्नौज से बजान या नारायण तक और तत्पश्चात् गुजरात की राजधानी तक जाता था। छठा मार्ग मथुरा से धार (मालवा की राजधानी) तक पहुँचता था। सातवाँ मार्ग धार से उज्जैन को संयुक्त करता था। आठवाँ मार्ग धार से होकर मन्दगिरि (गोदावरी) तक जाता था। नवाँ मार्ग धार से पश्चिम की ओर सागरतटीय तान (आधुनिक थान) को जोड़ता था। दसवाँ मार्ग बजान से काठियावाड़ के दक्षिण तटीय सोमनाथ तक फैला था। ग्यारहवाँ मार्ग अनहिलवार (अनहिलपाटन) से बम्बई के पश्चिमी तट तान तक जाता था। बारहवाँ मार्ग बजान से भाटी (भटिण्डा) होते हुए सिन्धु नदी के मुहाने पर स्थित लोहरानी (सम्भवतः वर्तमान कराची) तक पहुँचता था। तेरहवाँ मार्ग कन्नौज से कश्मीर तक जाता था। चौदहवाँ मार्ग कन्नौज से पानीपत, अटक, काबुल और गजन तक पहुँचता था। पन्द्रहवाँ मार्ग बब्रहान से अधिष्ठान (कश्मीर की राजधानी) तक जाता था। सोलहवाँ मार्ग मकरान स्थित तीज से सेतुबन्ध पहुँचता था। अतः इस वर्णन से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत में एक दूसरे स्थान को जोड़ने के लिए विभिन्न मार्ग थे, जो ग्यारहवीं सदी के भारत में भी प्रचलित थे। उन मार्गों से विविध सामग्री सुदूरवर्ती नगरों और प्रदेशों तक पहुँचाई जाती थी। उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रमुख नगर कन्नौज था, जो विभिन्न स्थानों और नगरों को जोड़नेवाले मार्गों का केन्द्र-स्थल था। बारहवीं सदी के लेखक हेमचन्द्र ने अनेक वाणिज्य-पथों का उल्लेख किया है - शङ्कु-पथ (पहाड़ी मार्ग) कठिन पथ होता था, जिस पर लोहे की कीलें ठोककर चढ़ा जाता था। उत्तरपथ ऐसा विस्त त मार्ग था, जो राजग ह से गांधार तक जाता था। वहाँ से यह पथ कैस्पियन सागर होता हुआ काला सागर लाँघकर यूरोप तक चला जाता था। इस मार्ग का पूर्वी भाग तक्षशिला होता हुआ, हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज, प्रयाग और पाटलिपुत्र को संयुक्त करता हुआ ताम्रलिप्ति तक चला जाता था। इस प्रधान मार्ग के अतिरिक्त कान्तार-पथ, स्थल-पथ, अज-पथ और वारि-पथ भी थे।

जल-मार्गः नदी और समुद्र

आन्तरिक और बाह्य व्यापार के लिए जल-मार्ग का भी उपयोग किया जाता था। देश के अन्दर विभिन्न नदियों के माध्यम से वणिक् अपने सामान दूर के नगरों तक पहुँचाते थे। बड़ी-बड़ी नावों पर विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ रखी जाती थीं, जो आवश्यकतानुसार समुद्र तक पहुँचाई जाती थीं,

जहाँ से वे विदेशों को भेजी जाती थीं। भारत में छोटी-बड़ी अनेक नदियाँ होने के कारण व्यापारियों को अपना माल गन्तव्य स्थान तक ले जाने में बड़ी सुविधा होती थी। सिन्धु, वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चेनाव), परुष्णी (रावी), विपाश (व्यास), शतद्री या शतद्रु (सतलुज) और सरस्वती आदि नदियाँ पंजाब में, गंगा, यमुना, सरयू, गोमती आदि नदियाँ उत्तर भारत में, ब्रह्मपुत्र आसाम में तथा नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा आदि नदियाँ दक्षिण भारत में बहती रही हैं, जिन्हें व्यापार के लिए वणिक् प्रागैतिहासिक काल से उपयोग में लाते रहे हैं।

पूर्ववैदिक युग में भी सामुद्रिक व्यापार प्रचलित था। आर्य बड़ी-बड़ी नौकाओं और पोतों का निर्माण करते थे। नदियों के साथ-साथ समुद्र की भी यात्राएँ किया करते थे। ऋग्वेद में 'समुद्र' शब्द का सन्दर्भ आया है, जिसका अर्थ सागर ही है। सरस्वती नदी बहती हुई सागर में जाती थी। समुद्र से प्राप्त होनेवाले धन का भी उल्लेख हुआ है। एक स्थल पर विव त है कि तुग्र ऋषि के पुत्र भुज्यु का पोत (जहाज) समुद्र में टूट गया, जिससे वह अथाह जल में गिर पड़ा, उसकी प्रार्थना पर वहाँ से सौ डाँड़ों से युक्त जहाज में अश्विनीकुमारों ने उसका उद्धार करके उसकी जान बचाई। कभी-कभी मनोरंजन अथवा बहूमूल्य रत्नों की प्राप्ति के लिए समुद्र की यात्रा की जाती थी। समुद्र से मोती निकालकर व्यापार किया जाता था। ऋग्वेद में एक स्थल पर एक ऋषि अपने देवता से प्रार्थना करते हैं कि "हे देव, हमारे आनन्द और कल्याण के लिए हमें जहाज में समुद्र पार ले चलो"। यही नहीं, वशिष्ठ की समुद्र-यात्रा का भी विवरण मिलता है। ऋग्वेद के कई मंत्रों से विदित होता है कि वरुण जल-देवता था और उसका जल पर आधिपत्य था। उसे समुद्र के मार्गों का भरपूर ज्ञान था। उत्तरवैदिक-कालीन ग्रंथों से भी सामुद्रिक व्यापार पर प्रकाश पड़ता है। मोती पैदा करनेवाले सीप समुद्र से लाए जाते थे। उस समय समुद्री यात्रा में सौ-सौ डाँड़ोंवाले पोत प्रयुक्त होते थे। बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि भारतीय व्यापारियों की यात्राएँ ताम्रपर्णी और सुवर्णभूमि के साथ-साथ भ गुकच्छ से होती हुई सुमेर और वेबीलोन तक होती थीं। ताम्रपर्णी (लंका) सुवर्णभूमि (बर्मा) आदि देशों में जाकर वे अपार धन अर्जित करते थे। वणिक् प्रायः नदियों से समुद्र तक पहुँचते थे। एक जातक में उल्लिखित है कि एक वणिक्-पोत बेचा गया था, जिसे एक नवयुवक ने क्रय कर दो लाख मुद्राओं का लाभ प्राप्त किया था। जलपोतों का निर्माण लकड़ी के तख्तों से किया जाता था, जिन्हें 'पदरानि' कहते थे। जहाजों में रस्से (योत्तानि), मस्तूल (कूपक), लंगर (लकार) और लम्बी-लम्बी पतवारें होती थीं। महासमुद्र में पोत का संचालन करने वाले चालक अत्यन्त कुशल होते थे। नदियों और खाड़ियों के ऊपर बहुधा सेतु का निर्माण किया जाता था, जिससे सामान आसानी से पार किया जा सकता था। रामायण से विदित होता है कि शत्रु के मार्ग को अवरुद्ध करने के लिए गुहक ने अपने कैवत्तों को पाँच-पाँच सौ नावें लाने का निर्देश दिया था। समुद्र में व्यापारियों के पोत कभी-कभी भग्न हो जाया करते थे।

मौर्य-युग में समुद्र और नदी मार्गों की देख-रेख के लिए नावाध्यक्ष की नियुक्ति की गई थी। वह जल-मार्ग का उपयोग करने वालों से कर ग्रहण करता था उन्हें यातायात की सुविधा प्रदान करता था। उस समय के लोग मछलियों के अतिरिक्त समुद्र से मोती और शंख निकालते थे। तत्कालीन युग में भारत के मोती पश्चिम के अनेक देशों में निर्यात किये जाते थे। मौर्य शासकों का सांस्कृतिक सम्बन्ध पश्चिम के देशों से ही नहीं था बल्कि कतिपय पूरब के देशों में भी था। इससे सामुद्रिक मार्ग का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

पत जलि ने अनेक प्रकार के यात्रियों का उल्लेख किया है। उनमें पथिक, पथक और पान्थ प्रधान थे। साधारण यात्री पथिक कहा जाता था, कुशल और प्रवीण यात्री पथक कहा जाता था तथा निरन्तर यात्रा करनेवाला यात्री पान्थ। पहली शदी ई०पू० में मिस्र से प्रायः तीन मास के भीतर जहाज भारत पहुँच जाते थे। पश्चिमी देशों और भारत के बीच पोतों का आना-जाना बराबर होता था। भारतीय व्यापारी रोम और यूनान तक जाते तथा वहाँ के यात्री भारत आते थे। ऐसे व्यापारी

अपनी वस्तुओं का पारस्परिक आदान-प्रदान करते थे। इस क्षेत्र में हिल्पस नामक यूनानी यात्री का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उसने हिन्द महासागर में चलनेवाली मानसून हवाओं का पता लगाया तथा उसने अनुरूप पोतों को चालित करने की सलाह दी। भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित बन्दरगाहों में यूनान, मिस्र आदि देशों के लिए व्यापारी अपने पोतों पर सामान लादकर ले जाते थे तथा उन्हीं बन्दरगाहों पर पश्चिमी देशों से व्यापारी आया करते थे। इन बन्दरगाहों में द्वारावती, रोसक, शूर्पारक और भरुकच्छ प्रसिद्ध थे।

सुगन्धित और प्रसाधन सामग्री, विभिन्न प्रकार के वस्त्र और आभूषण तथा अनेकानेक रत्न और मोती रोम और मिस्र जैसे पश्चिम के देशों में निर्यात होते थे तथा वहाँ से स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त की जाती थीं। रोम की अनेक स्वर्ण-मुद्राएँ दक्षिण के प्रदेशों से मिली हैं भारत में निर्मित, तलवार, भाले, धनुष-बाण आदि यूनान, ईरान, मिस्र आदि देशों में भेजे जाते थे।

मनु ने ऐसे पोतों और नावों का उल्लेख किया है, जो व्यापारिक वस्तुएँ दूर-दूर तक ले जाते थे। कभी-कभी नाव-चालकों की उपेक्षा के कारण सामान नाव पर ही नष्ट हो जाता था। ऐसी स्थिति में माल की पूर्ति नाव-चालक करते थे। समुद्रयात्री को मनु ने 'समुद्रयायी' कहा है। स्ट्रैबो के उल्लेख से विदित होता है कि 120 भारतीय जलपोतों को उसने ईरान और अरब के देशों से होकर मिस्र की ओर जाते हुए देखा। कुषाणों और सातवाहनों के युग में सामुद्रिक व्यापार का अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ। सातवाहन-वंशी शासक यज्ञश्री शातकर्णि ने जहाज-प्रकार की मुद्राओं का भी प्रचलन किया था, जो उस काल के सामुद्रिक व्यापार के प्रसार का चित्रण करती हैं। कुषाण शासकों की अनेक मुद्राएँ रोम के राजाओं के सिक्कों से सद श निर्मित की गई थीं। रोम के शासकों की अनेक मुद्राएँ प्रायः 2 ग्रेन की होती थी। इसी के अनुकरण पर विमकदाफिस और कनिष्क जैसे शासकों ने इतने ही वजन का सिक्का अपने साम्राज्य में चलाया। चीन और सुवर्णद्वीप जैसे पूर्वी देशों से भारत का व्यापार इस युग से यथोचित रूप से बढ़ा था। भारत का चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बहुत पहले से था। इसे साथ ही सुवर्णभूमि से भी व्यापार होता था।

इस प्रकार दूर-दूर तक जाने वाले व्यापारियों अथवा वणिकों के समूह को 'सार्थ' की संज्ञा दी गई थी उनके ज्येष्ठ व्यापारी को 'सार्थवाह' कहा जाता था। व्यापारी प्रायः समूहों अथवा दलों में ही यात्रा किया करते थे ताकि वे जंगली जानवरों और डाकुओं से अपनी रक्षा कर सकें। सार्थवाह पथप्रदर्शक और नेता के रूप में अपने व्यापारियों के समूह को सकुशल और सुरक्षित अभीष्ट स्थान पर पहुँचने में सहायक होता था। ऐसे सार्थवाह जलपोतों से देश के बाहर भी जाया करते तथा अनेक वस्तुओं का व्यापार किया करते थे। सार्थ का व्यापार के लिए चलना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था। उनका नेता अथवा ज्येष्ठ व्यापारी बुद्धिमान, सत्यनिष्ठ, साहसी, दूरदर्शी, संगठनकर्त्ता, क्रय-विक्रय में निपुण तथा देश-विदेश के मार्गों से परिचित होता था। महोदधि-तट पर स्थित ताम्रलिप्ति से चलकर सार्थवाह यवद्वीप, कटाहद्वीप (जावा और केडा) से होता हुआ सुवर्णभूमि जाता था। कभी-कभी सार्थवाहों के पोत पूर्वी द्वीपों से सुदूर पश्चिम की ओर चल पड़ते थे तथा विशाल हिन्द महासागर को लाँघते हुए मिस्र और यवन देश की ओर बढ़ते थे। सुवर्ण द्वीप और ताम्रलिप्ति के वाणिज्य का उल्लेख सोमदेव ने किया है। पद्मिनी खेटपट्टन का रहनेवाला भद्रमित्र अपनी तरह अनेक वणिक्-पुत्रों के साथ सुवर्ण द्वीप की ओर प्रस्थित हुआ था। वहाँ उसने और उसके साथी व्यापारियों ने प्रचुर धन अर्जित करने के पश्चात् स्वदेश के लिए यात्रा प्रारम्भ की। किन्तु मार्ग में समुद्री तूफान के कारण उसका जलपोत नष्ट हो गया और वह एक काष्ठ-फलक का सहारा पाकर अकेला ही बच सका। सोमदेव द्वारा विव त एक दूसरी कथा से विदित होता है कि जिनभद्र ने अपनी समस्त वस्तुएँ सूर्य नामक व्यक्ति के सुपुर्द कर वहित्र-यात्रा (विदेशी यात्रा) के लिए प्रस्थान किया था। इसी प्रकार अनेक परदेशी सार्थ भी व्यापार के निमित्त भारत आते थे तथा विभिन्न स्थानों पर जाकर व्यापार किया करते थे। यशस्तिलक के एक विवरण से ज्ञात होता है कि खेतों में काम

करने के लिए जानेवाली यौधेय जनपद की कृषक वधुएँ अपनी चंचलता और विलासिता से विदेशी सार्थों के नेत्रों को क्षण भर के लिए अतिशय सुख प्रदान करती थीं। स्पष्ट है कि पश्चिमोत्तर प्रदेशों में विदेशी व्यापारी आया-जाया करते थे।

गुप्त-युग में जल-मार्ग का अधिक प्रचलन हुआ। आन्तरिक व्यापार में नदियों का उपयोग किया जाता था, जिसमें छोटी-बड़ी सभी प्रकार की नावें चला करती थीं। सिंधु, रावी, चेनाव, गंगा, यमुना और सरयू जैसी नदियों के तट पर लगी नावें लोगों को पार उतारती तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाती थीं। कालिदास ने लिखा है कि व्यापारियों के कारवाँ पहाड़ी मार्ग में इस प्रकार चलते थे जैसे वे उनके भवन हों, नदियों पर ऐसे विहरते थे मानों वे कूप हों तथा वनों के मार्ग मे ऐसे जाते थे जैसे वे वन न होकर उपवन हों। अतः देश के विभिन्न स्थानों पर बहने वाली नदियों के माध्यम से अनेक तरह के व्यापार किए जाते थे। तत्कालीन युग में आंतरिक व्यापार ही नहीं विकसित हुआ बल्कि बाह्य व्यापार भी बढ़ा। बड़े-बड़े जलपोत सागरों और महासागरों में चलते थे। कल्याणी, शूर्पारक या भ गुकच्छ से प्रारम्भ होकर यह जल-मार्ग फारस की खाड़ी में पहुँचता था, जहाँ से वह मिस्र को सम्बद्ध करता था। फाश्येन ने लिखा है कि चीन लौटते समय जब उसने समुद्र की यात्रा प्रारम्भ की तब उसके साथ अनेक भारतीय सहयात्री थे। इनमें भागवत (वैष्णव) धर्म अनुयायी भी थे जो उसके प्राणों के लिए संकट बन गए, क्योंकि समुद्र में तूफान आने पर लोगों ने कहा कि बौद्ध चीनी यात्री के जहाज पर होने के कारण ही तूफान आया है, अतः उसे पोत से उतार देना अथवा जल में फेंक देना चाहिएँ बालि, सुमात्रा, जावा, सुवर्णभूमि जैसे देशों में भारतीय व्यापारी समुद्री मार्ग से जा सकने में समर्थ थे। दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति का विकास इसी युग में तीव्रतम हुआ। श्वानच्वांग ने लिखा है कि हर्ष का राज्य चारों ओर से नदियों और समुद्रों से संगठित था। मलकूट में ऐसा बन्दरगाह था जिसके सहारे लंका तथा अन्य देशों से व्यापार किया जाता था। पर्सिया के शासक ने अपने पुत्र को मित्रता के लिए चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय के यहाँ भेजा था, जिसका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया गया था। उस काल में अनेक भारतीय पर्सिया में जाकर बसने लग गए थे।

राजपूत काल में भी जल-मार्ग का तदवत् महत्त्व बना रहा। आन्तरिक व्यापार नदियों से होता था तथा माल भरी बड़ी-बड़ी नावें उनमें चलती थीं। बड़े-बड़े नगर नदियों से जुटे थे, जहाँ क्रय-विक्रय तथा वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। सामुद्रिक व्यापार भी उस युग में अपने उत्कर्ष पर था। हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर में अनेक व्यापारिक पोत चला करते थे। मिस्र और अरब से होकर जलपोत भारत आते तथा भारत से चीन और पूर्वी द्वीपसमूह तक जाया करते थे। अरब लेखकों ने चीन के जलपोतों को अदन की ओर से जाते हुए उल्लिखित किया है। अबूजैद के उल्लेख से विदित होता हे कि नवीं सदी के आठवें दशक में चीन कुछ आन्तरिक संघर्ष में पड़ा हुआ था जिससे उसका सामुद्रिक व्यापार अस्त-व्यस्त हो गया था। मलय प्रायद्वीप से होकर चीन और अरब देशों के बीच जलपोतों का आना-जाना होता था। बारहवीं सदी और उसके बाद में आकर चीनी जलपोतों का दक्षिण-पूर्व एशिया के सागर पर पूर्ण आधिपत्य हो गया था। इसके परिणामस्वरूप अरब जलपोतों का हिन्द महासागर से होकर दक्षिण-पूर्ण एशिया में आना-जाना कम हो गया।

फारस की खाड़ी और लाल सागर व्यापारिक मार्ग द्वारा एक दूसरे से जुट चुके थे, जिसका सर्वाधिक श्रेय अरब व्यापारियों को था। ये अरब वणिक् अपने मालों को लेकर कभी भूमि-मार्ग और कभी समुद्री-मार्ग से होकर दूसरे देशों में जाते थे। पश्चिमी एशिया और मिस्र को भी अरब व्यापारियों ने एक ही उद्देश्य के अन्तर्गत रखकर पूर्व में भारत से आबद्ध कर दिया था। पूरब और पश्चिम के व्यापारियों को रुकने के लिए लंका एक महत्त्वपूर्ण ठहराव था। पाँचवीं सदी का चीनी यात्री फाश्येन ताम्रलिप्ति से लंका गया था और वहाँ से सुमात्रा। अतः लंका भी हिन्द महासागर

में विख्यात बन्दरगाह बन गया था। वैसे तेज, देवल, यादा, खंभात, सोपारा, जयमूर, कोमलमली जैसे भारत के बन्दरगाहों से पश्चिमी देशों में मालवाही पोत जाते थे।

अलमसूदी ने लिखा है कि भारत के पोत बस्रा, सिरफ, ओमन, जावा और चम्पा से होकर खनफु (कैन्टीन) तक जाते थे। समराइच्चकहा में विव त है कि सुवदन नामक पोतवाहक चीन से सवुर्णद्वीप होते हुए देवपुर पहुँचा था। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों और द्वीपों से अनेक प्रकार की वस्तुएँ भारत आती थीं। वाराणसी के अध्यापक 'द्वीपान्तर' से फल प्राप्त करते थे। उन देशों से भारत आनेवाले यात्री भारत-भ्रमण करते थे। इसी सन्दर्भ में राजशेखर का कहना था कि द्वीपान्तर के परिधान और आचार-व्यवहार के प्रति लोगों को जागरूक रहना चाहिएँ इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन युग में भारत का सम्बन्ध पश्चिम और पूरब दोनों ओर के देशों से अत्यन्त सुखद था तथा सुविधानुसार पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ करता था।

माप और तोल

(Weight & Measurement)

प्राचीन काल से क्रय-विक्रय की वस्तुएँ निश्चित माप के अनुसार तौली जाती थीं और तत्पश्चात् उनके निर्धारित मूल्य ग्रहण किए जाते थे। वैदिक युग में सुनिश्चित आधार पर तौल की व्यवस्था थी। ऋग्वेद से विदित होता है कि वस्तुओं का भाव-ताव करने के बाद सौदा पक्का किया जाता तथा उनका मूल्य चुकाया जाता था। उत्तरवैदिक काल में भी वस्तुओं की सुनिश्चित माप और तौल होती थी। संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों से इस पर प्रकाश पड़ता है। अष्ठाप्रूड (संभवतः अष्टाप्रुष) आठ बुंदकियों से चिह्नित रहता था। सौ रत्ती की तौल को 'शतमान' कहा जाता था। 'तुला' शब्द का भी व्यवहार उस युग में हो चुका था।

पाणिनि ने माप और तौल का विस्तार से वर्णन किया है। उसने परिमाण, तुला (तराजू), माष (एक सिक्के के बराबर), निष्पाव (स्वर्ण आदि तौलने का सूक्ष्म बटखरा), शाण (बीस रत्ती के बराबर), बिस्त शतमान, आढक, आचित, पुरुष आदि का उल्लेख किया है। पाणिनी के काल तक कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माषा, शाण आदि अनेक सिक्के प्रचलित हो चुके थे जो विभिन्न वस्तुओं के मूल्य के रूप में प्रदान किए जाते थे।

समाज में वस्तु की सही तौल आवश्यक मानी गई थी, जिसकी व्यवस्था राजा करता था। कूट तुला का प्रयोग करके छल करने वाला व्यक्ति श्राद्ध में बुलाने योग्य नहीं था। महात्मा बुद्ध के अनुसार यदि कोई कम तौल से धोखा देकर धन अर्जित करता था तो वह मिथ्या आजीव के समान था। तुला से ही वस्तुओं की सही तौल हो पाती थी। बौद्ध-युग में तुलाघर भी हुआ करते थे। उस युग में निक्ख (निष्क), सुवण्ण (सुवर्ण), हिर ञ (हिरण्य), धरण; कहापण (कार्षापण), पण, कंस आदि अनेक सिक्के एक निश्चित माप के मूल्य के रूप में प्रचलित थे। आधे, चौथाई आदि मूल्य के भी सिक्के चलते थे।

कौटिल्य ने तौल और माप को सविस्तार चर्चा की है। उसके अनुसार तौल की माप (बटखरे) लोहे की बनती थी या मगध और मेकल से प्राप्त पत्थर की। शंख जैसी वस्तु के भी बटखरे बनते थे जिन पर पानी या लेप का कोई असर नहीं होता था। प्रथम श्रेणी के काँटे का आयाम छः अंगुल होता था और द्वितीय श्रेणी के काँटे का आठ अंगुल। सभी काँटों में दोनों ओर तुलनेवाला सामान और बाट एक साथ रखने के लिए शिक्या (सिकहर) जैसे दो पलड़े बने रहते थे। अर्थशास्त्र में सोलह प्रकार के तराजुओं का उल्लेख हुआ है, जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं को तौलने में प थक्-प थक् रूप से प्रयुक्त होते थे। पण, अर्धपण, पादिक (चौथाई पण) माषक, अर्धमाषक, काकिणी तथा अर्धकाकिणी जैसे सिक्कों का सन्दर्भ अर्थशास्त्र में मिलता है।

मनु ने लिखा है, "तुलामान, प्रतीमान और तराजू को राजा अच्छी तरह जाँच कर परीक्षा करे तथा प्रति छः मास पर उनकी जाँच कराता रहे।'' याज्ञवल्क्य ने भी तौल और माप पर राज्य को द ष्टि रखने की सलाह दी है। स्म तियों में अनेक प्रकार की मापों का उल्लेख हुआ है जिनमें सर्षपा, मध्ययव, कृष्णल, मासा, सुवर्ण आदि प्रमुख हैं। गुप्त युग में अनेक प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन था। ये मुद्राएँ स्वर्ण, रजत और ताम्र धातुओं की थीं। वस्तुओं के क्रय-विक्रय में उन मुद्राओं का पूर्णतः उपयोग होता था। फाश्येन के विवरण से पता चलता है कि उस युग में साधारण वस्तुएँ कौड़ियों के माध्यम से खरीदी जा सकती थीं।

वस्तुओं का उचित मूल्य लेना श्रेयस्कर माना जाता था। कात्यायन का कथन है कि अनुचित रूप से बेचा गया माल सौ साल में भी लौटाया जा सकता था। अनधिकृत रूप से बेची गई वस्तु लौटाई जा सकती थी। याज्ञवल्क्य का भी यही विचार है कि अगर विक्रीत वस्तु का अवैध होना प्रमाणित हो जाए तो वह विक्रय करने वाले को लौटा दी जाएँ

श्वानच्वांग ने हर्ष के समय के विनिमय के साधनों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार सोने या चाँदी के सिक्के, कौड़ियाँ आदि विनिमय के साधन थे। नेपाल के विनिमय का माध्यम ताँबे की मुद्राएँ थीं। कंगोद राज्य में कौड़ियों और मोतियों से वस्तुएँ क्रय की जाती थीं। पूर्वमध्ययुग में सिक्कों के लिए 'द्रम्म' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इन सिक्कों के प्रकार इनके राजवंशों के नाम पर स्थिर होते थे।

हेमचन्द्र के अनुसार वजन और संख्या को निश्चित करने का नाम 'मान' था, जो दो प्रकार का होता था, 'संख्या' और 'परिमाण'। कभी-कभी वस्तुओं की अदला-बदली करके भी दूसरी वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती थीं। हेमचन्द्र के समय जौ की अपेक्षा मट्ठे का मूल्य आधा था। एक सेर जौ देने पर दो सेर मट्ठा प्राप्त होता था। यही मट्ठे के परिवर्तन का आधार-मूल्य था। उस युग में प्रायः तीन प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित थीं, पण्णिक, मयंक और स्मारक। पण्णिक 'पण' को अभिव्यक्त करता है। सोने, चाँदी, ताँबें आदि अभिन्न धातुओं की मुद्राएँ विनिमय में प्रयुक्त होती थीं।

मुद्रा और विनिमय प्रणाली

(System of Exchange & Currency)

पुरापाषाण युग में मानव शिकार करके और आहार संचय करके अपना निर्वाह करता था। उस समय कबीले एक दूसरे के शत्रु थे अतः वस्तुओं का विनिमय नहीं होता था। परन्तु कुछ समय बाद कबीलों का अपनी वस्तुएँ बदलने की आवश्यकता प्रतीत हुई। पहले इसके लिए उन्होंने वस्तु-विनिमय की प्रणाली अपनाई। कुछ समय बाद वे वस्तुएँ जिनका प्रयोग सभी करते थे विनिमय का साधन बन गई जैसे ऋग्वेद के एक सूक्त में इन्द्र की मूर्ति का मूल्य गायों में निश्चित किया गया। सैनिक लोग घोड़ों में वस्तुओं का मूल्य निश्चित करते थे और शिकारी पशुओं की खालों में। परन्तु गाय, घोड़े, खाल सभी एक प्रकार के न थे और उनका मूल्य एक नहीं हो सकता था। फिर किसी छोटी वस्तु खरीदने के लिए पूरी गाय या पूरा घोड़ा देना आवश्यक नहीं था। इस प्रकार ये विनिमय के साधन पूर्णतया सफल नहीं हुएँ इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए धातु का प्रयोग विनिमय के लिए किया जाने लगा। सोने, चाँदी, ताँबे का ढेर या सलाखें इस काम में लाई जाने लगीं।

प्रारम्भ में व्यापार वस्तु-विनिमय से प्रारम्भ हुआ। परन्तु वस्तु-विनिमय तभी सफल हो सकता है जब खरीदने व बेचने वाले दोनों व्यक्तियों को उन्हीं वस्तुओं की आवश्यकता हो जो उन दोनों के पास हैं। इसलिए किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे सब लोग स्वीकार कर लें। इस प्रकार मुद्राओं का आविष्कार हुआ।

हड़प्पा-सभ्यता के अवशेषों में 1200 से अधिक मुहरें तो मोहनजोदड़ों में ही मिली हैं और सैकड़ों मुहरें अन्य स्थानों पर मिली हैं। इससे यह संभावना होती है कि इनका प्रयोग विनिमय के साधन के रूप में किया जाता होगा। संभवतः मिट्टी के त्रिभुज भी विनिमय के साधन के रूप में काम में लाए जाते थे। ऐसे मिट्टी के पके हुए अनेक त्रिभुज नालियों में मिले हैं। ऐसा इसलिए संभव है कि कुछ अन्य देशों में पत्थर के टुकड़े विनिमय का साधन थे। संभव है सोना, चाँदी, ताँबे के ढेर या सलाखें भी इस सभ्यता में विनिमय के साधन रहे हों।

वैदिक व वेदोत्तर काल

ऋग्वैदिक आर्यों का प्रमुख व्यवसाय पशुपालन था किन्तु वे कृषि भी करते थे। किसान खेती के लिए अधिक पशु और योद्धा लूट में अधिक पशु पाने के लिए प्रार्थना करते थे। इसलिए उनके दैनिक कार्यकलापों में पशु विनिमय का साधन बन गएँ वस्तु-विनिमय तो होता ही होगा परन्तु संभवतः विनिमय के लिए सोना-चाँदी और ताँबे के सिक्के भी काम में लाए जाने लगे। उदाहरण के लिए निष्क प्रारंभ में सोने का हार था परन्तु बाद में इसे सिक्के के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा। ऋग्वेद में एक प्रसंग में लिखा है कि एक गायक को एक सौ घोड़े पुरस्कार में मिले। उत्तर वैदिक काल में निष्क का प्रयोग सिक्के के रूप में अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

वैदिक साहित्य में 'मना' का भी सोने के सिक्के के रूप में प्रयोग हुआ है। वैदिक काल में चाँदी के सिक्के 'रयि' का भी उल्लेख मिलता है। संभवतः सोने के ढेर हिरण्य-पिण्ड का भी विनिमय के लिए प्रयोग किया जाता था।

वैदिक साहित्य में निष्क की तोल का उल्लेख नहीं है। किन्तु मनु और विष्णु के अनुसार निष्क की तोल 4 सुवर्णों की तोल के बराबर होती थी एक सुवर्ण 320 रत्ती के बराबर होता था। शतमान की तोल 100 रत्ती होती थी। अर्धशतमान = आधा एक शतमान का, पादशतमान = चौथाई शतमान का, पादार्धशतमान = शण (शतमान का आठवाँ भाग) के भी सिक्के होते थे। पाणिनि, मनु और याज्ञवल्क्य ने भी शतमान का उल्लेख किया है।

रामायण काल में वस्तु-विनिमय की पद्धति विद्यमान थी। इसके लिए इस ग्रन्थ में निष्क्रिय शब्द प्रयुक्त किया गया है। उदाहरण के लिए विश्वामित्र वसिष्ठ की प्रसिद्ध गाय के लिए साधारण एक लाख गाय देने को उद्यत थे। एक लाख गायों के बदले में शुनःशेप को उसके माता-पिता से खरीदा गया था। इस काल में सबसे अधिक प्रचलित मुद्रा निष्क थी।

600 ई० पूर्व से मौर्यकाल तक

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में निष्क, सुवर्ण, कांस, पाद, मासक, काकणिक और कार्षापण नाम के सिक्कों का उल्लेख मिलता है। परन्तु इनका मूल्य सब प्रदेशों में एक न था। विनय-पिटक से हमें ज्ञात होता है कि बिन्दुसार के राज्यकाल में राजग ह में एक मासक एकपाद के बराबर था।

ए०एल० बाशम के अनुसार आयताकार या व त्ताकार धातु के टुकड़ों का प्रयोग ईसा पूर्व छठीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ। इनकी निश्चित तोल होती थी और इन पर अनेक प्रकार के चिह्न जैसे कि सूर्य, पर्वत, व् क्ष, व क्ष की शाखाएँ, मानव, खरगोश, कुत्ता, बिच्छू, सांप आदि की आकृतियाँ ठप्पा मारकर खोदी जाती थीं। इन्हें आहत सिक्के कहते हैं। संभवतः ये आकृतियाँ धार्मिक क्रियाओं में पूज्य समझी जाती थीं।

रैप्सन आदि विद्वानों ने आहत-सिक्कों पर विदेशी प्रभाव दिखलाने का प्रयत्न किया था। उनके अनुसार ईरानी सम्राट् दारा के सिगलोइ नामक सिक्के ईसा पूर्व 500 से 331 तक प्रचलित थे। इन पर भी उसी प्रकार के चिह्न हैं जैसे कि भारतीय आहत-सिक्कों पर हैं और उन पर भी ब्राह्मी और

खरोष्ठी लिपियों के अक्षर खुदे हैं। सिगलोइ और भारतीय आहत-सिक्के बिलकुल एक जैसे लगते हैं। परन्तु दुर्गा-प्रसाद और डी०डी० कोसाम्बी रैप्सन के उक्त मत से सहमत नहीं हैं। तक्षशिला के सबसे निचले स्तरों पर जो चाँदी के सिक्के मिले हैं वे तोल में सौ रत्ती (180 ग्रेन) थे और ईरानी सिगलोइ तोल में 36.45 ग्रेन थी। अगर इसकी दूनी सिगलोई 72.90 ग्रेन को तक्षशिला के चाँदी के सिक्के माने तो भी ठीक नहीं है। इसलिए यह निष्कर्ष तर्क-संगत प्रतीत होता है कि तक्षशिला में मिले ये सिक्के पूर्णतया भारतीय थे और संभवतः ये शतमान थे। इन पर विदेशी प्रभाव की कोई संभावना प्रतीत नहीं होती।

फाउचर के अनुसार आहत-सिक्कों पर हाथी और सांड यह प्रकट करते हैं कि मौर्य वंश का बौद्ध धर्म से घनिष्ठ संबंध था। जंगले में जो व क्ष दिखलाया गया है वह सम्बोधि का प्रतीक है और मेहराब बौद्धों की स्तूपों की संकल्पना को प्रकट करती है।

कौटिल्य ने प्रमुख रूप से दो सिक्कों का उल्लेख किया है पण और मासक। पण चाँदी का सिक्का था और उसके आधे, चौथाई और आठवें भाग के सिक्कों का भी प्रचलन था। मासक ताँबे का सिक्का था उसके भी आधे, चौधाई और आठवें भाग के सिक्के चलते थे। ताँबे का सिक्के को चौथाई भाग काकणि कहलाता था। अधिकतर व्यापार चाँदी के सिक्के पण के माध्यम से होता था। अधिकतर सरकारी कर्मचारियों का वेतन भी पणों में दिया जाता था। अर्थशास्त्र से हमें यह भी ज्ञात होता है कि सिक्के ढालने के लिए सरकारी टकसाल थी और अधिकारी उसका निरीक्षण करते थे। इस काल में सोने के सिक्के का प्रचलन कम था। परन्तु इस काल की अर्थ-व्यवस्था में व्यापार जुर्माने, भूमि-कर आदि में सिक्कों का खूब प्रचलन था।

लगभग 300 ई०पू० से 300 ई० तक

मनु (लगभग 200 ई०पू० से 200 ई०) ने सिक्कों की निम्नलिखित तालिका दी है-

5 रत्ती	=	1 माष
16 माष	=	1 सुवर्ण
4 सुवर्ण	=	1 निष्क या पल
10 निष्क या पल	=	1 धरण।

हिन्द यूनानी राजाओं का द्रैक्म सिक्का वजन में 67.2 ग्रेन होता था और इसका छठा भाग जो ओवोल कहलाता था 11.2 ग्रेन होता था। इसी आधार पर उन्होंने अफगानिस्तान में अपने सिक्के चलाए किन्तु भारत में जो सिक्के उन्होंने चलाए उनका वजन 152 ग्रेन और 38 ग्रेन था। उनके सोने के सिक्के बहुत कम मिले हैं। मिनांडर और अपोलोडोटस के सिक्के भड़ोंच तक चलते थे। पश्चिम भारत के शक शासकों ने इन्हीं के अनुरूप अपने सिक्के चलाएँ सबसे अधिक प्रचलन तीन द्रैक्म का सिक्का था संभवतः इन्हीं सिक्कों के माध्यम से पश्चिमी देशों से भारत का व्यापार होता था।

दक्षिण भारत के सातवाहन शासकों ने सीसे और खराब चाँदी के सिक्के चलाएँ गुजरात, मालवा और पश्चिमी दक्षिणापथ के शकों ने चाँदी के अच्छे किस्म के सिक्के चलाएँ पेरिप्लस में लिखा है कि दक्षिणापथ में यूनानियों के सोने के और शकों के सिक्कों का प्रचलन था। इन दोनों का आपस में क्या अनुपात था यह हमें मालूम नहीं है।

प्राचीन भारत में सोने के सिक्के नियमित रूप से सिक्के राजाओं ने चलाएँ विम कर्दाफिस की तीन-चार पीढ़ी बाद तक कुषाणों के सिक्के चलते रहे। इसका यह अर्थ है कि इस समय भारत की आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी थी। उत्तर भारत में रोम के सिक्के भी दक्षिण भारत की अपेक्षा

अधिक संख्या में मिले हैं। सम्भवतः इसका यह कारण था कि दक्षिण में बन वस्तुओं का आयात किया जाता था जिनकी स्थानीय खपत थी किन्तु उत्तर भारत का व्यापार बहुत कुछ पार-गमन व्यापार था। उत्तर भारत का व्यापार वस्तु-विनिमय के द्वारा मिस्र से भी होता था। इसीलिए रोम के सिक्के उत्तरी भारत में अधिक संख्या में नहीं मिले हैं।

भारत के कुछ यूनानी शासकों और शकों के चाँदी के सिक्के चलाए थे किन्तु कुषाणों के चाँदी के कोई सिक्के नहीं मिले हैं। संभवतः यूनानियों और शकों के चाँदी के सिक्के बिना किसी रोक-टोक के कुषाण साम्राज्य में चलते थे इसीलिए कुषाणों को चाँदी के सिक्के चलाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। कुषाणों के सोने के सिक्के का वजन औसतन 123.2 ग्रेन होता था। परन्तु यूनानी शासकों का सिक्का वजन में 134.4 ग्रेन होता था। कुषाणों के अधिकतर सिक्के एक दीनार, दो दीनार और चौथाई दीनार के मिले हैं। वासुदेव प्रथम के बाद के कुषाण शासकों के सोने के सिक्कों में खोट अधिक है। छोटे पैमाने का व्यापार इस काल में वस्तु-विनिमय या कुषाणों के ताँबे के सिक्कों से होता था। इन ताँबे के सिक्कों का वजन 240 से 260 ग्रेन होता था।

गुप्तकाल (लगभग 300 ई० से 550 ई०)

गुप्त सम्राटों के सोने और चाँदी के सिक्कों के अनेक संचय मिले हैं। इसका कारण यह है कि सिक्कों का उपयोग मनुष्य, धन-संग्रह करने के लिए भी करता है क्योंकि इनके शीघ्र ही नष्ट होने की संभावना नहीं होती। गुप्त सम्राटों के सिक्कों के अभी तक 16 संचय मिले हैं। इनके अतिरिक्त जो गुप्त सम्राटों के सिक्के मिले थे उन्हें पाने वालों ने पिघलाकर सोना बना लिया। यहाँ तक कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी काली घाट से प्राप्त सिक्कों के संचय का सोना बना लिया था। मनुष्य धन का संग्रह इसलिए करता था कि वह दुर्भिक्ष, सूखा, युद्ध आदि आपत्तियों के समय संग हीत धन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

प्रारंभिक गुप्त सम्राटों के सिक्के कुषाण सम्राटों के सिक्कों के अनुरूप हैं। समुद्रगुप्त के सिक्कों का वजन कुषाण सम्राटों के तीसरी सदी ईसवी के सिक्कों के समान है। इनका वजन 118 से 123 ग्रेन है। कनिंधम के अनुसार कुषाण सम्राटों के सिक्के वजन में 123 ग्रेन होते थे जिसमें 107 ग्रेन सोना और 16 ग्रेन खोट होता था। परन्तु एस०के० मैटी का मत है कि कुषाण सम्राटों के सिक्कों में सोने की मात्रा इससे अधिक थी।

स्कन्दगुप्त के राज्यकाल के अन्त की ओर सोने के सिक्कों का वजन 144 से 146 ग्रेन हो गया। किन्तु इनमें सोने की मात्रा केवल 70 ग्रेन रह गई। इन राजाओं ने संभवतः भारतीय परंपरा को फिर से चालू किया क्योंकि मनु के अनुसार सुवर्ण नाम के भारतीय सिक्के का वजन 80 रत्ती या 144 ग्रेन होता था। परन्तु सोने की मात्रा कम होने से यह स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य की आर्थिक स्थिति खराब हो गई थी क्योंकि हूणों तथा अन्य शत्रुओं ने साम्राज्य पर आक्रमण प्रारंभ कर दिए थे।

कुषाण और गुप्त सम्राटों ने सोने के सिक्के चलाएँ परन्तु उनके बाद के उत्तर भारत के राजाओ ने बहुत कम सोने के सिक्के चलाएँ इन सोने के सिक्कों का मनुष्यों ने संग्रह करना प्रारंभ कर दिया। कुषाणों और गुप्त सम्राटों के राज्यकाल में भारत का व्यापार चरमोत्कर्ष पर था इसीलिए इन सम्राटों ने सोने के सिक्के चलाये।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य काल में सबसे पहले गुप्त सम्राट् ने चाँदी के सिक्के चलाए क्योंकि उसने शकों को हराकर पश्चिमी भारत पर अधिकार किया था और वहाँ शकों के राज्यकाल से ही चाँदी के सिक्के चलते थे। इसीलिए चाँदी के ये सिक्के आकृति और वजन में शकों के सिक्कों के अनुरूप हैं। कुमारगुप्त प्रथम के चाँदी के सिक्के दो प्रकार के हैं और बड़ी संख्या में मिले हैं। एक प्रकार के सिक्के पश्चिमी भारत में और दूसरे प्रकार के मध्य देश में चलते थे।

कुमारगुप्त प्रथम के कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिनमें नीचे ताँबा है और ऊपर से चाँदी का खोल चढ़ा है। स्मिथ का मत है कि पिछले गुप्त सम्राटों ने इस प्रकार के सिक्के इसलिए चलाए क्योंकि उनके पास पर्याप्त मात्रा में चाँदी न थी।

स्कन्दगुप्त ने दो प्रकार के चाँदी के सिक्के चलाए और बुधगुप्त (लगभग 475 से 495 ई०) ने भी चाँदी के सिक्के जारी किएँ

गुप्त सम्राटों ने ताँबे के सिक्के भी चलाएँ आर०डी० बैनर्जी ने अपने ग्रन्थ में समुद्रगुप्त के दो ताँबे के सिक्कों का उल्लेख किया है। वे अब उपलब्ध नहीं हैं। रामगुप्त के छः ताँबे के सिक्के विदिशा के निकट मिले थे। परमेश्वरीलाल गुप्त के अनुसार ये छःहों सिक्के रामगुप्त के हैं किन्तु अलतेकर और ए०के० नारायण के अनुसार इनमें से केवल दो रामगुप्त के हैं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल के नौ प्रकार के ताँबे के सिक्के उपलब्ध हैं। परन्तु कुमार गुप्त प्रथम के ताँबे के सिक्के बहुत कम मिले हैं। कुमार गुप्त के बाद के कोई ताँबे के सिक्के नहीं मिले हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं - एक तो ताँबे के सिक्कों का कोई संग्रह नहीं करता था। दूसरे ताँबे के सिक्कों में जंग लगने से वे बहुत जल्दी नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए वे अब उपलब्ध नहीं हैं।

नारद और ब हस्पति की सिक्कों की तालिकाओं से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि गुप्तकाल में सिक्कों का प्रचलन बड़े पैमाने पर विद्यमान था। नारद की तालिका निम्नलिखित है-

48 काकणि = 1 माष या 1 पण

20 माष या पण = चाँदी का 1 कार्षापण या अंडिका

4 कार्षापण या अंडिका = 1 घानक

12 घानक या 48 चाँदी के कार्षापण = 1 सुवर्ण

ब हस्पति की तालिका निम्नलिखित हैं-

ताँबे का 1 कार्षापण = 1 पण

4 कार्षापण = 1 घानक

12 घानक या 48 कार्षापण = 1 सुवर्ण

4 सुवर्ण (या दीनार) = 1 निष्क

गुप्तकाल में चाँदी का सिक्का लगभग 58 ग्रेन होता था और सोने का सिक्का 123 या 124 ग्रेन। ब हस्पति और नारद दोनों के अनुसार $58 \times 48 = 2784$ ग्रेन चाँदी = 124 ग्रेन सोना अर्थात् 1 ग्रेन सोना = $22\frac{7}{16}$ या लगभग $22\frac{1}{2}$ ग्रेन चाँदी।

ये ब हस्पति और नारद की तालिकाएँ गुप्तकाल के सोने और चाँदी के सिक्कों के अनुरूप नहीं है क्योंकि गुप्तकाल में $16 \times 58 = 928$ ग्रेन चाँदी = 124 ग्रेन सोने के अर्थात् लगभग 8 ग्रेन चाँदी = 1 ग्रेन सोना। ऐसा प्रतीत होता है कि स्म तिकारों ने सिक्कों का वर्णन नहीं किया है। उन्होंने सुनारों के बटहरे का वर्णन किया है।

उस समय घन की कीमत (विनिमय मूल्य) बहुत अधिक थी। 2, 3 या 4 दीनार में एक व्यक्ति काफी बड़ा भूमिखण्ड (एक कुल्यवाप) खरीद सकता था। 10 या 12 दीनार अक्षय-नीवि के रूप में जमा कर दानी उसके ब्याज से भिखारियों के एक निवास-स्थान का खर्च चला सकता था। दो अवसरों

पर दानियों ने 25 और 16 दीनार अक्षय-नीवि के रूप में दान में दिए उनके ब्याज से भिक्षुओं को भोजन और मन्दिरों में दीपक चलाया जाता था।

चाँदी के सिक्कों का विनिमय-मूल्य भी काफी ऊँचा था। बैग्राम ताम्रलेख से हमें ज्ञात होता है कि चाँदी के 16 सिक्के सोने के 1 सिक्के के बराबर थे। इसलिए सोने और चाँदी के सिक्के दैनिक उपयोग की वस्तुएँ खरीदने में काम नहीं आते थे। वे तो भूमि आदि खरीदने या दान देने में खर्च किये जाते थे। संभवतः दैनिक उपयोग की वस्तुएँ खरीदने में ताँबे के सिक्कों का प्रयोग किया जाता था। कौड़ी भी इस काम में आती थीं। वस्तु-विनिमय पद्धति विद्यमान होने के कारण छोटे सिक्कों की अधिक आवश्यकता नहीं होती होगी।

संभवतः गुप्त सम्राटों में सबसे पहले सोने के सिक्के चन्द्रगुप्त प्रथम ने चलाए। इन सिक्कों में एक ओर चन्द्रगुप्त और कुमार देवी की आकृति उत्कीर्ण हैं और एक देवी की आकृति पीछे की ओर खुदी है और उसके पीछे लिच्छवयः शब्द उत्कीर्ण है। कुछ विद्वानों के अनुसार इन सिक्कों को समुद्रगुप्त ने स्मरणात्मक सिक्कों के रूप में चलाया था क्योंकि इस विवाह का गुप्तवंश के उत्कर्ष में बहुत महत्त्व था परन्तु स्मिथ और मैटी का यही मत है कि ये सिक्के चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही चलाए थे।

गुप्तोत्तर काल (550-700 ई०)

गुप्तोत्तर काल की मुद्रा-व्यवस्था की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। गुप्त साम्राज्य के विघटन के बाद अनेक राज्य स्थापित हो गए अतः उनके शासकों ने अपने राज्य में अपने-अपने सिक्के चलाए। इसलिए उत्तर भारत में सर्वत्र एक मुद्रा-प्रणाली न रह सकी जबकि गुप्त साम्राज्य में सर्वत्र एक प्रकार के तथा एक मूल्य के सिक्के चलते थे। कश्मीर, थानेश्वर और बंगाल आदि के शासकों ने अपने-अपने सिक्के चलाए।

दूसरी विशेषता यह थी कि इन शासकों ने गुप्त सिक्कों के अनुरूप सिक्के चलाने का प्रयत्न किया परन्तु वे रूप और शुद्धता में गुप्त सिक्कों की अपेक्षा बहुत निकृष्ट हैं।

तीसरी विशेषता यह है कि सोने व चाँदी के सिक्के केवल बड़े व्यापार में प्रयोग में लाए जाने लगे। छोटा व्यापार कौड़ियों से होता रहा। भूमिखण्ड खरीदने में दीनारों का प्रयोग पहले की भाँति होता रहा।

ईसा की छठीं व सातवीं शताब्दी के अनेक सोने के सिक्के उत्तर भारत में मिले हैं। डॉ० हार्नले को एक सिक्का हर्ष का मिला था जिस पर हर्षदेव खुदा है। बंगाल में जयनाग, शशांक और समाचार-देव के भी सोने के सिक्के मिले हैं। शशांक के कुछ सिक्के ताँबे के थे जिन पर चाँदी का खोल चढ़ा था और उस पर सोने का पानी था। शशांक ने चाँदी के कोई सिक्के नहीं चलाए। किन्तु देश के अन्य भागों में इस काल में भी चाँदी के सिक्कों का प्रचलन था प्रभाकरवर्धन और हर्षवर्धन के चाँदी के सिक्के मिले हैं। प्रभाकरवर्धन के सिक्कों पर 'प्रतापशील' और हर्षवर्धन के सिक्कों पर 'शिलादित्य' शब्द खुदे हैं। बाण ने हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन का उपनाम प्रतापशील दिया है और ह्वेनसांग से हर्ष का उपनाम शिलादित्य दिया है। छठीं शताब्दी में कश्मीर के शासक प्रवरसेन ने सोने और चाँदी दोनों के सिक्के चलाए।

इस काल में ताँबे के सिक्के भी चलाए गए। कश्मीर में तोरमाण के ताँबे के सिक्के मिले हैं। उड़ीसा में जो ताँबे के सिक्के मिले हैं उन्हें पुरी-कुषाण सिक्के कहा जाता है क्योंकि वे कुषाणों के ताँबे के सिक्कों के अनुरूप हैं।

इस काल में भी कौड़ियों का सिक्कों के रूप में प्रयोग किया जाता था। ह्वेनसांग के अनुसार इस काल में भी वस्तु-विनिमय पद्धति विद्यमान थी।

पूर्वमध्यकाल

इस काल के शासकों ने चाँदी और ताँबे की मिश्रित धातु के सिक्के चलाए परन्तु उनमें न तो वजन एक जैसा है और न शुद्धता।

सेन शासकों के ताम्र-लेखों से ज्ञात होता है कि भूमि-कर कपर्दक पुराणों में निश्चय किया जाता था। कपर्दक का अर्थ कौड़ी और पुराण चाँदी का सिक्का था। 80 कौड़ी बराबर थी 1 पण के या ताँबे के कार्षापण के और 16 पण या 1,280 कौड़ी बराबर हुए एक पुराण के।

डाहल के कलचुरिवंश के शासक गांगेयदेव विक्रमादित्य (लगभग 1015-41 ई०) ने गुप्त सम्राटों के सिक्कों के अनुरूप सीसे के सिक्के चलाए। जैजाकमुक्ति के चन्देल शासकों ने गांगेयदेव के सिक्कों की नकल की। इनके प ष्ठभाग में बैठी हुई लक्ष्मी की आकृति बनी है।

चाहमान शासकों ने साँड और घुड़सवार के चाँदी के सिक्के चलाए। ये उत्तर पश्चिमी भारत केक शाही वंश के शासकों के चाँदी के सिक्कों की नकल थे। उत्तर भारत के तुर्क शासकों ने भी प्रारंभ में इन्हीं के अनुरूप सिक्के चलाए।

कश्मीर के इस काल के शासकों ने ताँबे के भी सिक्के चलाए।

दक्षिण भारत के चालुक्य शासकों ने जो सोने के सिक्के चलाए वे पद्मटंक कहलाते हैं उन पर सूअर की आकृति बनी होती थी। दक्षिण भारत में सबसे अधिक प्रचलन वराह नाम के सिक्के का था क्योंकि इन पर सूअर की आकृति बनी होती थी। उन्हें सोने का गद्यान भी कहा जाता था। उनका वजन 48 रत्ती होता था।

इसी सिक्के को कन्नड़ भाषा में पोन या हुन, संस्कृत में निष्क और तमिल में क्लंजु या माउय कहा जाता था। यूरोपीय लेखकों ने वराह को पगोड़ा लिखा है। ताँबे का सिक्का दक्षिण भारत में काषु कहलाता था।

चोल शासकों के सिक्कों पर तीन चिह्न हैं - मछली, धनुष और चीता। संभवतः ये तीनों आकृतियाँ चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों के राष्ट्रीय चिह्न थे जिन पर अधिकार करके चोल शासकों ने इस प्रकार के सिक्के चलाए। पाण्ड्य शासकों ने मछली की आकृति वाले सोने के सिक्के चलाए।

विनिमय के अन्य साधन

कभी-कभी आभूषणों व चावलों का भी विनिमय के साधनों के रूप में प्रयोग किया जाता था। कश्मीर में चावल वेतन देने में भी विनिमय का साधन माना जाता था। कौड़िया तो विनिमय का प्राचीन काल में आम व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। रोजमर्रा की वस्तुएँ की खरीददारी कौड़ियों के माध्यम से ही की जाती रही होगी।

वस्तु विनिमय

वस्तु में बदले वस्तु की प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। गाँव में आज भी वस्तु विनिमय का एक आसान माध्यम माना जाता है तथा गाँव समुदाय अधिकतर वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति आपस में वस्तु विनिमय के द्वारा ही करते हैं।

अध्याय-3
उद्योग धन्धे और शिल्प
(Industries)

प्राचीन भारत में शिल्प व उद्योग का प्रारम्भ पाषाण औजारों के निर्माण से प्रारम्भ हुआ। प्रथम शिल्पकार पाषाणकार रहा होगा। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ मनुष्य की आवश्यकता बढ़ी वैसे-वैसे शिल्प व उद्योग न केवल बढ़ते गए अपितु उनमें वंशानुगतता, श्रम विभाजन, दक्षता और विशेषीकरण और अति विशेषीकरण आता चला गया जिससे उद्योग धन्धे विभिन्न उद्योगों और सहायक उद्योगों मे बँटता चला गया जैसे मिलन्दपान्हों में यह विभिन्न व्यवसायों का उल्लेख मिलता है, उनमें सें 60 विभिन्न प्रकार के शिल्पों से ही सम्बन्धित है और इनमें से 8 घातु उद्योग अर्थात् सोना, चाँदी, ताँबा, टिन, सीसा, पीतल और लोहा आदि धातुओं से सम्बन्धित है।

प्राप्त साहित्यिक प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ शिल्प कुछ क्षेत्रों में वैदिककाल से ही काफी हद तक विकसित अवस्था में थे। वैदिककाल में कुम्हार (Potter) के लिए ही कई शब्दों का प्रयोग मिलता है जैसे कुलाल या कौलाल, म तपका (Kulal, Mrtapaca) एक ही व्यवसाय में कुछ अन्तर को दर्शाता है इसी प्रकार एक धनुषबाण बनानेवाला व्यक्ति अलग है और रथकार अलग है जबकि होमरीक ग्रीस में कुछ शताब्दियों के बाद तक वही बढ़ई हल बनाता नजर आता है वही गहने और वही धनुषबाण। प्रारम्भ ऐसा लगता है कि ग्रीस में विशेषीकरण नहीं हो पाता था परन्तु यह भी नही भूलना चाहिए हेलेनिस्टिक (Halenistic) काल में यहाँ का शिल्पकार दुनिया का सबसे दक्ष शिल्पकार हो गया था।

उद्योगों और शिल्प का आगे फिर विभाजन और उपविभाजन होते चले जाना उद्योग धन्धो में होते जा रहे विकास को इंगित करता है। प्राचीन काल में शिल्पों में वंशानुगतता आती चली गई और जाति विशेष से भी बँधते चले गए। परन्तु विशेष परिस्थितियों में शिल्प-उद्योग को व्यवसाय के रूप में अपनाने की अनुमति ब्राह्मण और क्षत्रिय को भी दे दी गई।

वस्त्र उद्योग (Textiles or Wearing Industry): यह एक प्राचीनतम शिल्प में से एक है। वस्त्र बनाने के लिए सुई, ऊन, रेशम, सन इत्यादि को प्रयोग में लाया जाता था। यह बड़े आश्चर्य की बात है की रूई (Karpasa) जिससे अधिकतर वस्त्र बनाए जाते थे, उसका वर्णन पाँचवी शताब्दी ई.पू. में प्राचीन भारतीय साहित्य में नहीं मिलता परन्तु सूती वस्त्र के उपयोग के साक्ष्य हड़प्पन सभ्यता से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं जैसे हड़प्पा के स्थल से ताँबे के एक जार के ढक्कन के साथ सूती कपड़े के टुकड़े का मिलना इस बात की पुष्टि कर देता है कि हड़प्पा सभ्यता के लोग रूई कातकर उसके धागे से कपड़ा बुनने की कला से परिचित थे और वे न केवल सूती कपड़े का प्रयोग स्वयं करते थे अपितु संभवतः जैसा कि गॉर्डन चाइल्ड कहते हैं, सुमेर आदि देशों को भी निर्यात करते थे।

मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, मैसूर और केरल यहाँ की मिट्टी दक्षिण के लावा से आई काली नमी वाली होने के कारण इन क्षेत्रों में काफी मात्रा में तथा बढ़िया किस्म की कपास होती थी। थोड़ी

बहुत मात्रा में कपास लगभग सम्पूर्ण भारत में ही उगाई जाती रही होगी। अर्थशास्त्र के अनुसार अपरान्त कनकन, कलिंगा (उड़ीसा), वेंग (पूर्वी बंगाल) वत्स (कौशाम्बी) तथा महिस (जबलपुर) कपास के केन्द्र थे।

प्राचीन काल के पश्चिमी क्लासिकल लेखकों ने भारत में बने सूती वस्त्रों की प्रशंसा की है। हीरोडोटस के अनुसार भारत के रेशम के वस्त्रों की तुलना में सूतीवस्त्र कहीं अधिक सुन्दर तथा उच्च किस्म के थे। एरिरियन (Arrian) के अनुसार भारत की कपास अन्य देशी की कपास के प्रभाव से अधिक सफेद और चमकदार है। इसी प्रकार, प्लिनी, नियारकस आदि लेखको मे भी भारतीय कपास के सूती कपड़े की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

भारत मे सूती वस्त्र उद्योग उत्तरोत्तर बढता गया। इसकी प ष्टि समकालीन साहित्य से हो जाती है। मनु कपास को एक विशेष पवित्रता का स्थान देता है। उसके अनुसार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत (Sacrificial Thread) कपास के सूत का बना हुआ होना चाहिए। क्षत्रिय का सन वैश्य का ऊन का। प्रथम शताब्दी की एक जैन पुस्तक (अचरांग सूत्र) में कपास की विभिन्न किस्मों का वर्णन मिलता है जैसे बंगाल की कपास, नीली कपास, साधारण कपास। इसी प्रकार चौथी शताब्दी की पुस्तक अमरकोश में भी विभिन्न प्रकार की कपास का वर्णन है जैसे (i) **तुण्डीकेरी** (Tundikeri), (ii) **वाडर** (Uadara), (iii) **समुद्रान्त** (Samudranta), (iv) **कारपास** (Karpasa)

इस प्रकार प्राचीन काल में जैसा कि हमने जिक्र किया है उत्तरी और पश्चिमी भारत के सभी इलाकों में कपास पैदा की जाती थी और इनमें बनारस, गुजरात तथा गांधार कपास के प्रमुख केन्द्र बन गए। अर्थशास्त्र के अनुसार उस काल में बंगाल वस्त्र उद्योग का सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया जहाँ सूती, रेशमी तथा लीनन के कपड़े तैयार किए जाते थे। बंगाल की मलमल तो भारी मात्रा मे विदेश भेजी जाती थी। विभिन्न प्रकार के सूती वस्त्रों की भी विदेशी बाजार में बहुत माँग थी। उज्जयनी और टगरा से काफी भारी मात्रा में सूती वस्त्र व कपास अरबिया, सोमोत्रा तथा मिस्र भेजा जाता था। रोम भारतीय सूती वस्त्र के खपत का सबसे बड़ा बाजार था। इसकी पुष्टि कपास उगानेवाले क्षेत्रों में रोम के सिक्कों का काफी मात्रा में मिलना है।

ऊनी वस्त्रः प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में ऊन (Urna) का उल्लेख अकसर मिलता है। बाद के साहित्य में ऊन की विभिन्न किस्म का वर्णन मिलता है जैसे ऊर्णाज (Urnaja), **रांकवा** (Rankava) कम्बल (Kambala)। जिससे स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रकार की ऊन का इस्तेमाल विभिन्न वस्तुओं के बनाने में किया जाता था। पाणिनि ने विभिन्न प्रकार के कम्बलों का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र से भी स्पष्ट होता है कि इस काल में देश के कुछ हिस्सों में ऊनी वस्त्र बनाने का उद्योग काफी विकसित था। गर्म इलाके में ऊन का प्रयोग कम होने के कारण ऊन उद्योग मे इतने अधि ाक संदर्भ हमें नहीं मिलते।

तिब्बत की भेड़ों से प्राप्त ऊन भारत में प्राप्त ऊन में उच्चतम किस्म की ऊन होती थी प्राचीन काल से ही काश्मीर के व्यापारी तिब्बत के ऊपरी इलाके से आयात करते रहे हैं। एशिया तथा अफगानिस्तान से भी ऊन भारत आती रही है। महाभारत के अनुसार पश्चिमी भारत के शक और रोमक (Romakas) तथा गुजरात के अमीर पांडवों के लिए ऊन उपहार स्वरूप लाए। आज भी भारत की ऊन की उच्च किस्म का स्त्रोत उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती इलाके, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के कुछ पर्वतीय इलाके रहे है।

जातकों में वर्णित उदियान के कम्बल आज भी प्रसिद्ध है नेपाल भी ऊन का बहुत प्राचीन केन्द्र काल से ही केन्द्र रहा है। अर्थशास्त्र में नेपाल के आठ तहों (Eight Fold) के कम्बल, जो कि भिंगीसी के नाम से जाना जाता था, का उल्लेख मिलता है।

ऊन तथा ऊन से तैयार माल का विदेशों में निर्यात भी किया जाता था। पेरिपल्स बारबरिकम की बन्दरगाह (सिन्धुनदी पर) से फर (Fur) के निर्यात किए जाने का उल्लेख करता है संभवतः ये माल दक्षिण भारत से आता था ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में यहाँ से ऊन मिस्त्र तथा सीरिया भेजी जाती थी।

रेशम वस्त्र उद्योग (Kauseya): रेशमी वस्त्र का सबसे पहला संदर्भ संभवतः पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। बौद्ध साहित्य में भी यहाँ-वहाँ यदा-कदा रेशम का उल्लेख मिल जाता है। एक भिक्षु को रेशम का केवल लबादा (Mantle) पहनने की अनुमति दी गई थी। इसमें संदेह नहीं कि उस समय तक रेशम बहुत ही कम प्रयोग में था। अर्थशास्त्र तथा समकालीन अन्य साहित्यों में 'कौशेय' शब्द को छोड़कर अन्य नाम जैसे पटरोरणा (Patrorna) चीन पट्ट (Cinapatta) चीना शुक, (Cinanisuka), कीतज (Kitaja), पट्ट (Patta) चीना कौशेय (Cinakaushoya) आदि आए हैं। जिनका अक्सर अर्थ सिल्क से लगाया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि सिल्क के वस्त्र बनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के रेशम का प्रयोग किया जाता होगा। सिल्क की मुख्यतः दो किस्में रही है। पहली किस्म की सिल्क वह थी जो रेशम के कीड़ो को शहतूत के पेड़ो पर पालकर उनसे प्राप्त की जाती थी, जो असली सिल्क होती थी।

दूसरी किस्म की सिल्क जंगली कीड़ो से प्राप्त हो जाती थी इनमें से वाणिज्य द ष्टि से भारत के लिए तीन किस्म ही महत्त्वपूर्ण थी-मूंगा, हसर तथा ऐरी। सिल्क की किस्म के लिए अर्थशास्त्री में चीनापट्ट या चीनांशुक शब्दो के प्रयोग करने का, जी.एल.आधेय के अनुसार, जरूरी नहीं कि यह सिल्क चीन से आयात की जाती होगी। क्योंकि प्रथम शताब्दी से पूर्व वे हमें चीन से सिल्क आयात करने के कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नही है उस समय तक यह मुख्यतः (Commodity on transit) ही थी।

उत्तर पश्चिमी तथा उत्तर पूर्वी व्यापारिक रास्ते से ईसा की प्रथम शताब्दी में चीनी सिल्क के भारत में आने से घरेलू सिल्क उद्योग को भी बढ़ावा मिला और जैसा कि जी.एल. आधेय कहते है कि चीन की बढ़िया सिल्क के साथ भारतीय सिल्क भी रोम साम्राज्य को जाती रही हो जो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

रेशे से तैयार वस्त्रोद्योग (Flax Textile)

प्राचीनकाल में विश्वभर में पेड़ पौधों के रेशो से वस्त्र तैयार करने का उद्योग सबसे अधिक प्रचलन में था। प्राचीन भारत के प्रारम्भिक साहित्य में हमे 'क्षोम' (Ksanma) नामक वस्त्र का विवरण मिलता है, जो बहुत से विद्वानों के अनुसार रेशो (Ksama or Uma) तथा अलसी (Linseed) द्वारा बना लिनन का वस्त्र था। लेकिन वाट के अनुसार क्षोम के लिनन होने पर शक है क्योकिं बहुत लम्बे समय तक अलसी का प्रयोग वस्त्र बनाने के लिए नहीं वरन् तेल निकालने के लिए ही किया जाता रहा था। उसके अनुसार क्षोम एक प्रकार की घास थी जो कि चीन मे भी हान तथा तांग के काल मे वस्त्र बनाने के प्रयोग में लाई जाती थी। और इस प्रकार की घास अभी उत्तरी बंगाल तथा आसाम में पाई जाती है। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार क्षोम भी मूलतः सिल्क ही थी। अमरकोश में इसे छाल के रेशे से बने वस्त्रों के रूप मे उल्लेखित किया है। परन्तु इस काल में अलसी (Linseed) का प्रयोग दोनों ही रूप मे वस्त्र तथा तेल निकालने के लिए किया जाता था। कल्लुक के अनुसार क्षोम वह वस्त्र था जो कि अलसी के रेशे (Linseed) से बनाया जाता था। अतः जैसा लगता है कि अलसी का रेशा प्राचीन काल मे वस्त्र बनाने के काम मे लाया जाता था और इससे बुने वस्त्र को क्षोम कहा जाता था या नहीं यह निश्चितरूप से कहना कठिन है। देश के प्रत्येक हिस्से मे अलसी (Linsead) बोई जाती थी पेरिप्लम् पश्चिमी भारत की बन्दरगाहों द्वारा लिनन के विदेशों में आयात का उल्लेख करता है संभवतः यह मिस्त्र से लाया जाता था।

सन और भांग के वस्त्र (Hemp): प्राचीन काल में सन द्वारा भी वस्त्र बनाए जाते थे। समकालीन साहित्य में इससे तैयार वस्त्रों के विभिन्न नामों से उल्लेख मिलते है। ये वस्त्र उद्योग में लगे शिल्पियों की उच्च कोटि की तकनीकी ज्ञान के प्रतीक हैं।

मेगस्थनीज के विवरण तथा पुरातात्त्विक प्रमाणों से शिल्पकारों द्वार बनाए गए महीन वस्त्रों की पुष्टि हो जाती है। यहाँ तक कि जहाँ तक वस्त्र उद्योग का प्रश्न है। प्राचीन भारतीय वस्त्र बुनकरों ने इस कला में एक सीमा तक दक्षता तथा विशेषीकरण वैदिक काल में प्राप्त कर लिया था जैसा कि वैदिकसाहित्य में ही बुनकर, रंगरेज तथा कढ़ाई करनेवालों के अलग-अलग नाम दिए हैं। इस शिल्प के विकास में महिलाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है बाद के साहित्य में राज्याधिकारी ने स्त्रियों को विशेषरूप से असहाय महिलाओं को इस धन्धे मे लगाने के आदेश दिए गए। मिलिन्दपान्हों से ज्ञात होता है कि एक स्त्री महिला स्वयं ही रूई साफ करने से सूत कातने तक और सूत कातने से वस्त्र बुनने तक के चरणों को पूर्ण करती थी।

साहित्यिक साक्ष्यों से हमें वस्त्र बुनने से सम्बन्धित सभी तकनीकों तथा चरणों की जानकारी प्राप्त होती है। इनमें हमें इससे सम्बन्धित तकनीकी शब्दों अर्थात् ताक तारकू (Spindle), वेमन (Loom) (खड्डी) टसर (Shuttle)। जिससे कताई बुनाई के सारे चरण पूर्ण होने का उल्लेख मिलता है।

दिव्यावदान मे भी कताई बुनाई से सम्बन्धित विभिन्न चरणों का उल्लेख मिलता है। रूई को साफ करने के पश्चात् उससे एक जैसा तथा उच्च किस्म का महीन सूत काता जाता था। बुनकर की पत्नी खड़ी होकर ताना बाना तैयार करती थी। तब बुनकर उस पर वस्त्र बनाता था। अन्य साहित्यों में भी धागे को स्टार्च की बात कही गई है। ताकि बुने हुए वस्त्र का वजन बढ़ सके। अर्थशास्त्र में इस प्रकार सूती वस्त्र मे 10 प्रतिशत लिनन तथा सिल्क में ½% अंत में 2% वजन बढ़ने की बात कही गई है। उस समय चावल की मांड को स्टार्च के रूप में प्रयोग करने का वर्णन है। इसी प्रकार कपड़ा रंगने की कला भी प्राचीलकाल में बहुत पहले से ही लोग परिचित थे। मोहनजोदड़ो में वनस्पति तथा प्राक तिक वस्तुओं को प्रयोग ही रंगने के लिए किया जाता था। रंगने के काम में नील, लाख तथा मंजिठा को लिया जाता था। पेरिप्लस् में बैंगनी रंग के आयात का वर्णन मिलता है। प्राचीन काल में भारतीयों ने रंगने की पेचीदा तकनीक को अपनी कुशलता से पूर्ण जज्ब किया और मास्टरी की ताकि कपड़ों को सही ढंग से पक्का रंगा जा सके। इसकी पुष्टि पुरातात्त्विक अवशेषों में कहीं-कहीं प्राप्त कपड़े के टुकड़ों से की जा सकती हैं जैसे बेराट (200 B C) से बुने हुए कपड़े का एक टुकड़ा प्राप्त हुआ। जिसके बारीकी से अध्ययन स्पष्ट हो जाता है कि उस समय वस्त्र बुनने में लगे शिल्पी बहुत ही उच्च कोटि का कपड़ा तैयार करते थे इसी प्रकार रंगमहल से प्राप्त कुछ म द्भाण्डों के टुकड़ों पर बुने हुए वस्त्र के निशान है जो कि हमें कुषाणकाल के वस्त्रों पर बने हुए कुछ डिजाइनों की जानकारी देते हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल मे वस्त्र उद्योग बहुत की विकसित उद्योग तथा वे बारीक व सुन्दर वस्त्र बुनने, रंगने तथा उस पर डिजाईन बनाने की सभी कलाओं में दक्ष थे। प्राचीनकाल से ही काफी बड़ी मात्रा मे कपड़ा विदेशों मे निर्यात किया जाता था।

धातु उद्योग

यद्यपि हड़प्पा काल में भी प्रस्तर के औजार ही मुख्य बने रहे परन्तु धातु उद्योग भी धीरे-धीरे विकसित हो रहा था। यद्यपि हड़प्पा के लोगों को अभी लोहे का ज्ञान नहीं हुआ था परन्तु अन्य धातु जैसे ताँबा, सोना, चाँदी, टिन से परिचित ही नहीं हुए थे। अपितु, इनसे विभिन्न प्रकार के औजार, खिलौने व मूर्तियाँ आदि बनाने की तकनीक जान चुके थे। यही नहीं अपितु दो धातुओं को मिलाकर मिश्रित धातु जैसे ताँबा तथा टिन मिलाकर कांस्य बनाने की कला भी जान चुके थे

और इसलिए यह सभ्यता कांस्य सभ्यता के नाम से भी जानी जाती है। हड़प्पा काल से यह उद्योग बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा विकसित होता चला गया। ऋग्वैदिक काल में यद्यपि मुख्यतः पशुचारण कबीलाई अर्थव्यवस्था थी परन्तु इस समय में अनेकों शिल्प विद्यमान थे। सोना और अयस ये दो धातु थे। जिनका ऋग्वैदिक लोगों ने उपयोग किया बाद में धातुकार को कार्यो का विशिष्टता के आधार पर विभाजन होता चला गया। मिलिन्दपान्हों में धातुकार की एक सूची मिलती है जैसे सोना, सीसा, टिन और लोहा इन सब में भिन्न-भिन्न धातुकार अपनी विशिष्टता के आधार पर अलग-अलग कार्य कर रहे थे। खानों पर स्वामित्व का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इससे सम्बन्धित जानकारी केवल मात्र एक स्त्रोत से ही मिलती है और वह है अर्थशास्त्र। इसके अनुसार खानों पर राज्य का एकमात्र स्वामित्व। अधिकार था परन्तु दान दी गई भूमि के ऊपर और गर्भ के स्त्रोतों पर दानग ही को अधिकार दे दिया जाता था जैसा कि सातवाहनकाल तथा उसके बाद में अनुदान पत्रों से स्पष्ट होता है।

ताँबे का औजार

ताँबे और कांस्य धातु का प्रयोग हड़प्पा काल के लोगों ने अपनी रोजमर्रा के जीवन में काम आने वाली वस्तुओं के निर्माण में किया। इसमें लैड (Lead) की मिश्रित मात्रा से स्पष्ट हो जाता है कि ताँबा कच्चे रूप (Raw Material) में बिलोचिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान और संभवतः राजस्थान से लाया जाता था। ताँबे के प्रयोग को साहित्यिक साक्ष्य हमें उत्तरवैदिक काल से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। पुरातात्त्विक अवशेषों मे बिलोचिस्तान में मुंडिगम और कीली गुलमुहम्मद से अनेको ताँबे में औजार मिले हैं। इसी प्रकार हड़प्पा संस्क ति से पूर्व के ताँबे के औजार अमरी कोट दीर्जा और कालीबंगा मिले हैं। कालीबंगा में सबसे पहला ताँबे का कुठार मिला है जिसका विकसित रूप हमें हड़प्पा संस्क ति में मिलता है।

हड़प्पा संस्क ति में ताँबे के कुठार, चाकू, भाले और तीरों के अग्रभाग, छोटी आंरियाँ आदि मिली है। संभवतः इन औजारों को बनाने के लिए ताँबा राजस्थान से लाया जाता था।

हड़प्पा संस्कृति में तांबे और कांसे के सुन्दर बर्तन भी बनाए जाते थे। ये तांबे को पीटकर बनाए जाते थे।

हड़प्पा संस्कृति ने अन्तिम दिनों और उसके बाद की संस्कृतियों में अनेक प्रकार के तांबे के कुठार, छुरे और कटार मिले है। दक्षिण भारत में ब्रह्मगिरी, पिकलीहल, मस्की या हल्लूर में जो ताँबे और कांसे के औजार मिले हैं उनमें प्रमुख छेनियाँ, कुठार और मछली मारने के काँटे हैं। ये सभी औजार बनने लगे जैसे कि हल्लूर से प्राप्त तलवारें और चन्दोली से प्राप्त भाले का अग्रभाग।

उत्तर-प्रदेश और मध्य-भारत से जो ताँबे के संचय मिले है वे भी हड़प्पा संस्कृति के बाद के हैं। इनमें ताँबे के बर्तनों में कांसे की मिलावट उतनी ही अधिक है। जितनी की हड़प्पा संस्कृति के बर्तनों में थी। सबसे अधिक कांसे के बर्तन आदि-चनल्लूर में मिले है जो कि लौह युग के हैं। इनमें कुछ बर्तन ढक्कनदार हैं। इनका भेड़ों, भैसों, चिड़ियों और कुत्ते की आकृतियों द्वारा अलंकरण किया गया है। लौह युग की कांसे की घटियाँ भी कई स्थानों पर मिली है।

सोना

हड़प्पा संस्कृति मे सोने की कुछ वस्तुएँ मिली है। इनमें कुछ मनके, लटकन, बाजूबन्द, जड़ाऊ पिन और सुइयाँ आदि हैं। इस सोने में चाँदी की मात्रा पर्याप्त थी इसलिए इसका रंग सफेदी की ओर है। संभवतः यह सोना मैसूर से लाया जाता था। लौह युग की कब्रों में भी सोने की वस्तुएँ बहुत कम संख्या में मिली है। महाराष्ट्र में डैमाबाद में सोने का एक लटकन मिला था। आदि-चनल्लूर

में कब्रों में सोने के मुकुट मिले हैं। हड्डी आदि अन्य बस्तियों के उत्खनन से यह स्पष्ट हो गया है ईसा के सन के प्रारंभ से पूर्व ही दक्षिण भारत के निवासी गहरी खानें खोदकर सोना निकालते थे।

चाँदी

सबसे प्राचीन चाँदी की वस्तुएँ संस्कृति मे मिली है। चाँदी के बड़े बर्तन, वक्सुआ, और मनके मिले हैं।

वैदिक काल (लगभग ईसा पूर्व 1500-600 तक)

ऋग्वेद के अध्ययन से स्पष्ट है कि जिस समय इसके सूक्तों की रचना हुई समाज मे अनेक शिल्पों का विकास हो चुका था। हम पहले लकड़ी, कपड़ा, धातु, म द्भाण्ड और चमड़े की वस्तुएँ इन पाँच शिल्पों का विवेचन करेंगे।

धातु-शिल्प

(1) **सोना-** ऋग्वेद में सोना और अयस् दो धातुओं का स्पष्ट उल्लेख है। सोने से अनेक आभूषण बनाए जाते थे जैसे कर्णफूल (कर्णशोमन) गले का हार (निष्कग्रीव), दस्तबन्द और पाजेब (खादी)। सुनार (हिरण्यकार) का स्पष्ट उल्लेख है। संभवतः सोने के सिक्के (निष्क) भी बनाए जाते थे।

(2) **अयस्-** अयस् के अर्थ के विषय मे विद्वान एक मत नहीं है किन्तु इसका रंग लाली पर लिखा है। इससे यह अनुमान होता है कि यह धातु ताँबा होगा। धातु के काम करनेवाले के लिए कर्मार शब्द आया है। उस व्यक्ति के लिए जो इसे आग में पिघलाता था ध्मात न् और जो इस धातु को पीटता था उसके लिए अयोहत। इस धातु के बर्तन बनाए जाते थे (धर्म अयस्मय)। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कार्य का विभाजन ऋग्वैदिक काल में ही हो गया था।

(3) **चाँदी अथर्ववेद** में चाँदी (रजत) का भी उल्लेख है। इस संहिता के अनुसार इस धातु की वस्तुओं को धारण करनेवाला व्यक्ति शक्तिशाली होता है। उत्तर वैदिक काल के अन्य ग्रंथों मे चाँदी के आभूषणों तथा थालियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। इस धातु के निष्क भी बनाए जाने लगे।

(4) **लोहा अथर्ववेद** में लोहे के लिए श्याम या कृष्ण, अयस् शब्द प्रयुक्त किय गए हैं इसकी तलवार भी बनाई जाती थी। आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि आर्यों ने लोहे का प्रयोग उत्तर वैदिक काल में ही आरंभ किया जब वे उत्तर प्रदेश में पहुँच गए थे। हस्तिनापुर, आलमगीरपुर, नोह, अतरंजीखेड़ा, बटेसर आदि स्थानों में भालों के अग्रभाग आदि लोहे की वस्तुएँ प्राप्त हुई है। ये सब स्थान कुरु-पांचाल प्रदेश में है। संभवतः इसी काल में लोहे के फाल का प्रयोग प्रारंभ हुआ। जिससे कृषि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और अन्न का उत्पादन अत्यधिक होने लगा। इसी कारण आसन्दी वन्त, कारौती, मष्णार, काम्पिल्य, कौशाम्बी और परिचक्रा जैसे नगरो का विकास हुआ।

उत्तर वैदिककालीन संहिताओं से ज्ञात होता है कि टीन (त्रपु) सीसा(सीस) की वस्तुएँ भी बनाई जाती थीं।

वाजसनेयि संहिता में मणियों के आभूषण बनानेवालों (मणिकार) का भी उल्लेख है।

ऋग्वेदिक कार्य धातुओं के पिघलाने की विधि से भली-भाँति परिचित थे। उत्तरवैदिक काल में इस प्रक्रिया में सुधार हुआ और अनेक धातुओं का बड़े पैमाने पर प्रयोग होने लगा।

लगभग ईसा पूर्व 600 से 300 ई० तक

इस काल में शिल्पों में विशिष्टीकरण प्रारंभ हो गया। प्रत्येक कार्य विशेषज्ञ करने लगा इसके निम्नलिखित कारण थे।

(1) शिल्पियों को कच्चे माल की पूरी जानकारी हो गई और उन्होनें कुछ नये औजार निकाल लिए जिनके द्वारा कम समय में और अच्छी वस्तुएँ बनाना संभव हो गया।

(2) श्रेणियों मे संगठित होने के कारण शिल्पी का पुत्र पिता से अपने शिल्प को सीखता था और काम सीखनेवाले भी शिल्पी के परिवार में रहकर कुशल शिल्पी हो जाते थे।

(3) जब वस्तुओं की बाजार में माँग बढ़ी तो शिल्पों मे विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिला। वस्तुओं की माँग बढ़ने के दो कारण थे यातायात के साधनों का विकास और विदेशों मे प्रतियोगिता होने के कारण वस्तुओं में सुधार करना आवश्यक हो गया।

(4) जब राज्य ने शिल्पों को संरक्षण दिया तो शिल्पों की उन्नति हुई और व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला। राज्य ने व्यापारियों की सुरक्षा के लिए उचित प्रबन्ध किया और शिल्पियों को आर्थिक सहायता दी। इसका प्रमुख कारण यह था कि शिल्पों की उन्नति से सरकार को शुल्क के रूप में अधिक आय होती थी।

धातु उद्योग

सूत्र ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इस काल में ताँबे और लोहे के बर्तन बनाए जाते थे। सोने के चम्मच और पीतल के घंटे-घडियाल बनाए जाते थे। चाँदी के बर्तन व आभूषण बनाए जाते थे। डायोडोरस ने लिखा है कि भारत में सोना चाँदी और लोहे की अनेक खाने हैं और टीन और अन्य धातुओं से भी आभूषण और युद्ध के लिए उपयोगी वस्तुएँ (कवच सिर के टोप आदि) और हथियार बनाए जाते हैं। स्ट्रैबो ने भी लिखा है कि भारत मे सोने और चाँदी की अनेक खानें हैं।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 'आकर कर्मान्त' प्रवर्तनम् शीर्षक अध्याय में स्पष्टरूप से लिखा है कि मौर्य काल में खानों से अनेक धातुएँ निकाली जाती थी। कच्ची धातुओं से साफ करके अनेक मिश्रित धातुएँ बनाई जाती थी। बुद्ध ने किस प्रकार लुहार धौकनी से लोहे को पिघलाकर उसे चाहे जिस आकार का बना लेता है इसका वर्णन दीघनिकाय में किया है। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध के जीवन काल में ही धातु-विज्ञान की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। मौर्य काल में राज्य का संरक्षण मिलने से इसका अत्यधिक विकास हुआ।

लोहा

जब धातुओं के विषय में पूरी जानकारी हो गई तो धातु के काम करनेवालों के कार्य का विभाजन होकर विशिष्टीकरण होने लगा। मिलिन्द-प ह में सोना-चाँदी, सीसा, टीन, ताँबा, पीतल और लोहे की वस्तुएँ बनानेवालों के अलग-अलग नाम दिए हैं। परन्तु गाँव में सबसे अधिक महत्त्व लुहार का था। लुहारों के अलग गाँव (कम्मार गाम) थे। जिनमें आकार गाँव वाले कुठार, फाल, चाबुक का अग्रभाग आदि बनवाते थे। जातकों से यह भी स्पष्ट है कि लुहार काफी अच्छे औजार बनाते थे। लुहार किसानों, मालियों, बढ़इयो के लिए औजार तो बनाते ही थे वे युद्ध के लिए कवच, सिर के टोप और हथियार भी बनाते थे। मौर्य काल में लुहारों को आर्थिक सहायता दी जाती थी ओर

यदि कोई व्यक्ति उनकी आँख या हाथ को हानि पहुँचाता था तो उसे प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी। लोहे के शस्त्रों का इतना महत्त्व था कि अर्थशास्त्र में शास्त्रागार के निरीक्षक के कार्यों का अलग अध्याय में विवेचन किया गया है। इस काल में तीर बनानेवाले (उसुकार), लुहारों से अलग विद्यमान थे। इससे स्पष्ट है कि इस काल मे शिल्पों में विशिष्टीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। तक्षशिला के निकट सरकप मे लोहे की अनेक वस्तुएँ जैसे कि बर्तन, हथियार, कवच, घोड़े की लगाम, हाथी का साज, औजार और सुई आदि मिली है। मार्शल के अनुसार इन वस्तुओं का लोहा बहुत साफ किस्म का था। इसका अर्थ है कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों मे भारतीय लोहे से इस्पात बनाना भली-भाँति जानते थे किन्तु वे इस पर पानी रखना (कड़ा करना) नहीं जानते थे। पेरिप्लस में लिखा है कि भारत से लोहे और इस्पात की बनी वस्तुएँ अफ्रीका के बन्दरगाहों को भेजी जाती थी।

सोना

सुनार अलग अपने गाँवों में नहीं रहते थे, वे नगरों में रहते थे। अर्थशास्त्र में सोना और चाँदी के बर्तन व आभूषण बनानेवालों का अलग अध्याय में विवेचन किया है। उसमें अलंकरण, तार खींचना व मणि जड़ना आदि का कौटिल्य पूरा वर्णन दिया है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में सोने को साफ करने, उस पर पालिश करने और चाँदी को साफ करने आदि का पूरा वर्णन मिलता है। हेरेडोटस ने लिखा है कि भारत के निवासी ईरान को कर के रूप में 360 टेलेंट सोना का चूर्ण देते थे। कुषाण शासक सोने के सिक्के बनाते थे उसके लिए अवश्य ही विदेशों से मँगाते होंगे। सुनार और चाँदी के सिक्के भी बनाते थे अर्थशास्त्र मे सिक्कों के बनाने की मजदूरी अलग-अलग सिक्कों के अनुसार लिखी है। तक्षशिला के अधिकतर चाँदी के आभूषणों पर विदेशी प्रभाव दिखलाई देता है।

ताँबे कांसे और अन्य धातुओं की वस्तुएँ

उत्तर बिहार मे रामपुर्वा के अशोक के स्तम्भ मे एक ताँबे का काबला मिला था। विद्वानों के अनुसार इसका समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी है। इसे ढालकर बनाया गया था। और पीट कर ठीक आकार में लाया गया था। स्ट्रेबो ने भारतीय ताँबे का उल्लेख किया है। पेरिप्लस में लिखा है कि तांबा भडोंच से विदेशों को भेजा जाता था। उसी में लिखा है कि सीसा विदेशों से भारत लाया जाता था। अर्थशास्त्र में जस्त (अरकुट) का भी उल्लेख है। चरकसंहिता और मनुस्म ति में पीतल के लिए 'रिति' शब्द प्रयुक्त किया गया है। तक्षशिला में ताँबे और कांसे के इस काल के औजार, बर्तन, आभूषण, मूर्तियाँ और कुछ अन्य वस्तुएँ मिली है। इन वस्तुओं पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है।

(लगभग 300ई० से 600ई०)

धातु शिल्प

भारत में खनिज पदार्थ बहुतायत से उपलब्ध थे। रेखा नामक स्थान पर कुषाण शासकों के सिक्कों के अनुरूप कुछ सिक्के मिले थे। विद्वानों का मत है कि ये सिक्के कुषाण शासकों ने नहीं जारी किये थे क्योंकि 220 ई० के लगभग कुषाणों का राज्य उत्तर पूर्वी भारत में समाप्त हो गया था। गुप्त काल के प्रारंभ से पूर्व या गुप्त काल के प्रारंभिक दिनों में कुषाणों के सिक्कों के अनुरूप ये सिक्के किसी अन्य शासन ने जारी किये। अमरकोश मे कच्चे व पक्के सोने, लोहा, लोहे की छड़ों और खानों का उल्लेख हैं ब हत्संहिता में खानों का उल्लेख है। किन्तु इनमें से किसी भी ग्रंथ मे चाँदी की खानों का जिक्र नहीं है इसका यह अर्थ है कि चाँदी भारत में खानों से नहीं निकाली जाती थी। इसका आयात संभवतः श्रीलंका और अफगानिस्तान से किया जाता था। अमरकोश में

सोना व लोहा के अतिरिक्त चाँदी, ताँबा, पीतल, सीसा और टीन का भी उल्लेख है। काम-सूत्र में धातु विज्ञान को 64 कलाओं में से एक कला लिखा है। ब हस्पति ने भी सोना, चाँदी और अन्य धातुओं की वस्तुएँ बनानेवालों का उल्लेख किया है। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि गुप्तकाल में धातु शिल्प में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी।

लोहा

पुरातात्त्विक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि लुहार इस काल में हथौड़े, छेनियों, कुठार, ताले, छेददार चादरें, दरवाजे के कुन्दे, चम्मच, कटार, कुल्हाड़ी, और छोटे बर्तन आदि बनाते थे। परन्तु मेहरौली का लोहे का स्तम्भ इस काल के लोहे के शिल्प का श्रेष्ठ उदाहरण है। यह 28 फुट लम्बा है और इसका व्यास 16.4 इंच है और इसका वजन 6 टन से अधिक है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें जंग नहीं है और इसका अभिलेख अब तक पूर्णतया स्पष्ट है। पर्सी ब्राउन ने इसके शिल्प की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस काल मे लुहार किसानों, मालियों, लकड़ी काटनेवालों, घास काटनेवालों ग हस्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति तो करते ही थे वे सैनिक के लिए हथियार भी बनाते थे जैसाकि अमरकोश की निम्नलिखित सूची से स्पष्ट हैः फावड़े, हसिया, फाल, जंजीर, लोहे की चादर, कढ़ाई, तलवार और अन्य हथियार।

सोना

सुनार नगरों में रहते थे क्योंकि वे अधिकतर धनी व्यक्तियों के लिए आभूषण बनाते थे। कामसूत्र में मणियों की परीक्षा, धातुओं को मिलाने की कला और मणियों के ज्ञान को 64 कलाओं मे गिनाया गया है। सुनारों के लिए ये सभी कलाएँ जानना आवश्यक था। वे सुन्दर आभूषण बनाते थे। इस काल में केवल स्त्रियाँ ही आभूषण नहीं पहनती थी। धनी पुरुष भी अनेक प्रकार के आभूषण पहनते थे। गुप्ताकालीन साहित्य और पुरातात्त्विक साक्ष्य से स्पष्ट है कि आभूषण बनाने का शिल्प इस काल में खूब फल फूल रहा था।

ताँबा और कांसा और पीतल

अमरकोश में लुहार और सुनार के अतिरिक्त केवल ताँबे की वस्तुएँ बनानेवाले शिल्पी का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि उसका भी समाज में विशेष महत्त्व था। ताँबे और कांसे के अधिकतर बर्तन और मूर्तियाँ बनाई जाती थी। दान-पत्र भी ताँबे की चादरों पर खुदवाये जाते थे। सोने चाँदी के सिक्कों के साथ-साथ ताँबे के भी सिक्के बनाए जाते थे। पीतल के भी बर्तन बनाए जाते थे। बयाना के संचय में ताँबे का एक टोंटीदार कलश और काली घाट में एक पीतल का बर्तन मिला हैं मूतियों मे उत्तर-प्रदेश से प्राप्त ताँबे की बैठे हुए बुद्ध की मूर्ति और बिहार से प्राप्त कांसे की खड़े हुए बुद्ध की मूर्ति विशेषरूप से उल्लेखनीय है। ताँबे से मुहरें भी बनाई जाती थी। राजघाट के उत्खनन में ताँबे की दो मुहरें मिली है। ताँबे की विशाल-काय बुद्ध की मूर्ति जो सुलतानगंज में मिली थी और अब वरमिंघम के संग्रहालय में है गुप्तकालीन ताँबे के शिल्प का श्रेष्ठ उदाहरण है।

(600-1200 ई० तक)

धातु उद्योग

इस काल में भी धातुओं का उपयोग पूर्णरूप से किया जाता रहा। ह्वेनसांग ने लिखा है कि उसने राजा पूर्णवर्मन की बनवाई हुई बुद्ध की ताँबे की विशालकाय मूर्ति देखी थी और उसके अनुसार उस समय हर्ष नालन्दा में पीतल का एक मन्दिर बनवा रहा था बुद्ध की मूर्ति 80 फुट ऊँची थी और मन्दिर की ऊँचाई 100 फुट या इससे अधिक रखने का विचार था।

अभिधान रत्नमाला और भविष्य पुराण में धातुओं की सूची में ताँबा, पीतल, लोहा, सीसा, टीन, चाँदी और सोने के नाम दिए हैं। अभिधान रत्नमाला से ही हमें ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र पीतल की वस्तुओं और बंगाल टीन की वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध थे। अग्नि पुराण में पाँच से अधिक ऐसे स्थानो का उल्लेख है जो तलवार बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। ये पाँच स्थान थे। खटी खत्तर, ऋषिक, (पहचान नहीं) शूर्पारक (सोपरा), बंग (पूर्वी बंगाल), अंग (बिहार के मुगेर और भागलपुर जिले)। इब्न हौकल के अनुसार सिंध मे देवाल नगर में बहुत अच्छी तलवारें बनाई जाती थी। ताँबा प्रायः सिक्के और पूजा के बर्तन बनाने के लिए उपयोग मे लाया जाता था। कांसा बर्तन बनाने के अतिरिक्त मूर्तियाँ बनाने के काम में आता था। इस काल की चोल राज्य की कांसे की मूर्तियाँ इस काल के धातु उद्योग के श्रेष्ठ उदाहरण हैं तंजौर के बड़े मन्दिर के अभिलेखों में लिखा है वहाँ के राजाओं ने बहुत अधिक वजन वाली मूर्तियाँ, आभूषण और सोना, चाँदी और ताँबे के बर्तन दान में दिए। राजराज प्रथम ने ताँबे का एक कलश जिसका वजन 3083 पल था एक मन्दिर के शिखर पर लगाने के लिए दिया था।

इस काल के लोहे के श्रेष्ठ नमूने वे लोहे के शहतीर है, जो भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क के मन्दिरों में पड़े है। परमार राजाओं की राजधानी धार का लौह स्तंभ भी इस काल के लोहे के शिल्प का श्रेष्ठ उदाहरण है। पुरी के एक मन्दिर में लोहे के 239 शहतीर पड़े है जिनकी लम्बाई 17 फुट है और उनकी ऊँचाई और चौड़ाई 6"×11" या 5"×6" है। धार मे लोह स्तम्भ की ऊँचाई 50 फुट थी।

अतः प्राचीन काल में लोगों को सभी धातुओं की जानकारी ही नहीं हो गई थी अपितु विभिन्न धातुओं को मिश्रितकर मिश्रित धातु बनाकर नये-नये धातु भी बनाना जानते थे। धातु की गुणधर्म (Properties) की भी उन्हें अच्छी खासी जानकारी हो गई थी इसलिए वे जानते थे कि किस वस्तु के बनाने में कौन सी धातु प्रयोग करें। धातु की विकसित तकनीकों पर उसने दक्षता हासिल कर ली थी। उनकी धातु की आज भी आश्चर्य में डालनेवाली कारीगरी में से महरौली का स्तम्भ लेख एक हैं।

म द्भांड उद्योग

(Pottery Industry)

प्राप्त साहित्यक स्त्रोतों तथा पुरातात्त्विक अवशेषों से स्पष्ट हो जाता है कि म द्भांड उद्योग प्राचीन उद्योगों में बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा (Popular) शिल्प था। म द्भांडो के अवशेष हमें नवपाषाण काल से ही मिलने आरम्भ हो जाते हैं। इस काल में इन म दभांडों का प्रयोग अन्न के संग्रहण (Storage), खाना बनाने और परोसने आदि के रूप में लिया। ब्लूचिस्तान में कीली गुल मुहम्मद से भी हाथ के बने मिट्टी के बर्तन उपलब्ध हुए हैं। इसके बाद के काल में चाक के बने बर्तन ब्लूचिस्तान में हर जगह से मिले हैं। इन म द्भांडों को लाल या भूरे रंग से पोता गया था और उन पर काले या लाल रंग की चित्रकारी की गई है। यहाँ के म द्भांड ईरान या मेसोपोटामिया के म द्भांडों से मिलते-जुलते थे।

सिन्ध और पंजाब के हड़प्पा संस्कृति से पहले के म द्भांडों में कई विशेषताएँ ब्लूचिस्तान के म द्भांडों की है।

पूर्व में दाओजली हैडिंग की खुदाई में हाथ के बने म द्भांड मिले हैं। ये म द्भांड चीन में म द्भांडों से मिलते-जुलते से हैं।

बुर्जाहोम के म द्भांड हाथ के बने हैं। इनमें कुछ कटोरे, कुछ बोतलों के आकार के हैं।

दक्षिण भारत उतनूर या पिक्लीहल के म द्भांड भी हाथ के बने हैं। इनमें कुछ कटोरे, कुछ मटके

टोटीदार बर्तन और थाल पर है ये बर्तन बुर्जाहोम और उत्तर पूर्वी ईरान के म द्भांडों से मिलते-जुलते हैं।

इसी प्रकार सौराष्ट्र के म द्भांड दो प्रकार के हैं, एक हड़प्पा के म द्भांडों से मिलते हैं दूसरे वे जो रंगपुर में मिले हैं इनमें कटोरे और हंडिया अधिक हैं। ये चाक के बनाए गए हैं। अहाड़ और दक्षिण राजस्थान में काले तथा लाल म द्भांड काफी मात्रा में मिले हैं।

ऐतिहासिक काल

उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में कुम्हार के लिए दो शब्दों का प्रयोग हुआ है कुलाल और म त्पच। वे किस प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाते थे जो समाज में भोजन और जल के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। अश्वमेध यज्ञ के समय कुलाल की आवश्यकता पड़ती थी राजा उसे आमन्त्रित करता था तथा छोटी-बड़ी ईंटों और पोत बनाने को कहता था जो अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करने के लिए आवश्यक था। बोद्धायन श्रोत सूत्र के अनुसार वह युद्ध के समय बाण से बचने के लिए ढाल भी बनाता था। कच्छप जातक में वर्णित है कि जब कुलाल के पुत्र के रूप में बोधिसत्व का जन्म हुआ तब वे चाक चलाने के लिए फरसे से मिट्टी खोदते थे। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि कुलाल लोग अपना सामान गदहों पर लादकर तक्षिला जैसे नगरों में जाकर बेचते थे। आवश्यक चूर्णि के अनुसार, मिट्टी के बर्तन बनानेवाला कुम्हार अपने म दभांड कुम्भशाला में निर्मित करता था पकनशाला में उन्हें पकाता था, चण्डशाला में एकत्रित करता था तथा पाणियशाला में बेचता था। पाणिनि, के अनुसार, बर्तन बनानेवाले को कुलाल तथा उसके द्वारा बनाए गए बर्तन को कौलालक कहा जाता था। जैन साहित्य में कुलाल के लिए भानदर (Bhandara) शब्द का प्रयोग हुआ है। अंगविज्ज में भी कुम्भकारों का वर्णन है।

मिट्टी से बनाए जानेवाली वस्तुओं में विभिन्न आकार प्रकार के म द्भांड, मूर्तियाँ (Idols), कुएँ के छल्ले (Rings for Wells), खिलौने, साजसज्जा की वस्तुएँ तथा प्रतिदिन घरेलू काम में आनेवाली वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। मिट्टी से बनाई जानेवाली वस्तुओं के आकार-प्रकार, इनका बनावट, ढांचा (fabric texture) आदि को देखकर ऐसा लगता है कि ये इस कला में विशेषीकरण प्राप्त किए हुए दक्ष कुलाल द्वारा बनाए गए हैं।

साहित्यिक स्त्रोत भी म द्भांड कला की सम द्ध तथा विकसित अवस्था को इंगित करता है। छठीं शताब्दी में आते-आते कुछ गाँव तो केवलमात्र तो कुलालों के ही बस गए जैसा कि बौद्ध साहित्य से पुष्टि होता है। जातकों से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कुलाल (कुम्हार) केवल मात्र शाही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही होते थे। और वे अपनी सहायता के लिए कुछ लोगों को रख लेते थे। कुलालों ने अपने व्यवसाय के हितों को ध्यान में रखते हुए अपने को श्रेणीबद्ध भी कर लिया था।

पुरातात्त्विक प्रयोगों के आधार पर प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के शहरीकरण का उत्तरी काले पॉलिशदार म द्भांड (NBP) के साथ जोड़ा जाता है। म द्भांड की यह किस्म बिहार से प्रारम्भ हुई और उत्तर पश्चिम में तक्षिला से लेकर पश्चिम में बनगढ़ और तामलुक तथा दक्षिण में अमरावती तक अर्थात् देश के विभिन्न भागों में फैल गई। उस किस्म के म द्भांड यद्यपि मुख्यतः गंगा घाटी के विभिन्न स्थलों से प्राप्त होते हैं परन्तु इन स्थलों में भी मगध इसका केन्द्र रहा है। मध्य प्रदेश में उज्जैन से भी N.B.P. म द्भांड बहुत बड़ी मात्रा में मिले हैं। इससे ऐसा लगता है कि उज्जैन इस म द्भांड का एक अलग केन्द्र रहा है क्योंकि यहाँ से हमें गंगा के मैदानों की तुलना में घटिया किस्म के म द्भांड के टुकड़े मिले हैं और इनका आंतरिक हिस्सा भी पुता हुआ नहीं है। उत्तरी भारत के इलाकों से मिलनेवाले म द्भांडों की कारीगरी देखे हुए 'DELUX' Ware कहा जाता है। क्योंकि

इस पर आनेवाली लागत को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह आम आदमी से खरीद के बाहर थी और केवल समाज का 'अमीर' वर्ग ही इसे खरीद सकता था।

शक कुषाण काल का कुलाल की कार्यशाला पाकिस्तान के शहर सेखन डेरी (Saikhan Dheri) और तक्षिला और भारत के शहरों में पंजाब, राजस्थान, बिहार और यू०पी०। ये म द्भांड इन्हीं शहरों या आसपास के इलाके में ही बनाए जाते थे क्योंकि N.B.P. की भाँति लोहित म दभांड (Red ware) जो इस काल के म दभांडों की विशिष्टता है, DELUX म द्भांड नहीं है इसी प्रकार इनमें से कुछ स्थानों से कुलाल के औजार जैसे थापी और स्टैम्प (dabbes and Stamps) का मिलना भी इनकी स्थानीयता की पुष्टि करता है।

इस काल के म द्भांडों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-(1) उत्तर पश्चिमी इलाकों जैसे सेखन डेरी से प्राप्त म द्भांड, (2) गंगा घाटी के इलाकों से प्राप्त म द्भांड प्रथम किस्म के म द्भांड लाल तथा धूसर (Red & Grey) है तथा बड़े ही कलात्मक (Sphisticated) है। इनमें प्लेट (Dishes), हैंडलदार (Lid) आदि विभिन्न प्रकार के घर में प्रयोग होनेवाले पात्र मिले हैं। इनमें से अधिकतर पर सिथियन पार्थियन म द्भांड से प्रभावित हैं।

गंगा की घाटी से प्राप्त म द्भांड स्थानीयता रखते हैं परन्तु ये इतने कलात्मक नहीं है सम्पूर्ण म दभांड चाक पर monochrome red ware में बनाए गए हैं। ये म द्भांड मोटे म द्भांडों से लेकर पतले तक प्राप्त हुए परन्तु इन पर कोई डिजाईन उपलब्ध नहीं है। ये इनको मध्य तापमान (Medium Temperature) पर पकाया गया है और इन पर अक्सर धुएँ का रंग चढ़ा होता है। ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में धातु का अधिक उपयोग होने के कारण म द्भांड उद्योग अपना महत्त्व खोता जा रहा था। बर्तनों के आकार-प्रकार की वही परम्परागत छिछले कटोरे (Bowls with tapering sides) बीच में ठूठदार (knob), ढक्कन, साधारण फूलदान छोटे घड़ेनुमा बर्तन (common vases), बोतल की गर्दन वाले जार इत्यादि। ये आम आदमी की रसोई के बर्तन रहे होंगे।

अहिच्छत्रा, कोशाम्बी, हस्तिनापुर आदि की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से स्पष्ट हो जाता है कि म दभांड कला गुप्त काल में भी खूब फल-फूल रही थी। यद्यपि अहिच्छत्रा से प्राप्त म द्भांडों में चाक से निर्मित म द्भांड अधिक मिलते हैं परन्तु सांचे में ढालकर बनाए गए बर्तनों की संख्या भी कम नहीं थी। ज्यादातर म द्भांड साधारण लोहित (लाल) रंग के हैं परन्तु कुछ एक mica-dusted है ताकि वे चमकदार हो और धातु का आभास दे। अतः इस काल के म द्भांडों में उपयोगिता पर अधिक बलथा तथा कला की बारीकियों को नजरअन्दाज किया गया था। म द्भांडों में यह विशेषताएँ विकसित होना स्वाभाविक था क्योंकि गुप्तकाल में शहर जो कि कलात्मकता के केन्द्र थे, अपना अस्तित्व खोते जा रहे थे।

पूर्व मध्यकाल में भी यह उद्योग महत्त्वपूर्ण बना रहा भले ही धातु उद्योग काफी विकसित हो चुका था परन्तु म द्भांड उद्योग पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि आम आदमी इन्हें खरीदने की ताकत ही नहीं रखता था। दूसरे इस माल के कर्मकांडों ने म द्भांडों की माँग और बढ़ा दी। विभिन्न मौकों पर दिए जानेवाले सामूहिक भोजों के लिए धातु के बर्तन का प्रयोग यहाँ तक कि अमीर वर्ग भी नहीं कर सकता था। अतः म द्भांडों की माँग और बढ़ी। इस माल के म द्भांड यद्यपि N.B.P. म द्भांडों जितने कलात्मक और सुन्दर तो नहीं थे, परन्तु इस काल का कुलाल काफी व्यस्त रहा। म द्भांड उद्योग तथा इनकी श्रेणियों के संदर्भ समकालीन साहित्य तथा अभिलेखों में काफी आता है। ब हत् धर्मपुराण में कुलाल का उल्लेख विभिन्न जातियों और व्यवसायों की सूची में आता है, प्रबन्धचिन्तामणि में भट्टी में म दभांडों को पकाने का वर्णन मिलता है। अलबरूनी भी कुलाल और उसके महत्त्वपूर्ण औजार 'चाक' का वर्णन करता है। कमन (Kaman) तथा सियोदोनी अभिलेख भी कुलाल और उनकी श्रेणी का उल्लेख करते हैं। पहाड़पुर, महास्थान आदि से प्राप्त पुरातात्त्विक

अवशेषों में विभिन्न प्रकार के म द्भांड जैसे स्टोरेज जार, खाना पकाने के बर्तन, थालियाँ, प्लेटें, लैम्प स्टैण्ड आदि प्राप्त हुए हैं।

कुलाल घर में प्रयोग होनेवाले म द्भांडों के अतिरिक्त मिट्टी से विभिन्न प्रकार की अन्य वस्तुएँ भी बनाते थे। मौर्यपूर्वोत्तर काल में जहाँ हमें मध्य गंगा घाटी और ऊपरी गंगा घाटी के इलाकों से कुछ एक मिट्टी के बने हुए खिलौने तथा कर्मकांड में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुएं मिली हैं वहाँ मौर्यकाल से बहुत से कलात्मक वस्तुएँ भी मिली हैं। पाटलीपुत्र और सोनपुर से मिलनेवाली न तकियों की मूर्तियों पर ग्रीको-रोमन प्रभाव, उनके नैन-नक्श और कपड़ों आदि पर स्पष्ट झलकता है। बुलन्दीबाग से लगभग एक दर्जन म ण्मूर्तियाँ जिसमें एक लड़का तथा एक लड़की का मुस्कुराता हुआ चेहरा भी शामिल है, उपलब्ध हुए हैं।

यहाँ एक बात पर ध्यान देने की जरूरत है। ये कलात्मक म ण्मूर्तियां मगध, जो आर्थिक एवम् राजनीतिक नियन्त्रण का केन्द्र था, तक ही सीमित नजर आती है तथा देश के बाकी हिस्सों में केवल मात्र धार्मिक कर्मकांडों में प्रयुक्त होनेवाली म णवस्तुएँ प्राप्त हुई है। जिससे स्पष्ट है कि शहरी अर्थव्यवस्था कला को धर्म निरपेक्षस्वरूप देने में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

मौर्योत्तर काल में शहरी सभ्यता के विकास ने म ण कला (teracottas) की माँग भी बढ़ा दी। इस काल का कुलाल ने बढ़ती हुई माँग को साँचे का अधिकाधिक प्रयोगकर पूर्ण करने का प्रयत्न किया और इस प्रकार म द्भांडों के साथ-साथ म ण कला (Terracotas Industry) भी एक उद्योग में परिवर्तित हो गई और ये भी बाजार (पण्य) अर्थात् वाणिज्य वस्तु बन गई। शहरी अर्थव्यवस्था विकास के फलस्वरूप धन अथवा अर्थ शहरों में केन्द्रित होने लगी और इस प्रकार शहरी अमीर वर्ग की ना केवल क्रय शक्ति बढ़ी वरन् उन्होंने कला तथा शिल्प को आश्रय देना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार म ण शिल्पकार ने म ण के सहारे शहरी जीवन को अपनी कला के सहारे दिखाया अपितु बड़े स्तर पर उत्पादन भी किया जिसमें धार्मिक रंग में रंगी म ण मूर्तियां (teracottas) भी शामिल थी।

परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि एक तरफ इतने उच्च किस्म का शहरीकरण हो रहा था वहीं दूसरी ओर म ण्मूर्तियाँ कलात्मक द ष्टि से इतनी उच्च किस्म की नहीं थी। इसका कारण जैसा बी० के० ठाकुर कहते हैं, शहर के उच्च वर्ग का प्रस्तर में बनाई गई मूर्तियों तथा हाथीदाँत जैसे महँगे माल में बनी मूर्तियों में दिलचस्पी बढ़ना रहा होगा।

गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल की म ण्मूर्तियों में भी समाज के वर्गीकरणअनुसार दो प्रकार की वर्ग की म ण मूर्तियाँ मिलती है। म ण मूर्तियों का एक भाग वह जो धर्मनिरपेक्ष है जिनमें बहुत ही कलात्मक ढंग से साँचे में ढाली गई म णमूर्तियाँ तथा प्लेट (Mineature plaques) हैं जो कि शहरी उच्च वर्ग की कला के प्रति रुचि की माँग पूर्ण करती थी और दूसरी ओर मन्दिरों में लगी बड़ी-बड़ी म ण मूर्तियाँ तथा भित्ति प्लेटों (Plaques) में प्रथम किस्म की म ण उत्पादन की तुलना में ज्यादा घरेलू (Homely) ज्यादा गहराई से लोगों की रोजाना की जिन्दगी से जुड़ी है।

एक बार फिर से शहरो के पतन के साथ पूर्व मध्यकाल में एक म ण उद्योग के रूप में इसका भी पतन होता हे और इस काल की म णकला भी सामन्तवादी विशेषताओं से अछूता नहीं रहा।

अन्य उद्योग

(Other Industries)

ऊपर वर्णित मुख्य शिल्प तथा उद्योगों के अलावा बहुत से अन्य उद्योग तथा शिल्प प्रारम्भिक प्राचीन काल से ही विद्यमान थे जो कि समय के साथ-साथ और अधिक विशिष्टता प्राप्त करते गए तथा

इन शिल्पों के भी सहायक शिल्पों की संख्या बढ़ती चली गई। ये शिल्प भी प्राचीन काल में वंशानुगत ही थे कुछ खास परिस्थितियों में ही अन्य वर्णों में इन शिल्पों को अपनाने की अनुमति वर्णों को इन शिल्पों को अपनाने की अनुमति थी और इसी प्रकार कि वही खास परिस्थितियों में ही कोई शिल्पकार अपने पैत क शिल्प को छोड़ सकता था। कुछ अन्य उद्योग जैसे प्रस्तर उद्योग, लकड़ी अर्थात बढ़ई का उद्योग, ग्लास उद्योग, हड्डी शिल्प व हाथी दाँत उद्योग, चर्म उद्योग तथा तेल निकालने का उद्योग भी प्राचीन काल की अर्थव्यवस्था को मजबूती देने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे थे। (*विस्तार के लिए विभिन्न काल की अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित पाठ देखिए*)। इनके अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे अनेकों उद्योग, मानके बनाने का उद्योग, माला बनाने का उद्योग, टोकरी बनाने का उद्योग, वाद्ययन्त्र बनाने का उद्योग।

अध्याय-4
व त्तिसंघ व्यवस्था
(Guild System)

मानव में सहकारिता की भावना एक सामाजिक व त्ति है। प्राचीन भारत में भी विभिन्न प्रकार के संगठन-सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवम् आर्थिक का अस्तित्व, भले ही वह कितने ही अविकसित रूप में क्यों न रहा हो, रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि प्राचीन भारत में संघटन की प्रव त्ति कब प्रारम्भ हुई? और इसका प्रारम्भिक स्वरूप कैसा रहा होगा? आर०सी० मजूमदार के अनुसार संघटन की प्रव त्ति सर्वप्रथम आर्थिक क्षेत्र में स्पष्ट रूप से विद्यमान मिलती है। इसकी पुष्टि व हदारण्यक उपनिषद् के एक उदाहरण से हो जाती है। ब्रह्मा ने मानवीय समाज की भाँति देवताओं में भी वर्गों का निर्माण किया। ब्रह्म प्रथम दो वर्गों का ही निर्माण करके संतुष्ट नहीं हुए वरन् उन्होंने वैश्यों की भी उत्पत्ति की जो गणशः कहलाए क्योंकि ये सम्पत्ति उपार्जित करने में समर्थ थे और वे भी सहकारिता के द्वारा परन्तु इससे सहकारी जीवन की प्राचीनता अर्थात् उत्पत्ति स्पष्ट नहीं होती क्योंकि इस विवरण में सहकारिता की उत्पत्ति पारलौकिक (Mythological) दिखाया है। हाँ इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि संघटित जीवन काफी प्राचीन काल से चला आ रहा है।

संघटन अर्थात् संघ की जब हम यहाँ बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय व त्ति अर्थात् आर्थिक संघटनों/व त्त संघ से है। व त्ति संघ का अर्थ है जब समान व्यवसाय वाले लोग कुछ शर्तों, कुछ नियमों में बंधकर अपने व्यवसाय के हितों के लिए आपसी जुटान कर लेते हैं। आर्थिक सिद्धान्त की द ष्टि से ये व त्ति संघ चार भागों में बाँटे जा सकते हैं।

1. अपनी पूँजी से चलाया गया संयुक्त वाणिज्यिक संघ।
2. उन श्रमिकों (शिल्पियों) का संघ जो महाजनों से सामग्री पाकर वस्तु का उत्पादन करते थे और उनसे मजदूरी पाते थे।
3. निम्न वर्ग के शिल्पियों का संघ।
4. कई तरह के व्यवसायियों, मजदूरों आदि का संघ।

सभी प्रकार के संघ राज्य की अर्थव्यवस्था में बड़े महत्त्व की भूमिका अदा करते थे तथा राज्य की सम द्धि को बढ़ाने में बड़े सहायक होते थे। ये संघ विभिन्न नामों जैसे श्रेणि, नैगम, पूग, व्रात आदि नामों से जाने जाते थे ये संघ यद्यपि शिल्पी तथा व्यापारी दोनों ही अपने-अपने व्यवसायों के हितों की रक्षा के लिए बनाए गए थे परन्तु इनके कार्य केवल आर्थिक व्यवस्था तक ही सीमित नहीं था अपितु ये संघ सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य भी करते थे।

ऋग्वेद में 'पणि' शब्द कई बार आया है। इसकी व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की हैं सेंट पीटसबर्ग कोश में इसकी व्याख्या **'व्यापारी या वणिक'** के रूप में की गई है। जिमर व

लुडविग भी इसकी व्याख्या **'व्यापारी'** के रूप में करते हैं। वैदिक साहित्य में एक स्थान पर देवताओं से पणियों पर आक्रमण के लिए कहा गया है कुछ लुडविग आदि कुछ विद्वानों के अनुसार यहाँ **'पणि'** आदिम व्यापारियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो अरब अफ्रीका से काफिलों के रूप में आते थे।

अतः यदि लुडविग की इस व्याख्या को स्वीकार किया जाता है तो इससे स्पष्ट है कि बुद्ध कालीन जातकों में वर्णित यह संस्था काफी प्राचीन थी। परन्तु लुडविग का यह अर्थ सर्वमान्य नहीं।

शिल्पियों का संघटित स्वरूपः अतः स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि यह संस्थाएँ प्राचीन काल के प्रारम्भ में ही विकसित हो चुकी थी या नहीं। यद्यपि वैदिक साहित्य में **'श्रेष्ठि'** तथा **'गण'** शब्द का प्रयोग मिलता है परन्तु बाद के साहित्य में श्रेष्ठिन **'श्रेणि-प्रधान'** के अर्थ में प्रयोग हुआ है। **मेकडोनल** के अनुसार वैदिक साहित्य में भी इसी रूप में इसका प्रयोग हुआ होगा।

इसी प्रकार **गण** शब्द यद्यपि बाद के साहित्य में धार्मिक और राजनैतिक संस्थाओं के रूप में ही प्रयोग हुआ है परन्तु **रथ** के अनुसार वैदिक साहित्य में **श्रेणि** के रूप में प्रयुक्त हुआ है अतः यह कहना यद्यपि कठिन है कि वैदिक काल में सहकारी संस्था अर्थात् संगठन किस प्रकार का था तथा कितना संगठित व विकसित था परन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि 800 B.C. के लगभग अर्थात् वैदिक काल में लोगों में संघटन की प्रव त्ति विद्यमान थी।

उत्तर वैदिक काल में आर्थिक संघटनः इस काल के साहित्यिक प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि समान आजीविका वाले मनुष्य प्रायः अपने मार्गदर्शन के लिए निश्चित नियमों वाले निगम का संगठन कर लेते थे और **'श्रेणि'** वह विशिष्ट शब्द है जो व्यापारियों या शिल्पियों के संगठन का परिचायक है। इस समय व्यवसायों की प्रायः सभी शाखाओं का कोई एक निश्चित संगठन था इस बात की प्रणि गौतम धर्मसूत्र के इस वर्णन से भी कृषक, व्यापारियों, चरवाहों, सूदखोरों और कारीगरों को अपने-अपने वर्गों के नियम बनाने का अधिकार भी प्राप्त था। यही नहीं अपितु न्याय करते समय इन संगठनों के नियमों को भी महत्त्व देना पड़ता था। अतः स्पष्ट है कि इस समय ये संगठन महत्त्वपूर्ण हो गए थे क्योंकि अब इनके नियमों को वैधानिक मान्यता भी प्राप्त हो चुकी थी और उसके प्रतिनिधि को यह अधिकार प्राप्त था कि उससे संबंधित किसी विषय पर राजा उनसे परामर्श ले सकता था।

गौतम के इस विचार की पुष्टि कि लगभग सभी महत्त्वपूर्ण व्यवसायिक शाखाएँ श्रेणियों के रूप में संगठित थी, **बौद्ध** तथा **ब्राह्मणीकाल साहित्य** तथा **अभिलेखों** से हो जाती है। इन श्रेणियों की संख्या ना केवल विभिन्न कालों में ही अपितु अलग-अलग स्थानों पर भी एक-दूसरे से भिन्न रही होगी। मूगपक्ख जातक में 18 श्रेणियों का वर्णन आया है। राज्य में विभिन्न श्रेणियों की **परम्परागत संख्या** 18 निर्धारित है परन्तु ये 18 श्रेणियाँ क्या थी इनका वास्तविक स्वरूप क्या था। इनका ज्ञान इन साहित्य स्त्रोतों से नहीं हो पाता। **साहित्य व अभिलेखों** से इन श्रेणियों की एक लम्बी (सूची) अवश्य प्राप्त होती है जैसेः-

1. लकड़ी का काम करनेवाले (जातक)
2. सोना, चाँदी आदि धातुओं में काम करनेवाले (जातक)
3. पत्थर का काम करने वाले।
4. चर्मकार (जातक)
5. दन्तकार

6. ओदयंत्रिक (पनचक्की) (नासिक अभिलेख)
7. वसकर (बांस का काम)
8. रत्नकार (जौहरी)
9. जुलाहे या बुनकर (नासिक अभिलेख)
10. कुम्हार
11. रंगरेज
12. चित्रकार
13. कृषक
14. मछुए
15. कसाई
16. नाविक
17. चरवाहे
18. सार्थ सहित व्यापारी आदि।

परन्तु सामग्री की अल्पता के कारण उक्त श्रेणियों के विस्त त इतिहास का ज्ञान नहीं हो पाता।

विभिन्न कालों में श्रेणियों की स्थिति

जातक-काल में श्रेणियाँ अतः यद्यपि संघटित जीवन की झलक हमें बुद्धकाल से पूर्व ही प्राप्त हो जाता है परन्तु संगठित संस्था के रूप में नियमित, विस्त त व स्पष्ट वर्णन जातकों से ही मिलना प्रारम्भ होता है।

जातक काल में श्रेणियां

रिचर्ड फिक (Richard Fick) के अनुसार जातककारों में मुख्यतः दो प्रकार के आर्थिक संगठन थे।

1. व्यापारी और व्यवसायी, 2. शिल्पी। व्यापारिक शाखाओं को चलाने वाले परम्परागत परिवार एक **जेट्ठक** (प्रमुख) के नेत त्त्व में अपने को संगठित करते थे। जातकों से इनके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

   परन्तु शिल्पियों का संगठन काफी विकसित था पैत कता व्यवसाय की पैत क परम्परा व्यापारियों के बजाय अधिक स्पष्ट थी इसीलिए व्यवसायों की कुशलता जातकों में पैत क व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य किसी को अपनाने का उदाहरण नहीं मिलता।

2. दूसरी विशेषता स्थानीकरण की थी नगर की सड़कों तथा खास विथियों में तथा समूचे गाँव में एक ही वर्ग के शिल्पियों को बसाया जाता था। जैसे जातकों से **दन्तकारवीथी,** रजक वीथी, **ओदनिक** घरवीथियाँ आदि का वर्णन मिलता है। कोई-कोई गाँव काफी बड़े भी होते थे जैसे उदाहरण-महाबड्ठकि ग्राम में लकड़ी का काम करनेवाले 1000 परिवार रहते थे। कम्भार ग्राम में उतने ही लुहार रहते थे।
3. शिल्पियों के संघ का मुखिया जेट्ठक कहलाता था। ये तीनों बातें संगठन के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण है।

भ्रमणशीलता

समुद्दवाणिज जातक में बनारस के समीप 1000 परिवार वाले बढ़इयों के एक बड़े नगर का वर्णन मिलता है। एक साथ उन्होंने अपना नगर छोड़ा तथा अपने परिवार सहित वे एक अन्य द्वीप में जा बसे।

कभी-कभी एक स्थान के शिल्पियों के एक ही वर्ग में एक से अधिक संगठन का उल्लेख भी मिलता है। उदाहरणस्वरूप बनारस के समीप वाले 1000 परिवार वाले बढ़इयों के दो प्रधान कारीगर जिनमें से प्रत्येक के साथ 500 बढ़इयों के परिवार शामिल थे। जरूरी नहीं शिल्पियों की बड़ी संख्या के कारण यह दुहरा संगठन बना हो क्योंकि जातकों में एक ही संगठन में एक हजार जनों के उदाहरण भी मिलते हैं। अतः हो सकता है कि बढ़ई पहली श्रेणी से किसी मतभेद होने पर दूसरा संगठन बना लिया हो।

ज्येष्ठजन का पद भी कभी-कभी पैत क तथा परम्परागत होता था क्योंकि जातक में एक स्थान पर कहा गया है कि जब प्रधान नाविक मर गया तब उसका पुत्र नाविकों की श्रेणी का नेता बन गया।

महत्त्व

कभी-कभी श्रेणियों के प्रधान लोग राज्य के उच्च पदों पर राजाओं और धनिकों के प्रिय पात्र तथा राज्य की बड़ी हस्ती बन जाते थे जिसकी पुष्टि अनेकों साहित्यक साक्ष्यों से हो जाती है। **जेट्ठकों** के आपसी झगड़ों के उदाहरण भी हमें उपलब्ध हैं। जातकों में इससे सम्बन्धित कथाएं उल्लिखित हैं कि किस प्रकार जेट्ठकों का आपस में झगड़ा होने पर महात्मा बुद्ध कभी-कभी उनमें समझौता कराते थे।

एक जातक कथा में एक राजकीय अधिकारी **भण्डागारिक** का उल्लेख मिलता है। जिसके पद के साथ सभी व्यापारिक श्रेणियों का पद भी संलग्न था। पहले जैसा कोई पद नहीं था परन्तु बाद में बराबर बना रहा।

प्रारम्भिक धर्मसूत्र-काल में श्रेणि-संगठन का विकास
(500 B.C. to 300 B.C.)

गौतम धर्मसूत्र के ग्यारहवें अध्याय से स्पष्ट है कि कृषकों, व्यापारियों, चरवाहों, महाजनों और शिल्पियों को अपने-अपने समूहों के नियम निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त है। उनमें यह भी कहा गया है कि श्रेणि मुखिया उन लोगों से वस्तुस्थिति की जानकारी प्राप्त करने पर जो (प्रत्येक समूह में बोलने का) अधिकार रखते हैं कानूनी निर्णय देगा।

धर्मसूत्र काल श्रेणि संगठन की विकास की अगली सीढ़ी का परिचायक। अतः अब व्यापारियों और शिल्पियों के निगम संविधान द्वारा राज्य के आवश्यक अंग मान लिये गये और उन्हें कानून बनाने का महत्त्वपूर्ण अधिकार प्रदान किया गया।

श्रेणि नेता जो जेट्ठक के समकक्ष था एक मुख्य व्यक्ति बन गया और राजदरबार में अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करने लगा।

विनयपिटक से श्रेणि का अपने सदस्यों पर प्रभाव स्पष्ट नजर आता है।

1. एक नियम के अनुसार अपने सदस्यों व उनकी पत्नी में झगड़ा होने पर कुछ अवसरों पर मध्यस्थता का काम श्रेणि मुखिया ने किया।
2. सदस्य की पत्नी को दीक्षाग्रहण करने से पहले श्रेणि की आज्ञा लेना आवश्यक होता था।

कौटिल्य के समय श्रेणि की स्थिति

महत्त्व

1. इस समय **लेखाध्यक्ष** को नियमित रूप से निर्धारित रजिस्टरों में निगमों की प्रथाओं के इतिहास, व्यवसाय और लेनदेन सबंधी बातों से भरना पड़ता था।
2. श्रेणियों के विश्वासपात्र **तीन आयुक्त** या **मंत्री शुल्क** एकत्रित करने के लिए नियुक्त किए जाते थे। यह एकत्रनिधि संकटकाल में वापिस ली जा सकती थी।
3. व्यापारिक श्रेणियों के बीच अर्थ विवाद होने पर उन्हें विशेष छूट दी जाती थी।
4. व्यापारिक श्रेणि से सम्बन्धित व्यवसायी को राज्यों द्वारा सुविधाएं प्रदान की जाती थी।
5. एक आदर्शनगर योजना में श्रेणियों और श्रमिकों के निगमों के लिए स्थान बकायदा सुरक्षित होता था।
6. इनके द्वारा दिये गये करों की गणना आय के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधनों में की जाती थी।
7. **ग्राम श्रेणियों की रक्षा** - यह नियम कि स्थानीय सहकारी श्रेणियों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की श्रेणियां गांव में प्रवेश नहीं कर सकती इस बात की पुष्टि करता है कि ग्राम श्रेणियों के हितों की रक्षा राज्य का कर्तव्य था।

परन्तु कभी-कभी लोभी राजाओं द्वारा श्रेणियों को हानि के उदाहरण भी अर्थशास्त्र में उपलब्ध हैं कि किस प्रकार गुप्तचर वेश बदलकर निगमों से सोने के सिक्के व स्वर्ण मुद्रायें उधार ले लेते थे और उसी रात लुट जाने का बहाना बना देते थे।

अर्थशास्त्र से **श्रमिकों या दिन में मजदूरी** करनेवालों की श्रेणियों के सम्बन्ध में विशेष नियम तथा उन्हें कुछ विशेष सुविधाएं प्राप्त थी।

1. नियुक्ति के बाद अनुबन्ध पूर्ण करने के लिए सात (7) रातों की विशेष अवधि की छूट थी।
2. जब तक श्रेणि के नियमों में विशेष छूट न हो उसकी सारी कमाई को श्रेणि के सदस्यों में बराबर-बराबर बाँटा जाता था।
3. यदि कोई व्यक्ति कार्य आरम्भ होते ही श्रेणि को छोड़ देता तो उसे जुर्माना देना पड़ता था।
4. जो व्यक्ति अपने हिस्से के काम की अपेक्षा करता था तो पहली बार क्षमा दान दी जाती थी पर बार-बार करने पर श्रेणि से निष्कासित कर दिया जाता था तथा वह अक्षम्य अपराध करने पर अपराधी घोषित हो जाता था।

इस समय श्रेणि काफी शक्तिशाली तथा प्रभावपूर्ण हो चुका था। कौटिल्य के अनुसार श्रेणि के द्वारा तथा प्रधान द्वारा दिए गये क्लेश अधिक भयंकर होता था। श्रेणि नेता का क्रोधित होना अधिक भयंकर होता था क्योंकि वह सहयोग का बल पाकर दूसरों के जीवन और सम्पत्ति को हानि पहुँचाते हुए अत्याचार कर सकता था।

इससे स्पष्ट है कि इस समय 400 B.C. में श्रेणियाँ शासन-सूत्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन चुकी थी।

सैनिक शक्ति के रूप में श्रेणि

अर्थशास्त्र में दिए गए विवरण अर्थशास्त्र के 9वें अधिकार में सैनिकों के अन्तर्गत श्रेणि-बल को भी रखा हुआ है। यह **श्रेणि बल रक्षा व आक्रमण** दोनों के लिए आवश्यक रहा है।

अर्थशास्त्र के 5वें अध्याय में **श्रेणि मुख्यों का वेतन** भी हस्ति, अश्व और रथ के प्रधानों के वेतन के तुल्य ही निर्धारित किया गया है।

इसी प्रकार 7वें अधिकरण में कहा गया है कि श्रेणि वर्ण को जमीन का वह टुकड़ा दे देना चाहिए जो शत्रु द्वारा निरन्तर झगड़े का कारण बना हो।

अतः अब श्रेणियों ने युद्ध कार्य में भी हिस्सा लेना प्रारम्भ कर दिया परन्तु इस मत पर विद्वानों में मतभेद है। श्री रामशास्त्री ने **श्रेणि-बल** का अनुवाद 'सैनिकों का समुदाय' से किया है।

प्रो० भण्डारकर ने इसका अर्थ **'श्रेणि द्वारा प्रतिपालित सैनिक'** किया है।

आर० सी० मजूमदार के अनुसार इसका अर्थ कौटिल्य में क्षत्रिय-श्रेणि में विदित है इसका अर्थ उन श्रेणियों के वर्ग से है जो कोई व्यवसाय नहीं करते थे अपितु जो युद्ध-विषयक कार्य ही करते थे। इसकी पुष्टि **मन्दसौर** अभिलेख से भी होती है। इससे स्पष्ट है कि रेशम-बुनकारों की श्रेणि वाले कुछ सदस्यों ने शास्त्रों को अपना लिया। ये बहादुर सैनिक थे।

अतः स्पष्ट है कि कुछ श्रेणियाँ अपनी मुख्य प्रव त्ति के अतिरिक्त असाधारण महत्त्व के सैनिक साधन भी रखती थी। और प्राचीन भारत की आन्तरिक राजनीति में महत्त्वपूर्ण दखल रखती थी।

200 B.C. to 400 A.D.

श्रेणि व्यवस्था विकास की अगली अवस्था धर्मसूत्रों के काल में दिखाई देती है।

मनुसंहिता में गौतम के विचारों का प्रतिपादन तो मिलता ही है साथ ही मनु कानून की शक्ति के रूप में श्रेणिधर्म का स्पष्ट कथन करते हैं।

याज्ञवल्क्य संहिता में भी इसी प्रकार का वर्णन आता है यदि कोई पुरुष किसी श्रेणि या अन्य किसी निगम की जायदाद चुराये या उनसे हुए अनुबन्ध को तोड़े तो उसे देश-निष्कासित किया जाए। उसकी सभी जायदाद को छीन लिया जाये।

विष्णु-स्म ति में भी इसी प्रकार का आदेश। अतः इनसे स्पष्ट कि इस समय श्रेणियाँ राज्य की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में विकसित हुई और राज्य के ढाँचे का एक निश्चित अंग बन गई। इन श्रेणियों के अधिकार शासन द्वारा स्वीकृति प्राप्त रहते थे। इनका सम्मान तथा स्तर राज्य की घोषणा से बहुत बढ़ गया।

इस समय के अनेक अभिलेखों से भी श्रेणियों के कार्यो तथा महत्त्व की पुष्टि होती है।

उदाहरणस्वरूप मथुरा से प्राप्त हुविष्क के 24वें वर्ष के लेखा को लिया जा सकता है। इसमें एक अक्षयदाय का उल्लेख है जो दो श्रेणियों में से प्रत्येक को 550 'पुराण' के रूप में दिया गया। इनमें से एक श्रेणि आटा बनानेवालों की थी। इसी प्रकार नासिक से प्राप्त उषवदात तथा राजाईश्वर सेन के दो अभिलेख, जुन्नर से प्राप्त तीन अभिलेख तथ नागार्जुनीकोडा से प्राप्त एक अभिलेख से भी प्राचीन श्रेणियों के कार्य और संगठन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इन अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन श्रेणियाँ जनता का धन जमा करती थी तथा उन पर नियमित ब्याज दिया करती थी। यानि **स्थानीय बैंकों के रूप** में काम करती थी। कौटिल्य के

अर्थशास्त्र में वर्णित श्रेणियों के शोषण की बात से स्पष्ट है कि वे धन उधार देती थी। मथुरा से प्राप्त हुविष्क के 28वें वर्ष के अभिलेखों से स्पष्ट है कि ब्याज की दर 12 से 9% तक थी। इससे यह भी स्पष्ट है कि ये श्रेणियाँ व्यवस्था वाली रही होगी। यही नहीं अपितु उनकी कार्य प्रणाली में ईमानदारी तथा लेन-देन में शुद्धता अनिवार्य सबसे रही होगी इसलिए जैसा कि अभिलेखों से स्पष्ट है कि लोग अपने स्थायी धर्मदाय इनको सौंप देते थे।

उदाहरण के लिए हम नागार्जुनीकोंडा के 333 ई० के एक अभिलेखों को ले सकते हैं। इसमें एक व्यक्ति के द्वारा इन श्रेणियों को उसके द्वारा स्थापित धार्मिक संस्थान के निर्वाह के लिए एक स्थायी दान देने का वर्णन है। इस दान के अन्तर्गत एक श्रेणि के पास 70 दीनार तथा अन्य तीन श्रेणियों के पास 10-10 दीनार जमा किये गये। ब्याज से विशेष कार्य संपादित किये जाते थे। इनमें से केवल दो के नाम पढ़े जा सकते थे पनिक (पान उगाने या बेचनेवाले) तथा प्रवक (मिठाई बनाने वाले)। इसी प्रकार **जुन्नर** के दूसरे अभिलेख में बांस का काम करनेवाले तथा पीतल का काम करनेवालों की श्रेणियों में धर्मदाय सौंपने का उल्लेख।

इसी प्रकार हुविष्क के 28वें वर्ष के नासिक से प्राप्त लयण लेख तथा ईश्वरसेन के 9 वर्ष के लेख से भी इन धर्मदायों की पुष्टि होती है।

इस प्रकार वे श्रेणियाँ न केवल जमा करने के लिए नकद धन पाती थी बल्कि उन्हें धर्मदाय के रूप में भी जायदाद मिलती थी। ये धर्मदाय विभिन्न अभिप्रायों से दिए जाते थे। जैसे कुछ श्रेणियों को विशेष प्रकार के व क्ष लगाने होते थे। उदाहरण के लिए जुन्नर के एक अभिलेख के अनुसार कोणाचिक की श्रेणि पर करंज व क्ष और केले के व क्ष लगाने के लिए दो खेतों से प्राप्त आय लगा दी गई। कुछ बीमार भिक्षुओं के लिए दवा का प्रबन्ध करती थी जैसा कि ईश्वरसेन के 9 वर्ष के नासिक अभिलेख से स्पष्ट हो जाता है। इस अभिलेख के अनुसार धर्मदाय का उद्देश्य त्रिरश्मिपर्वत के संघाराम में रहने वाले भिक्षु संघ के रोगियों की दवा का प्रबंध करना था। इसी प्रकार, नासिक में लक्षण-लेख से दान का उद्देश्य वर्षावास के समय भिक्षुओं के वस्त्रव्यय के लिए तथा कृषक के लिए व्यय करना था।

इसके अतिरिक्त ये श्रेणियाँ स्वयं भी लोकहितकारी कार्य करती थी तथा दान इत्यादि देती थी जैसा कि **जुन्नर** के तीसरे अभिलेख से स्पष्ट है कि अनाज के व्यापारियों द्वारा एक गुफा व एक कुंड का दान है।

इन इभिलेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि एक ही स्थान पर अनेक शिल्पश्रेणियाँ होती थी और कभी-कभी एक ही व्यवसाय की एक से अधिक श्रेणियाँ थीं। जैसे उदाहरण के लिए गोवर्धन में जुलाहों की दो श्रेणियाँ थी। नासिक के संवत् 42 के **शकराज नहपान के जमाता** उषवदत के लयण लेख से स्पष्ट संपुष्टि होती है। साधारणतः श्रेणियों के नाम उनके व्यवसायों से संबंधित होते थे।

परन्तु हमें स्थान के नाम पर भी श्रेणियों के नाम के उदाहरण मिलते हैं जैसे **जुन्नर से प्राप्त** एक अभिलेख में **कोणचिक की श्रेणि** का वर्णन है। यह संभवतः इसलिए कि उस गाँव में केवल एक ही श्रेणि थी अतः विशेष नाम देने की आवश्यकता न थी। इस तरह सारा गाँव ही एक श्रेणि अर्थात् एक ही व्यवसाय के लोगों का रहा होगा।

गुप्त काल में श्रेणियाँ

गुप्तकाल में विभिन्न उद्योगों तथा व्यापार का बड़ा विकास हुआ। भारत का पश्चिमी देशों, विशेषकर रोम के साथ बड़ा व्यापार हुआ कौटिल्य के समान उस समय न तो उन पर हम राज्य का विशेष

नियंत्रण देखते हैं और न उनका प्रयोग राज्य के लिए होता था। इसके विपरीत श्रेणियों को विशेष स्वायत्त अधिकार दिए गए। इनके स्वयं के रीति-रिवाज और नियम होते थे। इनके आपसी झगड़ों का निर्णय इनकी कार्यकारिणी करती थी, किन्तु वे राज्य के न्यायालय के पास कम जाते थे। इनके पास स्वयं की संपत्ति और जायदाद होती थी।

इस समय के लेखक भी इनके स्वायत्त अस्तित्त्व और अधिकारों पर जोर देते हैं। नारद स्म ति में स्पष्ट कहा गया है कि ''राजा को चाहिए कि वह श्रेणियों तथा अन्य निगमों की प्रथाओं को मान्यता दे, उनको जो भी कानून, कर्तव्य, उपस्थिति के नियम और जीवन-निर्वाह की विशेष परिपाटी हों, उन सबको राजा स्वीकार करें।'' ब हस्पति का कहना है कि श्रेणि के सदस्यों तथा अन्य निगमों के द्वारा समय-क्रिया (शर्तनामा) का विधान बाधाओं को दूर करने तथा लोगों के धार्मिक तथा लौकिक कर्तव्यों का यथोचित पालन करने के लिए किया गया।

गुप्तकाल में भी श्रेणियों में धन जमा कराया जाता था। स्कन्दगुप्त के राजत्व काल (गुप्त संवत् 146 सं० ई० 465) के इन्दौर ताम्रपत्र-लेख में इन्द्रपुर की तैलिक-श्रेणी में धन जमा का उल्लेख है जिसके ब्याज से सूर्य-मन्दिर में एक दीपक प्रज्वलित रखने हेतु तेल की स्थायी व्यवस्था की गई थी। श्रेणि के सदस्य मिलकर मन्दिर भी बनवाते थे। मन्दसौर के अभिलेख से पता चलता है कि लाट् के रेशम बुननेवाले दशपुर में आकर बसे और 426 ई० में उन्होंने अपनी संचित धनराशि से सूर्य का एक विशाल मंदिर बनवाया। कुछ समय बाद मन्दिर का एक भाग जीर्ण-शीर्ण हो गया, जिसकी मरम्मत उसी श्रेणि ने ई०स० 472 में करवाई।

बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) से प्राप्त मिट्टी की 274 मोहरें गुप्तकाल में श्रेणि व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। इस समय इसका व्यापक स्वरूप हो गया था। मोहरों के लेख के अध्ययन से पता चलता है कि यह एक सम्मिलित संगठन था जिसमें श्रेणिन, सार्थवाह और कुलिक भी सम्मिलित थे तथा उत्तरी भारतवर्ष के अनेक नगरों में इसकी शाखाएँ थीं तथा इसके सदस्य फैले हुए थे। उनकी तुलना हम आधुनिक वाणिज्य मण्डल से कर सकते हैं।

इन मोहरों पर कुछ लेख इस प्रकार पढ़े गए हैं-(1) श्रेणि-सार्थवाह-कुलिक-निगम, (2) श्रेष्ठि-कुलिक निगम, (3) श्रेष्ठि-निगम और (4) कुलिक-निगम। डी०वी० भंडारकर का कहना है कि ''निगम'' शब्द का अभिप्राय यहाँ नगर लेना चाहिए। मिट्टी की टिकड़ी पर केवल इस विशाल श्रेणि की ही मोहर नहीं मिलती, किन्तु इसके साथ व्यक्ति विशेष की भी मोहरें मिलती हैं। विशाल श्रेणि की मोहर के साथ ईशानदास का नाम 75, माजिदाम का नाम 38 और गोमिस्वामी का नाम 37 बार मिला है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये तीन श्रेणि के अध्यक्ष या सचिव जैसे उच्च पद पर होने चाहिए। कुछ स्थानों पर इस श्रेणि की शाखाएँ स्थानीय मन्दिरों के कार्यों की भी देखभाल करती थी। इसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, क्योंकि इसका व्यापारिक लेन-देन गुप्त साम्राज्य के युवराज से भी हुआ था।

पूर्व-मध्यकाल में श्रेणियों की स्थिति (800 ई०—1200 ई०)

पूर्व मध्यकाल में श्रेणियों के आपसी सम्बन्ध ढीले होते जा रहे थे और उन पर विशेष नियन्त्रण नहीं रहा था। कमजोर संगठन से इनकी प्रतिष्ठा कम होती जा रही थी और ये पहले के समान सम द्ध भी नहीं रही। राजाओं और सामंतों के आपसी झगड़ों तथा मुसलमानों के आक्रमण से अराजकता फैल गई और इसका भी इन पर प्रभाव पड़ा। सामंतवाद और ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था के कारण भी इसका पतन हुआ। पहले इनमें आर्थिक सहयोग होने से इनकी शक्ति, सम द्धि और प्रतिष्ठा बढ़ी किन्तु अब वे जातियों में परिणत हो गई और आर्थिक ध्येय गौण हो गया। लोग अपना धन दान

के लिए श्रेणियों में न जमा करके मन्दिरों में कराने लगे। सदस्य आपसी झगड़ों का निर्णय स्वयं न कर राज्य से कराने लगे। कथाकोष प्रकरण के लेखक जिनेश्वर सूरि ने स्वर्णकार, कुम्हार, लोहार, धोबी तथा अन्य शिल्पियों को निम्न वर्ग में माना है। महाजनों की श्रेणि का वना अब भी प्रभाव था और इसके अध्यक्ष का नगर की कार्यकारिणी और राज्यसभा में महत्त्वपूर्ण स्थान रहता था।

इस समय के लेखकों ने भी इन श्रेणियों का उल्लेख किया है। मेधातिथि से हमें वणिक और शिल्पकारों के संघों के बारे में जानकारी मिलती है। शिल्पकारों की श्रेणियों में बुनकरों, कुम्हारों, मालियों तथा दस्तकारों के नाम मिलते हैं। श्रेणियाँ स्वयं अपने कानून बनाती थीं और उनको सदस्यों पर थोपती थीं स्म ति चन्द्रिका से ज्ञात होता है कि समूहों को कानून बनाने का अधिकार था। बाजारों पर नियन्त्रण करने के इनके स्वयं के कानून होते थे। यदि कोई व्यक्ति उनका उल्लंघन करता था तो उसको दण्ड दिया जाता था। यदि समूह उस व्यक्ति को ठीक रास्ते पर लाने में समर्थ नहीं होता तो राजा को हस्तक्षेप करना पड़ता था।

इस काल के कुछ अभिलेखों में भी इन श्रेणियों का उलेख मिलता है किन्तु उनका सम्बन्ध प्रायः मन्दिरों को दान देने से रहा है। ग्वालियर के वैल्लभट्ट स्वामी के मन्दिर का ई०स० 877 का लेख तैलियों और मालियों की श्रेणियों को प्रदत्त दानों का उल्लेख करता है। लगभग इसी काल के एक अन्य लेख में अश्व व्यापारियों की एक महत्त्वपूर्ण श्रेणि का उल्लेख है जिसने घोड़ों घोड़ियों और अन्य पशुओं को खरीदने वालों पर कर लगाया था। कर से प्राप्त धन स्वभावतः ही विभिन्न मन्दिरों के बीच बाँट दिया जाता था जो एक-दूसरे से इतने दूर स्थित थे जैसे पेहोआ और कन्नौज। दशवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के सियादोनी अभिलेखों में पानवालों, तेलियों और पत्थर काटनेवालों की श्रेणियों के दान तथा सुराजीवियों के साथ 1350 द्रमों के विनियोग का वर्णन मिलता है। दसवीं सदी के कामा के अभिलेख में कुम्भकारों, मालियों तथा दस्तकारों की श्रेणियों का उल्लेख है। उन्होंने अपने प्रत्येक सदस्य से उपकर वसूल कर धन एकत्रित किया और काम्यकेश्वर के मन्दिर को दान दिया। शेरगढ़ में भी एक तेलियों की श्रेणि थी जिसके अध्यक्ष थीयक ने सोमनाथ के मन्दिर को 1028 ई० में दान दिया।

दक्षिण भारत में श्रेणियाँ

दक्षिण से प्राप्त अनेक अभिलेख व्यापारियों और शिल्पियों की सामुदायिक गतिविधियों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। राजा विक्रमादित्य के ई०स० 725 के लक्ष्मणेश्वर के अभिलेख में ताँबे और कांसे का काम करनेवालों की श्रेणि का उल्लेख है। इससे यह भी पता चलता है कि पोरिगेड़े नगर की प्रजा के सभी वर्गों के कर कार्तिक मास में नगर की श्रेणि में जमा किए जाएंगे। यह स्पष्ट है कि श्रेणि यहाँ स्थानीय बैंक एवं खजाने का काम करती थी कृष्ण द्वितीय के ई०स० 902-903 के मूलगुण्ड अभिलेख में तीन सौ साठ नगरों की श्रेणियों के चार मुखियों द्वारा दिए गए दान का उल्लेख पाया जाता हैं संगठन के अत्यधिक विकसित रूप तथा उसके कार्यक्षेत्र के विस्तार का यह महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। छठे विक्रमादित्य के काल के एक लेख (ई०स० 1110) में अनेक श्रेणियों के संयुक्त दानों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों के अभिलेखों में तैलिकों, बुनकरों, शिल्पियों तथा कुम्हारों इत्यादि की श्रेणियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

दक्षिण भारत में व्यापारी भी अपने सामूहिक संगठनों के लिए प्रसिद्ध थे। द्वितीय तैलप के निडगुन्दि अभिलेख में 505 व्यापारियों के एक संगठन के द्वारा धार्मिक प्रयोजन के लिए विविध वस्तुओं के दान में दिए जाने का उल्लेख है। व्यापारियों के एक संघ का स्पष्ट उल्लेख तिरुमुरूगनपुण्डि के एक मन्दिर में उत्कर्ण विक्रम चोल के काल के एक अभिलेख में प्राप्त होता है। यह संगठन प्रायः

सारे दक्षिण भारत में फैला हुआ था और इसके सदस्यों की संख्या 500 थी। पश्चिमी चालुक्य राजा जगदेकमल्ल द्वितीय के काल (ई०स० 1178) के एक अभिलेख के अनुसार ऐहोल पाँच सौ वणिजों का निवास स्थान था। जिला तिन्नेवाली के एक ग्राम में प्राप्त दसवीं सदी ई० के एक पाण्ड्य अभिलेख में अथ्यपोलिल 500 श्रेणि का उल्लेख है।

इन व्यापारिक संगठनों में ''नानादेशतिशैयारतु ऐन्नतुर्रुवर'' सबसे प्रसिद्ध था भिन्न वर्गों के व्यापारी इसके सदस्य थे। दसवीं से बारहवीं सदी के अभिलेखों में इसके नाम का उल्लेख मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि यह संगठन अपना कार्य करीब 300 वर्ष तक करता रहा। इसका नानादेशी नाम इस बात का द्योतक है कि इसका सम्बन्ध विविध देशों से था। स्थल और जल मार्ग से विभिन्न प्रदेशों में जाकर ये घोड़े, हाथी, रत्न, गंध औषधि तथा अन्य वस्तुओं का थोक और खुदरा व्यापार करते थे। इनके लंका, बर्मा, जावा और सुमात्रा के साथ व्यापारिक सम्बन्धों के प्रमाण मिले हैं। इनके पास रक्षा के लिए सैनिक भी होते थे। इनके अभिलेखों में अनेक प्रकार के दान का उल्लेख भी मिलता है। इसी प्रकार मणिग्रामम् व्यापारिक निगम का इतिहास नवीं से तेरहवीं सदी तक मिलता है। इसमें भी सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे और इसका भी प्रभाव दक्षिण भारत के अनेक नगरों में फैला हुआ था। अ जुवम्णम् और वीरवनजुस व्यापारिक निगमों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। वलगे और इडंगे व्यापारिक समुदायों के नाम भी इस समय के अभिलेखों में मिलते हैं।

श्रेणियों का संगठन और संविधान

ई०पू० छठी शताब्दी में श्रेणियों के संगठन के बारे में हमें जातकों से पता चलता है। प्रत्येक शिल्प समूह का नेत त्व प्रमुश अथवा ज्येष्ठक के द्वारा होता था। ऐसे शिल्प-प्रमुखों के नाम हमें जातकों से मिलते हैं जिनमें वड्ढकिजेट्ठक, मालाकार जेट्ठक तथा कुमार जेट्ठक के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रायः एक ही व्यवसाय के व्यक्ति श्रेणि के रूप में अपना संगठन करते समय अपने नेता का चुनाव भी कर लेते थे। इन शिल्प-प्रमुखों की स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती थी। सम द्ध होने के साथ वे राजा के कृपापात्र भी होते थे। सूचिजातक में राजा के कृपापात्र एक ऐसे सम द्धिशाली कम्भारजेट्ठ के होने का उल्लेख मिलता है। वणिज श्रेणियों के मुखिया सेठि कहलाते थे। वणिज श्रेणियों के संघ का अध्यक्ष महासेठि कहलाता था जिसके नीचे अनुजसेठि होते थे। जब दो श्रेणियों में मतभेद हो जाता था तो उसका निर्णय, महासेठि करता था। एक महासेठि को काशी राज्य के भांडागारिक होने का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अनुसार श्रेणि का अध्यक्ष 'मुख्य' कहलाता था। श्रेणि के अध्यक्ष का नाम प्रधान, प्रमुख, महत्तर, महर पट्टकलि (पटेल) आदि भी मिलते हैं। यूरोप में मध्यकाल में श्रेणियों के अध्यक्ष को अल्डरमैन (Alderman) कहते थे। यूरोप में नगर की विशेष शिल्प व्यवसाय में श्रेणि के सब सदस्य होते थे किन्तु नासिक में जुलाहों की दो श्रेणियाँ थीं।

याज्ञवल्क्य स्म ति और नारदस्म ति में श्रेणियों के संगठन और उनके संविधान पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। श्रेणि का एक प्रधान या अध्यक्ष होता था जिसकी सहायता के लिए दो तीन या पाँच प्रबन्ध अधिकारी (कार्य चिंतक) होते थे। सम्भवतः ये अधिकारी सदस्यों द्वारा चुने जाते थे। ये अधिकारी ईमानदार, योग्य आत्मसंयमी तथा वेदों के ज्ञाता होते थे।

अधिकारी का सदस्यों पर नियंत्रण रहता था। गलत आचरण करनेवाले को दण्ड दिया जाता था। उस पर जुर्माना लगाया जाता था, उसकी जायदाद छीन ली जाती थी और नगर से बहिष्कृत भी कर दिया जाता था। साधारण अपराध करने पर केवल डांट-डपट कर दी जाती थी। यदि किसी संस्था का प्रधान व्यक्तिगत द्वेष के कारण किसी सदस्य को हानि पहुँचाता था, तो वह राजा के पास अपील कर सकता था। यदि यह प्रमाणित हो जाता कि अध्यक्ष का व्यवहार

नियमानुमोदित न होकर व्यक्तिगत रागद्वेष से प्रभावित रहा हो तो राजा उसके प्रस्तावों को रद्द कर सकता था।

परिषद का एक कार्यालय होता था। जहाँ श्रेणि के सदस्य समय-समय पर एकत्र होकर सार्वजनिक कार्य सम्पादित करते थे। ढोल या अन्य वाद्ययन्त्रों को बजाकर सदस्यों को सूचित किया जाता था वे श्रेणि भवन में उपस्थित होकर जनसमुदाय के मामलों पर विचार करें। सभा में सदस्यों के नियमित भाषण होते थे। यदि प्रबन्ध अधिकार वक्ता के युक्तिसंगत बात बोलने में रूकावट डालता या अनुचित बात कहता, तो यह 'पूर्व साहस दण्ड' का भागी होता था।

श्रेणि के निश्चित नियम और परम्पराएँ कानून के रूप में थीं राजा जिनको जहाँ तक सम्भव होता, मानता था। इसको अपने सदस्यों पर न्यायिक शक्ति भी प्राप्त थी और चार सामान्य न्यायालयों में इसको दूसरा स्थान प्राप्त था। श्रेणी को सामूहिक अचल-सम्पत्ति-जैसे खेत, बगीचा आदि पर स्वामित्व का अधिकार प्राप्त था। प्रबन्ध अधिकारी श्रेणि की ओर से ऋण ले सकता था। यदि वह इस धन को श्रेणि के हित में न लगाकर निजी कार्यों में खर्च करता तो उसे दण्ड मिलता और साथ में उसे धनराशि को पूरा करना पड़ता था। संगठन की ओर से दान और धर्म कार्य किए जाते थे और प्रत्येक सदस्य उनके पुण्यफल का भागी माना जाता था। श्रेणि में नये सदस्यों को लिया जाना तथा उससे पुराने सदस्यों का हटाया जाना श्रेणि की साधारण सभा के ऊपर निर्भर करता था।

प्रबन्ध अधिकारी अन्तिम रूप से समूह के प्रति उत्तरदायी माने जाते थे। समूह ऐसे किसी भी प्रबन्ध अधिकारी को हटा सकता था जो किसी बड़े अपराध के लिए उत्तरदायी होता, फूट डालता अथवा जो श्रेणी की संपत्ति को नाश करता। राजा को निष्कासन की सूचना मात्र देना आवश्यक था, उसकी अनुमति प्राप्त करना नहीं। जब समूह अपने आपको असमर्थ पाता था। राजा तभी हस्तक्षेप करता, इन समूहों में पारस्परिक झगड़ों को सुलझाने में राजा की आवश्यकता पड़ती थी। वह उनको ऐसे कार्य करने से रोक सकता था जो राज्य के हितों के प्रतिकूल हो अथवा निन्दनीय और अनैतिक ढंग के हों।

श्रेणियों के कार्य

श्रेणियों का मुख्य कार्य अपने उद्योग और व्यवसाय भली-भाँति से संगठित कर, उनको उन्नतिशील बनाना था। इनके लिए उन्होंने अनेक नियम बनाये। आवश्यकता पड़ने पर वे दूसरे को सहायता देते थे। अपने व्यवसाय और उद्योग के अतिरिक्त उन्होंने अनेक कार्य किए।

धार्मिक कार्य

व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के कारण ये श्रेणियाँ बड़ी सम द्ध थीं। अभिलेखों से पता चलता है कि वणिकों और शिल्पियों ने व्यक्तिगत और संयुक्त रूप में अनेक प्रकार के दान दिए। कर्लि के महाचैत्य का निर्माण वैजयंती के सेठी ने किया। सांची के स्तूपों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि महाजनों और शिल्पकारों ने ई०पू० तीसरी सदी से पहली सदी तक अनेक प्रकार के उपहार दिए। कन्हेरी की गुफाओं के अभिलेखों में भी इनके दान का उल्लेख मिलता है। जुन्नर के एक अभिलेख में अनाज के व्यापारियों द्वारा एक गुफा और एक बुण्ड का दान अंकित है। मन्दसौर के एक अभिलेख से पता चलता है कि रेशम बुननेवालों की श्रेणि ने ई०स० 436 में अपनी संचित धनराशि से सूर्य का एक विशाल मन्दिर बनवाया। कुछ समय बाद मन्दिर का एक भाग जीर्ण-शीर्ण हो गया जिसकी मरम्मत उसी श्रेणी ने ई०स० 472 में कराई। कई अभिलेखों में इनके द्वारा धार्मिक संस्थाओं को नगद धन दान देने का उल्लेख मिलता है। कभी-कभी वस्तु में भी दान किया जाता

था। ग्वालियर के 877 ई० के अभिलेख से पता चलता है कि तैलिक श्रेणी ने घानी से तेल मालियों की श्रेणि ने मन्दिर को मालाएँ देना निश्चित किया।

जन-कल्याण के कार्य

प्राचीन समय में श्रेणियाँ जनकल्याण के कार्य भी करती थीं। ब हस्पति के अनुसार श्रेणियों के कार्य-कलापों में जनोपयोगी विभिन्न बातें सम्मिलित थीं। वे सभाग ह या यात्रियों के लिए विश्रामग ह का निर्माण करती थीं। वे मन्दिर बनवाती, सरोवर खुदवाती तथा उद्यान लगवाती थीं। वे दीनों को शास्त्रों के अनुसार संस्कार या यज्ञ-कार्य करने के लिए भी सहायता देती थीं। इनकी पुष्टि कुछ अभिलेखों के प्रमाण से भी होती है श्रेणियों का सम्बन्ध अनेक प्रकार के आर्थिक कार्यों से भी था।

आर्थिक कार्य

प्राचीन समय में विशेष वणिक-श्रेणियाँ सिक्के भी चलाती थीं। भारत के सबसे प्राचीन सिक्के आहत मुद्राएँ (Panch-marked coins) है। इनमें से कुछ तो इन श्रेणियों ने अवश्य ही आरम्भ किया था। तक्षशिला से प्राप्त कुछ सिक्कों पर ई०पू० तीसरी सदी की लिपि में ''नैगम'' लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि तक्षशिला के जैगम ने इनको प्रचलित किया जाता था। प्राचीन समय में सिक्कों को बनाने या चलाने पर राजा या एकाधिकारी नहीं माना जाता था। इस कारण श्रेणियाँ भी प्रायः सिक्कों को बनाती थी।

सिक्कों के साथ ये श्रेणियाँ अपने व्यापार के लिए मोहरों का भी प्रयोग करती थी। इलाहाबाद के पास भीटा के उत्खनन मे मार्शल को मोहर का सांचा (Seal die) मिला है जिस पर ई० पू० चौथी या तीसरी सदी की लिपि में ''शहिजितिये निगमश'' लेख मिलता है। यहाँ पर चार कुषाण काल तथा एक गुप्त काल की मोहरें भी मिलती हैं जिन पर निगम लिखा है। बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) से गुप्तकाल की 278 मोहरें प्राप्त हुई है जिन पर लेख मिले हैं। इनसे सिद्ध होता है कि श्रेष्ठियों, सार्थवाहों और कुलिकों ने मिलकर एक बड़ा भारी वाणिज्य मण्डल स्थापित किया था, जिसकी शाखाएँ अनेक नगरों में फैली हुई थी।

ये श्रेणियाँ आधुनिक बैंकों का कार्य भी करती थी। इनमें धन जमा कराया जाता था जिस पर ये ब्याज देती थी। ये धन उधार भी देती थी। नासिक के 120 ई० के लेख से ज्ञात होता है कि शकराज नहापन के जामाता उपवदात ने गोवर्धन की जुलाहों की एक श्रेणि मे 2000 कार्षापण तथा दूसरी में 1000 क्रमशः 12 और 9 प्रतिशत ब्याज की दर से जमा कराये। इस ब्याज से बौद्ध भिक्षुओं को वस्त्र दिये जाते थे। नासिक के तीसरी शताब्दी के एक अन्य लेख से ज्ञात होता है कि वहाँ की श्रेणियों में कुछ धन जमा कराया गया। जिसके ब्याज से संघाराम में रहनेवाले भिक्षु संघ के रोगियों की दवा का प्रबन्ध होता था। इन्दौर के 465 ई० के ताम्रपत्र में एक ब्राह्मण द्वारा धनराशि के दान का उल्लेख है जिसके ब्याज से एक सूर्य-मन्दिर में एक दीपक हेतु तेल की स्थायी व्यवस्था का उल्लेख है जिसके ब्याज से एक सूर्य-मन्दिर में एक दीपक तेल की स्थायी व्यवस्था करना था। यह दान इन्द्रपुर की तैलिय श्रेणि में जमा कराया गया जो इस पर ब्याज देती थी। ये श्रेणियाँ अवश्य नियमबद्ध व्यवस्था वाली तथा ईमानदार रही होंगी अन्यथा लोग उन्हें अपने स्थायी धर्मदाय न सौंपते।

इन श्रेणियों को राज्य की भूमि की देखभाल का कार्य भी सौपा गया था। बंगाल में 443 से 433 ई० के अभिलेख मिले है जिनमें नगर श्रेष्ठिन्, सार्थवाह प्रथम कुलिक और प्रथम कायस्थ कुमारामात्य (Provincial Governor) के साथ राजकीय भूमि की व्यवस्था की देखभाल करते थे।

श्रेणियाँ अपने आर्थिक कार्य भी करती थी। लोगों के हित के लिए ये बाजारों पर भी नियंत्रण

रखती थी। वस्तुओं का क्रय, विक्रय और धन के लेनदेन के निश्चित नियम थे। कई बार ये आंतरिक और ब्राह्य व्यापार भी मिलकर करते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान को ये संघ बनाकर जाते थे। उन्होंने वस्तुओं की बिक्री पर कर लगा रखे थे जिसका प्रयोग वे जनहित के लिए करते थे।

इन श्रेणियों की एक विशेषता यह भी थी इनके सदस्य कभी-कभी साझेदारी से भी कार्य करते थे। कूटवाणिज, जातक, वावक जातक और महावणिज जातक में व्यापार के लिए वणियों का साझेदारो में सम्मिलित होने का वर्णन है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इस पद्धति का उल्लेख किया है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में भी सम्भूय-समुत्थान जो साझेदारी के लिए पारिभाषित शब्द है-के लिए निश्चित नियमों का विधान किया गया है। इस पद्धति का सारभूत सिद्धांत यह था कि आर्थिक लाभ के हेतु एक से अधिक व्यक्ति व्यापार करते थे। इसके लिए प्रत्येक सदस्य साधारण कोष में जो समुदाय के मूलधन का काम करता था, अपना-अपना अंश देता था। प्रत्येक साझीदार की क्षति, व्यय और उस अंश के अनुपात से होता था जो सम्भूय समुत्थान के लिए देता था। इस समझौते के द्वारा कुछ साझीदार संभवतः अपने अतिरिक्त कौशक और विशेष ज्ञान के कारण लाभ का उस से अधिक अंश प्राप्त कर सकते थे जितना इन्हें अपने अंशदान के अनुपात से मिलता। कर्मकर, कृषि कर्म तथा सोना, चाँदी, सूक्त लकड़ी, पत्थर अथवा चमड़े से बनी वस्तुओं के उत्पादन की विविध कलाओं और शिल्पों का व्यवहार भी साझेदारी के आधार पर करते थे। किन्तु व्यापार के इन विषयों में साझेदारी का आधार या व्यक्ति का कार्य-कौशल और शिल्प-ज्ञान, न कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दिया गया मूलधन।

वैधानिक कार्य

कालान्तर में श्रेणियों का प्रभाव और प्रतिष्ठा बढ़ गई। समाज में उनका एक अलग स्वतंत्र अस्तित्व हो गया। उन्होनें अपने रीतिरिवाजों के आधार पर अलग कानून बना लिए जिनकी राज्य ने भी मान्यता दे दी। गौतम का कहना है कि श्रेणि के रीति रिवाज धर्म के विरूद्ध नही होते हो तो वे मान्य है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि लेखाध्यक्ष को नियमित रूप से निर्धारित रजिस्टरों में निगमों की प्रथाओं सम्बन्धी बातों को भरना पड़ता था। मनु का मत है कि राजा को श्रेणि के कानूनों का आदर करना चाहिए। याज्ञवल्क्य, नारद और अन्य स्म तिकारों के अनुसार राजा को इसके कानून तथा समझौते को लोगों पर थोपना चाहिए और उल्लंघन करनेवालों को दण्ड देना चाहिए।

श्रेणियाँ साधारण न्यायालयों के रूप में

श्रेणि को सामूहिक रूप में अपने सदस्यों पर न्यायिक अधिकार प्राप्त थे। नारद के अनुसार श्रेणि को चार सामान्य न्यायालयों में दूसरा स्थान था। कुल, श्रेणि, गण और राजा। अन्य धर्मशास्त्रकार जैसे ब हस्पति और याज्ञवल्क्य ने भी इनका उल्लेख किया है। इनमें से प्रत्येक के निर्णय के विरूद्ध उसकी अपेक्षा उच्चतर न्यायालय में अपील की जा सकती थी। श्रेणि के न्यायिक कार्य केवल उनके सदस्यों तक सीमित थे। श्रेणि द्वारा न्यायिक कार्य करने की पुष्टि दामोदरपुर ताम्रपत्र अभिलेखों (433 ई० और 438ई०) से भी होती है। गुप्त सम्राट प्रथम कुमारगुप्त के राजत्वकाल में कुमारामात्य वेजवर्मा, नगरश्रेष्ठि, ध तिपाल, सार्थवाह, बन्धुमित्र, प्रथमकुलिक ध तिमित्र, प्रथम कायस्थ साम्भपाल न्याय प्रशासन की देखभाल कर रहे थे।

सैनिक कार्य

आवश्यकता पड़ने पर ये श्रेणियाँ सैनिक कार्य भी करती थी कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह स्पष्ट है कि उस समय की श्रेणियाँ प्रभूत सैनिक शक्तिशाली थी। उसने सेना की विभिन्न शाखाओं में

श्रेणि-बल को भी रखा है। इसका प्रयोग रक्षा एवं आक्रमण दोनों के लिए होता था। अपनी शक्ति में व द्धि करने के लिए राजा को इस प्रकार से सैनिकों को भी भरती करना पड़ता था। महाभारत के कुछ श्लोकों से स्पष्ट है कि राजा श्रेणिबल का उपयोग कर सकता था। यह श्रेणिबल भ र्त (भाडे के सैनिक) के समान ही महत्त्व वाला कहा गया है। रामायण में भी सयोध श्रेणि का जिक्र मिलता है। श्रेणि द्वारा सैनिक कार्य किये जाने का स्पष्ट उल्लेख मन्दसौर शिलालेख में उपलब्ध है। रेशम बुनने वाले श्रेणि के कुछ लोग धनुर्विद्या सीखकर अच्छे योद्धा बन गए। नारद-स्म ति में श्रेणियों तथा दूसरे सैकायों के सम्बन्ध में मिलता है कि राजा गोपनीय संगठनों को बिना उचित कारण हथियार चलाने तथा पारस्परिक आक्रमणों को सहन न करें।

प्रशासनिक कार्य - बसाढ़ से प्राप्त मुहरों से भी श्रेणियों के कार्य पर प्रकाश पड़ता है इन पर निम्नलिखित लेख मिलते हैं।

(1) श्रेणी सार्थवाह कुलिक निगम

(2) श्रेणी कुलिक निगम

(3) श्रेणी निगम

(4) कुलिक निगम

यहाँ पर उद्ध त निगम शब्द पर विद्वानों में मतभेद है भंडारकर निगम का अर्थ नगर से लेते है मजूमदार भी भंडारकर की भाँति इसका अर्थ नगर लेते हैं अतः यदि निगम का अर्थ नगर लिया जाए तो स्पष्ट है कि नगर कुलिकों, सार्थवाहों तथा श्रेणियों द्वारा सम्मलित या प थक् रूप से नगर प्रशासन का कार्य भी करते थे। इसकी पुष्टि दक्षिण भारत से प्राप्त प्रमाणों से भी हो जाती है जहाँ बड़ें-बड़ें व्यवसायिक संगठन नगर प्रशासन का काम भी करते थे। उत्तरी भारत में ग्वालियर से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार 877 ई० में श्रेष्ठियों तथा सार्थवाहों को एक मंडल नगर का शासन संचालित करता था।

अतः स्पष्ट है कि श्रेणियों को राज्य में आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्क तिक विकास के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

अध्याय-5
सूदखोरी
(Usury)

अर्थ तथा प्राचीन धर्मशास्त्रकारों के इस बारे में मतः 'सूदखोरी' अर्थ है गैरकानूनी अर्थात् अमान्य दरों पर सूद पर पैसा देना और जो व्यक्ति यह काम करता है वह सूदखोर कहलाता है। प्राचीन काल में साधारणतः सूद अर्थात् ब्याज का धन्धा करना और ब्याज लेना दोनों ही निन्दनीय और अनैतिक कार्य समझे जाते थे। हालांकि व्यवहार में ब्याज पर कर्ज का लेन-देन प्रारम्भिक प्राचीन-काल से ही चलता रहा। बुद्धिस्ट स्त्रोतों (Buddhist Sources) से स्पष्ट है कि बुद्धकाल में कर्ज पर रुपया उठाने की प्रथा प्रचलित थी हालांकि बौद्धधर्म में भी उसे प्रोत्साहित नहीं किया गया यहाँ तक कि कर्जदार व्यक्ति की बिना कर्ज चुकाए बौद्ध धर्म संघ में प्रवेश वर्जित था। इसी प्रकार श्रेणियों के अन्य कार्यों में एक कार्य ब्याज पर पैसे का लेन-देन भी करना था। जिससे स्पष्ट है कि ब्याज का धन्धा संस्थागत (Institutionalise) भी होता जा रहा था। परन्तु ये श्रेणियाँ सूद का ही काम करती थी या सूदखोरी भी कहना कठिन है। पूर्वकालीन और मध्यकालीन भारतीय समाज में सूदखोरी और सूद (ब्याज) के बीच अन्तर कर पाना। कठिन ही नहीं असम्भव कार्य है कारण स्म तिकारों द्वारा इन शब्दों का प्रयोग स्पष्टतः भेद करते हुए न कर पाना इसलिए यह कह पाना कठिन है कि कब कोई ब्याज का धन्धा कर रहा है और कब सूदखोरी का।

यद्यापि इस विषय पर मुख्यतः जानकारी स्म तिसाहित्य तथा कुछ एक अभिलेखों से प्राप्त होती है परन्तु उपलब्ध सामग्री इतनी कम है कि इस मुद्दे में सभी पहलुओं पर क्रमबद्ध ढंग से विस्त त रूप से कुछ कह पाना कठिन है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में सूद या सूदखोरी के कई पर्यायवाची मिलते हैं जैसे कुसीद, वार्धविषक, व द्धि और ब्याज। आर. एस. शर्मा के अनुसार 'ब्याज' शब्द का प्रयोग परवर्ती लगता है। इन शब्दों का प्रयोग स्म तिकारों ने मनमाने ढंग से किया है अतः यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि किस शब्द का प्रयोग सूदखोरी के लिए किया गया है और किसका सूद के लिए।

पाँचवीं शताब्दी में विधिकर्ता बौधायन के अनुसार

कुसीद (ब्याज लेना) वैश्य की व त्ति है और जो ब्राह्मण यह व त्ति अपनाए वह शूद्र के समान हो जाएगा। इसके विपरीत गौतम ने ब्राह्मण को भी इस व त्ति की आज्ञा दी है, बशर्ते कि वह स्वयं यह न करे। मनु ने 'व द्धि' और 'कुसीद' के बीच अन्तर नहीं किया गया है और कहा है कि 'वार्धषिक' (ब्याज पर कर देनेवाला) 'व द्धि' (ब्याज) ले सकता है। वसिष्ठ ने कहा है कि वार्धषिक वह है जो अल्प मात्रा में लेकर अधिक मात्रा में वापस करने की शर्त पर ऋण देता है। यह अन्न के विषय में भी लागू था या नहीं—यह बात मूल ग्रन्थ से स्पष्ट नहीं होती है। किन्तु नारद ने वार्धुष (ब्याज) की परिभाषा अन्न पर लिया गया ब्याज की है। इनके अनुसार अन्न पर ब्याज मूलधन के

तीन गुना तक हो सकता है, परन्तु जब मित्र भाव से दिए गए अन्न पर 5 प्रतिशत से अधिक व द्धि माँगी जाए, तब इसे सूदखोरी की कोटि में समझा जा सकता है।

सूदखोरी के बारे में ब हस्पति की धारणा भिन्न है। उसके अनुसार मूल का दूना वसूल हो जाने पर आधि (गरीबी) का भोग करना, चक्रव द्धि और ब्याज को मूलधन में मिलाना सूदखोरी है और वह निन्दनीय है। ब हस्पति सूद और सूदखोरी लगता है एक ही समझता है और कहता है कि सेवा करनेवाले या कष्ट में पड़े गरीब लोगों से अविवेकपूर्वक मूल का चार गुना या आठ गुना वसूलना कुसीद है। नवीं शताब्दी के मेधातिथि कुसीद का अर्थ करता है—बुरे लोगों द्वारा अपनाया जानेवाला कर्म और लक्षणा से ऐसा कर्म करनेवाले व्यक्ति भी कुसीद कहलाते हैं। लगभग सभी विधि ग्रन्थों में उस ब्याज की निन्दा की गई है जो कानून समर्थित ब्याज नहीं है, किन्तु इस अर्थ में उन्होंने किसी खास तिरस्कार सूचक पारिभाषिक पद का प्रयोग नहीं किया है। फिर भी, उनमें अत्यधिक ब्याज के प्रति रोष और कटुता स्पष्ट नजर आती है, जो परवर्ती मध्य काल तक चलता रहता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मिथिला के मिसरू मिश्र ने विवादचन्द्र में ब्याज बढ़ाने के फेर में लगे रहनेवाले सूदखोर का अन्न विष्ठासद श (मूल के समान) बताया गया है।

प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक के विधि-ग्रन्थों में विभिन्न वर्णों के सदस्यों के द्वारा लिए जाने वाले ब्याज के बारे में एक जैसा द ष्टिकोण नहीं रहा बल्कि उनकी द ष्टि सदैव बदलती प्रतीत होती है। पाँचवी-तीसरीं शताब्दी ई० पू० के स्म तिकारों ने ब्याज लेना केवल वैश्य का कार्य ही बताया है, वसिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण को कुसीदव त्ति नहीं करनी चाहिए। खासकर सूदखोर ब्राह्मण को तो शूद्र के समान बताया गया है। उसे वैश्य के समान भी नहीं माना है। वसिष्ठ ने कहा है कि यदि ब्रह्म हत्या और सूदखोरी को एक तुला पर रखें तो ब्रह्महत्या का पलड़ा हल्का होगा और सूदखोरी का भारी। इसी प्रकार बौधायान के अनुसार भी यदि व द्धि (सूदखोरी) और भ्रूण-हत्या को एक तुला पर रखें तो भ्रूण हत्या का पलड़ा ऊपर उठेगा और सूदखोरी का नीचे गिरेगा। इस प्रकार सूदखोरी को ब्रह्महत्या और भ्रूणहत्या से भी नीच कर्म माना गया है। चूँकि ये सभी विधि-निर्माता ब्राह्मण हैं, इसलिए इन्होंने सूदखोरों के प्रति गहरी घ णा प्रकट की है जो संभवतः ब्राह्माणों से भी सूद लेना छोड़ते नहीं होंगे। किन्तु बौधायन कहता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय भी ऐसे व्यक्ति से ब्याज ले सकते हैं जो अपने धर्म (कर्त्तव्य) की उपेक्षा करनेवाला हो, कंजूस हो, नास्तिक हो, या अति दुष्ट हो; लेकिन ये आपवादिक मामले हैं और इनसे सामान्यतः ब्राह्मण के लिए कुसीद-व त्ति (सूदखोरी का काम) मान्य नहीं समझी जाए।

मौर्योत्तर-काल के सर्वाधिक स्म तिकार मन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय को आपातकाल में भी ब्याज का कारोबार नहीं करना चाहिए, किन्तु धार्मिक आवश्यकता की स्थिति में अधम पेशावाले लोगों को कुछ ब्याज नहीं देना चाहिए। लेकिन दूसरी ओर मनु ने राजा का कर्त्तव्य बताया है कि वह वैश्यों को अन्य व त्तियों के अतिरिक्त कुसीद-व त्ति भी अपनाने के लिए बाध्य करे। नारद सम्भवतः क्षत्रियों के लिए तो यह व त्ति मानने को तैयार प्रतीत होता है, किन्तु कहता है कि ब्राह्मण को कुसीद का धन्धा नहीं अपनाना चाहिए, घोर संकट में भी नहीं। इसी प्रकार कात्यायन कहता है कि जो ब्राह्मण (द्विज) गोपालक, व्यापारी, शिल्पी, चारण, सेवक या सूदखोर (महाजन) हो, उस पर राजा शूद्रों की विधि लागू करें। इस प्रकार मौर्योत्तर और गुप्त-काल के स्म ति ग्रन्थों में ब्राह्मण के लिए कुसीद-व त्ति स्पष्टतः वर्जित की गई है।

परन्तु लगभग नवी शताब्दी से स्थिति बदली हुई नजर आती है। नवीं शताब्दी के मनुस्म ति के टीकाकार मेधातिथि कहता है कि भगवान बसिष्ठ ने अस्सीवाँ भाग (1/80) की दर से ब्याज की अनुमति दी है। इसलिए मेधातिथियों के अनुसार इससे धन की व द्धि होती है, और इसमें लोभ का

दोष नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि वसिष्ठ ने ब्याज लिया, तो ब्याज लेना ब्राह्मणों के लिए न्यायोचित था। यह स्थिति बारहवीं शताब्दी के आते-आते पूर्णतः मान्य हो गई, गरुड़पुराण में आपातकाल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को ब्याज का कारोबार करने की अनुमति दी गई है। इसमें ब्याज के कारोबार को ऋषियों के संकट (आपद्धर्म) के समय जीवका कमाने के साधनों में सर्वाधिक फलप्रद बताया है। ऋषि तो वर्षा के अभाव, राज-कोष, चूहे के उपद्रव आदि कारणों से मारी जा सकती है, किन्तु कुसीद नहीं, वह तो हर समय और सभी परिस्थितियों में बढ़ता ही रहता है।

उत्तर भारत में ब्राह्मण लोग वस्तुतः ब्याज का कारोबार करते थे या नहीं—यह कहना कठिन है। ग्यारहवीं शताब्दी का वर्णन करते हुए अलबरूनी ने कहा है कि "सूदखोरी या प्रतिशत (व द्धि) लेना वर्जित है। प्रतिशत लेना केवल शूद्र के लिए मान्य ज्ञात था, बशर्ते कि लाभ मूलधन के पचासवें भाग से अधिक न हो। परन्तु अब तक सभी स्म ति-ग्रन्थों ने वैश्यों को ब्याज लेने की अनुज्ञा दी है, तब ऐसा समझना तर्कहीन होगा कि यह अलबरूनी के समय में केवल शूद्रों तक ही सीमित था। सम्भवतः अलबरूनी ने ठीक से समर्थन नहीं पाया होगा है, और इस्लाम की भावना से प्रेरित रहा होगा जिसमें प्रतिशत व द्धि वर्जित है।

आर. एस. शर्मा के अनुसार पुरोहितों तथा ब्राह्मणों से प्रभावित दक्षिण-भारतीय मन्दिर-संस्थानों में, ग्राम-सभा आदि को ब्याज पर सोना दिया जाता था और ब्याज लिया जाता था, जिससे कि पूजा, अखंडदीप, आदि का खर्च निकल सके। यह सब धार्मिक आधार पर किया जाता था, किन्तु ऐसा उदाहरण जैसा कि आर. एस. शर्मा कहते हैं, अभी तक नहीं मिला है, जहाँ ब्राह्मणों ने सांसारिक कार्यों के लिए ब्याज का कारबार किया हो।

ब्याज की दरें

प्राचीन तथा पूर्वमध्यकालीन स्म तियों को उद्ध त करते हुए ब्याज की दरों का विस्तार से वर्णन किया है उसके अनुसार पाँचवी शताब्दी ई० पू० से ही नकद और जिंस दोनों तरह के ऋण दिए जाते थे। बौधायन और गौतम जैसे कुछ विधिकर्त्ताओं ने स्पष्टरूप से सिक्कों में प्रतिशत व द्धि (ब्याज) का उल्लेख किया है, जिससे सिद्ध होता है कि नकदी महाजनी का प्रचलन था। कई परवर्ती विधि-कर्ता इसे स्पष्ट नहीं करते, किन्तु उनके द्वारा निर्धारित दर नकदी ऋण की ही प्रतीत होती हैं, क्योंकि जिंसी ऋण के सम्बन्ध में वे कोई दर नहीं बतलाते हैं, बल्कि इतना ही उल्लेखित करते हैं कि ब्याज कितना ऊँचा उठ सकता है।

विधि-ग्रन्थों में लिखित ब्याज की दरें उत्तरोत्तर व द्धि की प्रव त्ति प्रदर्शित करती हैं। बौधायन दस प्रतिशत वार्षिक दर निर्धारित करता है, किन्तु गौतम, इसे बढ़ाकर 15 प्रतिशत रखता है, जिसका समर्थन वसिष्ठ भी करता है। यह दर कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही नहीं, अपितु ई० सन् की प्रथम छः शताब्दियों के स्म ति-ग्रन्थों में भी समर्थित है। मध्यकालीन विधि-कर्त्ताओं तथा टीकाकारों ने कहा है कि यह दर उन्हीं ऋणों के बारे में है, जहाँ प्रतिभूति दी जाती थी। व्यास, जिनकी स्म ति का संकलन 600-900 ई० के बीच किसी समय किया गया था, बतलाता है कि ब्याज की मासिक दर गिरवी या बन्धक के देने पर मूलधन का 80वाँ भाग (15 प्रतिशत) थी, यदि प्रतिभूति के साथ हो तो 60वां भाग (20 प्रतिशत) और यदि केवल शारीरिक प्रतिभूति पर हो तो 2 प्रतिशत प्रतिमास (24 प्रतिशत) होनी चाहिए। हारीत भी, जिसकी स्म ति इसी काल की है, प्रतिभूति नहीं रहने पर 24 प्रतिशत का विधान करता है। व द्ध हारीत ने इतना और कहा है कि प्रतिभूति के रूप में कोई वस्तु गिरवी न करने पर ब्याज सामान्य से दूनी दर से 30 प्रतिशत लिया जा सकता है। इस प्रकार देखते हैं कि नवीं शताब्दी आते-आते ब्याज की सामान्य दर में काफी व द्धि हो गई; जो पाँचवीं

शताब्दी ई० पू० में 12 प्रतिशत थी वह नवीं शताब्दी की ई० में आकर 24 प्रतिशत पर पहुँच गई। गुप्त-काल के बाद की चार शताब्दियों की अवधि में सिक्कों के प्रचलन की अपेक्षाक त कमी से हमें ऐसा अनुमान होता है कि मुद्रा की आपूर्ति सीमित हो जाने के कारण ही ब्याज की दर बढ़ गई। विदेश व्यापार में ह्रास भी मुद्रा की कमी का एक कारण रहा होगा।

ये सभी नियम अनुकूल समय में सामान्य कारोबार में लागू होनेवाले प्रतीत होते हैं। व्यापारिक उद्देश्य से लिए गए धन पर कुछ अधिक ब्याज लगता है। कौटिल्य से 15 प्रतिशत ब्याज को धर्म्य (उचित) कहता है, किंतु वह सामान्य व्यापारियों से 60 प्रतिशत, वन-मार्ग से व्यापार करनेवालों से 120 प्रतिशत और समुद्रपार व्यापार करने वालों से 240 प्रतिशत का विधान करता है। इन तीन कोटियों के व्यापारियों के लिए ठीक ये ही दरें याज्ञवल्क्य ने भी विहित की हैं। याज्ञवल्क्य के ग्यारहवीं शताब्दी के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने इस अन्तर का कारण मूलधन की हानि का खतरा बतलाया है, क्योंकि हो सकता है कि ऋणी नाव-दुर्घटना से अथवा लुटेरों या जंगली जानवरों के आक्रमण से मारा जाय। चूँकि ये दरें मौर्य काल के लिए अत्यधिक प्रतीत होती हैं, अतः लगता है कि उन्हें अर्थशास्त्र में कालान्तर में प्रक्षिप्त कर दिया गया हो। याज्ञवक्ल्य के द्वारा कौटिल्य से इसके अनुकरण किए जाने की सम्भावना भी कम नजर आती है।

व्यापार के लिए दिए गए ऋण के अलावा, अन्य कई मामलों में भी ब्याज की दर ऊँची विहित की गई है। सातवीं शताब्दी के एक विधि-कर्त्ता कात्यायन ने कहा है कि यदि मित्रतावश दिया गया उधार, निक्षेप, ब्याज का बकाया और न चुकाया गया क्रय-मूल्य माँगने पर भी नहीं लौटाए जाएँ तो उन पर 5 प्रतिशत प्रतिमास अर्थात् 60 प्रतिशत की दर से ब्याज लगेगा। नारद के वचन से भी इसी दर का अनुमान किया जा सकता है।

गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और कौटिल्य-जैसे विधिकर्त्ताओं ने वर्ण के आधार पर ब्याज के भुगतान का विधान नहीं किया है। ऐसा विधान सर्वप्रथम वसिष्ठ ने किया है, और ईस्वीं सन् की आरम्भिक शताब्दियों के विधिकर्त्ताओं ने उसका अनुमान किया है। ब्राह्मणों से 24 प्रतिशत वार्षिक लिया जाता था, क्षत्रियों से 36 प्रतिशत; वैश्यों से 48 प्रतिशत और शूद्रों से 60 प्रतिशत। मध्यकालीन टीकाकारों के अनुसार (जैसे विष्णु VI. 2 पर नन्द पंडित की टीका) उक्त दर बिना गिरवी के ऋणों पर लागू होती है, किन्तु वह वर्ण के आधार पर ब्याज के निर्धारण का कारण नहीं बतलाता है। फिर भी, इससे एक ऊँची दर का पता लगता है, अर्थात् ब्राह्मणों के लिए प्रचलित मान्य दर 15 प्रतिशत से काफी बढ़कर 24 प्रतिशत हो गई। दूसरी ओर, वर्णों के अनुसार दरों में भेद की व्याख्या तो निम्न वर्णों की लाचारी की स्थिति के आधार पर ही की जा सकती है, क्योंकि निम्न वर्णों की आर्थिक स्थिति उच्च वर्णों की तुलना में बहुत बुरी थी। यह परिपाटी देहातों में आज भी चलती है, जिसमें शूद्रों से ब्याज ऊँची दर से लिया जाता है। सोलहवीं शताब्दी के एक अन्य ग्रन्थ सरस्वती विलास के अनुसार यह भेदमूलक नियम वहाँ नहीं लागू होता है जहाँ कर्जखोर और कर्जदार दोनों एक ही वर्ण के हैं, वैसी स्थिति में ब्याज की दर समानरूप से 24 प्रतिशत प्रतिवर्ष होगी। उदाहरणार्थ, यदि एक क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय को ऋण देगा तो वह 24 प्रतिशत की दर से ब्याज लेगा, यदि वह वैश्य देगा तो 36 प्रतिशत और यदि शूद्र को देगा तो 48 प्रतिशत। इसी तरह यदि कोई वैश्य किसी वैश्य को ऋण देगा तो 24 प्रतिशत की दर से ब्याज लेगा, और यदि शूद्र को देगा तो 36 प्रतिशत की दर से। इन नियमों से यह संकेत मिलता है कि मध्य-काल के अन्तिम भाग में ब्याज के विषय में वर्णमूलक भेदभाव कुछ दब गया था, लेकिन यह सोचना गलत होगा कि पूर्व मध्य-काल में इस भेद-भाव का अनुसरण पूरी तरह किया जाता था। कम-से-कम तथोपलब्ध पुरालेखीय सामग्री से तो ब्याज-वसूली में सामाजिक विषमताओं का कोई संकेत नहीं मिलता है।

मौर्योत्तर काल में उत्तर और पश्चिम भारत में मुद्रात्मक निधियाँ शिल्पि-संघों के पास न्यस्त की

जाती थीं जो पूजा-पाठ का काम चलाने के लिए उन पर कुछ ब्याज चुकाया करते थे, किन्तु दर का उल्लेख कहीं नहीं है। ऐसी दरों के बारे में पहली झलक पूर्व-मध्यकाल के दक्षिण भारतीय अभिलेखों में मिलती है। चोलों के अधीन तमिलनाडू से प्राप्त दसवीं शताब्दी के अनेक धर्मदाय-लेखों से पता चलता है कि ब्याज की सामान्य दर 15 प्रतिशत थी। परान्तक प्रथम के राज्यकाल के 936 ई० तथा 937 ई० के लेखों से ऐसा अर्थ निकाला जा सकता है। एक उदाहरण में महादेव के आराधनार्थ अखंडदीप जलाने के लिए 30 'कलंजु' सोने का न्यास किया गया, जिन पर 4½ 'कलंजु' सोना वार्षिक ब्याज रखा गया। दूसरे उदाहरण में किसी बस्ती के निवासियों के पास सोने का न्यास किया गया और निवासियों के प्रति 'कलंजू' तीन 'मंजाड़ि' प्रतिवर्ष की की दर से छः माह पर ब्याज चुकाने का करार किया। एक 'कलंजु' बीस 'मजाड़ि' के बराबर होता है, तदनुसार ब्याज की उपर्युक्त दर 15 प्रतिशत प्रतिवर्ष निकलती है। पुनश्च 986 ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उत्तम चोल के राज्य में चार बस्तियों के निवासियों को 200 कलंजु सोना 30 कलंजु प्रतिवर्ष की दर से ब्याज सदा चुकाते रहने के करार पर न्यस्त किया गया; इससे भी वही 15 प्रतिशत की दर निकलती है। इन तीनों उदाहरणों से प्रकट होता है कि मन्दिर और इस तरह की अन्य संस्थाएँ धर्मस्व के रूप में प्राप्त स्वर्णराशि को ब्याज पर लगाती थीं और ग्राम-सभाएँ उस पर 15 प्रतिशत की दर से ब्याज देती थीं, जो प्राचीन और मध्यकालीन विधि-ग्रन्थों के द्वारा विहित धर्म्य दर थी।

परन्तु इसमें कई विचलन भी मिलते हैं, जहाँ दर प्रायः 15 प्रतिशत से ऊपर है और कदाचित् ही उससे नीचे। जैसे, उत्तम चोल के राज्यकाल के 979 ई० के एक पुरालेख से ज्ञात होता है कि एक ग्राम-सभा ने 24 'कलंजु' लिया और उस पर प्रति वर्ष एक 'कलंजु' और चार 'मंजाड़ि' ब्याज चुकाने का करार किया, जो 5 प्रतिशत वार्षिक पड़ता है। लेकिन इससे बहुत पूर्व आठवीं शताब्दी ई० में ही बाण राज्य में एक मन्दिर में अखण्डदीप जलाने के लिए जो सोना दिया गया था, उस पर 20 प्रतिशत वार्षिक ब्याज था, क्योंकि 20 'कलंजु' पर 4 कलंजु सोना चुकाना था। इससे एक शताब्दी बाद परान्तक प्रथम के राज्यकाल 940 ई० के एक पुरालेख से ज्ञात होता है कि धार्मिक प्रयोजन के लिए किए गए एक निक्षेप पर 40 प्रतिशत वार्षिक ब्याज रखा गया था। इस तरह के उदाहरण इतने कम है कि इनके आधार पर कोई ठोस निष्कर्ष निकालना उचित न होगा, किन्तु इनसे मोटे तौर पर यह संकेत मिलता है कि दक्षिण भारत में प्रचलित ब्याज-दर सामान्यतः पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रों की 15 प्रतिशतवाली दर से मिलती है, न कि 24 प्रतिशतवाली परवर्ती दर से।

उक्त अवधि में उत्तर भारत में ब्याज दर क्या थी, इसका पुरालेखीय साक्ष्य अत्यल्प पाया जाता है। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि शीवपुर के महाजन 6 'गदयन' के निक्षेप पर 25 प्रतिशत ब्याज चुकाते थे। यह दर व्यास और हारीत के द्वारा अनुशंसित दर से मिलती-सी है, जिन्होंने 24 प्रतिशत वार्षिक ब्याज का विधान किया है। यही दर ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरूनी ने बताई है। उसने कहा है कि प्रतिशत व द्धि केवल शूद्र ले सकता है, बशर्ते कि उसका लाभ मूलधन के पचासवें भाग से अधिक न हो। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि पूर्व मध्य-काल में उत्तर भारत में नकदी ऋण पर ब्याज की सामान्य दर 24 प्रतिशत थी। वह उत्तरकालीन दरों से स्पष्टतः कम थी, जिनके अनुसार मूलधन तीन वर्षों से दूना हो जाता था। परवर्ती विधिकर्ताओं ने ऐसी कोई समय-सीमा विहित नहीं की है, इसलिए मूलधन 15 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से छः वर्ष और आठ मास के बाद ही दूना हो सकता था। किन्तु नवीं या दसवीं शताब्दी में, जब ब्याज की सामान्य दर 24 प्रतिशत स्थापित हो गई, हारीत ने यह विधान किया कि 24 'पुराणों' पर प्रतिमास 8 'पण' की दर से चार वर्ष और दो मास में मूलधन दूना हो जाएगा; क्योंकि इसके अनुसार 1 'पुराण' 16 'पण' के बराबर होता है।

फिर भी, इतना तो सभी विधिकर्त्ता सामान्यतः स्वीकार करते हैं कि ब्याज की हद मूलधन के बराबर

है। किन्तु नारद कहता कि कुछ देशों में ऋण मूलधन के दूना तक बढ़ता है, और कुछ देशों में 3 गुना, 4 गुणा, या 8 गुणा तक। यह बात उसने नकद ऋण के विषय में कही है या जिस ऋण के विषय में—यह स्पष्ट नहीं है ब हस्पति सीधे कहता है कि ऋण का आदान-प्रदान स्थानीय नियमों के अनुसार होना चाहिए, जिसका अर्थ वही लगाया जा सकता है जो नारद ने कहा है। उत्तर मध्य-काल के एक वचन में जो गौतम का बताया जाता है, कहा गया है कि मूलधन सोलह मासों में दूना होता है, जिसके अनुसार ब्याज की दर 150 पतिशत हो जाती है। इस प्रकार ब्याज के उच्चतम सीमा पर पहुँचने की अवधि को घटाने की प्रव त्ति मध्य-काल में जोरदार मालूम होती है।

जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है, कर्जदार अधिक-से-अधिक ब्याज मूलधन के बराबर ही वसूल करता है, जिसे विधि-ग्रन्थों में 'द्वैगुण्यम्' की संज्ञा दी गई है। यदि मूलधन को दूना (मूलधन और ब्याज मिलाकर) पावना समय पर नहीं चुकाया गया तो उस पर पुनः ब्याज लेना अनुमत था। यथा, मनु के वचन से प्रतीत होता है कि यदि ब्याज मूलधन के बराबर हो जाए और तब भी चुकाया न जाए तो वह मूलधन में मिला लिया जाएगा। कात्यायन कहता है कि यदि ऋण दाता दिए हुए ऋण की दूनी रकम, जिसके लिए वह सदा हकदार है, वापस नहीं पाए तो वह रकम मूलधन में मिला दी जाएगी और पुनः उस पर ब्याज लगेगा। मनु VIII. 155 की व्याख्या करते हुए मेधातिथि कहता है कि इस नये मूलधन पर ब्याज की दर कम होनी चाहिए और उतने ही दिनों तक चलनी चाहिए जब तक कि वह उत्पीड़क न हो। उनका आशय यह है कि पहली दर से उसकी दर कम होनी चाहिए। विज्ञानेश्वर ने मूल के द्वैगुण्य के आगे भी ब्याज की हद का विचार किया है। याज्ञवल्क्य II. 36 की व्याख्या करते हुए उसने व्यवस्था दी है कि यदि ब्याज प्रतिदिन, प्रतिमास या प्रतिवर्ष देय हो और उसका दावा एक मुश्त एक समय में न किया गया हो, तो ऋणदाता के द्वारा प्राप्त कुल ब्याज मूलधन के दूने से अधिक भी हो सकता है। उसने इस व्यवस्था का किसी क्षेत्र (देश) या किसी वस्तु विशेष तक ही, सीमित नहीं रखा है, जैसा कि नारद और व हस्पति ने किया है, बल्कि सामान्य नियम बनाया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि ब्याज के संचय की हद के बारे में पूर्वकाल में जो भी थोड़ा-बहुत आग्रह था, वह ग्यारहवीं शताब्दी में आकर समाप्त हो गया, और द्वैगुण्य का लंघन अनुमत हो गया। विधि के इस विकास-क्रम का तत्त्व तभी भली-भाँति समझ सकेंगे यदि गुजरात और राजस्थान में पुनरुज्जीवित हो रहे व्यापार के लिए पूँजी की आवश्यकता पर ध्यान दें।

चक्रव द्धि की बात गौतमधर्मसूत्र में आई तो है, किन्तु इसके समकालीन किसी भी ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं है, इसलिए हो सकता है कि मूल विधि-ग्रन्थ में यह बात न रही हो। लेकिन इसकी व्यवस्था मनु नारद और ब हस्पति में अनुवर्तमान है। अद्‌भुत बात है कि कात्यायन ने इसकी चर्चा नहीं की, जबकि उसकी स्म ति में ब्याज का विवेचन बड़े विस्तार से किया गया है। असहाय ने, जो आठवीं शताब्दी में किसी समय हुआ था, चक्रव द्धि की परिभाषा और उदाहरण परम विस्तार के साथ दिया है। उसके अनुसार एक 'द्रम्म' ऋण 500 गुना तक बढ़ सकता है और चक्रव द्धि का सिलसिला 36 वर्ष 5 मास तक चल सकता है।

प्राचीन और मध्य काल की अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप पर विचार करते हुए यह अनुमान करना तर्कसंगत होगा कि ऋण का लेन-देन अधिकतर जिंस में होता था, नकद में कम ही। अन्न ऋण देने की प्रथा गौतम और वसिष्ठ के समय से ही चली आ रही है। मनु के काल तक के प्राचीन विधिकर्त्ताओं ने ऋण के रूप में दी गई कतिपय वस्तुओं की वापसी को नियमित करने का प्रयास किया है किन्तु तत्सम्बन्धी नियम गुप्त काल से ही विधि-ग्रन्थों से अधिक विस्तार से दिए गए हैं। वसिष्ठ कहता है कि अन्न, कन्द, फल और द्रव की वापसी तीन गुना होगी, और जो वस्तु तोली जा सकती है उसकी वापसी आठ गुना होगी। लगता है, तोली जानेवाली वस्तुओं से अभिप्रेत है वे

वस्तुएँ जो बड़े व्यापारी या उत्पादक छोटे व्यापारियों को उधार देते थे। गौतम ने ऊँची दर विहित की है, यद्यपि उसने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं में अन्तर नहीं किया है। उसके अनुसार अन्न, फल, ऊन और भारवाही पशु तथा पशु से उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ जैसे घी और दूध ऋण में देने पर कुल वापसी किसी भी दशा में मूलधन के पाँच गुने से अधिक नहीं हो सकती है। मनु ने इसी व्यवस्था को अक्षरक्षः दुहराया है। पुनः यहाँ वही शंका उपस्थित होती है कि क्या वह व्यवस्था गौतम के मूल विधि-ग्रन्थ में रही होगी, क्योंकि उसके निकट काल के वसिष्ठ ने अन्न के लिए केवल तीन गुने का विधान किया है। विष्णु और नारद ने लगभग एक ही विचारधारा पर निम्नलिखित तालिका विहित की हैः—

सोना	- - - - -	2 गुना
अन्न	- - - - -	3 गुना
वस्त्र	- - - - -	4 गुना
द्रव	- - - - -	8 गुना
स्त्री और पशु	- - - - -	1 सन्तान

स्वर्ण के बारे में ब हस्पति का विधान ठीक वही है जो ऊपर के दोनों स्म तिकर्त्ताओं का, किन्तु अन्य वस्तुओं के विषय में कुछ भिन्न है, जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट होगाः—

सोना	- - - - -	2 गुना
वस्त्र और हीन धातु	- - - - -	3 गुना
अन्न, शाकसब्जी, पशु और ऊन	- - - - -	4 गुना
शाक	- - - - -	5 गुना
बीज और ईख	- - - - -	6 गुना
नमक, तेल और दारु	- - - - -	8 गुना

इस विषय में कात्यायन का विधान विस्त त है। उसके अनुसार रत्न, मोती, मूँगा, सोना, चाँदी, फल रेशम और ऊन दो गुना होते हैं, हीन धातुएँ पाँच गुनी होती है, और तेल, शराब, घी, गुड़, नमक और भूमि आठ गुना। भूमि-ऋण आठ गुना बढ़ता है, इसकी पुष्टि पितामह ने भी की है, जिसका समय 600-900 ई० के बीच माना जाता है। इसमें महत्त्वपूर्ण बात है भूमि-ऋण का विधान, जहाँ आठ गुना वापसी का अर्थ है कि एक फसल में उस भूमि में होनेवाली उपज का आठ गुना।

विष्णु और ब हस्पति ने कुछ ऐसी वस्तुएँ गिनाई हैं जिन पर ब्याज असीमित मात्रा तक उठ सकता है। विष्णु ने कहा है कि ऊन, रुई, सूत, चमड़े, ढाल, हथियार, ईट, कोयला आदि वस्तुओं पर ब्याज असीमित (अक्षय) है। ब हस्पति ने कहा है कि इन वस्तुओं पर व द्धि नियमबद्ध नहीं है। विष्णु द्वारा प्रयुक्त 'अक्षय' शब्द का अर्थ स्म तिचन्द्रिका में एक दूसरे सन्दर्भ में सौ गुना किया गया है, जहाँ इस विषय में फूल फल, मूल आदि का उल्लेख है।

ऋण में दी गई भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए ब्याज के संचय की हद भिन्न-भिन्न क्यों हैं, इसका कारण बताना कठिन है। अन्न के विषय में ब्याज के अन्तर का दायरा वसिष्ठ, विष्णु और नारद के अनुसार तीन गुना से लेकर गौतम और मनु के अनुसार पाँच गुना तक है। बीच में आता है ब हस्पति जो चार गुना बताता है। कात्यायन ने इसका उल्लेख ही नहीं किया है। यह अन्तर कालानुसारी नहीं, बल्कि क्षेत्रानुसारी प्रतीत होता है, क्योंकि नारद ने बताया है कि कई देशों में

ब्याज तीन-चार और पाँच गुना तक बढ़ता है।

यह निश्चित है कि जन-साधारण को रोजमर्रे के काम में नकद की अपेक्षा अनाज आदि की जरूरत ही अधिकतर होती होगी। इस विषय में जो ऊँची दरें देखते हैं, उनकी तुलना वैश्यों और खास कर शूद्रों को नकद ऋण देने के लिए विहित ऐसी ही ऊँची दरों से कर सकते हैं। लगता है, सामान्य लोगों को दिए जानेवाले ऋण के विषय में विधि-कर्त्ताओं की ऐसी भावना रही होगी कि वे समय पर चुका न पाएँगे। कुछ और शूद्र पर हारित के अनुसार तथा चंडेश्वर के अनुसार वर्ष में आठ गुना की व द्धि होती है। आर. एस. शर्मा के अनुसार मध्ययुग में एक वर्ष की यह काल सीमा कर्ज पर दी गई सभी वस्तुओं पर थी, केवल अन्न, कपास इसका अपवाद थे उनको केवल दो तीन महीने का समय था

ब्याज के प्रकार (किस्में)

गौतम (5-3 शताब्दी ई० पू०) ने अपने विधिग्रंथ में वसूले जानेवाले ब्याज के विभिन्न प्रकारों का विस्त त विवरण दिया है उसने छः प्रकार के ब्याज बताए है (1) चक्रव द्धि (2) कालिका (3) कारिता (4) कायिका (5) दैनिक (6) आधि भोग। परन्तु मनु ने जो उसके बाद के काल का है, चार प्रकार के ब्याज ही बताए है जिससे लगता है कि गौतम धर्मसूत्र में यह बाद में जोड़ा गया है। नारद ने भी चार परन्तु ब हस्पति ने छः प्रकार बताए है।

कायिका (शारीरिक ब्याज) ब हस्पति के अनुसार इसका मतलब है कि रहन (गिरवी) रखी गाय तथा अन्य पशु के दूध का कर्जदाता द्वारा उपभोग।

कालिका (आवधिक ब्याज) से उसका अभिप्राय मासिक भुगतान से है।

कारिता (अनुबंधित ब्याज) का अर्थ प्रचलित बयाज के अतिरिक्त ऋणी द्वारा अन्य प्रकार का कबूला गया ब्याज।

चक्रव द्धि यह तब तक बढ़ता जाता है जब तक ऋणी या ऋणदाता जिंदा रहे और यह प्रतिदिन लिए जानेवाला ब्याज है।

भोगलाभ वह ब्याज जो ऋणवस्तु (गिरवी रखी गई) के उपभोग से प्राप्त होता है, जैसे गिरवी रखें मकान, खेत की उपज आदि।

ब हस्पति के अनुसार कुलागत ब्याज, कायिका ब्याज और भोगलाभ ब्याज जब तक लिया जाता था जब तक कि मूलधन (ब्याज पर ली गई असल रकम) की आदायगी नहीं हो जाती थी। जैसा कि आर. एस. शर्मा कहते हैं, संभवतः पहले चार किस्म के ब्याज मूलधन में से घटते जाते थे परन्तु अन्तिम दो किसी भी रूप में मूल को कम नहीं करते थे।

असहाय (लगया 8 वीं शताब्दी) ने नारद द्वारा दिए गए ब्याज के चारों किस्मों का विस्त त वर्णन किया है, असहाय ने भी कालिका, कारिता का अर्थ वही लगाता है जो ब हस्पति ने लगाया। परन्तु असहाय कायिका किस्म के ब्याज की ओर अधिक विस्तार से विवरण देता है। यहाँ कायिका मूलधन का आय माना है और पण या पाद के रूप में उस पर जो ब्याज देय होता है उसमें से किसी रूप में कम नहीं होता जिससे मूलधन ज्यों-का-त्यों बना रहता है। असहाय के अनुसार यह ब्याज वह दैनिक मजदूरी के रूप में अदा करता है जो एक पद या पाद से ज्यादा नहीं बैठता। इससे स्पष्ट है कि अपने शारीरिक श्रम से वह केवल ब्याज चुका रहा है सभी प्रकार के ब्याजों में कायिका किस्म के ब्याज को लेकर विद्वानों में मतभेद है क्योंकि स्म तिकारों के विवरण से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि क्या ब्याज के एवज ऋणदाता कर्जदार के शारीरिक श्रम का शोषण कर सकता है? परन्तु टीकाकारों के विवरण से ऐसा लगता है कि शोषण किया जा सकता था।

स्म तिकार व्यास के अनुसार कायिका वह ब्याज है जो दोहन (गाय) और भारवाहन (बैल आदि) को गिरवी रखकर देय है।

मेधातिथी के अनुसार कायिका शारीरिक श्रम के रूप में देय है और सर्वज्ञानारायण (मनु का टीकाकार) के अनुसार "शारीरिक ऋणी को शारीरिक श्रम ऋणदाता को तब तक देने रहना चाहिए जब तक कि मूलधन अदा न हो जाए। इसमें जैसा कि आर. एस. शर्मा कहते है, इसमें बंधुआ मजदूरी झलक स्पष्ट नजर आती है जिसके अवशेष बोध आज तक भी कई इलाकों में ढोया जा रहा है जिसके अनुसार मामूली राशि उधार लेकर एक ही परिवार की पीढ़ी पुश्तैनी हलवाहा था भट्टा मजदूर बनकर रह गई है। ब्याज आदायगी की कायिका किस्म गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तर काल में कई कारणों से आम प्रचलन में आ गई। परन्तु इसमें कायिका रूप में ब्याज की अदायगी ऋणदाता से निम्न जाति के कर्जदार द्वारा ही की जाती थी।

गिरवी रखने की प्रथा

आरम्भिक मध्यकाल में कायिका की भाँति ही गिरवी रखकर ब्याज लेने की प्रथा भी काफी प्रचलित थी इसका मुख्य कारण मुद्रा का अभाव ही रहा होगा। क्योंकि इसके अभाव के चलते कर्ज या ब्याज नकदी में चुकाना तो सम्भव नहीं था इसलिए शारीरिक श्रम या अपनी वस्तु/संचालन गिरवी रखना ही सबसे आसान तरीका था।

यद्यपि मनु तथा गौतम ने भी इस प्रथा का उल्लेख किया है परन्तु गुप्तकाल से गिरवी रखने की पद्धति आम व्यवहार में आ गई (ब हस्पति के अनुसार ऋणदाता जब तक उचित मूल्य की चीज रेहन या गिरवी न रख दे या किसी विश्वसनीय व्यक्ति की जमानत न ले ले तब तक मुद्रा उधार बिल्कुल न दे और साथ ही स्वयं कर्जदार से भी बंधपत्र (Bond) लिखवाना अत्यन्त आवश्यक है। नारद के साथ-साथ ब हस्पति भी ब्याज के बदले रेहन (गिरवी) के उपभोग का पक्षधर है। उनके अनुसार जो रेहन ब्याज के बदले में नहीं दी जाती वह मूलधन दुगना हो जाने के पंद्रह दिन बाद या फिर तय की गई मियाद समाप्त हो जाने पर ऋणदाता की हो जाती है। परन्तु साथ ही नारद यह भी कहता है कि यदि कोई ऋणदाता रेहन का उपभोग उसके मालिक की आज्ञा के बिना करता है तो उसे आधा ब्याज ही मिलना चाहिए। ब हस्पति तो यहाँ तक कहता है कि यदि कोई ऋणदाता अवधि समाप्ति से पूर्व हो यदि रेहन का उपभोग प्रारम्भ कर देता है तो उसका ब्याज खत्म हो जाता है। इस प्रकार स्म तिकारों के अनुसार ऋणदाता रेहन का बिना उसके मालिक की आज्ञा के जबरदस्ती उपभोग नहीं कर सकता यदि ऐसा करता है तो उसको इसकी क्षतिपूर्ति करनी पड़ेगी।

प्रारम्भिक मध्यकाल में स्म तिकार रेहन की वस्तुओं में खेती के रेहन को सबसे उपयुक्त मानते हैं। इस काल में खेत को रेहन रखा जाता था इससे सम्बन्धित बहुत से प्रमाण उपलब्ध है। इसका प्रथम साक्ष्य विवरण ब हस्पति ने किया उसके अनुसार गिरवी रखे मकान या खेत की उपज का उपभोग भोगलाभ कहलाता है। कात्यायन के अनुसार जिस मकान या जमीन को रेहन रखा जाना है उसकी सीमाओं का और जिस गाँव या देश में स्थित है, उनकी स्पष्ट पहचान होनी चाहिए। कात्यायन ने आगे कहा कि यदि कोई ऋण ऋणदाता उस खेत के उपभोग से अपना मूलधन तथा ब्याज दोनों निकाल लेता है तो कर्जदार को अपनी बंधकवस्तु वापिस मिल जाती है और यदि ऋणी ली हुई राशि ऋणदाता को वापिस कर देता है तो उस सूरत में वह भोगलाभ के लिए ऋणदाता को दी गई अपनी जमीन वापिस ले सकता है। परन्तु ब हस्पति के अनुसार जब कोई मकान या खेत उपभोग के लिए गिरवी रखा जाता है तो जब तक उसकी निश्चित अवधि समाप्त नहीं होती तब तक न ही कर्जदार अपनी संपत्ति वापिस ले सकता है और न ही कर्जदाता (महाजन) उसे लौटा सकता है परन्तु एक अन्य स्थान पर साथ ही यह भी कहता है कि अवधि समाप्ति से पहले भी

परस्पर सहमति से गिरवी रखी वस्तु की वापसी हो सकती है।

जमीन गिरवी रखने की प्रथा गुप्तकाल से प्रारम्भ हुई थी आठवीं शताब्दी तक पूरे जोरों पर जारी रही। असहाय रेहन के संदर्भ में मकान और खेत के उपभोग का वर्णन करता है। इसी प्रकार 1217 के जौनपुर इष्टिका अभिलेख में स्पष्टतः उल्लिखित है कि किस प्रकार एक व्यक्ति ने जोती हुई जमीन की जमानत करके 2,250 द्रम्भ उधार दिए।

अनेक अभिलेखों से इस बात की जानकारी भी मिलती है कि मन्दिर में अखंडदीप जलाने तथा नियमित पूजा पाठ हेतु मन्दिरों की ओर से कर्ज पर सोना भी लगाया जाता था परन्तु इनमें कहीं भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि ग्राम सभ या ऋणी ने इस हेतु भूमि गिरवी रखी हो। परन्तु धन-विनिधान (इनवेस्टमेंट) की शर्तों से सूचित होता है कि मूलधन पर, जो अधिकतर किसी स्वर्ण-राशि के रूप में होता था और सामान्यतः ग्राम-सभा को दिया जाता था, लगनेवाले ब्याज के बदले भूमि का भोग पूर्णतः या अंशतः किया जाता था और ग्राम-सभा पूजा के लिए ऋण पर लगनेवाले ब्याज के रूप में भूमि की उपज का कुछ अंश अलग रख लेती थी। जैसे 877-78 ई० में पांड्य राजा वरगुण महाराज ने एक मठ को 290 काशु सोना दिया, जिसके प्रतिफल में मठ के सदस्यों ने (ब्याज के रूप में) दीर्घकाल तक पूजा के खर्च की पूर्ति के लिए प्रति काशु दो कलम की दर से 580 कलम धान चुकाते रहने का वचन दिया। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है कि इस पांड्य अभिलेख में पूजा के लिए जो-जो वस्तुएँ चाहिएँ, उनकी एक लम्बी सूची धान के मात्रक में प्रत्येक वस्तु के मूल्य के साथ दी गई हे, जिनसे प्रकट होता है कि दक्षिण भारत में सिक्कों का प्रचलन बहुत कम था। इस प्रकार, सोने के विनिधान पर ब्याज फसल के रूप में वसूला जाता था और फसल के लिए कुछ खेत को अलग कर देना आवश्यक होता था। ऐसा अनुमान कई अन्य अभिलेखों से भी किया जा सकता है प्रथम आदित्य के राज्यकाल के एक पुरालेख से ज्ञात होता है कि ऐरावतेश्वर मन्दिर के एक पुजारी ने एक पल्लव रानी से कुछ स्वर्ण राशि प्राप्त की, जिसकी शर्त यह थी कि प्रति कलंजु प्रत्येक फसल के अष्टमांश की दर से प्रति ब्याज से वह दान-कर्म जारी रखेगा। यह दान सभी माहेश्वरों की सभा के संरक्षण में रखा गया। अतः यहां भी सोने के निक्षेप पर ब्याज फसल के रूप में निर्धारित है। 910 ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि चोल राजा प्रथम परान्तक की पुत्रवधू ने मठ की सभा के सदस्यों को 60 कलंजु शुद्ध सोना मूलधन के रूप में प्रदान किया और सदस्यों ने ब्याज के रूप में 30 कलम प्रति फसल की दर से प्रतिवर्ष 60 कलम धान सदा देते रहने का वादा किया।

परन्तु उत्तरी भारत के मन्दिरों से इस प्रकार के उदाहरण शायद ही मिलते हैं किन्तु अहार प्रस्तर लेख से अवश्य पता चलता है कि किस प्रकार तत्तानन्दपुर (सम्भवतः आधुनिक अहार) में स्थित भगवती कनक देवी के मन्दिर की आय से मकान खरीदे गए और ये भाड़े पर चढ़ाए गए और यह आमदनी मन्दिर में देवार्चना पर खर्च की जाती थी। अतः स्पष्ट है कि कनकश्री मन्दिर दक्षिण भारत के मन्दिरों की भाँति धन लगाकर ब्याज तो अर्जित नहीं करती थी किन्तु धन से मकान-दुकान बनाकर उससे किराया अवश्य वसूल करता था। मकान का भाड़ा वस्तुतः उस मकान की खरीदने अथवा बनवाने में लगी पूँजी पर उत्पन्न ब्याज ही था।

ब्याज भुगतान से मुक्ति

कुछ विशेष परिस्थितियों में ब्याज से छूट भी मिल जाती थी जैसे कौटिल्य के अनुसार उनसे ब्याज नहीं लिया जा सकता जो ऋणी दीर्घकालीन यज्ञ में लगा हो या विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल में टिका हो या नाबालिग हो आदि। इसी प्रकार मित्र से अल्प समय के लिए लिए गए ऋण पर ब्याज न लगता था। बशर्ते ब्याज का करार न किया गया हो तथा इस प्रकार के ऋणी पर ब्याज तभी

लग सकता है जब वह ऋणदाता द्वारा मांगे जाने पर भी कर्जदार दिया हुआ ऋण न लौटाए।

दूसरे ब्याज पर छूट इस बात पर भी निर्भर करती है कि ऋणदाता तथा ऋणी के आपसी सम्बन्ध कैसे हैं, नारद के अनुसार वेतन या मजदूरी पर, धरोहर पर, जुर्माने पर ओर जो कुछ औरों से वादा किया गया हो उसपर, जुए में जीतीं गई वस्तुओं पर ब्याज नहीं लिया जाता शर्त है ब्याज आदायगी के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हुआ हो।

इसी प्रकार कात्यायन ने भी इसी प्रकार की छूट की विस्त त सूची जारी की है जैसे नकाब (कवच) फसलें, शराब, बेची हुई वस्तुओं की कीमत, वधू मूल्य यदि ऋण के लिए जमानत के रूप में दिया जाए तो उन पर कभी ब्याज नहीं लगता। परन्तु दूसरी तरफ एक अन्य स्थान पर वह शराब पर आठ गुना ब्याज की बात करता है।

कुछ असामान्य स्थितियों में भी ब्याज की अदायगी में छूट का प्रावधान है जैसे वसिष्ठ के अनुसार राजा की म त्यु होते ही ब्याज रुक जाता है और उसके उत्तराधिकारी नियुक्त होते ही चालू हो जाता है ताकि राजा की अनुपस्थिति में मनमाना ब्याज वसूल न किया जा सके। इसकी पुष्टि प्रजापति (1600-900 ई० में किसी समय) के इस उल्लेख से हो जाती है। कि अकाल, देशव्यापी, अशांति और अव्यवस्था धार्मिक कार्य और संकर एवं विपत्ति के दौरान यह तयशुदा है कि केवल मूल ऋण ही दिया जाता है ब्याज नहीं।

ऋण की वसूली

ऋण आदायगी से सम्बन्धित हमें ऋण पर विभिन्न प्रकार के दबावों (Pressure) का विवरण मिलता है जैसे इससे सम्बन्धित नियम व दण्डविधान, धार्मिक और नैतिक तथा राजसत्ता का दबाव ताकि ऋणी ऋण आदायगी से मुकरे नहीं। जैसे बौद्धधर्म में किसी व्यक्ति को तब तक दीक्षा नहीं दी जाती जब तक वह अपना ऋण न चुका दे।

नारद के अनुसार यदि कोई अपना कर्ज नहीं चुकाता तो वह उस समय तक बढ़ता रहता है जब तक वह सौ करोड़ की सीमा तक नहीं पहुँच जाता और व्यक्ति इसे नहीं चुकाता वह बार-बार जन्म लेता है कभी घोड़े का, कभी गधे का, कभी बैल का तो कभी दास का।

कात्यायन तो और आगे बढ़ जाता है उसके अनुसार कर्जदार व्यक्ति कर्जदाता के घर में दास, नौकर, मनुष्य या पशु योनि में जन्म लेता है।

धर्म के डर के साथ कर्जवसूली में राजसत्ता के हस्तक्षेप का भी प्रावधान स्म तिकारों ने किया है।

नारद के अनुसार, ''यदि कर्जदार सम्पन्न होने के बावजूद बदनियत की वजह से ऋण अदा नहीं करता तो राजा उसे विवश करे और आदायगी होने पर राजा उस राशि में से 1/30 भाग का हकदार होगा। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं कि राजा का भाग मूलधन तथा ब्याज की राशि में से ही दिया जाएगा या इनके ऊपर अलग से। हालांकि मेधातिथि (मनु का टीकाकार) ने स्पष्ट किया है उसके अनुसार ऋणदाता को उसकी पूरी राशि अदा की जाएगी और जुर्माना जो कुल ऋण का 1/4 भाग होगा, कर्जदार को अदा करना पड़ेगा।

यदि कर्जदार के पास ऋण चुकाने के साधन नहीं भी हो, तो भी उसे कर्ज चुकाना पड़ता था। मनु के अनुसार ऋणदाता को चाहिए कि ऐसी सूरत में कर्जदार, चाहे उसकी बराबर जातिवाला या उससे निम्न जातिवाला हो, उसे शारीरिक श्रम के लिए बाध्य करे ताकि मूल और ब्याज की आदायगी हो सके और जो कर्जदार उच्च जाति का हो उसे धीरे-धीरे कर्ज अदा करने पर जोर डाला जाए। कर्जदार उसे शारीरिक श्रम लेकर कर्ज की आदायगी को कानूनी तरीका माना गया

था।

यदि कर्जदार की म त्यु हो जाती है तो ब्याज सहित ऋण उसके पुत्रों को तय की गई समय सीमा के अन्दर अदा करना पड़ता था और न करने पर म त व्यक्ति की सम्पत्ति नीलाम कर दी जाती थी। ब हस्पति के अनुसार यदि उधार दिया सोना (हिरण्य) दुगुना हो जाता है और कर्जदार मर जाता है या बर्बाद हो जाता है तो उसकी सम्पत्ति (द्रव्य) जब्त कर ली जाएगी और गवाहों की मौजूदगी में बेच दी जाएगी। बिक्री की कीमत दस दिन तक लोगों की मौजूदगी में सुरक्षित रखी जाएगी उसके पश्चात् ऋण के बराबर की राशि रखकर शेष लौटा दी जाएगी। दस दिन सुरक्षित रखने के पीछे क्या मकसद था कहना कठिन है।

कुछ एक ऐसी व्यवस्थाएँ भी मिलती हैं जो ऋणदाता के नहीं अपितु कर्जदार के हितों की रक्षा करती थी जैसे यदि ऋणी अपना कर्ज अदा करने को कहे और ऋणदाता न माने तो ऐसी स्थिति में उस समय से मूलदर ब्याज लगना बंद हो जाएगा और कर्जदार देय राशि को किसी तीसरे के पास करवा सकता था।

नारद के अनुसार यदि ऋणदाता बार-बार माँग के बावजूद, कर्जदार द्वारा रकम चुका देने के बाद भी ऋणी को मुक्त नहीं करता तो उस राशि पर कर्जदार को उसी समय से ब्याज मिलेगा जैसा कि जिससे उसने ऋण लिया उसको मिलता था इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे न केवल ऋणदाता के हितों की ही रक्षा की जाती थी अपितु यदि कर्जदार पर कर्जदाता ज्यादतिया करता था तो उस सूरत में कर्जदार के हितों की भी पूरी रक्षा की जाती थी।

अतः प्राचीनकाल में सूद व सूदखोरी की प्रथा में उत्तरोत्तर व द्धि होती चली गई। जहाँ प्रारम्भिक एतिहासिक काल में वैश्यों को ही पैसा ब्याज पर देकर जीविका अर्जित करने की अनुमति प्राप्त थी वहाँ प्रारम्भिक मध्यकाल के आते-आते न केवल क्षत्रियों अपितु ब्राह्मणों को ऋण देने का व्यवसाय करने की आज्ञा मिल गई थी। और दक्षिण के मन्दिर ने तो आर०एस० शर्मा के अनुसार बड़े-बड़े महाजनों का रूप ले लिया। इसी प्रकार प्रारम्भिक प्राचीन काल में ब्याज की सामान्य दर जहाँ 15% थी वहाँ प्रारम्भिक मध्यकाल में 24% तक पहुँच गया परन्तु सबसे आश्चर्य की बात यह है कि ब्याज की दर भी वर्ण आधारित थी। यद्यपि प्रारम्भिक प्राचीन काल में मूलग्रंथों में वर्ण भेद आधारित ब्याज की दरों का मुश्किल से ही कोई उदाहरण है परन्तु कुछ मोर्योत्तर ग्रंथों में इसके स्पष्ट उल्लेख है कि जितना ऊँचा वर्ण उतनी ही कम ब्याज की दरें और जितना ही नीचा वर्ण उतनी ही ऊंची ब्याज की दरें।

सूद अथवा ब्याज प्रथा के अध्ययन से एक अन्य बात स्पष्ट हुई वह है कि पूर्व मध्यकाल में नकद की बजाय माल के रूप में की जैसे अनाज, रुई, नमक, चीनी, दूध से बनी वस्तुएँ आदि उधार देने की प्रथा ज्यादा प्रचलित थी इस काल में ब्याज के बदले भूमि गिरवी रखने की प्रथा भी काफी प्रचलित हो चुकी थी।

इस प्रकार प्राचीन काल में विशेषरूप से प्रारम्भिक मध्य काल में कर्ज लेने-देने की प्रथा का स्वरूप भी सामन्तीय अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही था।

अध्याय-6
दक्कन तथा दक्षिण भारत में अर्थव्यवस्था के विकास की रूपरेखा
(Patterns of Economic Development in Daccan and South India)

(क) कृषि अर्थव्यवस्था

यहाँ कृषि के प्रारम्भिक साक्ष्य नवपाषाण युग उत्तरार्द्ध (ई.पू. के दूसरी सहस्त्राब्दी) से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। नवपाषाण युग के लोग मोटा अनाज जैसे रागी, बाजारा तथा दलहन की खेती करते थे और ये खेती पहाडियों की ढलान पर सीढ़ीदार खेतों पर कृषि करते थे। यहाँ प्रथम सहस्त्राब्दी के आस-पास चावल पाए गए हैं जो कि दक्षिण में लौह युग प्रारम्भ होने का काल है दक्कन और दक्षिण भारत में लौह युग के दौरान ही धान की खेती का प्रसार हुआ परन्तु लोहे की जानकारी ने तुरन्त खेती की तकनीकों मे कोई बड़ा परिवर्तन नहीं किया। वरन् बाद में लोहे के हल-फाल के प्रयोग से तकनीकी में परिवर्तन हुआ। इसमें साथ ही नदीघाटियों में कृषि बस्तियों का प्रसार हुआ। इस प्रकार प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में जुताई में बैलों को काम में लाने, लोहे के फाल के प्रयोग तथा ज्यादा-से-ज्यादा क्षेत्रों को कृषि अधीन लाने से खेती की ऊपज में अप्रत्याशित व द्धि हुई इसके साथ ही बाद के काल में ब्राह्मणों, मन्दिरो, मठों को गाँव की भूमिदान देने की प्रथा शुरू होने से कृषक क्षेत्र में गैर कृषक वर्ग का प्रवेश शुरू हुआ। इस प्रकार दक्षिण भारत में कृषक बस्तियों के प्रसार की तीन अवस्थाएँ रही है-

(1) **पहली अवस्था-** निम्नस्तर की प्रौद्योगिकी के साथ बहुत ही पुरातन व अकुशल खेती की अवस्था थी जिसमें खेती केवल पहाड़ की ढलानों पर ही की जाती थी।

(2) **दूसरी अवस्था-** अब प्रौद्योगिकी में व द्धि के साथ-साथ हल द्वारा खेती और नदीघाटियों में खेती का विस्तार

(3) **त तीय अवस्था** में अनुदानों के कारण गैर कृषक वर्ग की एक बड़ी संख्या कृषि क्षेत्र में पदार्पण कर गई जो कि कृषि के बेहतर तरीकों तथा कृषियन्त्रों से परिचित थी और इस प्रकार कृषि दक्कन तथा दक्षिण भारत की अर्थव्यवस्था की मुख्य आधारशिला थी जिस पर राज्य का उत्थान और अस्तित्व निर्भर था। दक्कन तथा दक्षिण भारतीय राजा राज्य की अर्थव्यवस्था को मजबूत करने में कृषि के महत्त्व से भली-भाँति परिचित थे इसकी पुष्टि पुरनानूरु नामक संगम साहित्य में एक जगह कवि वेलैकुन्तीनकणार चोल राजा से

कहता है कि उसका राज्य कभी भी नहीं चल सकता अगर वह अच्छी कृषि की ओर ध्यान नहीं देता। उसकी सफलता की कुंजी हलधर (कृषक) के पास है।

भूमि के प्रकार

पुरनानूरु साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि कृषि भी सुविधा के लिए भूमि को दो किस्मों में बाँट रखा था। (i) जिस मिट्टी में नमी हो उसे वयुल, कडनी और पेनपलम कहा जाता था। ऐसी भूमि आमतौर से नदी के किनारे पाई जाती थी। (ii) सूखी अर्थात् शुष्क भूमि उसे प्रनपलम, कोलै या वनप्रलम कहा जाता था।

नददिया नामक साहित्य में, भूमि वर्गीकरण उपजाऊ, काली, ऊसर भूमि के रूप में मिलता है। एक अन्य साहित्य मे फूलों की पैदावार के लिए बालुआही भूमि का वर्णन मिलता है तमिल संगम में पाँच प्रकार की भूमि मिलती है तथा आर्थिक क्षेत्रों का उल्लेख मिलता है तथा इसीलिए इस प्रकार की भूमि या क्षेत्र में रहनेवाले लोगों की जीविका के साधन भी बिल्कुल अलग थे।

(i) **कुरिंजी, पहाड़ और वन-** यहाँ वन जातियाँ रहती थी और उनका मुख्य धन्धा शिकार और वन उत्पादन जैसे बांस, कंद, मूल और शहद आदि इकट्ठा करना था।

(ii) **मल्लै-** चारागाह जिनमें काम ऊँची पहाड़िया तथा हल्के वन थे। इन क्षेत्र के वासियों का जीविका का साधन मुख्य साधन पशुपालन और भेड़ रखना था। ये दूध उत्पादनों का विनिमय करते थे तथा थोडी झूम खेती भी करते थे और मोटा अनाज तथा दलहन व मसूर पैदा करते थे।

(iii) **नेयतल (Neytal)-** समुद्री तट-यहाँ के लोग मछली पकड़ने तथा नमक उत्पादन का धन्धा करते थे।

(iv) **पालै-** शुष्क क्षेत्र। यहाँ खेती सम्भव नहीं थी। अतः इस क्षेत्र में कुछ लोग राहजनी, डकैती तथा पशु चुराने का काम करते थे ओर बहुधा यहाँ से गुजरनेवाले व्यापारियों के कारवाँ को लूट लेते थे।

(v) **मरुस्थल, उपजाऊ कृषि मैदान-** कृषक क्षेत्र अधिकतर उपजाऊ नदी घाटियों में थे जो धान और गन्ने आदि की खेती करते थे तथ ये लाग उषयर (Ushavar) अर्थात् हलवाहे (किसान) कहलाते थे इस प्रकार शिकार, पशुपालन, मछली पकड़ना एवम् नमक बनाना, राहजनी तथा कृषि कार्य लोगों की आजीविका के साधन थे। परन्तु कृषि कार्य इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण धंधा था। राज्यों की आय का मूल स्त्रोत कृषि राजस्व ही था।

फसलों की किस्में

संगम साहित्य के अनुसार दक्षिण भारत की भूमि बहुत उपजाऊ थी। भूमि की उर्वरक शक्ति के बारे में कहावत थी कि जितनी भूमि एक हाथी बैठने में घेरता है इतने में सात व्यक्तियों के लिए अन्न पैदा होता है। एक अन्य संगम साहित्य (पुरनानूरु) के अनुसार एक-सा (भूमिमाप) से ही कम भूमि में इतनी ऊपज होती थी कि अगर ठीक से कृषि की जाए तो एक हाथी प्रतिदिन अपना भोजन कर सकता था। प्रतिवर्ष धान की दो या तीन तक फसलें होना साधारण बात थी यद्यपि भूमि के मूल्यों की भाँति फसलों में भी अन्तर था। अनाज और विभिन्न प्रकार की खेती सिंचित तथा असिंचित दोनों प्रकार की जमीनों पर की जाती थी। मरुस्थल क्षेत्र में धान तथा गन्ना दो प्रमुख फसलें थी तथा दालों की भी खेती होती थी।

दक्कन में लोगों को भी धान रोपाई का ज्ञान था। ई. सदी की पहली दो शताब्दियों (200 A.D.) में कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के मैदानों में प्रमुख चावल उत्पादक क्षेत्र था। काली मिट्टीवाली भूमि में कपास की खेती होती थी, आंध्र की कपास विदेशों मे भी प्रसिद्ध थी। समुद्री तटों पर नारियल की प्रचुर मात्रा में पैदावार थी। दक्कन के विभिन्न भागों में आम के व क्ष और इमारती लकड़ी भी पैदा की जाती थी।

चेर (केरल) राज्य में कटहल, काली मिर्च और हल्दी सदैव की भाँति प्रसिद्ध थी। पारी नाम छोटे से राज्य के जंगल में अनेक प्रकार के अन्न, कटहल और विभिन्न प्रकार के कंद-मूल, शहद आदि चीजें पैदावार होती थी। संगम कविताओं में रागी और गन्नें के उत्पादन, गन्ने से शक्कर बनाने, खाद्यान्नों को सुखाने का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न मसालें जैसे काली मिर्च, लौंग इलायची आदि की खेती भी प्रचुर मात्रा में की जाती थी और इस प्रकार ये जंगलो से जड़ी बूटियाँ और खेती से अनेक प्रकार के मसाले व्यापारियों को दिया करते थे ताकि रोम की इन वस्तुओं की मांग पूरी की जा सके। शिल्पदिकारम के अनुसार अन्न के अतिरिक्त कृषकों ने हाथी दांत, हिरण के चमड़े, शहद, चंदन, सिन्दूर बनाने का सामान इलायची लौंग, नारियल, खजूर, सुपारी आदि शहर के लोगों को दिया करते थे। अतः स्पष्ट है कि कृषकों के प्रयासों से ही यहाँ शहरो का जन्म हुआ तथा भारत ने रोम के साथ व्यापार में जो धन कमाया उसका भी मुख्य आधार कृषक ही था। कृषि के अतिरिक्त बहुत बड़े पैमाने पर बाग बगीचे भी लगाए जाते थे इनकी ऊपज के रूप में पान के पत्ते, सुपारी, ताजे फलों और फूलों का उल्लेख प्रायः अभिलेखों में मिलते है। इन सबके बावजूद कृषि ऊपज के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान साक्ष्यों के अभाव में पूरा नहीं है।

कृषि औजार

साहित्य तथा शिलालेखों दोनों से ही हमें हल के उपयोग के साक्ष्य मिलते हैं कृषि लोहे में हल-फाल से की जाती थी। गहरी जुताई के लिए लोहे की नोक (फाल) वाला हल आवश्यक था क्योंकि धान और गन्ने के लिए गहरी जुताई आवश्यक थी। शिलालेख तामिलहम् गुफा में हल-फाल के व्यापारों के दाता के रूप में उल्लेखित किया है। हल जोतने में बैलों तथा भैसें का प्रयोग किया जाता था। पशुओं द्वारा खेत अच्छी प्रकार से जोता जाता था। हल के अतिरिक्त फावड़ा, कुल्हाड़ी और दराँती भी कृषि कार्य में उपयोग में लाई जाती थी। किसान को जुताई, नलाई, सिंचाई और पुनः बुवाई आदि के ढंग से भली-भाँति परिचित थे कृषि उत्पादन की ढुलाई के लिए छोटे चक्के वाली गाड़ी तथा भैसें का प्रयोग किया जाता था। पशुओं में गोबर को खाद के रूप में प्रयोग किया जाता था। वे इस बात से भी पूरी तरह परिचित थे कि कौन-से मौसम में कौन-सी खेती या कृषि कर्म करना चाहिए जैसे खेती की शुरुआत प्रायः वर्षा के मौसम में की जाती थी ताकि मिट्टी मुलायम रहें और बैलों के माध्यम से ढंग से हल चलाया जा सके। अतः उन्हें धान रोपाई का ज्ञान भी था।

सिंचाई के साधन

सिंचाई सुविधाएँ कभी स्थानीय किसानों द्वारा और कभी राजाओं और सामन्तों द्वारा जुटाई जाती थी। ये पेरुम्पानात्रुप्पदै एवम् कुरिन्चिप्पात्तु नामक संगम साहित्य में सिंचाई से सम्बन्धित अनेकों प्रकार के सिंचाई साधनों की जानकारी मिलती है। तालाबों, कुओं, नदियो और झीलों की खेती के लिए बड़ा महत्त्व था। नदी के पानी को छोटी नालियों के द्वारा खेतों में लाया जाता था। तामिलहम् में कावेरीपट्टनम के समीप प्राचीन जलाशयों के अवशेष प्राप्त हुए है। पानी उठाने के लिए बाल्टिंयों (रहटनुमा चीज) का उपयोग किया जाता था। तालाब और कुओं की खुदाई

प्रशंसनीय कार्य समझा जाता था। अभिलेखों से ऐसा लगता है कि मंदिरों के बाद यही कार्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। होटटूर के पास एक तालाब था। 1039 ई. से इसके रखरखाव के लिए पान के पत्तों पर केन्द्रीय तथा स्थानीय अधिकारियों को जो कर मिलता था, उसका कुछ भाग इस तालाब के रखरखाव के लिए सुरक्षित कर दिया जाता था। 1052 ई. में कदंब राजा हरिकेसरिन ने नारियल के महाजनों को वहाँ से मिलनेवाला सारा ग ह कर एक बड़े तालाब के रखरखाव लिए दे दिया था। इस प्रकार हमें अनेकों अभिलेखों प्राप्त हुए है। जिनसे स्पष्ट होता है कि तालाब और कुओं, पोखर को खुदवाने तथा नए-नए रखरखाव के लिए विभिन्न प्रकार के अनुदान दिए गए। राजा बाँध बँधवाता था ताकि गाँव के पास वर्षा का जल इकट्ठा हो जाए।

भू-राजस्व व्यवस्था

आय का मुख्य स्रोत भूमि राजस्व था। राज्य द्वारा भू-राजस्व वसूली एक संगठित तन्त्र के माध्यम से की जाती थी।

भू-सर्वेक्षण- कर वसूली के सम्बन्ध में भूमि के स्थायी मूल्यांकन की जानकारी थी। कर निर्धारण के लिए थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् भू-सर्वेक्षण होता था।

कृषि राजस्व-तमिल साहित्य में सामंतों द्वारा प्राप्त अंशदान का उल्लेख इरै (Iral) और तिरै (tiral) दो किस्मों के रूप में किया गया है। इरै अधिक नियमित अंशदान और तिरै, शुल्क-प्रतीत होता है। दुर्भाग्यवश, हमारे पास तत्कालीन अभिलेखों से राजस्व वसूली की दर और तरीके के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। राजस्व वसूली के लिए शासकों के भद्र और नम्र व्यवहार करने की हिदायत दी जाती थी। इससे यह प्रतीत होता है कि किसानों से अपना हिस्सा लेने में प्राधिकारियों द्वारा जोर-जबरदस्ती और ज्यादतियाँ की जाती थी।

सातवाहनों के शासनकाल में दक्कन मे राजस्व प्रणाली संभवतः अधिक नियमित थी, परन्तु इस संबंध में भी अधिक स्पष्ट ब्यौरे नहीं है। हम करों के कुछ नामों जैसे कर, देय, मेय, भाग के बारे में सुनते हैं।

इन शब्दों के असली महत्त्व या राज्य द्वारा वसूली गई राजस्व की राशि के बारे में कुछ मालूम नहीं है। बौद्ध संघों और ब्राह्मणों को ग्रामदान में दान किए गए गाँवों का राजस्व भी शामिल था। ऐसे मामलों में कुछ छूटों का उल्लेख है। ये छूट निम्नलिखित थीः

(i) किसी प्रकार का शुल्क वसूली के लिए राजा के सैनिकों के प्रवेश के विरुद्धः

(ii) गाँव से किसी भी वस्तु को अपने अधिकार में लेने के लिए शाही अधिकारियों के विरुद्ध।

इनसे यह स्पष्ट होता है किः

- साधारणतया जब सैनिक गाँव में आते थे तो उन्हें ग्रामवासियों को धन या वस्तु देनी पड़ती थी; अथवा
- सैनिकों को राजस्व वसूली का अधिकार मिला हुआ था।

ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहन क्षेत्र के ग्रामीण क्षेत्र गोलमिक (Gaulmika) के अधीन थे, जो एक छोटी सैन्य इकाई का प्रभारी था। जब बौद्ध मठों अथवा ब्राह्मणों को भूमि दी जाती थी तो राज्य को यह गारंटी देनी पड़ती थी कि ग्रामीण क्षेत्रों में तैनात सैनिक उनके अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करेंगें। आर.एस. शर्मा के अनुसार भू-कर एक तिहाई होता था। जो किसी भी मानक से अधिक था।

तमिल क्षेत्र मे संसाधनों का अर्जन और वितरण के तरीके

उन लोगों तक संसाधन कैसे पहुँचे, जिन्हें उनकी आवश्यकता थी? दक्कन में सुगठित राज्य प्रणाली के अधीन नियम और प्रथाओं के अनुसार विनियोजन के तरीके विनियमित किए गए। चूँकि सुदूर दक्षिण में अभी नियमित राज्य प्रणाली विकसित होनी थी, इसलिए वहाँ संसाधनो के वितरण की कोई सुनियोजित प्रणाली नहीं थी।

तमिल क्षेत्र में कृषक बस्तियों में संसाधन वितरण के कई तरीके विद्यमान थे। जैसे उपहार प्रणाली। उपहार संभवतः संसाधन परिचालन का सबसे अधिक आम तरीका था। प्रत्येक उत्पादनकर्ता अपने उत्पादन का कुछ भाग उन व्यक्तियों को दे देता था, जो कार्य करते थे। बढ़िया भोजन अथवा वस्तु का उपहार पुनर्वितरण का साधारण रूप था। लूट-पाट और छापों से पहले और बाद में योद्धाओं को दावतें दी जाती थी। गरीब गायक और नर्तकियाँ, जो सामंतों की प्रशंसा में गाते और नाचते थे, भरपेट भोजन और पहनने के वस्त्रों की चार में एक दरबार से दूसरे दरबार मे भटकते थे। कभी-कभी दावत के अलावा उपहार की वस्तुओं में आयोजित बढ़िया शराब, रेशमी वस्त्र तथा स्वर्ण आभूषण भी दिए जाते थे। ब्राह्मण पुजारियों और योद्धाओं को बहुधा अपनी सेवाओं के उपलक्ष्य में गांव और पशु उपहार में मिलते थे। प्राचीन तमिल क्षेत्र में ब्राह्मणों को गाँव दान में देने से ब्राह्मण बस्तियों का आविर्भाव हुआ। सम द्ध और शक्तिशाली व्यक्तियों के तीन वर्गो द्वारा उपहार के माध्यम से पुनर्वितरण कार्य किया जाता था। ये तीन वर्ग थे कृषक बस्तियों के राजा बेंतर (Vendar), छोटे सांमत बेलीर (Vellir), और सम द्धशाली कृषक परिवार वेल्लालर (Vellalar)।

वसूली मे ज्यादतियाँ

उपहारों के वितरण को संभव बनाने के लिए यह आवश्यक था कि केन्द्र में संसाधन एकत्र किए जाते थे। यह केन्द्र मुखिया का निवास स्थान होता था। केन्द्र से उपहारों का वितरण, पुनर्वितरण की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। संसाधनों को एकत्र करने के लिए बहुधा कृषक क्षेत्र की लूट-पाट की जाती थी। अनाज और पशु लूटे जाते थे। लूट में जिस वस्तु को वे नहीं ले जा सकते थे, उसे वे नष्ट कर देते थे। किसानों की बस्तियों को जला दिया जाता था, शत्रुओं की फसलों को नष्ट कर दिया जाता था और सम द्ध बागानों को बंजर भूमि में बदल दिया जाता था; उन लुटेरों की दुष्कार्यों में से कुछ ये थे। पहाड़ी क्षेत्रों और चारागाहों के मारवर (Marava) लड़ाकू को सामंतों द्वारा बस्तियाँ लूटने के काम में लाया जाता था। ऐसे लुटेरों के लूट के माल को मारवा लड़ाकुओं में पुनर्वितरित किया जाता था और प्रायश्चित धार्मिक अनुदान के लिए उपहार तथा पारिश्रमिक कई रूप में पुजारियों को दिया जाता था। किसानों की असुरक्षा, दुर्दशा तथा शोषण के प्रमाण के संगम साहित्य के अनेकों गीतों मे मिलते हैं। किसान के पास लगाए गए भारी करों को देने के अलावा कोई रास्ता नहीं था ज्यादा-से-ज्यादा वह राजा से इनको कम करने या माफ करने की प्रार्थना कर सकता था। परन्तु उस भूमि को छोड़कर कहीं और जाने का विकल्प केवल सैद्धान्तिक ही था व्यावहारिक नहीं। क्योंकि कृषकों की गतिशीलता पर पाबन्दी लगने से ऐसा करने पर उसकी और दयनीय स्थिति हो जाती थी।

भूस्वामित्व का अधिकार

भूस्वामित्व मुख्यतः दो प्रकार की होती थी भूमि या तो पंचायती अर्थात् सामूहिक स्वामित्व में होती थी और सामन्तों के करों का भुगतान करने के बाद उत्पादन का उपभोग भी सामूहिक रूप से होता था। दक्कन में भूमि स्वामित्व का स्वरूप अधिक स्पष्ट है। वहाँ गहपति परिवार थे जो भूमि के स्वामी

और व्यापारी थे एवं अभिलेखों के अनुसार पश्चिमी दक्कन के नाहपान क्षत्रप शासन के दामाद उषवदत्त ने ब्राह्मण से जमीन का एक टुकड़ा खरीदा और उसे बुद्ध संघ को दान में दे दिया। इससे भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व की पुष्टि भी होती है। इस कार्य में स्वामी को 40,000 कहापन सिक्के मिले। सातवाहन राजाओं ने भूमि और यहाँ तक कि गाँव-के-गाँव भी धार्मिक अनुदान के रूप में दान में दिए। इसी प्रकार सुन्दर चोल के अनविल अनुदान का अभिलेख एक ब्राह्मण को राजा द्वारा भोगे जानेवाले सभी अधिकारों के साथ भूमि अनुदान का उल्लेख करता हैः

...इस प्रकार वर्णित भूमि की सीमाएँ हमने मिट्टी के टीले बनाकर तथा नागफनी के पौधे लगाकर निश्चित कर दी। इस भूमि में अनेक वस्तुएँ सम्मिलित है, जैसे फलवाले व क्ष, पानी, भूमि, वाटिकाएँ, समस्त उगनेवाले व क्ष, गहरे कुएँ, खुले मैदान, घास के मैदान जिनमें बछडें चरते हैं, ग्राम-स्थान, वल्मीक, व क्षों के चारों ओर बने चबूतरे, नहरें, खाइयाँ, नदियाँ तथा उनसे उपलब्ध होनेवाली वस्तुएँ, तालाब अनाजों के गोदाम, मछलियों के कुंड, मधुमक्खियों के छत्ते सहित दरार, गहरे कुंड भी सम्मिलित है; और वह प्रत्येक वस्तु जिस पर गिलरियाँ दौड़ती और कछुवे रेंगते हैं, न्याय से होनेवाली आय, पान के पत्ते, हथकरघों के वस्त्रों पर लगनेवाले कर... प्रत्येक वह वस्तु जिसे राजा प्राप्त और उपयोग कर सकता है ये समस्त वस्तुएँ इस व्यक्ति की हो जाएँगी। उसे अधिकार होगा कि वह पक्की ईंटो से बड़े-बड़े कुएँ खुदवाए, दक्षिणी लकड़ी एवं थूहर उगाए, सिंचाई की आवश्यकताओं के अनुसार नहरें खुदवाए, फालतू पानी को नष्ट न करकें सिंचाई के लिए जलाशयों में एकत्रित करे (उसकी भूमि से पानी ले जाने का अधिकार किसी को नहीं होगा)। इसके द्वारा पुराने आदेश में परिवर्तन किया गया और पुराना नाम तथा कर हटाकर 'करुणामंगलम्' के नाम से 'एकभोगब्रह्मदेय' (एक ही ब्राह्मण को दिया गया भूमि अनुदान) की व्यवस्था की गई।

इस प्रकार जैसा कि सुदूर दक्षिण के प्रमाणों से भी स्पष्ट हो जाता है खेती से जुड़े हुए मुख्यतः दो वर्ग थे वेल्लार अर्थात् भूमि के मालिक और दूसरे उषवर अर्थात् हलवाहा तथा अरियोर और विनैवलार अर्थात् जिनका क्रमशः अर्थ है संभवतः गुलाम और भूमि पर मजदूरी करनेवाला मजदूर। इनकी मजदूरी की दर और दूसरी शर्तों के बारे में जानकारी उपलब्ध नहीं है परन्तु इन दोनों वर्गों में स्पष्ट अन्तर किया जाता था। जैसे मजदूरों को ग्रामसभा में सम्मिलित नहीं किया जाता था और न ही स्थानीय प्रशासन में। भूमिहीन श्रमिकों की दशा कुछ-कुछ कृषक दासों जैसी ही थी। बंजर भूमि को उपजाऊ बनाना और वनों की सफाई कृषकों और श्रमिकों के कार्य का अंग था।

(ख) व्यापार एवम् वाणिज्य

Trade and Commerce

दक्कन एवम् सुदूर दक्षिण में व्यापार का विकास तथा शहरी केन्द्रो का उत्थान इस प्रायद्वीपीय भारत में हो रहे परिवर्तनों से जुड़े हुए थे इन परिवर्तनों के कारण थेः

(1) प्रमुख नदीघाटियों में लौह कृषि औजारों, सिंचाई के साधनों तथा कृषि के उन्नत ज्ञान से न केवल कृषि उत्पादनों की व द्धि हुई अपितु नई-नई कृषि बस्तियाँ जिसका परिणाम कुछ हिस्सों में कृषि उत्पाद अधिशेष मात्रा में उपलब्ध हुआ।

(2) इस क्षेत्र का मौर्य काल में उत्तर के साथ सम्बन्ध बढ़ा जिस कारण व्यापारियों, सौदागर तथा अन्य लोगों का अधिक आवागमन शुरू हुआ और इस प्रकार उत्तर और दक्षिण व्यापारिक मार्गों से जुड़ी कौटिल्य के अर्थशास्त्र से इसकी पुष्टि हो जाती है। अर्थशास्त्र में दक्षिण पथ के लाभों का वर्णन मिलता है।

(3) प्रथम शताब्दी के आस-पास पश्चिम के रोमन विश्व के साथ में भारतीय सामान विशेषकर विलासता तथा मसाले की माँग बढ़ी। और विशेषरूप से मसालों की माँग दक्कन तथा सुदूर दक्षिण के इलाकों से ही पूर्ण की जा सकती थी।

(4) इन कारणों से शिल्प विशेषज्ञों की भी आवश्यकता पड़ी जो वाणिज्य वस्तुओं का उत्पादन दक्षता और कौशलता के साथ कर सके अर्थात् मिट्टी के बर्तन, मनके बनाना, शीशों का काम, हाथी दाँत की विभिन्न वस्तुएँ, वस्त्रों की बुनाई आदि सभी के लिए दक्ष हाथों की आवश्यकता महसूस हुई ताकि उनकी वस्तुओं की माँग विदेशी बाजार में बनी रहें।

यही सब कारण बने। इस क्षेत्र में व्यापार के विकास तथा शहरी केन्द्रो की उत्पत्ति के।

व्यापार के प्रकार

प्रत्येक क्षेत्र को अन्य क्षेत्रों की वस्तुओं से किसी वस्तु का विनिमय करना होता था। साथ ही इनमें से प्रत्येक क्षेत्र मे किसी-न-किसी ऐसी वस्तु की कमी होती थी जो उनके समाज के लिए आवश्यक थी। कृषि क्षेत्र खाद्यान्न और गन्ना पैदा करते थे, किन्तु नमक और मछली के लिए उन्हे तटीय क्षेत्रो पर निर्भर रहना पड़ता था। तटीय क्षेत्रों में नमक और मछली का उत्पादन बहुत अधिक मात्रा में होता था परन्तु चावल और प्रमुख भोजन धान उत्पादक क्षेत्रों से लाना पड़ता था। पहाड़ी क्षेत्र इमारती लकड़ी और मसालों आदि में सम द्ध थे परन्तु खाद्यान्नों और नमक के लिए उन्हें कृषि क्षेत्रों पर निर्भर रहना पड़ता था। इस प्रकार की पारम्परिक निर्भरता का परिणाम यह हुआ कि विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में विनिमय संबंध उभरे। दक्षिण में उपलब्ध कुछ वस्तुओं की माँग उपमहाद्वीप के अन्य क्षेत्रों में हुई और यहां तक इन वस्तुओं की माँग अन्य देशों तथा सांस्कृतियों में भी हुई। उन सुदूरवर्ती देशों द्वारा मार्ग या समुद्री मार्ग से सम्पर्क बनाए गए और आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त की गई। इस प्रकार, हम व्यापार के तीन स्तरों की पहचान कर सकते हैं:

(i) स्थानीय व्यापार

(ii) दूरस्थ स्थल मार्ग व्यापार

(iii) दूरस्थ समुद्री मार्ग व्यापार

स्थानीय व्यापार

स्थानीय विनिमय के संदर्भ में लेन-देन का सबसे सामान्य तरीका वस्तु विनिमय था। वस्तु विनिमय की अधिकांश वस्तुएँ तत्कालिक उपभोग की थी। सुदूर दक्षिण में वस्तु विनिमय की नियमित वस्तुएँ नमक, मछली, धान, दूध उत्पाद, जडें, म ग मांस, शहद और ताड़ी थी। नमक का विनिमय धान से होता था, धान का विनिमय दूध, दही और धी से होता था, मछली तथा शराब के लिए शहद दिया जाता था, म ग मांस और ताड़ी के लिए चावल पपड़ियाँ और गन्ना दिया जाता था। अत्यन्त दुर्लभ, विलासिता की वस्तुएँ जैसे मोती तथा हाथी दाँत भी वस्तु विनिमय की मदें थी। वे भी उपभोग की वस्तुएँ जैसे चावल, मछली, ताड़ी, गन्ना, पशु, जड़ी बूटी आदि के लिए दी जाती थी।

तमिल दक्षिण में वस्तु विनिमय प्रणाली में ऋण लेने की प्रथा प्रचलित थी। किसी वस्तु की निश्चित राशि का ऋण लिया जा सकता था और बाद मे उसी प्रकार तथा उसी मात्रा में वही लौटा दी जाती थी। यह प्रथा कुरीटिरपई कहलाती थी।

विनिमय दर निश्चित नहीं थीं वस्तुओं की कीमत केवल मोल-तोल से ही तय की जाती थी। धान और नमक केवल दो वस्तुएँ ही ऐसी थी जिनके लिए सुदूर दक्षिण की वस्तु विनिमय प्रणाली में निश्चित विनिमय दर थी। धान की समान मात्रा के बराबर नमक दिया जाता था।

सातवाहन शासन के अधीन दक्कन में सिक्कों का आम प्रचलन था। इस पर भी वस्तु विनिमय का प्रचलन जारी था। मिट्टी के बर्तन, पान, खिलौने और ट्रिंक्लेट जैसी दस्तकारी उत्पाद ग्रामीण क्षेत्रों में विनिमय वस्तुएँ थी।

सुदूर दक्षिण की वस्तुएँ विनिमय प्रणाली में निम्न विशेषताएँ रही हैं-

(i) विनिमय की अधिकांश मदें उपभोग की वस्तुएँ थी।

(ii) विनिमय लाभोन्मुखी नहीं था।

(iii) उत्पादन की तरह वितरण भी आजीविका का साधन था।

इस काल में आन्तरिक व्यापार बहुत विकसित था। एक स्थान से दूसरे स्थान अथवा एक मेले से दूसरे मेले में द्वार लगाने के लिए व्यापारी गाडियाँ तथा भारवाहक पशुओं का कारवाँ बनाकर रखते थे।

दूरस्थ स्थल मार्ग व्यापार

भारत के उत्तरी और दक्षिणी भाग के बीच विभिन्न क्षेत्रों में सम्पर्क यदि काफी प्राचीन नहीं रहा हो तब भी वह कम-से-कम चौथी शताब्दी ई.पू. से तो हो ही सकता है। विंध्याचल पर्वत श्रेणियों के दक्षिण में उस क्षेत्र के जो भी संसाधन थे, उत्तर में ज्ञात थे। प्राचीन बौद्ध साहित्य में जिस मार्ग का हवाला मिलता है, वह गंगा की घाटी से गोदावरी की घाटी में जाता था। यह दक्षिण पथ के नाम से जाना जाता था। अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य ने इस दक्षिणी मार्ग के लाभों के बारे में लिखा है। कौटिल्य के अनुसार, दक्षिण राज्य क्षेत्रों में शंखों, हीरों, जवाहरातों, रत्न-मणियों और स्वर्ण विपुल मात्रा में था। इसके अलावा, ये मार्ग उन क्षेत्रों से होकर जाता था, जो सम द्ध खनिज पदार्थो और मूल्यवान वस्तुओं से भरपूर था। उनके कथानुसार उस समय इस मार्ग से बहुत से लोगों का बार-बार आना-जाना था। वह मार्ग दक्षिण के प्रतिस्थान नगर सहित वहाँ के बहुत से केन्द्रों से होकर जाता था। प्रतिस्थान नगर बाद में सातवाहन राजाओं की राजधानी बनी थी। इस उत्तर-दक्षिण की अधिकांश मदें विलास की वस्तुएँ थी जैसे मोती, रत्नमणि और स्वर्ण। उत्तर और दक्षिण के बीच उत्तम किस्मों के वस्त्रों का व्यापार भी होता था। संभवतः श्रेष्ठ कोटि का रेशम कलिंग से आता था। इस महीन रेशम का नाम कलिंग था, स्पष्ट है कि रेशम का उस स्थान के नाम पर था, वहाँ इसका उत्पादन होता था। वह एक ऐसी मद थी, जिसे तमिल के सामंत पसंद करते थे। जो भाट, सामंतो की प्रशंसा का गुणगान करते थे, उन्हे बेशकीमती उपहार के रूप में कलिंग रेशम मिलता था। उत्तर कृष्ण म द्भांड (एन.बी.पी.) नाम के सुन्दर किस्म के मिट्टी के बर्तन सुदूर दक्षिण में लोकप्रिय थे। पुरातत्त्वविदों ने खुदाई में पांड्या वंश के प्रारम्भ के राज्यों में कुछ उत्तर कृष्ण म द्भांडों को निकाला है।

उपर्युक्त मदों के अलावा, दक्षिण में मिट्टी के टूटे बर्तनों और मसालों की कुछ मदें भी मिली है। इनमें जटा मांसी और मालावथुम (मरहम बनाने के लिए जड़ी-बूटी) भी शामिल थे। इन मदों को पश्चिमी देशों में जहाज़ से ले जाया जाता था।

उत्तरी भारत के व्यापारी बहुत बड़ी मात्रा में चाँदी के आहत सिक्के भी लाते थे। दक्षिण के भिन्न-भिन्न स्थानों से खुदाई के दौरान बहुत बड़ी मात्रा में ये सिक्के पाए गए। ये उत्तर और दक्षिण के बीच वाणिज्यिक सम्पर्क के प्रमाण है। उत्तर भारत के साथ दूरस्थ व्यापार अधिकतर विलास की वस्तुओं का होना था और इस व्यापार का लाभ केवल शासक वर्ग और उनके व्यक्तियों को ही होना था।

दूरस्थ समुद्री मार्ग व्यापार

भारतीय वस्तुएँ जैसे मसाले, रत्न-मणियों, इमारती लकड़ी, हाथी-दाँत और कई अन्य वस्तुओं की माँग पश्चिमी देशों में बहुत अधिक थी। इन वस्तुओं का मुख्य स्त्राोत दक्षिण भारत था। प्रारंभिक काल से ये वस्तुएँ पश्चिमी देशों को समुद्री मार्ग से जाती थी। रोमन विश्व से सीधा व्यापार था, इसमें बहुत बड़े पैमाने पर लेन-देन होता था और इससे लाभ भी बहुत ज्यादा होता था इसकें प्रमाण लगभग पहली शताब्दी ई.पू. से उपलब्ध है यह प्रायद्वीपीय भारत की अर्थव्यवस्था तथा समाज के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस प्रायद्वीपीय भारत से रोमन के वाणिज्यिक सम्पर्क की दो अवस्थाएँ रही है।

(i) प्रथम अवस्था में, बिचौलिए के रूप मे अरब देश।

(ii) दूसरी अवस्था में, मानसूनी हवाओं के ज्ञान के फलस्वरूप सीधा सम्पर्क स्थापित किया गया था।

काफी समय तक अरब सागर में नौवहन तट के साथ-साथ व्यापार होता था। यह बहुत कठिन और खर्चीला था। अरब देशों ने ईस्वी सदी शुरू होने से पहले समुद्र को मुख्य मार्ग बनाते हुए भारत के साथ वाणिज्यिक संबंध बना लिए थे। अरब देशों की भौगोलिक स्थिति पूरब पश्चिम के व्यापर में उनकी एकाधिकार की स्थिति बनाने के लिए बहुत सुविधाजनक थी। उन्हें अरब सागर में पवन प्रणालियों का भी कुछ ज्ञान था उन्होनें इसे व्यापार रहस्य के रूप में गोपनीय रखा था। इस प्रकार, अरब देशों ने बिचौलिए का काम किया तथा प्रायद्वीपीय भारत से व्यापार में काफी लाभ अर्जित किया था।

मानसूनी हवाओं की ''खोज'' से रोमनों द्वारा भारत के साथ सीधा संबंध स्थापित हुआ। इससे रोमन और प्रायद्वीप भारत के बीच व्यापार में व द्धि का सूत्रपात हुआ। रोमन अपना सामान भारतीय बंदरगाहों में लाते थे जिनमें कच्चा माल और तैयार उत्पाद, दोनों होते थे। कच्चे माल में ताँबा, टीन, सीसा, पुखराज, चकमक, शीश (मनका बनाने के लिए सामग्री के रूप में) होता थां तैयार उत्पादों मे उत्तम कोटि की शराब, सुंदर बनावट के वस्त्र, मनमोहन आभूषण, स्वर्ण और चाँदी के सिक्के तथा भिन्न-भिन्न किस्मों के श्रेष्ठ मिट्टी के बर्तन होते थे।

रोमनों द्वारा बहुत मात्रा में प्रायद्वीपीय भारत से पश्चिमी देशों को वस्तुएँ जहाज़ में लादी जाती थी। जिन्हें हम निम्नलिखित श्रेणियों मे विभाजित कर सकते हैंः

(i) मसाले और औषधीय जड़ी-बूटियाँ जैसे मांसा, मालबाथरूम सिनबार।

(ii) मूल्यवान रत्न, अल्प मूल्य रत्न जैसे बेरिल, ऐगेट (गोमेद), कर्नीलियन, जैस्पर और ओनीक्स तथा शंख, मोती एवं हाथी दाँत भी।

(iii) इमारती लकड़ी जैसे तेन्दु, सागौन, चंदन की लकड़ी (बाँस)।

(iv) रंगीन सूती वस्त्रों और मलमल की वस्तुएँ तथा नील एवं लाख जैसी रंजक सामग्री।

निर्यात की इन वस्तुओं में मनके और सूती वस्त्र तैयार माल होते थे।

भारतीय माल के लिए रोमन अधिकतर सोना देते थे। निर्यात की अधिकांश वस्तुएँ स्थानीय रूप से उपलब्ध थी ओर भारतीय व्यापारियों द्वारा स्वयं ही दक्कन तथा दक्षिण भारत में सौदे एकत्रित किए जाते थे। उन्हें बंदरगाहों तक लाने के लिए वैंगनों और पैकटों में भारवाही पशुओं को काम

में लाया जाता था।

यद्यपि दक्कन तथा दक्षिण भारत में भारतीय समुद्री व्यापारी ही पश्चिमी देशों को सामान भेजते थे।

दक्षिण भारत के व्यापारिक संबंध श्रीलंका और दक्षिण-पूर्व एशिया से थे। इस व्यापार की महत्वपूर्ण वस्तुएँ कुछ मसाले, कैम्फर और चंदन की लकड़ी थीं।

संभवतः तमिल मूल के व्यापारी इस व्यापार में पहल करनेवाले थे। श्रीलंका के व्यापारी भी तमिलहम् आते थे। तमिल ब्राह्मी अक्षरों के शिलालेखों में उनका उल्लेख है जो ईलम (श्रीलंका) से आए थे। परन्तु इस व्यापार के विस्त त विवरण प्राप्त नहीं है।

दक्षिण भारत से कपड़ा, मसाले, औषधियाँ, जवाहरात, हाथीदाँत, सींग, आबनूस को लकड़ी तथा कपूर चीन को भी निर्यात करता था।

दक्कन और सुदूर दक्षिण की यात्रा करने वाले अधिकांश यात्रियों की तरह मार्कोपोलो भी अरबों द्वारा घोड़ो के व्यापार से इकट्ठी होनेवाली धनराशि तथा दक्षिण भारत के उन व्यापारियों के बारे में बात करता है। जिन्होनें अरबों के साथ मिलकर घोड़ो के आयात पर कब्जा जमा रखा था मार्कोपोलो के अनुसार, "अब मैं आपको यह बताऊँगा कि यह देश के घोड़े पैदा नहीं करता। अतः समस्त वार्षिक अथवा उसका एक बड़ा भाग घोड़ों की खरीद पर व्यय हो जाता है, और यह कैसे होता है, मै आपको बताऊँगा। यह एक वास्तविक तथ्य है कि होरमुज तथा कैंस, धोफर एवं शिहर व अदन-ये सभी प्रांत बड़ी संख्या में युद्ध के घोड़े एवं अन्य घोड़े उत्पादित करते हैं-के व्यापारी सर्वश्रेष्ठ घोड़ों को खरीदकर उन्हे जहाजों द्वारा इस राजा और इस राजा के चार राजा भाईयों के लिए निर्यात कर देते हैं। इनमें से कुछ तो सोने के 500 'सग्गी' जैसे भारी मूल्य पर बेचे जाते हैं, जो धन चाँदी के सौ मार्क से भी अधिक के बराबर है। और मैं आपकों विश्वास दिलाता हूँ कि यह राजा प्रतिवर्ष 2000 अथवा इससे भी अधिक घोड़े खरीदता है और इतने ही घोड़े इसके भाई (अन्य राजागण) खरीदते हैं। और वर्ष के अंत तक इनमें से सौ भी जीवित नहीं रहते। वे सब दुरुपयोग के कारण मर जाते हैं; क्योंकि उनके यहाँ कोई पशु चिकित्सालय नहीं है और न कोई उनकी चिकित्सा करना जानता है। यह मैं आपको बता दूँ कि घोड़ों का निर्यात करनेवाले व्यापारी किसी पशु-चिकित्सक को नहीं भेजते और न जाने देते हैं, क्योकि उन्हें इस बात से प्रसन्नता होती है कि राजा के पास पहुँचकर अधिकांश घोड़े मर जाएँ।"

व्यापारिक सुविधाए

लम्बी दूरी के व्यापार मे परिवहन, भंडारण और नौवहन की सुविधाएँ, विशेषरूप से, प्रासंगिक है जिसमें बहुत बड़े पैमाने में वस्तुओं को ले जाने की समस्या होती है। सुदूर दक्षिण में मिर्च, धान और नमक को ले जाने की समस्या थी जिन्हें बहुत बड़ी मात्रा में ले जाना होता था। पश्चिमी देशों से पश्चिमी दक्कन में इमारती लकड़ी की भी बहुत भारी माँग थी। भारवाही पशु और ठेले अंतर्देशीय परिवहन के लिए प्रयुक्त किए जाते थे।

तमिलम् में कई रास्ते थे, जो नदीघाटियों में भीतरी बस्तियों और राजधानियों को जोड़ते थे। ऐसा ही एक मार्ग कावेरी की घाटी के पश्चिमी क्षेत्र से चोल बंदरगाह कावेरी-पुम्पट्टिरम् को जाता था। एक अन्य मार्ग पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र से कांचीपुरम को जाता था। कांचीपुरम स्थानीय सामंत की राजधानी थी और पश्चिमी तट का प्रसिद्ध ''नगर'' था।

नमक कारवाँ और अन्य व्यापारी ऐसे यात्री थे जो इन मार्गों से जाते थे। कारवाँ बड़े-बड़े दल बनाकर जाते थे। व्यापारियों के अलावा, बहुधा भाट, चारण, न तक, संदेशवाहक, वैद्य आदि भी ऐसे मार्गों से एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते रहते थे। ये लोग कारवाँ के साथ जाना पसंद करते थे, क्योंकि यात्रा अधिकतर खतरनाक होती थी। अधिकांश मार्ग घने जंगलों और पहाड़ों के ऊपर से होकर जाते थे, जहाँ जनजातियाँ रहती थी। व्यापारियों को राहजनी का खतरा रहता था और शासकों से किसी प्रकार के प्रभावी संरक्षण के अभाव में कारवाँ के साथ उनके अपने अंगरक्षक नियुक्त रहते थे।

सातवाहन के अधीन राज्य में स्थिति कुछ भिन्न थी। उत्तर से दक्षिण को मुख्य मार्ग उज्जयिनी से सातवाहन राज्य की राजधानी प्रतिस्थान (पठाण) शहर को जाता था। प्रतिस्थान से यह दक्कन के पठार को पार करते हुए दक्षिण के प्रसिद्ध शहरों कांची और मदुरै को जाता था। ईसवी काल के प्रारंभ मे विकसित मार्गो का जाल इस पुराने मार्ग को पश्चिमी तट के अंतर्देशीय बजारों तथा कस्बों और बंदरगाहों को क्षेत्र के भीतरी भाग के उत्पादक क्षेत्रो से मिलाता था। गोदावरी और कृष्णा की उपजाऊ घाटियों के भी मार्गों के ऐसे जाल थे जो तटीय शहरों की भीतरी भागों से जोड़ते थे।

दक्कन की कुछ प्राचीन प्रसिद्ध बौद्ध गुफाओं तथा धार्मिक केन्द्र इन व्यापारी मार्गो में थे। व्यापारी कारवाँ के लिए ये धार्मिक केन्द्र बहुत से मामलों में उपयोगी थे। उन्हे भोजन और आवास देने के अलावा वे उन्हें ऋण तक भी देते थे। शासक भी इन मार्गो की देखभाल पर रुचि दिखाते थे। उन्होंने बंदरगाह नगर में विश्रामग ह बनवाए और मार्गो में प्याऊ स्थापित किए। उनके रख-रखाव के लिए अधिकारी भी नियुक्त किए गए। दुर्भाग्यवश मार्गो की सुरक्षा प्रबंधों के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

बहुधा मार्गों में नदियाँ पार करनी पड़ती थी। ऐसे स्थलों पर नौघाट स्थापित किए गए थे और व्यापारियों से कर वसूल किया जाता था। कुछ नौघाट निःशुल्क भी थे।

लम्बे समुद्र तट और कई नदियों के प्रवाह से जानकारी होने के फलस्वरूप दक्षिण भारतीय समुद्री तथा नदियों के नौवहन को जानते थे। नौघाटों को पार करने तथा नदियों के नौवहन के लिए छोटी नौकाओं का प्रयोग किया जाता था। बड़े जहाजों के निर्माण तथा उनके प्रयोग से समुद्री यात्रा संभव हुई।

तमिलहम् में नौवहन मुख्यरूप से तटवर्ती क्षेत्रों में सीमित थी। श्रीलंका के साथ कुछ व्यापारिक संबंध थे। श्रीलंका (ईलम) के व्यापारियों का उल्लेख दक्षिण भारत के शिलालेखों में मिलता है। इसी प्रकार, श्रीलंका के कुछ प्रारंभिक शिलालेखों में तमिल व्यापारियों का उल्लेख दानदाता के रूप में मिलता है। इन प्रमाणों से पता चलता है कि तमिल के व्यापारी समुद्र व्यापार में भाग लेते थे।

दक्कन में ऐसे भी व्यापारी थे, जो खास तौर पर समुद्री व्यापार में लगे हुए थे। मारुकच्छा में जहाजों की उपस्थिति के बारे में उस समय के साहित्य से जानकारी मिलती है।

प्रायद्वीपीय भारत के व्यापारी खास तौर पर वे जो दक्कन के थे, विदेशी व्यापार में लगे हुए थे मिस्र और अलेक्जेंडरिया में कुछ भारतीय व्यापारियों की मौजूदगी की जानकारी उस समय के विदेशी साहित्य में मिलती है।

राजा के प्राधिकारी समुद्री व्यापार के महत्त्व को जानते थे। वे व्यापारियों को सुविधाएँ देते थे। मारुकच्छा में आनेवाले जहाजों का मार्ग-दर्शन नौकाएँ करती थीं और गोदियों में उनके लिए अलग स्थान की व्यवस्था की जाती थी।

सुदूर दक्षिण में तमिलहम् के बड़े सामंत समुद्र व्यापार को कई तरीकों से प्रात्साहित करते थे। समुद्र के किनारे प्रकाश स्तम्भ बनाए गए थे, कई ऐसे जहाज घाट थे, जहाँ रोमन जहाजों से उतारे गए सामान पर सामंतो की मुहर लगाई जाती थी। भंडारण की सुविधा दी जाती थी और गोदामों में सामान के संरक्षण की व्यवस्था भी की जाती थी।

बन्दरगाहें

तमिल साहित्य में हमें दक्षिण भारत के उन बन्दरगाहों के नाम मिलते हैं जिनसे विदेशों के लिए जहाज खुलते हैं। एक जगह इस बात का उल्लेख है कि मदुरा के समुद्र तट से जावा जानेवाले जहाज माणीपल्लवम् में संकेत थे। पेरिवार नदी के पास मुचिरी की बन्दरगाह थी जिसका महाभारत और पेरिहारा में भी वर्णन आता है। भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर माक्कावलि नदी पर घोरिड नामक बन्दरगाह था। पूर्वी तट पर महाबलीपुरम्, कावेरीपट्टनम, शलीयूर तथा कोरकई और मालाबार तट पर क्विलोन के बड़े-बड़े प्रतिष्ठान थे जो पश्चिम और पूर्व दोनों ओर के दक्षिण भारतीय व्यापार का संचालन करते थे। पश्चिम से व्यापार करनेवालों के लिए फारस तथा अरब गन्तव्य स्थान थे और फारस की खाड़ी पर स्थित सिराफ एक प्रमुख बन्दरगाह थी। तोण्डी, मुशिरी और प्रहार (कावेरीप्पत्तिनम्) में यवन लोगों ने अपनी व्यापारिक बस्तियाँ बनाई हुई थी।

विनिमय के माध्यम के रूप में सिक्के: यद्यपि वस्तु विनिमय (Barter System) लेन-देन का सबसे अधिक सामान्य तरीका था परन्तु बड़ी वस्तुओं तथा विदेशी व्यापार में अधिकतर सिक्कों का प्रचलन था। दक्कन तथा सुदूरवर्ती दक्षिण के क्षेत्रों से मुख्यतः दो प्रकार के सिक्के मिले हैं।

(i) स्थानीय (Local)

(ii) रोमन

स्थानीय सिक्के: इस क्षेत्र में विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्थानीय सिक्के प्राप्त हुए हैं। प्राचीन तामिल साहित्य में इनका थोड़ा बहुत उल्लेख मिलता है, जैसे कास, कनम, पोन तथा बेनपोन। पोन का गद्याण सोने का सिक्का था। पण संभवतः चाँदी का सिक्का था। इससे भी छोटे सिक्के पगविस थे। दक्कन के शिलालेखों में कहापना का उल्लेख मिलता है। जो चाँदी के सिक्के थे भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के और भिन्न धातुओं में बनाऐ जाते थे, जैस सीसा, पोटिन (ताँबा, जस्ता, सोना और टिन का मिश्रण) ताँबा और चाँदी प्रयुक्त की जाती थी। चूँकि सिक्कों के सम्बन्ध में कोई मानक नहीं था। अतः सिक्कों को तोल और कारीगरी में अन्तर होता था।

रोमन सिक्के: प्राचीन तमिल साहित्य में यवन (रोमन) जहाजों का उल्लेख है, जो तामिलहम् में बहुत बड़ी मात्रा में सोना लाते थे जिसके प्रति यवन लेखक प्लिनी ने गहरी चिंता जताई है। इसकी पुष्टि आंध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल मे भारी मात्रा में पाए गए रोमन सिक्कों से हो जाती है। अधिकांश सिक्के पहली शताब्दी ई. पू. और तीसरी शताब्दी ई. पूर्व के है। अधिकांश रोमन सिक्के सोने और चाँदी के है और थोड़े बहुत ताँबे के। कुछ विद्वानों का मत है कि रोम का सोना मुद्रा के रूप मे नहीं बल्कि बुलियन के रूप मे लिया जाता था।

रोमन सिक्के तथा आहत सिक्के दोनो देशों में साथ-साथ प्रचलन में थे और दोनों प्रकार के सिक्कों

का वजन भी लगभग बराबर है। दोनों ही लगभग एक जैसे घिसे हुए जिसमें स्पष्ट है कि खजाने में रखने से पूर्व ये सिक्के काफी समय तक प्रचलन में रहे।

व्यापारिक राजस्व- वाणिज्य वस्तुओं पर कर भी राज्य की आय का महत्त्वपूर्ण स्त्रोत था। भारवाही पशुओं और ढेलों में सौदा ले जानेवालों से नग और विक्रय वस्तु के हिसाब से चुंगी वसूल की जाती थी। चोल के बंदरगाह नगर कावेरीपुम्पपट्टिनम में वाणिज्य वस्तुओं पर चोलों की मुहर जिसपर वाद्य अंकित था लगाकर चुंगी ली जाती थी। इसके अतिरिक्त सातवाहन काल में कराधान अधिक नियमित रहा है, प्रत्येक वस्तु पर चुंगी वसूल की जाती थी। प्रत्येक प्रभाव शहर में व्यापारियों पर सीमाशुल्क था। कर आय का एक स्त्रोत नौघाट था। दस्तकारों को भी अपने उत्पादों पर शुल्क देना पड़ता था। जिसे कारूकरा (कारू-दस्तकार, करा-कर) के नाम से जाना जाता था।

वाणिज्यिक संगठनः यद्यपि तामिलहम् में व्यापारियों के संगठन के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है परन्तु दक्कन में व्यापारियों का संघ एक नियमित घटना थी। वहाँ कई कस्बे थे और प्रत्येक कस्बे का संभवतः एक स्थानीय संघ या निगम अथवा श्रेणी होती थी जो साधारणतः नगरम् कहलाती थी। प्रत्येक संघ का एक मुखिया (सेट्ठी) था। उसका कार्यालय होता था। नानादेशी श्रेणी का व्यापारिक शाखाओं का विस्तार दक्षिण भारत में सुमात्रा तक फैला हुआ था व्यापारियों का संघ बैंक के रूप मे काम करता था। यह जमा राशि लेना और ब्याज पर देने का काम नहीं करता था। बुनकरों, कुम्हारों, तेलियों, ढढेरों, बांस का काम करनेवालों आदि के संगठन अर्थात् श्रेणियां थी। इनकी पुष्टि दक्कन के शिलालेखों से भी हो जाती है। सुदूर दक्षिण मे तिरूबेल्लारी के व्यापारियों के संगठन का एक शिलालेख में वर्णन है।

ये संघ/श्रेणियाँ अपने को लामबद्ध कर अपने व्यवसाय के हितों की रक्षा के अतिरिक्त अपने सदस्यों की वित्तीय सहायता तथा अन्य सभी प्रकार की सहायता देता था और इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को अपना ग्राहक ढूँढ़ने की जिम्मेदारी से भी मुक्ति मिल गई। व्यापारिक श्रेणियाँ उन स्थानों से बड़े पैमाने पर वस्तुएँ खरीदती थी जहाँ उनका उत्पादन होता था और एक बड़े पैमाने पर उनको बेचने की व्यवस्था करती थी।

तोल और माप

विनिमय की विकसित प्रणाली के लिए नियमित माप और तोल आवश्यक है। इससे किसी वस्तु को तोलना, मापना और गिनना संभव है, जब कोई उसे खरीद रहा है या बेच रहा है तो विनिमय आसान और कारगर होता है। क्रेयता और विक्रेयता को खरीदी गई या बेची गई वस्तु की मात्रा या आकार के बारे में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता है। दक्कन में जहाँ व्यापार केन्द्रों में विभिन्न वस्तुओं का व्यापार एक नियमित कार्य था वहाँ सही-सही माप का विचार भी अवश्य विद्यमान रहा होगा। भिन्न-भिन्न मूल्य वर्ग के सिक्के जारी किए गए थे और भूमि निवर्तन के अनुसार मापी जाती थी। अंतर और खंडुगा का भी माप के रूप में इस्तेमाल होता था।

सुदूर दक्षिण में मा और बेलि भूमि के माप थे। यहाँ कर देने के लिए अनाज अम्बानम में तोला जाता था। संभवतः यह बड़ा तोल था। छोटे मापों के रूप में मासी, उलाकू और अलाक भी जाने जाते है।

नमक और 18 प्रकार के अनाज की तोल एक गाड़ी, दो गाड़ी और एक बोझ और दो बोझ के रूप में भी की जाती थी रुई की तोल 'मालवे', घी और तेल की तोल कौड, पान की पत्तों, हल्दी, सोंठ, अदरक, लहसून आदि की एक बोझ, आधा बोझ तथा हसर के रूप में होती थी।

तराजू से तोला जाता था। तराजू शायद एक डंडा होता था जिसमें निशान लगे होते थे। यहां तक छोटी से छोटी वस्तु भी तराजू से तोली जा सकती थी। तराजू पर सोना तोलने की बात भी हमें बताई गई है।

दिन-प्रतिदिन के लेन-देन में अनाज (एल), धान अनाज (नेल), अंगुलियों और हाथ की लंबाई के अनुसार रेखीय माप मे व्यक्त किए जाते थे।

इन इकाईयों की भी स्थिर करने की कोशिश कम ही की गई थी।

शहरी केन्द्र

इस प्रारंभिक व्यापार से कई शहरी केन्द्रों के उद्‌भव और विकास में बहुत प्रोत्साहन मिला। हम दक्कन के उन केन्द्रों का वर्णन शुरू करेंगे जहाँ शहरी विकास के स्पष्टरूप दिखाई देते हैं।

पश्चिमी और पूर्वी समुद्र तटों पर कई बंदरगाह थे। आन्ध्र के तटीय प्रदेश में गोदावरी और कृष्णा के डेल्टा में कुछ महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। यहाँ से जहाज समुद्र मलय प्रायद्वीप और पूर्वी आर्चिपिलागो को जाते थे। परन्तु पश्चिमी बंदरगाह मारुकच्छा (मरूय), सोपारा ओर कल्याण भारत-रोमन व्यापार की प्रारंभिक अवस्था में अधिक पुराने और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

भीतरी इलाके में बड़े और छोटे शहरी केन्द्र थेः प्रतिस्थान (पैठण), टागरा (टेर), भोगवर्धन (भोकरदत्त), कारहाटका (कराड), नासिक, वैजयंती, धान्यकटया, विजयपुरी (नागार्जुन कुंडा) आदि थे। निम्न कारणों के फलस्वरूप इन केन्द्रों का उद्‌भव हुआ, जो सामान्य ग्रामीण बस्तियों से भिन्न थे:

(i) कृषि का भीतरी प्रदेश जो शहरी केन्द्र में रहनेवाले भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों के उपभोग के लिए आवश्यक अतिरिक्त अनाज पैदा करने में सक्षम थे।

(ii) व्यापारी, कारीगर, हस्तशिल्पी ऐसे व्यावसायिक वर्गों का उदय, जो खाद्यान्न उत्पादन से सीधे जुड़े हुए नहीं थे।

(iii) ऐसे संगठनों का उदय, जो व्यापारियों और कारीगरों के कार्यों को संगठित करते थे।

(iv) स्थानीय और विदेशी विनिमय में अपेक्षित जिंसों के संग्रह की सुविधाएँ तथा नौवहन विकास।

(v) केन्द्रो को अधिशेष सामग्री भेजने तथा सहायता और सुरक्षा प्रदान करने के लिए भी सक्षम शासक वर्ग।

(vi) मुद्रा प्रणाली का आविर्भाव।

(vii) लेखन प्रक्रिया का विस्तार जो गणना और लेखबद्ध करने के लिए आवश्यक है।

कार्यात्मक द ष्टि से शहरी केन्द्र विभिन्न श्रेणियों के थे। प्रशासनिक केन्द्र संग्रहकर्ता केन्द्र, छावनी, विदेशी व्यापार केन्द्र, विपणन और विनिर्माण केन्द्र। फिर भी, इनमें से अधिकांश कार्य एक ही शहरी केन्द्र में किया जा सकता था।

अधिकांशतः संगम कविताओं तथा अन्य साहित्यिक लेखों के संदर्भ और कुछ सीमा तक पुरातत्त्व के आधार पर तमिलहम् में तीन अलग-अलग किस्म के केन्द्रो का विकास हुआ।

- ग्रामीण विनिमय केन्द्रः

- अंतर्देशीय विपणन नगर; और
- बंदरगाह

विभिन्न तनाई या आर्थिक क्षेत्रों के बीच जीविका की वस्तुओं के विनिमय की प्रक्रिया के दौरान सम्पर्क स्थलों के रूप में कई केन्द्रो का आविर्भाव हुआ। अधिकतर ये सम्पर्क स्थल पारंपरिक मार्गो के मिलन केन्द्र पर होते थे।

इनमे से कुछ केन्द्र नियमित विनिमय कार्यों के कारण बहुत सक्रिय हुए। इसलिए आधुनिक परिभाषा के अनुसार इन स्थानों को ''शहरी'' केन्द्र कहना उपयुक्त नहीं होगा। फिर भी, समकालीन समाज उन्हें सामान्य कृषिक बस्तियों से भिन्न समझता थ। अन्तर्देशीय कस्बे जैसे उदैपुर (वर्तमान तिरूचिरापल्लि के समीप) कांची (कांचीपुरम्) और मदुरै के बाजार थे। वे पूर्णतः शहरी केन्द्रो के रूप में विकसित हुए।

पट्टिनम या बंदरगाह भी शासकों के संरक्षण मे काफी सक्रिय थे। वहाँ कई ऐसे केन्द्र थे। पूर्वी तट परः पहार अथवा कावेरीपुम्पट्टिनम (चोलों का) अरिकमड, कोरकाई (पांड्याओं का) थे; पश्चिमी तट पर मुजरिस और टिनाडिस (चेराओं का) बकरे और नेलेयंदा वे समुद्री व्यापार के केन्द्र थे और अरिकमेडु जैसे कुछ यवनों की बस्तियाँ थी। बंदरगाह के अंदर मुजरिस बहुत व्यस्त केन्द्र थे, यहाँ हर प्रकार के जहाजों की भीड़ रहती थी और बड़े-बड़े गोदाम और मार्केट थे। बसवसमुद्र (मद्रास) पालारनदी के मुहाने पर एक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह नगर था।

चूँकि बंदरगाहों पर व्यापार अधिकतर विलास की वस्तुओं का होता था इसलिए पट्टिनम स्थानीय विनिमय केन्द्रो के नेटवर्क से जुड़े हुए नहीं थे। वे मुख्य रूप से ''विदेशी व्यापार के केन्द्र'' बने रहे और शासक तथा धनी वर्ग उनके ग्राहक थे। इस प्रकार इन केन्द्रों की प्रगति का कारण विदेशी व्यापार था। विदेशी व्यापार के ह्रास से ये केन्द्र भी कमजोर पड़ गए और धीरे-धीरे समाप्त हो गए।

दक्षिण भारत में शहरीकरण की शुरुआत सातवाहन काल से हुआ। सातवाहनकालीन संगम साहित्य तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों से इस बात की पुष्टि हो जाती है इसके पश्चात् अनेकों शहर विकसित हुए तथा लगभग सभी व्यापारिक केन्द्र के रूप मे उभरे।

अध्याय-7
मन्दिर अर्थव्यवस्था
(Temple Economy)

जैसा कि R.S. Sharma तथा D.N. Zha ने कहा है कि हिन्दू मन्दिरों तथा धार्मिक संस्थाओं का भू तथा अन्य प्रकार के अनुदानो के कारण विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ क्योंकि बिना इन अनुदानों के इनका रखरखाव असंभव था। 117 पल्लव दस्तावेजों में से से लगभग 53 में मंदिरों को अनुदान देने का वर्णन मिलता है। इन 53 में से लगभग एक दर्जन अभिलेखों भूमि के तथा गाँवों के अनुदान का उल्लेख मिलता है और लगभग 30 अभिलेखों में 2000 कलंजू की कीमत के सोने का तथा कुछ अभिलेखों में पशुधन तथा धान इत्यादि में अनुदान का वर्णन मिलता है।

मन्दिरों को अनुदान के प्रमाण चोलों के अभिलेखों में तो और भी अधिक मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि चोल राजाओं ने विभिन्न मन्दिरों को बड़े खुले हाथ से अनुदान दिए। केवल अकेले तिरुपति मन्दिर को ही चोल राजाओं द्वारा 31 अनुदानों को दिए जाने का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार चिन्दम्बरम से अभी तक प्राप्त 230 अभिलेखों में 75 चोलों के है। इनमें से कम से कम 41 (11 से 13वीं शताब्दी) में स्थानीय मन्दिरों को चोलों द्वारा दिए जाने वाले भू-अनुदान का वर्णन करते हैं। चोल काल में मन्दिरों की बढ़ती शाही संरक्षता की पुष्टि तंजौर रिकार्ड (Records) से हो जाती है। राजाराज प्रथम अकेले ने 41,555 कलंजू वजन के सोने के वस्तु (article), (जो लगभग 848 Lbs के बराबर के वजन का है) या 10,000 पौन (PON) के वजन के जवाहरात (सोने में कलंजू के बराबर में) इसके अतिरिक्त 50,650 कलंजू के वजन के चाँदी के बर्तन अनुदान में दिए। कुछ गाँवों को भू-लगान धान व सोने के रूप में तन्जौर के मन्दिर में खजाने में जमा करने का हुक्म दिया।

शासकों के अतिरिक्त, सैनिक मुखिया तथ सामन्त तथा उपसामन्तों ने भी मन्दिरों को अनुदान दिए। अभिलेख (epigraphic) स्त्रोतों से साबित होता है कि बानस (Banas), मुतरेयरस (Muttaraiyers, रेनाडू के चोल यानि कि किसी ना किसी वक्त ये सभी पल्लवों के सामन्त रहे हैं जिन्होंने मंदिरों की भूमि तथा अन्य वस्तु अनुदान के रूप में दी। चोल तथा कल्याणी के चालुक्यों के सामन्तों ने भी इस परम्परा का अनुकरण किया। इसी प्रकार स्थानीय ग्रामीण तथा शहरी एसेम्बलियों जो कि चोलों के काल में महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक इकाइयाँ बन गई थी, ने भी प्रभु को विभिन्न प्रकार के दान दिए। इसके अतिरिक्त Private, व्यक्तियों व शिल्प तथा व्यापारिक श्रेणियों का भी मन्दिरों में संचित धन समूह में छोटा सा योगदान रहा। पल्लव तथा चोलों के इन अभिलेखों से स्पष्ट हो जाता है कि इन अनुदानों के कारण मन्दिर को आन्तरिक जंगल में भी परिवर्तन न आया तथा इनका भी

सामन्तीय ढाँचा बन गया।

मन्दिरों के आर्थिक स्त्रोत बढ़ने के साथ ही मन्दिर के रखरखाव के लिए सेवादारों की संख्या में भी व द्धि हुई। पल्लव काल में जब मन्दिरों को उपहार रुपए तथा जिन्स दोनों ही रूप में सीमित रूप से मिलते थे उस समय इतने व्यक्तियों को नौकरी देना संभव नहीं था। दूसरे तुलनात्मक द ष्टि से उस समय देवी देवताओं की पूजा अर्चना करने का तरीका भी कम पेचीदा था तथा अन्य प्रकार का ताम-झाम भी कम होने के कारण इतने सेवादारों की आवश्यकता भी नहीं थी। पल्लव राजा परमेश्वरवर्मन I केस मय में कुर्रम (Kuram) के शिव मन्दिर की देखभाल केवल चार व्यक्ति कर रहे थे। पल्लव काल में सबसे अधिक सेवादार अर्थात 54 केवल मुक्तेश्वर के मन्दिर में ही थे। (C.Minakshi - Administrative and Social Life Under Patlavas)

कोरन्गनाथ, कीलपलूवूर तथा तंजौर मन्दिर से प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट हो जाता है कि चोलों के समय में मन्दिरों की देखभाल करनेवाले सेवादारों की संख्या में महत्त्वपूर्ण व द्धि हुई। तंजौर मन्दिर के रिकार्ड्स के अनुसार 600 से भी अधिक लोग राजेश्वर के मन्दिर में ही नौकरी पर थे जिनमें से 400 से भी अधिक नर्तकियां (देवदासियाँ) ही थी तथा बाकी 200 डांस मास्टर, गायक, वादक, टेलर, सुनार तथा अकाउंटैन्ट आदि थे। इन विभिन्न प्रकार के सेवादारों के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए सुपरिन्टेन्डैंट होते थे इस मन्दिर तथा अन्य धार्मिक संस्थाओं में कार्य करनेवाले व्यक्तियों की संख्या से स्पष्ट हो जाता है कि चोलों के समय में इनकी संख्या में बड़ी व द्धि हुई। अतः के०ए० शास्त्री (K.A. Shastri) तथा अपादोरी (Appadori) ने पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत के मन्दिरों को 'रोजगार केन्द्र' के रूप में सही वर्णित किया है। परन्तु सभी मन्दिरों से इस संदर्भ में उचित सामग्री (data) न मिलने के कारण कुल कितने लोगों को रोजगार दिया गया कहना कठिन है।

पल्लव काल से ही मन्दिर के सेवादारों को उनकी सेवा के बदले में जिन्स के रूप में तनख्वाह दिए जाने का वर्णन मिलता है। नन्दीवर्मन त तीय के काल के अभिलेख से स्पष्ट होता है कि तिरुवल्लम के शिव मन्दिर के शिव ब्राह्मणों को उनकी सेवा के बदले 500 काडी (Ka_di) धान दी गई तथा गायकों व अन्य सेवादार जो मन्दिर के लिए फूल चुनकर माला बनाने का काम करते थे उनको 500 कादी (Ka_di) धान दिया गया।

चोल काल के रिकार्ड्स में तो जिन्स के रूप में सेवादारों को तनख्वाह दिए जाने के बहुत प्रमाण मिलते हैं। इस काल में सेवादारों को भू-अनुदान दिए जाने के अनेकों उदारहण मिलते हैं। सुन्दर चोल (A.D. 956-73) के काल के आदिमुलेश्वर मन्दिर की पूर्वी दीवार पर खुदे शर्तनामा स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार उस मन्दिर के सेवादारों के रखरखाव के लिए अन्य अनुदानों के साथ भू-अनुदान भी दिया गया। तंजौर मन्दिर के रिकार्ड से स्पष्ट है कि किस प्रकार मन्दिर की 400 नर्तकियों को एक-एक मकान तथा एक-एक वेली (Veli) भूमि जिसका भू-लगान 100 कलम धान था, हिस्से के रूप में अनुदान में दिया गया। इसी प्रकार जैसे 100 हिस्से मन्दिर में विभिन्न प्रकर की सेवाएं करने वाले 212 व्यक्तियों के लिए रखे गए इसी प्रकार चोल काल के बहुत से अन्य जैसे अभिलेख मिलते हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि मन्दिर के कर्मचारियों के रखरखाव के लिए भू-अनुदान के रूप में दी जाने लगी।

मन्दिर के सेवादारों की तनख्वाह के रूप में भू-अनुदान देने की प्रथा के प्रचलन को उस काल की मूद्रा स्थिति के निरपेक्ष में अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। चोलों से पूर्वकाल में भारत में

अधिकतर भाग में विदेशी व्यापार के पतन के कारण मुद्रा स्थिति को भी धक्का लगा। परन्तु चोल काल में दक्षिण भारत के बारे में यह कितना सही है कहना कठिन है परन्तु दसवीं शताब्दी से दक्षिण भारत के विदेशी व्यापार के फिर से बढ़ने तथा व्यापारिक श्रेणियों का भारी मात्रा में उद्‌गम ने मुद्रा प्रणाली को विकसित होने का उचित वातावरण प्रदान किया। हमारे स्त्रोत इस बात की भी पुष्टि करते हैं कि पल्लवों के पश्चात् धार्मिक संस्थाओं को अनुदान नकद रूप में ज्यादा दिए जाने लगे। मन्दिरों को अनुदान नकद रूप में ज्यादा न दिए जाने का कारण D.N. Zha के अनुसार पहला तो सम्भवतः यह था कि चोल तथा अन्य राजाओं ने सिक्के महँगे धातु अर्थात् सोने और चाँदी आदि में उच्च अंकित मूल्यों में बनाए जिस कारण वह सिक्के आम वस्तुओं के लेन देन में काम नहीं आ सकते थे दूसरे जैसा कि कौशाम्बी ने कहा है कि नकद अनुदान धीरे-धीरे अनुत्पादक जमा पूँजी (uporoductive deposits) में बदल गए। अतः मन्दिर के Staff को अनुदान भूमि के रूप में देने की परम्परा चलती रही जिसने सामन्तवाद की उत्पत्ति को सहारा दिया।

दक्षिण भारत में पूर्व मध्यकालीन मन्दिरों के सामन्तवादी स्वरूप होने का मुख्य कारण पल्लव काल से भूमि का देवदान के रूप में दिया जाना है लेकिन देवदान के रूप में दी जानेवाली भूमि के साथ-साथ उसका स्वामित्व भी स्थानान्तरण किया जाता था या नहीं यह भी बहस का विषय है। मीनाक्षी के अनुसार पल्लव चार्ट्र कहीं भी अनुदानग्रही मन्दिरों को उस भूमि को बेचने, गिरवी रखने या फिर उस भूमि से दखल करने का अधिकार नहीं देता और ना ही चोल अभिलेख ऐसा कहते हैं। सिवाय कुछ एक अभिलेखों के और वे भी एक मन्दिर द्वारा दूसरे मन्दिर को विशेष अदायगी (Payment) के रूप में भू-देवदान का वर्णन करते हैं। कुम्भकोनम के नागेश्वरम् मन्दिर में तिरुकदमुकिल की एसेम्बली द्वारा एरिशलूर में 500 कलंजू सोने में पाँच वेली जमीन तथा अन्य पाँच वेली 1000 कलंजू में बेचे जाने का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार इसी मन्दिर से प्राप्त एक अन्य भू-अभिलेख भी तंजौर के एक निवासी को इसी असेम्बली द्वारा एक वेली का एक चौथाई हिस्सा बेचे जाने का वर्णन मिलता है जिसने आगे एक अन्य मन्दिर शिव योगी को भोजन खिलाने के उद्देश्य से दान दिया। पहले केस में सीधा मन्दिर को तथा दूसरे में एक व्यक्ति को जिसने फिर मन्दिर को भू-अनुदान दिया, को बेचे जाने का वर्णन है इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि मन्दिर के भू को ध ार्मिक उद्देश्य हेतु बेचा भी जा सकता है। चोलों के भू-अनुदानों का अध्ययन स्पष्ट करता है कि इन अनुदानों को मन्दिर अपनी इच्छानुसार भोग सकता था।

इन अनुदानों के फलस्वरूप मन्दिर बहुत से महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व निभाते थे। जैसे चोलों के समय में कुलोतुंग I के काल में श्रीगम मन्दिर अभिलेख से स्पष्ट है कि किस प्रकार मन्दिर के एक बड़े भू-भाग जो कि कावेरी नदी की बाढ़ की चपेट में भूमिगत हो गया था, के पुनः विकास का कार्य हाथ में लिया। ये भू-अनुदान विशेष कार्य पूर्ण करने के लिए, जैन मन्दिर में रखरखाव के लिए, देवी देवताओं की पूजा अर्चना के लिए या फिर ब्राह्मणों के भोजन हेतु प्रबन्ध आदि, मन्दिरों को दिए जाते थे। परन्तु डी०एन० झा (D.N.Zha) के अनुसार पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारतीय मन्दिर सम्भवतः इन भू-अनुदानों या फिर ऐसे गाँव पर सीमित अधिकार प्रत्याशी ही भोगते थे जैसा कि उसके अनुसार, विभिन्न रिकार्डस से स्पष्ट है कि राज्य मन्दिर के खाते (Accounts) पर नजर रखता था। विभिन्न भू-अनुदानों के अध्ययन से स्पेन्सर (Spencer) के अनुसार ऐसा लगता है कि राज्य द्वारा मन्दिरों का लेखा जोखा (Accounts) रखने की प्रथा चोलों के काल में ही अधिक प्रचलित थी। कुछ विद्वान इस मत से सहमत नहीं है कि उनके अनुसार मन्दिर के हिसाब-किताब को शाही अधिकारियों द्वारा देखना मन्दिरों के भू-अनुदानों पर असीम अधिकारों पर हस्तक्षेप का

मापदंड नहीं है।

मन्दिर जो कि समय के साथ बहुत बड़े-बड़े जमीदारी संस्था बन गई। सारी भूमि को अकेले सीधे नहीं जोत पाते थे अतः भूमि को पट्टे पर देना प्रारम्भ कर दिया। तिरुपति से प्राप्त पल्लव रिकार्ड से स्पष्ट है कि किस प्रकार मन्दिर भूमि नाडू के किसान को पट्टे पर दी ताकि इसको सही ढंग से जोता जा सके। चोल अभिलेखों में तो भूमि किसानों को पट्टे पर दिए जाने से अनेकों उदाहरण प्राप्त है। अगस्तेश्वर मन्दिर से प्राप्त सुन्दर चोल के काल में अभिलेख से स्पष्ट है कि मन्दिर ने एक व्यक्ति को 124 वैली भूमि इस शर्त पर दी कि वह 2880 कलम धान हर साल मन्दिर को 120 वैली प्रति कलम के हिसाब से देगा। इस प्रकार के अनेकों reference मिलते हैं जहाँ भूमि मन्दिरों द्वारा कुछ शर्तों पर जोतने के लिए किसानों को दी। जहाँ मन्दिर को पूरा गाँव अनुदान रूप में मिला हो वहाँ उन्हें बहुत से ऐसे लोगों की जरूरत पड़ती थी जो कि उस गाँव की भूमि को जोत सके। अतः यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि धार्मिक संस्थानों को भू तथा गाँव अनुदान दिए जाने के कारण इन धार्मिक संस्थाओं ने भी सामन्तवादी तथा सामन्तीय सम्बन्धों को पनपने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत में किसानों की दयनीय स्थिति का कारण भी काफी हद तक इन मन्दिरों को राजकोषीय (भू-लगान) सम्बन्धी छूट देना रहा है। प्राप्त अभिलेखीय प्रमाणों के आधार पर पल्लव और चोलों के लिए राजकोषीय का तुलनात्मक अध्ययन स्पष्ट कर देता है कि इस प्रकार की छूट में भी (परिहारस) समय के साथ-साथ परिव द्धि हुई। प्रारम्भिक पल्लव स्त्रोतों में परिहारों की संख्या 18 प्राप्त हुई है। नन्दवर्मन II वेलूरयलियम ताम्र प्लेट में 22 राजकोषीय अधिकारों का वर्णन है जो कि प्रभु महादेव को अनुदान में दिए गए। इन भू-अनुदान की लम्बी सूची राजेन्द्र प्रथम के छठे वर्ष के अभिलेख में मिलते हैं। जिसमें कम से कम 50 ऐसे राजकोषीय का वर्णन मिलता है। राज्य को दिए जानेवाले मौलिक लगानों में छूट तथा विभिन्न भू-सम्बन्धी अधिकारों का राजा द्वारा अनुदानग्रहीताका (donee) को सौंपे जाने के कारण लगानों की संख्या में व द्धि लोगों पर भू-लगान में उत्तरोत्तर बढ़ते भार की पुष्टि करता है तिरुमालम (तंजौर distt.) से प्राप्त एक अभिलेख (1112 A.D.) एक अनुदानित भूमि के टुकड़े से कुछ किसानों को बेदखल करने का वर्णन मिलता है उनको बेदखल इसलिए किया क्योंकि वे इकट्ठे हुए मेलवारम् के बकाया (arears) को चुकाने में असमर्थ रहे। 1222 A.D. में एक अन्य रिकार्ड (record) दक्षिण भारतीय अभिलेख से स्पष्ट होता है कि एक किसान को जो कि मन्दिर की जमीन के एक टुकड़े को जोत रहा था, लगान के इकट्ठे हुए बकाया (arears) देने के बावजूद भी उस भूमि के टुकड़े से उसे बेदखल कर दिया गया। इन प्रमाणों के आधार पर निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि मन्दिरों को लगान सम्बन्ध ी अधिकार देने से किसानों का और अधिक आर्थिक शोषण होने लगा।

अब मन्दिरों के रखरखाव के लिए लोगों पर ओर अधिक नए-नए प्रकार के कर लगाने के प्रमाण भी मिलते हैं जिसने किसानों की हालत और दयनीय कर दी Erode से प्राप्त 922A.D. में redords में हमें ऐसे नए करों का वर्णन मिलता है जैसे प्रत्येक घर (कुंडी) पर ½ पण, शादी के समय 1/8 पण विवाह पक्षों से लगाया जाता था। इसी प्रकार राजाराज के काल में तंजौर अभिलेख से स्पष्ट है कि किस प्रकार एक स्थानीय मंदिर के लिए पूँजी निवेश के लिए स्थानीय कर्मचारियों तथा ध ार्मिक संगठनों से 100 कलंजू इकट्ठे किए गए। इसी प्रकार एक अन्य अभिलेख के अनुसार दक्षिण सरकार की एसेम्बली ने स्थापित नई देवता की पूजा अर्चना तथा सेवादारों का खर्चा चलाने के

लिए लोगों से चंदा उगाहने का फैसला किया। अतः इनसे स्पष्ट है कि मन्दिरों के रखरखाव के बहाने से लोगों पर नए-नए प्रकार के कर लगाकर उनसे अवसर अधिक से अधिक पैसा वसूला जाता था। हालाँकि मध्यकालीन यूरोपियन चर्च द्वारा लगाए जाने वाले अमानवीय कमर तोड़ करों की तुलना में कम अमानवीय थे।

विभिन्न प्रकार के लगाए जानेवाले करों का विश्लेषणात्मक अध्ययन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि पल्लव काल का मन्दिर राजनैतिक शक्ति का भी केन्द्र बनते जा रहे थे जो कि केन्द्रीय शक्ति के विकेन्द्रीकरण को इंगित करता है। पल्लवनन्दीवर्मन III की वेलूरयलयम Plate के अनुसार नाडाटसी (Na_da_tci), ऊराटसी (U_ra_tci) तथा नाडू कावल (Nadu Kaval) जैसे टैक्नीज मन्दिरों को हस्तान्तरित कर दिए गए। नाडाटसी और ऊराटसी कमश जिला के प्रशासन तथा गाँव के प्रशासन के एवज में वसूला जानेवाला कर समझे जाते हैं तथा नाडू कावल पर जिले की सुरक्षा हेतु वसूला जानेवाला कर माना जाता है। प्रथम दो प्रकार के करों का वर्णन चोल रिकार्ड्स में भी मिलता है जो कि मन्दिर देवदान गाँवो से वसूल लेते थे। अन्तिम प्रकार का कर अक्सर पाडी-कावल (Pa_di-Ka_val) के नाम से जाना जाता है। कोननीराजपुरम के उमामहेश्वर मन्दिर से प्राप्त उत्तम चोल काल के एम शिलालेख में भू-अनुदान के अन्य विशेषाधिकारों के साथ-साथ गाँव के लोगों से इन करों को वसूलने का अधिकार का भी वर्णन है। अन्य विभिन्न चोल अभिलेखों में स्पष्ट है कि राजा ने मन्दिरों को ना केवल लगान मुक्त भू-अनुदान व गाँव अनुदान में दिए अपितु स्थानीय प्रशासन को चलाने हेतु गाँव से अन्य प्रकार के टैक्स भी लगाने की अनुमति दी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन्दिरों को प्रशासनिक अधिकार भी धीरे-धीरे दिए जाने लगे। मन्दिरों को अनुदानों ने धीरे-धीरे केन्द्रीय शक्ति को भी कमजोर कर दिया। मन्दिरों को ना केवल प्रशासनिक अधिकार ही दिए गए अपितु उन्हें न्यायिक अधिकार भी दिए गए। जैसा कि पल्लव रिकार्ड से पता चलता है कि नन्दीवर्मन त तीय के समय में एक मन्दिर को मण्रुपाडू स्थानीय लोगों से वसूलने का अधिकार दिया। मण्रुपाडू का अर्थ अक्सर उन जुर्मानों से है जो कि कोर्ट (न्यायालय) वसूलता है चोल अभिलेखों में भी इसका वर्णन मिलता है। वीर राजेन्द्र काल के एक अभिलेख के अनुसार राजा ने पशुपतिश्वर के मन्दिर को पाकर गाँव मण्रुपाडू, दंड, कुर्रम जुर्माने भी वसूलने के अधिकार के साथ दान दिया। मन्दिरों को अपराधियों Criminals को सजा देने का अधिकार भी दिया गया इसकी पुष्टि हमें बहुत से अन्य चोल अभिलेखों से भी हो जाता है।

अतः स्पष्ट है कि पल्लव व चोल काल में मन्दिरों को भू तथा गाँव अनुदान प्रचुर मात्रा में दिए गए। जिसने अर्थव्यवस्था (प्रणाली) को नया मोड़ दिया और इन अनुदानों ने दक्षिण भारतीय मन्दिरों को सामन्तीय रूप प्रदान किया।